श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता

# श्रीशिवस्तोत्रावली



ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

जम्मू • श्रीनगर • नई दिल्ली




श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता

# श्रीशिवस्तोत्रावली

श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादपद्मोपजीवि-

श्रीक्षेमराजाचार्यविरचित विवृतिसमेत-

श्रीराजानकलक्ष्मणविरचित-

हिन्दीव्याख्योपेता

ईश्वराश्रम ट्रस्ट

जम्मू • श्रीनगर • नई दिल्ली



THE

# ŚIVASTOTRĀVALĪ

OF

UTPALADEVĀCĀRYA

*With the Sanskrit commentary of*

KṢEMARĀJA

*Edited with Hindi commentary*

*by*

**Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāja**

**ISHWAR ASHRAM TRUST**

JAMMU • SRINAGAR • NEW DELHI

*Publishers :*
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

© Ishwar Ashram Trust

*Price* : Rs. 225.00

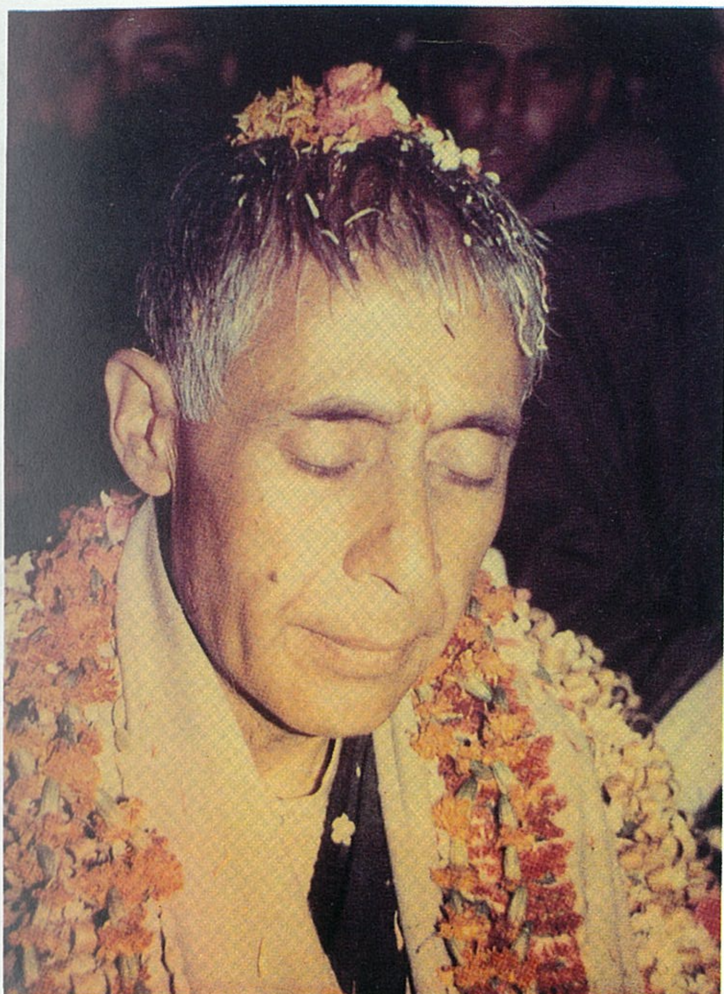
*Edition* - 2000

***Sales at :***
Ishwar Ashram Bhawan
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180 002.
Tel. : 553179, 555755

***Branch Office :***
R-5, D Pocket, Sarita Vihar
New Delhi - 110 044
Tel. : 6958308
Telefax : 6955611

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Meharcand Lachhmandas Publications
Daryaganj, New Delhi - 110 002

# श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

# इस संस्करण के विषय में

महान् सिद्धयोगी आचार्य उत्पल देव के सद्गुरु आचार्य सोमानन्द जी थे। आचार्य सोमानन्द अरुणादित्य के सुपुत्र आनन्द के पुत्ररत्न थे। आचार्य सोमानन्द ने अपनी प्रसिद्ध रचना शिवदृष्टि में कश्मीरशैवशास्त्र की उत्पत्ति प्रचार व प्रसार का सुन्दर वर्णन पहली बार किया है। उनके कथनानुसार शैवशास्त्र के गुह्यसिद्धान्त बहुत समय तक ऋषियों के हृदयों में ही सुव्यवस्थित रहे। कलियुग के आने पर वे ऋषिगण अगम्य स्थानों पर जा बैठे। शैवशास्त्रों का अनाध्याय हुआ और इस तरह धीरे-धीरे ये शास्त्र लुप्तप्राय से होने लगे। दक्षिणामूर्ति भगवान् आशुतोष का हृदय शैवशास्त्रों की दयनीय दशा देखकर पसीज़ उठा और वे श्रीकंठनाथ के रूप में कैलासाद्रि पर विचरते हुए नीचे उतर आये। इस नैराश्यपूर्ण युग का अन्त कर श्रीकण्ठनाथ के सत्प्रयास से इस दिशा में नयी आशा की किरण फूट पड़ी। इनसे साढ़े तीन क्रम चले—(१) आमर्दक क्रम (२) त्र्यम्बक क्रम (३) श्री अर्ध त्र्यम्बक क्रम और श्रीनाथक्रम, जिनसे क्रमशः अद्वयवाद, द्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद का प्रवर्तन हुआ। श्रीत्र्यम्बक ने एक मानसिक पुत्री को जन्म दिया जिसने अर्धत्र्यम्बक शाखा चलाई। इस प्रकार साढ़े तीन शाखाओं में शैवदर्शन विभक्त हुआ। इस विषय में तन्त्रालोक में कहा है :—

**आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयोदुहितृक्रमात्।**
**सचार्द्धत्र्यम्बकाभिख्यः संतानः सुप्रतिष्ठितः।।**
**अतश्चार्धचतस्त्रोऽत्र मठिकाः संततिक्रमात्**
**शिष्यप्रशिष्यैः विस्तीर्णाः।**

श्री कण्ठनाथ ने ही दुर्वासा नामक ऋषि को इस लुप्तप्राय शैवागम का पुनरुद्धार करने के लिए आदेश दिया। दुर्वासा ऋषि ने भगवदादेश पाकर त्र्यम्बकादित्य नामक मानसिक पुत्र को अद्वैतशैवदर्शन का उपदेश दिया। उसने भी त्र्यम्बक नामक मानसिक पुत्र को उपदेश दिया। त्र्यम्बक का पुत्र भी सिद्धपुरुष बना और अपने मानसिक पुत्र को अद्वैतदर्शन का उपदेश देकर अदृश्य हुआ। इस प्रकार यही क्रम चौदह पीढ़ियों तक चलता रहा और शैवदर्शन का प्रचार व प्रसार इन सिद्धयोगियों के द्वारा यथावत् होता रहा। इस परम्परा का पन्द्रहवां सिद्धपुरुष कई न्यूनताओं के कारण मानसिक

पुत्रोत्पत्ति की रीति को आगे न चला सका। वह पहला सिद्धपुरुष था जिसने सांसारिक रीति से विवाह किया और उसे संगमादित्य नामक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। संगमादित्य पर्यटक के रूप में कश्मीर पहुंचा। वहां के प्राकृतिक सौन्दर्य से मोहित हुआ और स्थायी रूप से वहीं निवास करने लगा। इनका ही पुत्र वर्षादित्य था। वर्षादित्य का पुत्र अरुणादित्य और उसके पुत्र का नाम आनन्द था। आनन्द अद्वैतशैवदर्शन का धुरन्धर विद्वान् था और उनका ही पुत्र रत्न आचार्य सोमानन्द था, जो आचार्य उत्पलदेव के सद्गुरु थे। आचार्य सोमानन्द की इस परम्परा में एक अद्भुत विशेषता यह थी कि इन्होंने ही सर्वप्रथम शैवदर्शन साहित्य का आरम्भ शिवदृष्टि नामक शैवग्रन्थ से किया और अपने शिष्य उत्पलदेव को इस दर्शन की शिक्षा-दीक्षा देकर शिष्यपरम्परा द्वारा अध्ययन-अध्यापन प्रणाली को जन्म दिया। अतः उत्पलदेव ही इस शिष्य परम्परा के प्रथम आचार्य थे।

असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न आचार्य उत्पलदेव के नाम से भला कौन सहृदय पाठक साधक या भक्त परिचित नहीं होगा। इनकी अनेक रचनाओं में "शिवस्तोत्रावली" अद्वितीय स्तोत्र ग्रन्थ है। आत्मिक समुन्नति के सुखद क्षण का श्रीगणेश उसी समय हो जाता है जब साधक के कानों में इस स्तोत्र ग्रन्थ के रस की मधुर बूंदें टपकने लगती हैं। यद्यपि आजतक असंख्य स्तोत्र रत्न संस्कृत भाषा में समय-समय पर प्रस्फुटित होते चले आ रहे हैं पर "शिवस्तोत्रावली" जैसे स्तोत्रग्रन्थरत्न की समता में कोई ठहर न सका क्योंकि इस रत्न का आविर्भावक सामान्य कवि न होकर समावेशदशाभिभूत पर-विश्रान्तिसेवी अनन्य साधक है। यह स्तोत्र ग्रन्थ अपने में अनूठा है। इसमें करुणा भी है आर्त्तपुकार भी है, भक्ति भी है, उन्माद भी है, विवशता भी है, दैन्य भी है, ग्लानि भी है अभीष्ट से शिकवा भी है, नम्रता भी है और आत्मसमर्पण भी है। इस रचना की अद्भुत विशेषता यह है कि कवि ने बेहोशी के आलम में ये मुक्तक गाये हैं। यह उनकी भक्ति भावना की पराकाष्ठा का चरम शिखर था। समाधि और व्युत्थान दोनों में सामरस्य दृष्टिगोचर होता था, ध्यान अर्चना जप आदि का विधि पूर्वक आश्रय लिये बिना ही अकस्मात् शिवाभास होता था और स्वात्म उल्लास के रंग से सारा विश्व रंगा हुआ सा दीख पड़ता था। आचार्य ने इस ग्रन्थ को रचकर अनूठे कला-कौशल का नमूना संस्कृत वाङ्मय में रखा। समनिम्नोन्नत भावों की उर्वरधरा पर चिन्तन के बेलगाम अश्वों को इस सलीके से चलाया कि टापों से उद्भूत कर्ण

कर्कशध्वनि नाममात्र के लिए भी कहीं सुनने को नहीं मिलती। भावों के तुरंगम वाहक के हाथों में थमी लगाम का उल्लंघन किसी भी अवस्था में करने को तैयार नहीं। उनका चपल चित्त इधर-उधर सरक कर भी "चलित्वा कुत्रगन्तासि सर्वं शिवमयं यतः" इस सत्य धारणा के आवेश में शिवमयी भावभूमि पर लुढ़कता फिरता था। कश्मीर शैवदर्शन के सारभूत महामन्त्र

**"योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं**
**पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः।**
**स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्य-**
**स्य नित्यसुखिनः कुतोभयम्॥"**

को प्रस्तुत ग्रन्थ में आविर्भूत करके आचार्य ने साधक वर्ग को नवीन दिशा निर्देश देके मन्त्रमुग्ध कर दिया। बिना किसी पूर्वाग्रह के यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण दार्शनिक भक्तिसाहित्य इस रचना के बिना अधूरा है। इस ग्रन्थ की भाषा कहीं-कहीं इतनी सरल है कि कई छोटे-छोटे वाक्यों में इन श्लोकों को बांटा जा सकता है। रचनाकार के शब्दों में ऐसा जादू हैं कि ग्रन्थ का विषय गहरा और आध्यात्मिक होकर भी तथा भोलेनाथ का भक्तिस्तवन ही आद्योपान्त ग्रन्थ का वर्ण्य विषय रहकर भी साधारण पाठक को खलता नहीं। ग्रन्थ के सारे श्लोक मुक्तक हैं अतः पूर्व श्लोक का अग्रिम श्लोक के साथ कोई सरोकार नहीं है। ये सारे श्लोक, जो भिन्न-भिन्न बीस स्तोत्रों में पाए जाते हैं, स्वयं में सम्पूर्ण हैं। भक्ति आवेश से गद्-गद् होकर आचार्य ने केवल तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें स्तोत्र को संग्रहस्तोत्र, जयस्तोत्र और भक्तिस्तोत्र क्रमशः स्वयं नाम देकर शेष स्तोत्रों को बिना नाम छोड़ दिया। इन सत्तरह स्तोत्रों का अलग-अलग नामकरण बाद में आचार्य विश्वावर्त ने किया, जिसका उल्लेख आचार्य क्षेमराज ने भी अपनी शिवस्तोत्रावली विवृत्ति में किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त तीन स्तोत्र आचार्य उत्पल को बहुत प्रिय रहे होंगे, अतएव उन्होंने केवल इन्हीं तीन स्तोत्रों का स्वयं नामकरण किया। वास्तव में ये तीनों स्तोत्र अन्य स्तोत्रों की अपेक्षा अतीव प्रभावशाली सुन्दर और मनोमुग्धकारी हैं। इन स्तोत्रों की रस फुहार से किस सहृदय का अन्तस्तल आप्लावित नहीं होता है। इनके सुधा सिक्त भावों से किसके जागतिकपाश विशीर्ण नहीं होते हैं। स्तोत्रशब्दसौन्दर्य से शैवमहाभावमयी माहेश्वरीभक्ति की तन्मयता में आनन्द की अनुरणनध्वनि किसके कानों में मधुर रस घोलती नहीं। किसके

हृदयमहोदधि में ज्वार की तरह तारंगिक उल्लास उत्पन्न नहीं होता। शाम्भवी-भक्ति से महाभावित रहने वाले किन साधकों को यह स्तोत्रग्रंथ प्रभावित किये बिना रहता है। स्वात्मसंविद्रूपी शिव की ही हृदय में भावना करने वाले किस भक्तिजन के मानसपटल पर यह भावचित्रों की अमिट छाप नहीं छोड़ता है। सारांश यह कि शिवस्तोत्रावली साहित्यिक, आध्यात्मिक व भक्तिपरक रचना होने के साथ-साथ त्रिकदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की एक खुली किताब है।

संस्कृत वाङ्मय के प्रख्यात रचनाकारों की तरह आचार्य उत्पलदेव ने भी अपने विषय में अधिक जानकारी नहीं दी है। यह निर्विवाद है कि इनका सम्बन्ध कश्मीरी ब्राह्मणों की राजानक जाति (वर्तमान राजदान) से था। इनके पिताजी का नाम श्री उदयाकर था और माता का नाम श्रीमती वागीश्वरी था। कश्मीर के राजा ललितादित्य के राज्यकाल में गुजरात राज्य से आचार्य के पूर्वज कश्मीर पधारे थे। अतः इनका स्थितिकाल नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में माना जाता है। कश्मीर के अन्य प्रसिद्ध शैवाचार्यों के समान श्री उत्पलदेव भी श्रीनगर के रहने वाले थे। किंवदन्तियों के आधार पर इनका निवासस्थान "गोतापुर" "विचारनाग" में था जो श्रीनगर में "सुअरा" के आस-पास है। कहते हैं कि इनका एक सुपुत्र था जिसका नाम विभ्रमाकर था। इस अप्रतिम स्तोत्र ग्रन्थ के अतिरिक्त आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, प्रत्यभिज्ञावृत्ति, प्रत्यभिज्ञा टीका, सिद्धित्रयी (ईश्वरसिद्धि, सम्बन्ध सिद्धि, अजडप्रमातृसिद्धि) और शिवदृष्टिवृत्ति लिखकर कश्मीर शैवदर्शन को पराकाष्ठा की भूमि पर पहुंचाया। प्रत्यभिज्ञादर्शन जैसा समुज्ज्वल हीरा देकर इन्होंने कश्मीर शैवदर्शन का नाम सारे संसार में अमर कर दिया।

आचार्य उत्पलदेव रचित "शिव स्तोत्रावली" का नवीन संस्करण प्रथम बार भक्त जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है। सद्गुरु ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज की सन् १९९१ में निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् हमने बहुत बार इस स्तोत्र ग्रन्थ को अत्याधुनिक ढंग से प्रकाशित करने की ठानी पर कई अप्रत्याशित कारणों से आजतक यह कार्य सम्पन्न न कर सके। हमारे गुरुदेव को इस ग्रन्थ के एक-एक शब्द के साथ कितना घनिष्ठ लगाव था, वह इस बात से स्पष्ट होता था कि उन्होंने इस स्तोत्र ग्रन्थ के प्रत्येक रत्न को अपने गले में रत्नमाला की भांति संजोये रखा था। शायद

ही कोई ऐसा समय रहा होगा जब वे इस अपूर्वनिधि की मननप्रक्रिया में क्षण-क्षण अभिनव अन्तर्विमर्श से पुलकित न उठे हों। तन्मयता के आवेग में कभी-कभी रुष्ट बालक के समान सिसकियां लिये बिना उनसे रहा नहीं जाता था। इस ग्रन्थ की आनन्दमयी रसधारा ने इनकी देहभूमि को सर्वरस निष्कर्ष सुधाप्रवाह से सदा संसिक्त रखा।

अद्वैतशैवदर्शन के महान् आचार्य महाविभूति, ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज ने आध्यात्मिक व दार्शनिक क्षेत्र में अमर ख्याति प्राप्त करके ऋषि भूमि के साथ-साथ सारे विश्व में ज्ञान विज्ञानमयी परम्परा का सूत्रपात किया। वर्तमान युग के आचार्य अभिनव गुप्त कहे जाने वाले स्वामी जी विद्या और अनुभूति के यामलस्वरूप माने जाते थे। इन्होंने निजी अनुभवों के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ शिवस्तोत्रावली के गूढ़ रहस्यों का अनावरण पैनी दृष्टि से करके साधकों व पाठकों को चमत्कृत किया। इस संस्करण की महत्ता इसलिए भी अधिक है कि अपनी भैरवी अवस्था में (सन् १९९०-९१ में) उक्त ग्रन्थ के रत्नों को स्वामीजी ने नये सिरे से छील कर उनकी अप्रतिहत चमक दमक से पाठकों को अभिभूत किया। व्याख्यान के समय शब्दार्थ स्पष्ट करते हुए प्रायः "Latest - अत्याधुनिक" शब्द का प्रयोग करके ये अनुभूतिपरक गहराई का अवबोध कराने के लिए विवश और उत्सुक दीख पड़ते थे। यदि विद्वत्ता और अनुभूति का प्रकाश स्तम्भ इन्हें कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। कभी कभार रहस्यमयी उक्तियों को सामान्य बुद्धि अनुकूल बनाने के लिए वे कहा करते थे कि मैं "ऊपरवाले से पूछकर" इस रहस्य को अगले दिन और स्पष्ट करूंगा। यह कहा जा सकता है कि इनकी व्याख्या मात्र व्याख्या न होके विस्मयावह घटनाओं का पूरा ब्योरा होती थी। ऐसे बहुत से विवरणों को पढ़कर इस संस्करण में आप भावविभोर हो जायेंगे। इस संस्करण की एक और विशेषता यह है कि इसमें स्वामी जी महाराज की निर्दिष्ट शब्दार्थ विभूति से पूर्व प्रत्येक श्लोक का अन्वय पश्चात् तात्पर्यार्थ दिया गया है जिससे पाठकों को श्लोकार्थ सरल और बुद्धिगम्य होगा। प्रत्येक स्तोत्र के आदि और अन्त में मंगल श्लोकों की हृदयावर्जक शब्दों में रचना की गई है। तात्पर्यार्थ के पश्चात् जहां तहां संकेत या विशेष आदि लिखकर आन्तरिक तथ्यों का खुलकर अंकन किया गया है। इसके अतिरिक्त स्वामी जी महाराज ने अपनी भैरवी अवस्था में स्तोत्रों का नये सिरे से नामकरण अपनी अनुभूति के आधार पर किया और उसी नामकरण को प्राथमिकता देकर हमने इस

संस्करण को रुचिकर बनाया। कहीं-कहीं स्वामी जी से कहे गये अंग्रेजी भाषा के पर्याय अथवा पूरे श्लोक का उनका अंग्रेजी अनुवाद देकर इस संस्करण को नया आकार दिया। आचार्य क्षेमराज जी की संस्कृत विवृत्ति कहीं लुप्त न हो जावे अतः इस संस्करण में अन्त पर पूरी संस्कृत व्याख्या, स्तोत्रों की श्लोक संख्या के अनुसार श्लोक का संकेत देकर एक साथ रखी गई है। संस्कृत भाषा प्रेमी और विद्वान् इस नये प्रयास से अवश्य लाभान्वित होंगे ऐसी पूरी आशा है।

इस संस्करण को नया आकार देने में जिन साधकों और सच्छिष्यों ने अत्यन्त परिश्रम किया अथवा इस पुस्तक की आदि से अन्त तक पैनी दृष्टि से प्रूफ रीडिंग की तथा स्वामी जी महाराज के कई अद्भुत तथ्यों की सामग्री इस संस्करण में सम्मिलित करने के लिए दी जिससे इस संस्करण का मूल्य और अधिक बढ़ा, वे सब महानुभाव धन्यवाद के पात्र है।

इतना कहना पर्याप्त होगा कि शिवस्तोत्रावली का प्रस्तुत संस्करण साधकों और पाठकों को आध्यात्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में दिन-प्रतिदिन अग्रसर करेगा। यदि ऐसा होगा तो ईश्वरआश्रमट्रस्ट इस दुस्साध्य कार्य के संपन्न होने से अपने को महिमान्वित समझेगा।

अन्त में शैवशास्त्र के विद्वान् प्रो० नीलकण्ठ गुर्टू और प्रो० मखनलाल कुकिलू को हार्दिक धन्यवाद दिये बिना हमारा काम अधूरा रहेगा। इनके ही अथक परिश्रम तथा निरन्तर देखरेख में इस दुर्लभ संस्करण का प्रकाशन संभव हो सका। इन्होंने इस पुस्तक का नये सिरे से संपादन करके पाठकों और भक्तों की चिरकालिक मांग को संपूर्ण कर परोपकार का महान् कार्य किया।

प्रसिद्ध प्रकाशक मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दरियागंज, दिल्ली, ने इस पुस्तक के मुद्रण का बीड़ा उठाकर शैवशास्त्र के इस दुर्लभ ग्रन्थ को लोगों तक पहुंचाने के लिए अत्यन्त उपकार किया। इस प्रकाशन के व्यवस्थापक हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं॥

**जय गुरुदेव**

*ईश्वर आश्रम ट्रस्ट*

रविवार
सद्गुरु निर्वाण जयन्ती
१७.९.२०००

# स्तोत्र सूची


| | पृष्ठ संख्या | |
|---|---|---|
| | हिन्दी टीका | संस्कृत टीका |
| १. भक्तिविलासाख्यं प्रथमं स्तोत्रम् | १ | ३१५ |
| २. सर्वात्मपरिभावनाख्यं द्वितीयं स्तोत्रम् | १८ | ३२३ |
| ३. प्रणयप्रसादाख्यं तृतीयं स्तोत्रम् | ३५ | ३३० |
| ४. सुरसोद्बलाख्यं चतुर्थं स्तोत्रम् | ४९ | ३३६ |
| ५. स्वबलनिदेशनाख्यं पञ्चमं स्तोत्रम् | ६९ | ३४३ |
| ६. अध्वविस्फुरणाख्यं षष्ठं स्तोत्रम् | ८६ | ३४९ |
| ७. विधुरविजयनामधेयं सप्तमं स्तोत्रम् | ९२ | ३५२ |
| ८. अलौकिकोद्बलनाख्यमष्टमं स्तोत्रम् | ९९ | ३५४ |
| ९. स्वातन्त्र्यविजयाख्यं नवमं स्तोत्रम् | १०९ | ३५९ |
| १०. अविच्छेदभङ्गाख्यं दशमं स्तोत्रम् | १२२ | ३६४ |
| ११. औत्सुक्यविश्वसितनामैकादशं स्तोत्रम् | १३७ | ३७२ |
| १२. रहस्यनिर्देशनाम द्वादशं स्तोत्रम् | १५० | ३७७ |
| १३. संग्रहस्तोत्रनाम त्रयोदशं स्तोत्रम् | १७२ | ३८५ |
| १४. जयस्तोत्रनाम चतुर्दशं स्तोत्रम् | १८१ | ३९४ |
| १५. भक्तिस्तोत्रनाम पञ्चदशं स्तोत्रम् | २०६ | ४०२ |
| १६. पाशानुद्भेदनाम षोडशं स्तोत्रम् | २२० | ४०८ |
| १७. दिव्यक्रीडाबहुमाननाम सप्तदशं स्तोत्रम् | २४१ | ४१५ |
| १८. आविष्कारनाम अष्टादशं स्तोत्रम् | २६९ | ४२७ |
| १९. उद्योतनाभिधानमेकोनविंशं स्तोत्रम् | २८६ | ४३३ |
| २०. चर्वणाभिधानं विंशं स्तोत्रम् | ३०० | ४३८ |
| श्लोकानुक्रमणिका | ४४५ | |

ॐ नमः परसंविद्वपुषे

# ।। श्री शिवस्तोत्रावली ।।

## भक्तिविलास नामक पहला स्तोत्र

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म बृंहकं स्वरसोदितम्।
शाश्वतं स्वानुभूत्यैकगम्यमामृतमद्वयम्।।
नमस्तस्मै हृदम्बोजविकासिपरमूर्तये।
आदिमध्यान्तहीनाय चैतन्यामृतसिन्धवे।।
शिवाय शिवयाश्लिष्ट विग्रहाय चिदात्मने।
सदा समरसास्वादलीनायाक्षरमूर्तये।।
ॐ.
चिदानन्दघनस्वात्मदेवेच्छा परभैरवी।
हंसा हंसगतिः स्वैरं क्रममुल्लङ्घ्य जृम्भते।।
ॐ उद्धरत्यन्धतमसाद्विश्वमानन्दवर्षिणी।
परिपूर्णा जयत्येका देवी चिच्चन्द्रचन्द्रिका।।
अभ्यर्थितोऽस्मि बहुभिर्बहुशो भक्तिशालिभिः।
व्याकरोमि मनाक् श्रीमत्प्रत्यभिज्ञाकृतः स्तुतीः।।

**न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।**
**एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।। १।।**

*अन्वयः*—यस्य न ध्यायतः (च) न जपतः अविधिपूर्वकम् एवमेव शिवः आभासः स्यात् तं भक्तिशालिनं (वयं) नुमः।

यस्य—जिसको, न ध्यायतः—बिना ध्यान के, (च—तथा), न जपतः—बिना जप के, अविधिपूर्वकम्—विधिरहित रूप से, एवमेव—ऐसे ही (अर्थात् ईश्वर के अनुग्रह से ही), शिवः—शिवात्मा प्रभु का, आभासः—प्रकाश, स्यात्—प्राप्त हो, तं—उस, भक्तिशालिनं—भक्तिशोभित (व्यक्ति) की, (वयं—हम), नुमः—स्तुति करते हैं।।

जिस किसी भी (पराभक्ति से सराबोर हृदय वाले) भक्तजन को, ध्यान, जप इत्यादि अथवा (लौकिक) विधिविधानों की उलझनों में फंसने के बिना, तीव्रतम ईश्वरीय अनुग्रह से ही, शिवमय आत्मदेव के प्रकाश

का (अंतः-बहिः) साक्षात्कार हो जाए, हम उस 'भक्तिशाली'-अर्थात् पराभक्ति से श्लाघनीय बने हुए महापुरुष को प्रणाम कर रहे हैं॥ १॥

**आत्मा मम भवद्भक्तिसुधापानयुवाऽपि सन्।**
**लोकयात्रारजोरागात्पलितैरिव धूसरः॥ २॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) (यद्यपि) मम आत्मा भवद्भक्तिसुधापानयुवा अपि सन् (तथापि) लोकयात्रा रजःरागात् पलितैः धूसरः इव (भासते)।

(प्रभो—हे प्रभु!), (यद्यपि—यद्यपि), मम—मेरी, आत्मा—आत्मा, भवद्—आप की, भक्ति—भक्ति रूपी, सुधा—अमृत के, पान—पीने से, युवा अपि—(सदैव) युवावस्था में ही, सन्—रहती है, (तथापि—तो भी यह), लोकयात्रा—लोक-व्यवहार रूपी, रजः—धूलि के, रागात्—उपराग के कारण, पलितैः—श्वेत केशों से, धूसरः इव—धूसरित जैसी (अर्थात् वृद्धावस्था को प्राप्त हुई सी), (भासते—दीख पड़ती है)॥

(हे अनुत्तर देव!) मेरी आत्मा (जीवात्मा) आपकी भक्ति के रूपवाले अमृत का पान करने से सदा युवा ही बनी रहती है, केवल लोकव्यवहार के धूलिपुंज से उपरंजित होने के कारण पलित (पक्के हुए सफेद) केशों से ही विच्छाय बनी हुई जैसी लग रही है॥ २॥

**लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम्।**
**सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया॥ ३॥**

*अन्वयः*— लब्ध त्वत् संपदां त्वत् पुर वासिनां भक्तिमतां लोकमार्गे अपि (यः) सञ्चारः तयैव विजृम्भया स्यात्।

लब्ध—प्राप्त हुई है, त्वत्—आप की, संपदां—(स्वरूप-प्रथनात्मक) संपदा जिन को, ऐसे, त्वत्—आप की, पुर—(चिद्रूप) पुरी में, वासिनां—रहने वाले, भक्तिमतां—भक्त-जनों का, लोक-मार्गे—लोक-मार्ग (व्युत्थान) में, अपि—भी, (यः—जो), सञ्चारः—व्यवहार (होता है वह), तयैव—उसी (चिदानन्द-स्वरूप के), विजृम्भया—विकास से, स्यात्—होता है॥

(हे आनन्दघन प्रभु!) जिनको आपके स्वरूप परिचय के रूपवाला ऐश्वर्य उपलब्ध हुआ हो, और जो 'आपकी नगरी'-अर्थात् परिपूर्ण चिदानन्दभाव में लवलीन रहने के अभ्यस्त हों, उन भक्तजनों का

व्युत्थान-कालीन लोकव्यवहार भी उसी चिदानन्दभाव के विलास की उच्छाल होता है॥ ३॥

**साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन् भुवनान्तरे।**
**किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वैषां न सिद्ध्यति॥ ४॥**

*अन्वयः*—नाथ (परमार्थ-दृष्ट्या) साक्षात् भवन्मये (अस्मिन्) सर्वस्मिन् भुवनान्तरे भक्तिमतां किं क्षेत्रं न (च) एषां मन्त्रः क्व न सिद्ध्यति।

नाथ—हे स्वामी!, (परमार्थ-दृष्ट्या—पारमार्थिक दृष्टि से), साक्षात्—प्रत्यक्ष, भवन्मये—आप के स्वरूप-मय, (अस्मिन्—इस), सर्वस्मिन्—समस्त, भुवनान्तरे—संसार-मण्डल में, भक्तिमतां—भक्त-जनों के लिए, किं—कौन सा (स्थान), क्षेत्रं—(परमसिद्धिप्रद) पुण्यतीर्थ, न—नहीं है, (च—और), एषां—इन (भक्तों) का, मन्त्रः—(उपासनीय) मंत्र, क्व—कहाँ, न सिद्ध्यति—सिद्ध नहीं होता?॥

हे (इच्छाशक्तिमय) स्वामी! साक्षात् आपका ही स्वरूप बने हुए इस समूचे विश्व में (सच्चे) भक्तजनों के लिए कौन सी जगह तीर्थस्थल नहीं होती है? और किस स्थान पर उनके मंत्र की सिद्धि नहीं होती है?॥ ४॥

**जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः।**
**अद्वितीया अपि सदा त्वद्द्वितीया अपि प्रभो॥ ५॥**

*अन्वयः*—प्रभो (भवद्) भक्तिपीयूषरसआसववरउन्मदाः सदा अद्वितीयाः अपि त्वद्द्वितीयाः अपि जयन्ति।

प्रभो—हे प्रभु!, (भवद्—आप के), भक्ति-पीयूष-रस—भक्ति-अमृत-रस रूपी, आसव-वर—उत्तम आसव को पी कर (जो), उन्मदाः—मतवाले हो जाते हैं, सदा—(और जो) सदैव, अद्वितीयाः—अनुपम अर्थात् असाधारण स्वरूप वाले होते हुए, अपि—भी, त्वद्-द्वितीयाः अपि—आप के समान स्वरूप वाले होते हैं, जयन्ति—उन भक्त-जनों की जय हो॥

हे ईश्वर! उन महापुरुषों की जय-जयकार हो जो अमृत के समान स्वादिष्ट एवं उत्कृष्ट भक्तिरूपी, आसव (शराब) का पान करने से मस्त बने हुए, और (युगपत् ही) अद्वितीय एवं त्वद्द्वितीय भी होते हैं अर्थात् अलौकिक स्वरूप वाले होते हुए भी आपके तुल्यस्वरूप वाले होते

हैं॥ ५॥

तात्पर्य–

(१) मस्त बनने का अभिप्राय यह है कि जगदानन्दभाव में लवलीन होकर बहिरंग मायीय द्वैतभाव को सर्वथा भूल जाना।

(२) अद्वितीय और त्वद्द्वितीय होने का अभिप्राय यह है कि संसार भर में उनके जोड़ का कोई भी व्यक्ति न होने के कारण अद्वितीय और आपके ही समकक्ष होने के कारण त्वद्द्वितीय भी होते हैं अर्थात् दोनों रूपों में असाधारण स्वरूप वाले होते हैं।

(३) आसववर को समझाते हुए जुलाई १९९० में स्वामी जी ने कहा था कि 'आसववर' वीरपान के नाम से प्रसिद्ध है। वीरपान वह शराब है जिससे शिवभाव का आनन्द लिया जाता है।

**अनन्तानन्दसिन्धोस्ते नाथ तत्त्वं विदन्ति ते।**
**तादृशा एव ये सान्द्रभक्त्यानन्दरसाप्लुताः[१]॥ ६॥**

*अन्वयः*– नाथ ते अनन्तआनन्दसिन्धोः तत्त्वं ते एव विदन्ति ये तादृशा एव सान्द्रभक्तिआनन्दरसआप्लुताः (स्युः)।

नाथ–हे स्वामी!, ते–आप के, अनन्त–असीम, आनन्द–आनन्द रूपी, सिन्धोः–समुद्र के, तत्त्वं–सारभूत स्वरूप को, ते–वे (भक्तजन), एव– ही, विदन्ति–(यथार्थ रूप में) जानते हैं, ये–जो, तादृशा एव–वैसे ही (अर्थात् उसी प्रकार के अनन्त रूप वाले आप के तुल्य ही), सान्द्र-भक्ति–अगाध भक्ति रूपी, आनन्द-रस–आनन्द-रस से, आप्लुताः–पूर्ण रूप से आप्लावित, (स्युः–हों)॥

हे (उन्मेषमय) स्वामी! आपके अपार आनन्दसागर का तत्त्व (रहस्य) केवल उन्हीं भक्तजनों को भली-भान्ति विदित होता है जो प्रणयभरी भक्ति के रूपवाली आनन्दमयी रसवत्ता से सराबोर हृदयवाले बनकर, 'वैसे ही'–अर्थात् आपके ही समान स्वरूपवाले बने हुए होते हैं॥ ६॥

**त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्।**
**इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः॥ ७॥**

१. ख० पु०–रसप्लुताः-इति पाठः।

*अन्वयः*–ईश त्वमेव सर्वस्य आत्मा च सर्वः आत्मनि रागवान् इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानन् जनः जयेत्।

ईश–हे स्वतंत्र प्रभु!, त्वमेव–आप ही, सर्वस्य–प्रत्येक (पुरुष) की, आत्मा–आत्मा हैं, च–और, सर्वः–प्रत्येक (पुरुष), आत्मनि–अपनी आत्मा से, रागवान्–अनुराग रखता है, इति–इस प्रकार, स्वभाव–स्वभाव से (अर्थात् अनायास ही), सिद्धां–होने वाली, त्वद्–आप की, भक्तिं–भक्ति को, जानन्–(समावेश-दृष्टि से जो) जानता है, जनः–(उस) पुरुष की, जयेत्–जय हो॥

हे स्वतन्त्र ईश्वर! सारे (जड़-चेतन-मय) पदार्थों की आत्मा आप ही हो, और सारे लोगों को अपनी आत्मा के प्रति (स्वभावसिद्ध) अनुराग भी होता है, जो व्यक्ति इस प्रकार स्वभावसिद्ध भक्ति के रहस्य को जान पाता है उसकी जय-जयकार हो॥ ७॥

स्वामी जी महाराज ने अन्वय में थ्योडा सा हेर फेर इस प्रकार करके इसे और आकर्षक बनाया–

"एवं त्वत् भक्तिं स्वभाव सिद्धां जानन् जनः जयेत्"।

**नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येककः स्थितः।**
**वेद्यवेदकसंक्षोभेऽप्यसि भक्तैः सुदर्शनः॥ ८॥**

*अन्वयः*– नाथ (अन्तर्मुखतायां) वेद्यक्षये एककः स्थितः केन न दृश्यः असि (किन्तु) वेद्यवेदकसंक्षोभे अपि (त्वं) भक्तैः सुदर्शनः असि।

नाथ–हे स्वामी!, (अन्तर्मुखतायां–अन्तर्मुख रूपी समाधि में), वेद्य–(वासना-सहित) जानने योग्य पदार्थों के, क्षये–नष्ट होने पर, एककः–अकेले, स्थितः–ठहरे हुए (आप), केन–किस (पुरुष) से, न–नहीं, दृश्यः असि–देखे जा सकते?, (किन्तु–किन्तु आश्चर्य तो यह है कि), वेद्य–ज्ञेय और, वेदक–ज्ञातृभाव की, संक्षोभे–संक्षुभित अवस्था (व्युत्थान) में, अपि–भी, (त्वं–आप), भक्तैः–भक्तजनों को, सुदर्शनः–सहज में ही दिखाई, असि–देते हैं॥

हे स्वामी! बहिरंग प्रमेयता के पूर्णतया गल जाने की वेला[१] पर आप एकले ही आत्मरूप में रममाण रहते हो अतः आपको कौन (समाधिनिष्ट

योगी) नहीं देख पाता है? इसके प्रतिकूल भक्तजनों को आप प्रमेयभाव और प्रमातृभाव की उथल-पुथल वाली [2]अवस्थाओं में भी, [3]सहजरूप में दिखाई देते हो॥ ८॥

विशेष–

(१) प्रमेयभाव के गल जाने की अवस्था से यहां पर योगियों की समाधि की वेला का अभिप्राय है। समाधिकाल में प्रमेयभाव स्वयं ही गल जाता है अतः वह अवस्था क्षोभ से रहित होती है।

(२) प्रमेयभाव और प्रमातृभाव की उथल-पुथल वाली अवस्था से यहां पर खलबली से भरे हुए व्युत्थानकाल का अभिप्राय है।

(३) तात्पर्य यह कि उथल-पुथल वाले व्युत्थानकाल में भी सब कुछ आत्मरूप ही दिखाई देना सच्चे भक्तजनों के ही बूते की बात होती है।

**अनन्तानन्दसरसी देवी प्रियतमा यथा।**
**अवियुक्तास्ति ते तद्वदेका त्वद्भक्तिरस्तु मे॥ ९॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) यथा अनन्तआनन्दसरसी प्रियतमा देवी ते अवियुक्ता अस्ति तद्वत् एका त्वद् भक्तिः (सदैव) मे अस्तु।

**(प्रभो**–हे ईश्वर!), **यथा**–जिस प्रकार, **अनन्त**–असीमित, **आनन्द**–आनन्द से, **सरसी**–सरस बनी हुई, **प्रियतमा**–आप की अत्यन्त प्रिय, **देवी**–पराशक्ति देवी, **ते**–आप के साथ, **अवियुक्ता**–अभिन्न, **अस्ति**–बनी रहती है, **तद्वत्**–उसी प्रकार, **एका**–केवल (चिदानन्द-स्वरूप), **त्वद्**–आपकी, **भक्तिः**–भक्ति, (**सदैव**–सर्वदा), **मे**–मेरे साथ (अभिन्न ही), **अस्तु**–बनी रहे॥

(हे आशुतोष प्रभु!) जिस प्रकार असीम आनन्द की रसवत्ता से परिपूर्ण प्रियतमा पराशक्तिदेवी आपके साथ सदा अवियुक्त रूप में अवस्थित रहती है, उसी प्रकार आपकी निरन्तर भक्ति मेरे साथ सदा अभिन्न बनी रहे॥ ९॥

यहां भक्ति को 'पार्वती' से भी अधिक शक्तिशाली बताया है।

**सर्व एव भवल्लाभहेतुर्भक्तिमतां विभो।**
**संविन्मार्गोऽयमाह्लाददुःखमोहैस्त्रिधा स्थितः॥ १०॥**

*अन्वयः*– विभो आह्लाददुःखमोहैः त्रिधा स्थितः अयं सर्वः संवित्मार्गः एव

भक्तिमतां भवत्लाभहेतुः।

विभो—हे व्यापक प्रभु!, आह्लाद—(सत्त्वप्रधान) सुख, दुःख—(रजःप्रधान) दुःख, मोहैः—और (तमःप्रधान) मोह के कारण, त्रिधा—तीन प्रकार का, स्थितः—होने वाला, अयं—यह, सर्वः—सम्पूर्ण (अर्थात् त्रिगुणात्मक), संवित्-मार्गः—ज्ञान का मार्ग, एव—ही, भक्तिमतां—भक्तों के लिए, भवत्—(चित्स्वरूप) आप की, लाभ—प्राप्ति का, हेतुः—(सहज) साधन होता है॥

हे सर्वव्यापी प्रभु! सच्चे भक्तजनों के लिए, 'आह्लाद'—सुखमय सात्त्विक, 'दुःख'—अर्थात् दुःख भरे राजसिक और 'मोह'—अर्थात् अज्ञानमय तामसिक—इन तीन रूपों में चलता हुआ यह समूचा 'ज्ञानमार्ग'—अर्थात् लोकव्यवहार ही, आपके चित्-स्वरूप का अनुभव प्राप्त करने का साधन बना रहता है॥ १०॥

**भवद्भक्त्यमृतास्वादाद्बोधस्य स्यात्परापि या।**
**दशा सा मां प्रति स्वामिन्नासवस्येव शुक्तता॥ ११॥**

*अन्वयः*—स्वामिन् भवत्भक्तिअमृतआस्वादात् बोधस्य या परा अपि दशा स्यात् सा मां प्रति आसवस्य शुक्तता इव (स्यात्)।

स्वामिन्—हे स्वामी!, भवत्- —आप की, भक्ति—भक्ति रूपी, अमृत—अमृत का, आस्वादात्—रसास्वादन किये बिना, बोधस्य—ज्ञान की, या—जो, परा अपि—उच्च कोटि की भी, दशा—दशा, स्यात्—हो, सा—वह (शुष्क ज्ञान की पराकाष्ठा), मां प्रति—मेरे लिए, आसवस्य—मदिरा की, शुक्तता—खटाई, इव—जैसी अर्थात् मदिरा के समान खट्टी (अर्थात् नीरस और अरोचक), (स्यात्—है)॥

हे जगत् के नियामक! आपके भक्तिरूपी अमृतरस का आस्वाद लिए बिना अगर (शुष्क) ज्ञान की कोई एवं कितनी ही उत्कृष्ट अवस्था हो, वह तो मेरे लिए बासी मदिरा की सडाँध जैसी बिल्कुल [१]अरोचक है॥ ११॥

विशेष—

(१) प्रस्तुत मुक्तक में भगवान् उत्पलदेव ने, व्यंग्यरूप में, भक्तिरहित मुक्तिदशा अथवा शान्तशिवपद दशा जैसी उच्चकोटि की समझी जानेवाली ज्ञान की अवस्थाओं की निकृष्टता का संकेत दिया है॥

**भवद्भक्तिमहाविद्या येषामभ्यासमागता।**
**विद्याविद्योभयस्यापि त एते तत्त्ववेदिनः।। १२।।**

*अन्वयः*—भवद्भक्तिमहाविद्या येषाम् अभ्यासम् आगता ते एते विद्याअविद्याउभयस्य अपि तत्त्ववेदिनः (भवन्ति)।

भवद्—आप की, भक्ति—भक्ति रूपिणी, महाविद्या—अध्यात्म-विद्या, येषाम्—जिन (पुरुषों) के, अभ्यासम्—अभ्यास में, आगता—आई हो, ते एते—वे ही तो, विद्या—विद्या तथा, अविद्या—अविद्या, उभयस्य—दोनों का, अपि—ही, तत्त्व-वेदिनः—सार-भूत तत्त्व जानने वाले, (भवन्ति—होते हैं)॥

(हे शंकर!) जिन भक्तवरों को आपकी भक्ति के रूपवाली 'महाविद्या' अर्थात् परम उत्कृष्ट आत्मसंवेदन का आंतरिक अनुशीलन पक्का हो गया हो, केवल उन्हीं महात्माओं को 'विद्या'-अर्थात् सरस अध्यात्मज्ञान एवं 'अविद्या'-अर्थात् अधकचरा बौद्धज्ञान, दोनों के निचोड की पक्की जानकारी होती है।। १२।।

'अपि का अर्थ एव—ही समझना

**आमूलाद्वाग्लता सेयं क्रमविस्फारशालिनी।**
**त्वद्भक्तिसुधया सिक्ता तद्रसाढ्यफलास्तु मे।। १३।।**

*अन्वयः*—आमूलात् क्रमविस्फारशालिनी सा इयं वाग्लता मे त्वद् भक्तिसुधया सिक्ता तद्रसआढ्यफला अस्तु।

आमूलात्—मूल (अर्थात् परावाग् भूमि) से, क्रम—(पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपी) क्रम से, विस्फार—विकास से, शालिनी—सुशोभित बनी हुई, सा इयं—वही यह, वाग्लता—वाणी रूपिणी लता, मे—मेरे लिए, त्वद्—आप की, भक्ति—भक्ति रूपी, सुधया—अमृत से, सिक्ता—सींची हुई तथा, तद्रस—उस (भक्ति के आनन्द) के रस रूपी, आढ्य—बड़े, फला अस्तु—फलों वाली हो॥

(हे दयामय शंकर!) 'मूल-' अर्थात् परावाणी से ही अंकुरित होकर, 'क्रम-' अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों की तार को पकड़कर विकसित होने से शोभायमान बनी हुई यह मेरी वाणीरूपिणी

बेलरी, आपकी भक्तिरूपी सुधा से अच्छी प्रकार सींची जाकर, मेरे लिए, उसी भक्तिरस से भरपूर फलसंपदा को वितरित करती रहे॥ १६॥

**शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते।**
**त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम्॥ १४॥**

*अन्वयः*–शिवो भूत्वा (शिवं) यजेत इति (तत्स्थाने) भक्तो भूत्वा इति कथ्यते हि सारं वपुः त्वं भक्तैः एव अद्वयशोधितम्।

शिवो भूत्वा–शिव बनकर, (शिवं–शिव को), यजेत–पूजना चाहिए, इति–इस प्रकार (जो वेदोक्त विधिरूपी प्रेरणा शास्त्रों में कही गई है), (तत्स्थाने–उसके स्थान पर), भक्तो भूत्वा–'भक्त बनकर ही (शिव को पूजना चाहिए)', इति–ऐसा (भक्तजनों से), कथ्यते–कहा जाता है। (यह बात तो युक्ति-युक्त ही है), हि–क्योंकि, सारं–पारमार्थिक सारभूत, वपुः–स्वरूप वाले, त्वं–आप, भक्तैः एव–भक्तों द्वारा ही, अद्वय-शोधितम्–अभेद-दृष्टि से ढूंढे गये हैं (अर्थात् ढूंढकर पाये जाते हैं)॥

(हे स्वात्ममहेश्वर!) (शास्त्रों का कथन है कि-) स्वयं शिव बनकर ही शिव की अर्चना करनी चाहिए, (उलटे में भक्तजनों का विश्वास है कि–) भक्त बनकर ही शिव की पूजा करनी चाहिए, चूंकि भक्तप्रवरों ने अद्वैतदृष्टि से परीक्षण करने के उपरान्त आप ही को पारमार्थिक निचोड़ के रूपवाला वस्तुसद्भाव ढूँढ निकाला है (अतः उन्ही की मान्यता युक्तियुक्त है)॥ १४॥

तात्पर्य यह है कि–"स्वस्वरूप शिवसमावेशभक्तिशाली ही वास्तविक पूजा को जानता है॥

**भक्तानां भवदद्वैतसिद्ध्यै का नोपपत्तयः।**
**तदसिद्ध्यै निकृष्टानां कानि नावरणानि वा॥ १५॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) भवद्‌अद्वैतसिद्ध्यै भक्तानां काः न उपपत्तयः वा तद्‌असिद्ध्यै निकृष्टानां कानि न आवरणानि।

(प्रभो–हे प्रभु!), भवद्–आपकी, अद्वैत-सिद्ध्यै–अद्वैत-सिद्धि के निमित्त, भक्तानां–भक्त-जनों के लिए, काः–कौन सी (चीजें), न उपपत्तयः–

युक्तियाँ अर्थात् साधन नहीं (होतीं), वा—तथा (इसके प्रतिकूल), तद्—(आप की) उस (अद्वैत दशा) के, असिद्धचै—असिद्ध अर्थात् अप्रकाशित होने के निमित्त, निकृष्टानां—नीच (अर्थात् आप से विमुख संसारी लोगों) के लिए, कानि न आवरणानि—कौन सी (चीज़ें) आवरण अर्थात् असफल बनाने वाली नहीं होतीं?॥

(हे अद्वैत चित्-पुरुष!) आपके अद्वैतस्वरूप को सिद्ध वस्तु ठहराने की दिशा में भक्तजनों के लिए कौन से पदार्थ 'युक्तियां'—अर्थात् साधन नहीं बन जाते?, जबकि उसको असिद्ध ठहराने की हठवादिता में तुच्छ पशुजनों के लिए कौन से पदार्थ सच्चाई को छिपाने के आवरण नहीं बन जाते हैं?॥ १५॥

"निकृष्टानां" का अंग्रेजी अनुवाद स्वामी जी ने **"unfortunate persons"** किया है।

**कदाचित्क्वापि लभ्योऽसि योगेनेतीश वञ्चना।**
**अन्यथा सर्वकक्ष्यासु भासि भक्तिमतां कथम्॥ १६॥**

*अन्वयः*—ईश कदाचित् क्वापि योगेन (त्वं) लभ्यः असि इति वञ्चना अन्यथा सर्व कक्ष्यासु भक्तिमतां कथं भासि।

ईश—हे स्वामी!, कदाचित्—कभी (अर्थात् किसी नियत समाधि की दशा में), क्वापि—और कहीं (अर्थात् हृदय आदि किसी निश्चित स्थान पर), योगेन—योगाभ्यास द्वारा, (त्वं—आप), लभ्यः असि—प्राप्त किये जा सकते हैं, इति—यह बात (अर्थात् इस रीति से आप के स्वरूप का प्राप्त होना), वञ्चना—धोखा (ही है), अन्यथा—नहीं तो, सर्व—सभी (समाधि तथा व्युत्थान रूपी), कक्ष्यासु—दशाओं में, भक्तिमतां—भक्त-जनों को, कथं भासि—आप कैसे दिखाई देते हैं?॥

हे ईश्वर! "आपका साक्षात्कार 'कभी'-अर्थात् किसी निश्चित समाधिकाल में, 'कहीं'-अर्थात् किसी निश्चित चक्रस्थान पर, और 'योग'-अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध, करने से ही हो सकता है,"-यह सारा मंतव्य निरा एक झांसापट्टी है, नहीं तो भक्तजनों को हरेक 'कक्ष्या'-अर्थात् समाधि या व्युत्थान की अवस्थाओं में क्योंकर प्रकाशित

होते रहते हो?॥ १६॥

**प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो विशेषोऽस्ति महानयम्।**
**योगिभ्यो भक्तिभाजां यद्व्युत्थानेऽपि समाहिताः॥१७॥**

*अन्वयः*—योगिभ्यः भक्तिभाजां प्रत्याहारादिअसंस्पृष्टः अयम् महान् विशेषः अस्ति यद् व्युत्थाने अपि (ते) समाहिताः (भवन्ति)।

**योगिभ्यः**—योगियों की अपेक्षा, **भक्तिभाजां**—भक्तिमान (लोगों) की, **प्रत्याहारादि**—प्रत्याहार आदि (सभी योग-साधनाओं) से, **असंस्पृष्टः**—न छुई हुई, **अयम्**—यह, **महान्**—बड़ी (अर्थात् सर्वतोमुखी महत्त्व प्रकट करने वाली), **विशेषः**—विशेषता, **अस्ति**—होती है, **यद्**—कि, **व्युत्थाने**—व्युत्थान (की दशा) में, **अपि**—भी, (**ते**—वे), **समाहिताः**—समाधिस्थ ही, (**भवन्ति**—होते हैं)॥

(हे भक्तप्रिय शर्व!) (योगियों और भक्तों की आपस में तुलना करने पर) 'भक्तप्रवरों में, प्रत्याहार इत्यादि (मन का निग्रह करने के लिए आवश्यक) योगाङ्गों का स्पर्शमात्र तक होने के विना ही यह अतिशय पाया जाता है, कि वे व्युत्थान की अवस्था में भी (विमर्शरूप में) 'समाहित'-अर्थात् लक्ष्य पर ही केन्द्रित (समाधिनिष्ठ) बने रहते हैं॥ १७॥

विशेष—

प्रत्याहार—"To squeese mind from sensual objects is प्रत्याहार" (Swami ji)

(१) योगी जन योगशास्त्रों में वर्णित प्रत्याहार, ध्यान समाधि इत्यादि आठ योगाङ्गों का आयाससाध्य अभ्यास करते रहने पर ही मन को एकाग्र करके लक्ष्यबद्ध बना सकते हैं, परन्तु भक्तजनों को मानसिक एकाग्रता की अवस्था भक्तिरस में डुबानेमात्र से अनायास ही सिद्ध हो जाती है, फलतः योगियों की अपेक्षा भक्तजनों में यही विशेष अतिशय पाया जाता है॥

ईश्वर-आश्रम श्रीनगर में जुलाई सन् १९९० में स्वामी जी महाराज ने प्रसिद्ध अष्टांग योग के स्थान पर छः योगों पर ही अधिक बल दिया और कहा कि— In Śaivism only six limbs of yoga are recommended e.q. – प्राणायाम, ध्यान प्रत्याहार, धारणा, तर्क and समाधि। तर्क is Superior, because it empowers you with this feeling that I am

universal being–I am nothing. I am every thing.

**न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।**
**अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥ १८॥**

*अन्वयः*– अमाये अस्मिन् शिवमार्गे न योगः न तपः (च) न कोऽपि अर्चाक्रमः प्रणीयते (अपि तु) एका भक्तिः प्रशस्यते।

**अमाये**–माया से रहित, **अस्मिन्**–इस, **शिव-मार्गे**–शिव-मार्ग में, **न योगः**– न योगाभ्यास, **न तपः**–न तपस्या, (च–और), **न**–न ही, **कोऽपि**–कोई भी, **अर्चाक्रमः**–पूजा का क्रम, **प्रणीयते**–निश्चित किया जाता है, (अपि तु–किन्तु इस मार्ग में), **एका**–केवल, **भक्ति**–(भगवान् शंकर की) भक्ति ही, **प्रशस्यते**–प्रशंसनीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ (उपाय) कही जाती है॥

(हे भक्तवत्सल चित्-देव!) शिवमार्ग में [१]माया का अनुप्रवेश कतई नही है अतः इसमें (किसी निश्चित अथवा मर्यादित) योग साधन, तपस्या या अर्चनापद्धति की लीक नहीं खींची जा सकती है, इसमें तो केवल (अनन्य) भक्ति को ही प्रशंसनीय माना जाता है॥ १८॥

विशेष–

माया=दुविधा के तिमिर से जनित मिथ्याभास=भ्रान्तिज्ञान। शिवमार्ग में शिव, शक्ति और नर इन तीनों स्तरों पर जो कुछ भी आभासमान है वह तो, निश्चित रूप से, चित्-शक्ति का ही विलास है, दुविधा या मिथ्याभास भी तभी है जब चित्-भाव ही इसका आधार है, अतः शिवमार्ग में माया की पहुंच नहीं है॥

**सर्वतो विलसद्भक्तितेजोध्वस्तावृतेर्मम।**
**प्रत्यक्षसर्वभावस्य चिन्तानामापि नश्यतु॥ १९॥**

*अन्वयः*– सर्वतः विलसत्भक्तितेजःध्वस्तआवृतेः (च) प्रत्यक्षसर्वभावस्य मम चिन्तानाम अपि नश्यतु।

**सर्वतः**–प्रत्येक ओर से, **विलसत्**–चमकते हुए, **भक्ति**–भक्ति रूपी, **तेजः**–प्रकाश से, **ध्वस्त**–नष्ट हुए, **आवृतेः**–(अज्ञान रूपी) आवरण वाले, (च–और), **प्रत्यक्ष-सर्वभावस्य**–समस्त पदार्थों के सत्य-स्वरूप को (भैरवी[२]

मुद्रा द्वारा) देखने वाले, मम–मुझ (भक्त) की, चिन्ता–विकल्प-वृत्तियों का, नाम अपि–नाम भी, नश्यतु–नष्ट हो जाय॥

(हे शान्तिस्वरूप प्रभु!) चारों ओर से (अन्तःबहिः) विलसती हुई भक्ति के आलोक से गले हुए आवरणों वाले, और ([1]भैरवी–मुद्रा की क्षमता से) सारे पदार्थों के मौलिक स्वरूप को प्रत्यक्षरूप में देखने वाले मुझ भक्तजन की सारी 'चिन्ताओं'-अर्थात विकल्प की शृंखलाओं का नाम भी मिट जाए॥ १९॥

**शिव इत्येकशब्दस्य जिह्वाग्रे [2]तिष्ठतः सदा।**
**समस्तविषयास्वादो भक्तेष्वेवास्ति कोऽप्यहो॥ २०॥**

*अन्वयः*– अहो सदा शिव इति एकशब्दस्य जिह्वाग्रे तिष्ठतः कोऽपि समस्तविषयआस्वादः भक्तेषु एव अस्ति।

अहो–आश्चर्य है कि, सदा–प्रतिक्षण, शिव इति–'शिव' इस, एक–एक, शब्दस्य–शब्द के, जिह्वाग्रे–जिह्वा की नोक पर, तिष्ठतः–ठहरने पर, कोऽपि समस्त-विषय-आस्वादः–सभी (अर्थात्, रूप, रस आदि पाँचों) विषयों का अलौकिक रसास्वादन (अथवा जगदानन्द रूपी चमत्कार), भक्तेषु एव–भक्तों को ही, अस्ति–प्राप्त होता है॥

(हे चिन्मय देव!) यह बड़ा अचरज है कि 'शिव'–इस एकले 'शब्द'–अर्थात् शब्दात्मक विषय के हमेशा जीभ की नोक पर वर्तमान रहने से केवल सच्चे भक्तों को ही अन्य सारे 'विषयों'–अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इन पांचों विषयों का अवर्णनीय 'आस्वाद'-अर्थात् चित्-चमत्काररूपी लोकोत्तर आस्वाद (एक साथ ही) प्राप्त हो जाता है॥ २०॥

**शान्तकल्लोलशीताच्छस्वादुभक्तिसुधाम्बुधौ।**
**अलौकिकरसास्वादे सुस्थैः को नाम गण्यते॥ २१॥**

---

१. भैरवी-मुद्रा के विषय में सद्गुरु महाराज का कथन–
'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
इयं सा भैरवी-मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥'-इति भैरवमुद्रायाः लक्षणम्।

२. ख० पु०–वसतः-इति पाठः।

*अन्वयः*– शान्त कल्लोल शीतअच्छस्वादुभक्तिसुधा अम्बुधौ अलौकिक-रसआस्वादे सुस्थैः (भक्तैः) को नाम गण्यते।

**शान्त**–शान्त हो गई हैं, **कल्लोल**–(विकल्प रूपी) लहरें जिस की, ऐसे, **शीत**–शीतल, **अच्छ**–निर्मल तथा, **स्वादु**–मधुर, **भक्ति-सुधा**–भक्ति-अमृत रूपी, **अम्बुधौ**–समुद्र में, **अलौकिक**–अलौकिक, **रस**–परमानन्द-रस के, **आस्वादे**–चमत्कार के विषय में, **सुस्थैः**–सुख-स्थित (अर्थात् निश्चिन्त), (**भक्तैः**–भक्त-जनों से), **को नाम**–किस पुरुष को, **गण्यते**–गिनती में लाया जाता है? (अर्थात् वे भक्त-जन सबों को अपना ही स्वरूप समझते हैं एवं उनको अपने से भिन्न नहीं समझते हैं)॥

(हे विकल्पातीत शंकर!) जिसमें विकल्पों की लहरें थम चुकी हों–ऐसे शान्तिदायक, निर्मल एवं (अत्यन्त) स्वादिष्ट भक्ति-अमृत के सागर में अलौकिक रस का पान करने पर सर्वभाव से जुटे हुए व्यक्ति (भक्तजन), भला किस दूसरे की गणना करते हैं?॥

*संकेत*–

अर्थात् वे भक्तजन सबों को अपना स्वरूप ही समझते हैं, एवं उनको अपने से भिन्न (दूसरा) नहीं समझते हैं। (श्री ईश्वरस्वरूप महाराज)

**मादृशैः किं न चर्व्येत भवद्भक्तिमहौषधिः।**
**तादृशी भगवन्यस्या मोक्षाख्योऽनन्तरो रसः॥ २२॥**

*अन्वयः*– भगवन् मादृशैः तादृशी भवद्भक्तिमहौषधिः किं न चर्व्येत यस्याः अनन्तरः मोक्षाख्यः रसः भवति।

**भगवन्**–हे भगवान्!, **मादृशैः**–(भक्ति के तत्त्व को जानने वाले) मुझ जैसे (लोगों) से, **तादृशी**–वैसी (अर्थात् अलौकिक), **भवद्**–आप की, **भक्ति**–(उस) भक्ति रूपिणी, **महौषधिः**–बड़ी औषधि का, **किं न चर्व्येत**–मज़ा क्यों न चखा जाय, **यस्याः**–जिसके (सेवन करने से), **अनन्तरः**–(भक्ति-रस के अतिरिक्त) साथ ही दूसरा, **मोक्षाख्यः**–मोक्ष नामक, **रसः**–रस (भी), **भवति**–प्राप्त होता है॥

हे भगवान्! 'मुझ जैसे'-अर्थात् भक्ति की महिमा को समझने वाले

व्यक्तियों के द्वारा, आपकी 'वैसी'-अर्थात् संतापों का शमन करने वाली भक्तिरूपिणी औषधि, जिसका सेवन करने पर (भक्तिरस के साथ साथ), अनन्तरित रूप में, मुक्ति नामवाले रस की भी उपलब्धि हो जाती है, का स्वाद क्यों न लिया जाए?॥ २२॥

**ता एव परमर्थ्यन्ते सम्पदः सद्भिरीश याः।**
**त्वद्भक्तिरससम्भोगविस्रम्भपरिपोषिकाः॥ २३॥**

*अन्वयः*– ईश सद्भिः ता एव सम्पदः परम् अर्थ्यन्ते याः त्वद्भक्तिरससंभोग-विस्रम्भपरिपोषिकाः।

ईश–हे स्वामी!, **सद्भिः**–भक्ति-शाली जन, ता एव–उन्हीं, **सम्पदः**–संपदाओं को, **परम्**–केवल, **अर्थ्यन्ते**–मांगते हैं, याः–जो (संपदाएं), त्वद्–आपकी, **भक्ति**–भक्ति रूपी, **रस**–परमानन्द-रस के, **संभोग**–चमत्कारात्मक, विस्रम्भ–सप्रत्यय हर्ष को, परि–सब प्रकार से, **पोषिकाः**–बढ़ाती हैं॥

हे स्वामी! महिमाशाली भक्तजनों के द्वारा आपसे केवल ऐसी सम्पदाओं की याच्ञा की जाती है जो आपकी समावेशमयी भक्ति के रस का (निरन्तर) चर्वण करते रहने के विश्वास को पुष्टि प्रदान करनेवाली हों॥ २३॥

**चित्रं निसर्गतो नाथ दुःखबीजमिदं मनः।**
**त्वद्भक्तिरससंसिक्तं निःश्रेयसमहाफलम्॥ २४॥**

*अन्वयः*–नाथ इदं मनः निसर्गतः दुःख बीजं (इदं तु) चित्रम् त्वद्-भक्तिरससंसिक्तं निःश्रेयसमहाफलं (भवति)।

नाथ–हे स्वामी!, **इदं**–यह, **मनः**–मन (रूपी पेड़), **निसर्गतः**–स्वभाव से ही, **दुःख-बीजं**–(विकल्प रूपी उपद्रवों का हेतु होने से) ऐसा है जिस का बीज (अर्थात् मूल) दुःख है, (इदं तु–किन्तु यह तो), **चित्रम्**–आश्चर्य है कि, **त्वद्**–आप के (स्वरूप संबन्धी), **भक्ति-रस**–(समावेशात्मक) भक्तिरस से, **संसिक्तं**–सींचे जाने पर (यही मन रूपी पेड़), **निःश्रेयस**–परमानन्द रूपी, **महाफलं**–अति उत्कृष्ट (तथा वाञ्छनीय) फल वाला, (भवति–बन जाता है)॥

हे नाथ! यह मन तो स्वभाव से ही दुःखों का बीज अर्थात् 'मूलकारण है, परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि यही (दुःख का बीज) मन आपकी भक्ति के रस से सींचा जाने पर परमोच्च कल्याण (मुक्ति) के फल को उपजाता है॥ २४॥

विशेष–

(१) प्रस्तुत मुक्तक में भगवान् उत्पल ने मन को दुःख-बीज कहा है। इस शब्द की दो प्रकार से व्याख्या हो सकती है– (१) दुःख ही जिसका बीज है, और (२) जो दुःख का बीज है। फलतः मन स्वयं भी 'दुःख'–अर्थात् विकल्परूपी दुःखमयता की उपज होता है, और आगे आगे विकल्पों के गोरखधन्धे की दुःखमयता को ही उपजाता भी रहता है, अतः यह दोनों रूपों में दुःखबीज ही है।

पाठक गण ध्यान दें कि स्वामी जी महाराज ने २६ जुलाई १९९० को सायं नौ बजे प्रथम स्तोत्र पर समावेश दशा में प्रकाश डालते हुए श्लोक नं. २५ और २६ को काट दिया और ''चित्रं निर्सगतो नाथ'' को श्लोक नं. २४ रखा। इस प्रकार प्रथम स्तोत्र के २४ ही श्लोक उनके मतानुसार मान्य है। शेष दो प्रक्षेप होने के कारण उनके अनुसार उत्पलदेव रचित नहीं है। फिर भी साधरण जनता के लिए श्लोक नं. २५ और २६ को इस संस्करण में रखा गया है।

**भवद्भक्तिसुधासारस्तैः किमप्युपलक्षितः।**
**ये न रागादिपङ्केऽस्मिँल्लिप्यन्ते पतिता अपि॥ २५॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) भवद्भक्तिसुधाआसारः तैः (एव) किमपि उपलक्षितः ये अस्मिन् रागआदि पंके पतिताः अपि न लिप्यन्ते।

(प्रभो–हे प्रभु!), भवद्–आप के, भक्ति-सुधा–भक्ति-अमृत की, आसारः–धारावाही वर्षा, तैः (एव)–उन्हीं (भक्तों) से, किमपि–अलौकिक रूप में, उप–प्रत्यक्ष, लक्षितः–देखी गई है (अर्थात् अनुभव की जाती है), ये–जो, अस्मिन्–इस, राग-आदि–राग, द्वेष आदि रूपी, पंके–कीचड़ में, पतिताः अपि–गिर कर भी (अर्थात् इन रागादिकों का सेवन करने पर भी), न लिप्यन्ते–(इन में) लिप्त नहीं होते॥

(हे अमृतेश्वर देव!) आपके भक्तिरूपी अमृत के अति मुग्धकारी

धारासार वर्षण को केवल वही भक्तजन भांप लेते हैं, जो राग-द्वेष इत्यादि के दलदल में पड़कर भी लिप्त नहीं हो पाते हैं॥ २५॥

**अणिमादिषु मोक्षान्तेष्वङ्गेष्वेव फलाभिधा।**
**भवद्भक्तेर्विपक्वाया लताया इव केषुचित्॥ २६॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) अणिमादिषु फलअभिधा (सा) विपक्वायाः भवद्‌भक्तेः लतायाः एव मोक्षान्तेषु (या) केषुचित् अंगेषुइव (वर्तते)।

(प्रभो–हे ईश्वर!), **अणिमादिषु**–(स्थूल) अणिमा आदि (सिद्धियों) से लेकर, **फल-अभिधा**–(इन सिद्धियों के) फल की बात (कही जाती है), (सा–वह), **विपक्वायाः**–परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुई, **भवद्-भक्तेः**–आप की भक्ति-रूपिणी, **लतायाः**–लता के, **एव**–ही, **मोक्षान्तेषु**–(परमसिद्धिमय) मोक्ष (रूपी सिद्धि) तक, (या–जो), **केषुचित्**–किन्हीं (अलौकिक), **अंगेषु-इव** (वर्तते)–अंगों में मानो पाई जाती है (अर्थात् अणिमा आदि सिद्धियों की संपत्तियां आप की भक्ति रूपिणी लता के ही फल हैं, उन से तनिक भी भिन्न नहीं हैं)॥

(हे वरद प्रभु!) (स्थूल) अणिमा आदि सिद्धियों से लेकर मोक्ष नामवाली परसिद्धि तक की सिद्धियों को (शास्त्रों में) जो फल की संज्ञा दी गई है वह तो उनके आपकी परिपक्व बनी हुई भक्तिरूपिणी बेलरी के अभिन्न अंग होने से ही चरितार्थ होती है–(जिस प्रकार किसी लता के फलों की फलवत्ता तभी चरितार्थ होती है जब कि वे उस लता के निजी अंग ही होते हैं)॥ २६॥

पहला स्तोत्र समाप्त

ॐ नमः शिवाय

भक्तानां मानसे शुभ्रे मराली भक्तिरूपिणी।
सर्वात्मभावना मुक्ताश्चर्वयन्ती विराजते॥

# भक्तिविलास नामक दूसरा स्तोत्र

इस स्तोत्र का दूसरा नाम 'सर्वात्मपरिभावना' है जिस का अभिप्राय है : सारे जड़-चेतन पदार्थों की एकली आत्मा का विमर्शमय साक्षात्कार।

**अग्नीषोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गम-**
**स्वरूप बहुरूपाय नमः संविन्मयाय ते॥ १॥**

*अन्वयः*—अग्निसोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गमस्वरूप! संविद्रूपाय (च) बहुरूपाय ते नमः।

अग्नि—अग्नि, सोम—चन्द्रमा, रवि—सूर्य, ब्रह्म—ब्रह्मा, विष्णु—नारायण, स्थावर—(वृक्ष, पर्वत आदि) स्थावर, जङ्गम—और (मनुष्य आदि) जङ्गम के, स्वरूप!—स्वरूपों को धारण करने वाले, हे ईश्वर!, संविद्रूपाय—(विश्वोत्तीर्ण दशा में) संविद्रूप बने हुए, (च—और) बहुरूपाय—(विश्वमय दशा में) नाना-रूप-धारी, ते—आप को, नमः—प्रणाम हो॥

आग, चन्द्रमा, सूर्य, ब्रह्मा, (वृक्ष पहाड़ इत्यादि अचल पदार्थों और (मनुष्य शेर इत्यादि) चल प्राणियों के अनन्त स्वरूपों में रममाण रहने वाले हे आदि देव!, (विश्वमय अवस्था में) अनगिणत रूपों वाले होते हुए भी (विश्वोत्तीर्ण अवस्था में) केवल संवित्-मय आत्मरूप में रममाण रहने वाले आपको नमस्कार हो॥ १॥

(क) संवित्—सम्-सर्वतोमुखी एवं शाश्वतिक, वित्-ज्ञातृता=जानकारी। संवित् ही प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ की एकली आत्मा है।

(ख) —प्रस्तुत मुक्तक में 'अग्नी' शब्द से लेकर 'बहुरूपाय' शब्द तक भगवान के विश्वमय, और 'संविन्मयाय' शब्द से विश्वोत्तीर्ण रूप का परामर्श किया गया है।

(ग) देखिये "सद्‌गुरु अष्टोत्तरशतनामावली" (लेखक मखनलाल कुकिलू) जिस में सद्गुरु की विशेषता इस प्रकार कही गई है–मातृ प्रमाण प्रमेय मयाय तुभ्यं नमः श्री गुरवे शिवाय॥

**विश्वेन्धनमहाक्षारानुलेपशुचिवर्चसे।**
**महानलाय भवते विश्वकैहविषे नमः॥ २॥**

*अन्वयः*–(स्वात्म-परामर्शेन)(निर्दग्ध) विश्वइन्धनमहाक्षारअनुलेपशुचिवर्चसे (च) विश्वएकहविषे महानलाय भवते नमः।

(स्वात्म-परामर्शेन–स्वरूप-परामर्श से), (निर्दग्ध–जली हुई) विश्व–जगत् रूपी, इन्धन–लकड़ी के, महा-क्षार–बडे भस्म-पुञ्ज के, अनुलेप–मलने से, शुचि–(अद्वैत-प्रकाश रूपी) शुद्ध, वर्चसे–निर्मल तेज से युक्त, (च–और), विश्व–समस्त संसार को, एक- –एक ही, हविषे–आहुति के रूप में धारण करने वाले, महानलाय–परमप्रमातृ-अग्निस्वरूप, भवते नमः–आप को नमस्कार हो॥

(हे परमात्मदेव!) जागतिक भेदभाव के रूपवाले ईंधन को जलाकर शेष बचे हुए (संस्कार रूपिणी) भभूत के ढ़ेर को 'मलने से'-अर्थात् उससे स्वरूप को जमकर मांजने से निर्मल शुचि नामक अग्नि की तेजस्विता से चमकने वाले, और सारी भेदप्रथा को एक ही आहुति बनाकर चित्-प्रकाश में ही निलीन करने वाले आप महान् अग्निपुंज को प्रणाम हो॥ २॥

संकेत-

(क) मूल 'विश्व' शब्द से विश्वभर में फैले हुए भेदभाव का अभिप्राय है।
(ख) महाक्षार=भभूत का बड़ा ढ़ेर अर्थात् भेदभाव की वासना गल जाने के उपरान्त भी बचे-खुचे सूक्ष्म संस्कार।
(ग) महानल=पर-प्रमातृभावरूपी महान (घस्मर) अग्निपुंज।
(घ) द्वैतेन्धन दाहक पावकाय तुभ्यं नमः श्री गुरवे शिवाय॥

**परमामृतसान्द्राय शीतलाय शिवाग्नये।**
**कस्मैचिद्विश्वसंप्लोषविषमाय नमोऽस्तु ते॥ ३॥**

*अन्वयः*– परमामृतसान्द्राय शीतलाय (च) विश्वसंप्लोषविषमाय कस्मैचित् शिवअग्नये ते नमः अस्तु।

परमामृत—(चिदानन्द-रस रूपी) परमामृत से, सान्द्राय—कोमल और मनोहर बने हुए, शीतलाय—(संसार का संतापहर होने से) अति शीतल, (च—और), विश्व—जगत् (भेद-प्रथा) के, संप्लोष—जलाने का हेतु होने से, विषमाय—अति दारुण अर्थात् भयंकर, कस्मैचित्—एक (अलौकिक), शिव-अग्नये—कल्याणमय अग्निस्वरूप, ते—आप को, नमः अस्तु—प्रणाम हो॥

(हे परमात्मदेव!) अति उत्कृष्ट (चिदानन्दमय) अमृत से भरपूर होने के कारण स्निग्ध, (तीनों तापों का शमन करने के कारण) शान्तिदायक, और जागतिक भेदभाव को एकदम जला डालने के कारण बहुत भयंकर, आपके अवर्णनीय कल्याणमय अग्निस्वरूप को प्रणाम हो॥ ३॥

संकेत-

(क) सान्द्राय—अत्यन्त कोमल एवं देखने में बहुत सुन्दर।

(ख) विश्व—जागतिक—सांसारिक।

(ग) शिवाग्नि—चित्-शक्तिमय आग जो युगपत् ही शीतल एवं दाहक भी है। जिस आग में पड़कर सारी बहुरंगी कुंठाएँ एवं विरोधाभास समरस संवित् ही बन जाते हैं वही शिवमय अग्नि है।

**महादेवाय रुद्राय शङ्कराय शिवाय ते।**
**महेश्वरायापि नमः कस्मैचिन्मन्त्रमूर्तये॥ ४॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) महादेवाय रुद्राय शङ्कराय महेश्वराय अपि कस्मैचित् मन्त्रमूर्तये ते शिवाय नमः।

हे प्रभु! महादेवाय—परम देवता, रुद्राय—रुद्र भगवान्, शङ्कराय—कल्याणकारी, शिवाय—सुखस्वरूप, महेश्वराय—ईश्वरों के भी ईश्वर, अपि—भी, कस्मैचित्—एक (अलौकिक), मन्त्रमूर्तये—(अहं-विमर्शात्मा) मंत्रस्वरूप, वाले ते—आप को, नमः—प्रणाम हो॥

(हे अहंरूप शिव!) महादेव (स्वतंत्र क्रीडा करने वाला), रुद्र (चित्-भाव पर अटल रहने वाला) शंकर (कल्याणकारी), शिव (अनुग्रहमय), महेश्वर (ईश्वरों के भी ईश्वर)—इन स्वरूपों को, और साथ ही किसी लोकोत्तर (अहंविमर्शमय) मंत्रस्वरूप में वर्तमान रहने वाले आपको प्रणाम हो॥ ४॥

**नमो निकृत्तनिःशेषत्रैलोक्यविगलद्वसा-**
**वसेकविषमायापि मङ्गलाय शिवाग्नये॥ ५॥**

*अन्वयः*– निकृत्तनिःशेषत्रैलोक्यविगलत्वसाअवसेकविषमाय अपि मंगलाय शिवाग्नये नमः।

**निकृत्त**–काटी हुई, **निःशेष**–समस्त, **त्रैलोक्य**–त्रिलोकी की, **विगलत्**–पिघली हुई, **वसा**–चरबी की, **अवसेक**–आहुति (के ग्रहण करने) से, **विषमाय**–अत्यन्त भयंकर (और इसीलिए अमंगलात्मक) होकर, **अपि**–भी, **मंगलाय**–मंगल-स्वरूप (आप), **शिवाग्नये**–शिव रूपी अग्नि को, **नमः**–नमस्कर हो॥

(हे आदिदेव!) (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति के रूपों वाले) तीनों लोकों को चीरने से झड़ती हुई (अनन्त वासनाओं और उनके संस्कारों के रूपवाली) चरबी की आहुति का आहार करने से अति भयानक (अमंगलमय लगते हुए भी, (वास्तव में) सर्वथा मंगलस्वरूप आप शिवाग्नि को प्रणाम हो॥ ५॥

*विशेष*–

संकुचित जीवदृष्टि में भले ही भगवान् शिव अमंगलमय दिखाई देते हों, परन्तु असल में वे सदा मंगलस्वरूप हैं। कविसम्राट् कालिदास ने भी अपनी प्रसिद्ध रचना 'कुमारसंभवम्' में इस यथार्थ का अनुमोदन किया है–
'स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः'।

**समस्तलक्षणायोग एव यस्योपलक्षणम्।**
**तस्मै नमोऽस्तु देवाय कस्मैचिदपि शम्भवे॥ ६॥**

*अन्वयः*–समस्तलक्षण अयोगः एव यस्य उपलक्षणम् तस्मै कस्मैचिदपि देवाय शम्भवे नमोऽस्तु।

**समस्त**–सभी (उच्चार, करण आदि), **लक्षण**–लक्षणों अर्थात् उपायों के साथ, **अयोगः**–संबन्ध-रहित होना, **एव**–ही, **यस्य**–जिस का, **उपलक्षणम्**–अति निकट (स्वरूपबोधक) लक्षण है, **तस्मै**–उस, **कस्मैचिदपि**–एक (अलौकिक), **देवाय**–प्रकाश-स्वरूप तथा, **शम्भवे**–कल्याण-स्वरूप शिव को, **नमोऽस्तु**–प्रणाम हो॥

(हे पार्वतीनाथ!) (शास्त्रों में सुझाये गए ध्यान, धारणा इत्यादि बहुतेरे) भगवान के स्वरूप को पहचानने के उपायों की पहुंच से बाहर होना ही जिसकी असली पहचान है, उस अवर्णनीय एवं लीलामय शंकर को प्रणाम हो॥ ६॥

*संकेत*— शास्त्रकारों का ही यह सुझाव भी है:—

"उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
(चित्-प्रकाश पर ही निर्भर रहनेवाले) उपायों का पचड़ा शिव को प्रकाशित नहीं कर सकता है, (सूर्य के प्रकाश से ही स्वयं दिखने वाला) घड़ा क्या कहीं सूर्य को प्रकाशित कर सकता है?

**वेदागमविरुद्धाय वेदागमविधायिने।**
**वेदागमसतत्त्वाय गुह्याय स्वामिने नमः॥ ७॥**

*अन्वयः*— वेदआगमविरुद्धाय वेदागमविधायिने वेदागमसतत्त्वाय (च) गुह्याय (भवते) स्वामिने नमः।

वेद-आगम—वेद आदि शास्त्रों के, विरुद्धाय—विरोधी, वेदागम—वेद आदि शास्त्रों का, विधायिने—विधान करने वाले, वेदागम—वेद आदि शास्त्रों के, सतत्त्वाय—सारभूत-स्वरूप, (च—और), गुह्याय—सर्वथा अगोचर बने हुए, (भवते—आप), स्वामिने—स्वामी को, नमः—नमस्कार हो॥

(हे सर्वशुद्ध प्रभु!) वेद एवं आगमशास्त्रों के आडंबर का विरोध करने वाले, वेद एवं आगमग्रन्थों का प्रणयन करने वाले, वेद एवं आगमग्रन्थों का सार बने हुए, परन्तु असल में सबों के लिए रहस्य बने हुए आप स्वामी को प्रणाम हो॥ ७॥

*संकेत*— प्रणयन करना=बनाना, रचना करना। *आगम*—दैवीशास्त्र।

**संसारैकनिमित्ताय संसारैकविरोधिने।**
**नमः संसाररूपाय निःसंसाराय शम्भवे॥ ८॥**

*अन्वयः*— संसारएकनिमित्ताय संसारएकविरोधिने संसाररूपाय निःसंसाराय (भवते) शम्भवे नमः।

संसार- —संसार के, एक-निमित्ताय संसार—(निर्माण के) एक ही

कारण (होते हुए भी), एक–एक ही, विरोधिने–विरोधी अर्थात् संहारक, संसार-रूपाय–संसार-स्वरूप (विश्वमय होते हुए भी), निःसंसाराय–संसार से अछूते रूप वाले (विश्व-उत्तीर्ण), (भवते–आप), शम्भवे–कल्याण-स्वरूप शिव को, नमः–नमस्कार हो॥

(हे निरञ्जन प्रभु!) संसार के एकले मूलकारण, संसार के एकले संहारकारी, और संसारभाव की छूत से सर्वथा अतिक्रान्त आप कल्याणकारी शिव को नमस्कार हो॥ ८॥

**मूलाय मध्यायाग्राय मूलमध्याग्रमूर्तये।**
**क्षीणाग्रमध्यमूलाय नमः पूर्णाय शम्भवे॥ ९॥**

*अन्वयः*–(अस्य जगतः) मूलाय मध्याय (च) अग्राय (अक्रमेण) मूलमध्यअग्रमूर्तये (एवं) क्षीणअग्रमध्यमूलाय (अत एव) पूर्णाय (भवते) शम्भवे नमः।

(अस्य जगतः–इस जगत् का), मूलाय–मूल बने हुए, मध्याय–मध्य रूप बने हुए, (च–और), अग्राय–अग्र अर्थात् अन्तिम स्वरूप बने हुए, (अक्रमेण–अक्रमरूपता से), मूल–मूल, मध्य–मध्य और, अग्र-मूर्तये–अन्तिम स्वरूप बने हुए, (एवं–तथा) (परमार्थ-दृष्टि से), क्षीण-अग्र-मध्य-मूलाय–पूर्व, मध्य और मूल रूपों से रहित, (अत एव–अत एव), पूर्णाय–परिपूर्ण स्वरूप वाले, (भवते) शम्भवे–(आप) शिव को, नमः–नमस्कार हो॥

(हे परिपूर्ण परमेश्वर!) (सक्रम रूप में) पदार्थवर्ग की मूल-अवस्था, बिचली-अवस्था और अन्तिम-अवस्था के रूपों वाले, (अक्रम रूप में) युगपत् ही मूल-मध्य-अग्र रूप में रममाण रहने वाले, और (सक्रम एवं अक्रम दोनों से उत्तीर्ण अवस्था में) मूल, मध्य एवं अन्तिम अवस्थाओं के झमेले से अतिक्रान्त होने के कारण परिपूर्ण चित्-स्वरूप वाले आप शिव को प्रणाम हो॥ ९॥

मूल– स्वरूप विश्रान्ति, मध्य– स्वरूप साक्षात्कार, अग्र– स्वरूप प्रवेश। (स्वामी जी महाराज)

**नमः सुकृतसंभारविपाकः सकृदप्यसौ।**
**यस्य नामग्रहः तस्मै दुर्लभाय शिवाय ते॥ १०॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) यस्य असौ सकृत्अपि नामग्रहः सुकृतसंभार विपाकः तस्मै

दुर्लभाय ते शिवाय नमः।

(प्रभो—हे ईश्वर!), यस्य—जिस का, असौ—यह, सकृत्-अपि—एक बार भी, नाम-ग्रहः—(किया गया) नाम-स्मरण, सुकृत—पुण्यकर्मों की, संभार—राशि का, विपाकः—फल है, तस्मै—उस, दुर्लभाय—अति दुष्प्राप्य, ते—आप, शिवाय—महादेव जी को, नमः—नमस्कार हो॥

(हे आनन्दकंद शिव!) जिस दुर्लभ परमेश्वर का (ॐ नमः शिवाय) इस प्रकार मुख से नाम लेना भी (जन्म जन्मान्तरों से एकत्रित किए हुए) पुण्यकर्मों की ढ़ेर का ही फल होता है, उसी मंगलस्वरूप आपको नमस्कार हो॥ १०॥

**नमश्चराचराकारपरेतनिचयैः सदा।**
**क्रीडते तुभ्यमेकस्मै चिन्मयाय कपालिने॥ ११॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) चराचरआकारपरेतनिचयैः सदा क्रीडते कपालिने एकस्मै चिन्मयाय तुभ्यं नमः।

(प्रभो—हे स्वामी!), चराचर—स्थावर, जंगम, आकार—शरीरों वाले, परेत—प्रेतों के, निचयैः—समुदाय के साथ, सदा—सदैव, क्रीडते—खेलने वाले, कपालिने—(अशेष) खप्परों को धारण करने वाले, एकस्मै—अद्वितीय (और), चिन्मयाय—चिदानन्द-स्वरूप, तुभ्यं—आप को, नमः—नमस्कार हो॥

(हे कपालमाली शिव!) जंगम एवं स्थावर पदार्थों के रूपों वाले प्रेतों के झुण्डों के साथ हमेशा क्रीडा करने वाले आप कपालमालाधारी (अथवा कापालिक व्रत का पालन करने वाले) एकले चिन्मय परमेश्वर को प्रणाम हो॥ ११॥

*संकेत*—

कपाल माला-सदाशिवादि सकलान्त अशेष प्रमातृ मुण्डमाला। (स्वामी जी महाराज)।

प्रस्तुत मुक्तक में जंगम एवं स्थावर दोनों प्रकार के पदार्थों को प्रेतों की संज्ञा दी गई है। इसका आधार 'परेत' शब्द के दो अर्थ हैं: (१)—'परं चिन्मयस्वरूपम् इताः प्रासाः'—अर्थात् जिन में चेतना का संचार हुआ है, (२)—'परं परलोकं प्रासाः' अर्थात् जो परलोक में पहुंचे हैं या किसी दूसरे लोक से इस लोक में पहुंचे हैं। दोनों दृष्टियों से हरेक पदार्थ को 'प्रेत, परेत' की संज्ञा देना युक्तिसंगत है।

**मायाविने विशुद्धाय गुह्याय प्रकटात्मने।**
**सूक्ष्माय विश्वरूपाय नमश्चित्राय शम्भवे॥ १२॥**

*अन्वयः*– मायाविने विशुद्धाय गुह्याय प्रकटात्मने सूक्ष्माय विश्वरूपाय चित्राय शम्भवे नमः।

मायाविने–छली (होते हुए भी), विशुद्धाय–विशुद्ध-स्वरूप वाले, गुह्याय–गुप्त रूप वाले (होते हुए भी), प्रकटात्मने–प्रकट स्वरूप वाले, सूक्ष्माय–सूक्ष्म रूप वाले (होते हुए भी), विश्वरूपाय–महान् जगत्-स्वरूप, चित्राय–(अतः) आश्चर्यमय रूप वाले (अथवा) नाना-रूप-धारी, शम्भवे–शिव जी को, नमः–नमस्कार हो॥

(हे सर्वशक्तिमान्!) मायावी (छलिया) होते हुए भी निर्मल स्वभाव वाले, स्वरूप को छिपाने वाले होने पर भी आत्मरूप में प्रकट रहने वाले और सूक्ष्म होने पर भी महान् विश्व के रूप को धारण करने वाले–ऐसे आश्चर्यकारी आप बहुरूपिया शंकर महाराज को प्रणाम हो॥ १२॥

*संकेत*–

स्वतन्त्र लीलामय परमेश्वर का नाम 'शम्भू=कल्याण का उत्पत्तिस्थान' इसलिए है कि वह चित् पुरुष सारे विरोधों को स्वरूप में ही पचाकर मंगल की ही सृष्टि करने में व्यस्त रहता है।

**ब्रह्मेन्द्रविष्णुनिर्व्यूढजगत्संहारकेलये।**
**आश्चर्यकरणीयाय नमस्ते सर्वशक्तये॥ १३॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) ब्रह्माइन्द्रविष्णुनिर्व्यूढजगत्संहारकेलये (इत्येवम्) आश्चर्यकरणीयाय ते सर्वशक्तये नमः।

(प्रभो–हे ईश्वर!), ब्रह्मा–ब्रह्मा, इन्द्र–इन्द्र, विष्णु–और नारायण के द्वारा, निर्व्यूढ–विशेष रूप में बनाये गये (तथा सुरक्षित रखे गए), जगत्– इस जगत का, संहार–संहार रूपी, केलये–क्रीडा करने वाले, (इत्येवम्–और इस प्रकार), आश्चर्य–अद्भुत, करणीयाय–कर्मों को करने वाले, ते–आप, सर्वशक्तये–सर्व-शक्ति-संपन्न, (प्रभु) को, नमः–प्रणाम हो॥

(हे अपरिणामी प्रभु!) ब्रह्मा, इन्द्र एवं विष्णु–इन तीन देवताओं के द्वारा (बहुत आयासपूर्वक) बनाए जानेवाले विश्व का (पलकभर में) संहार

करने का खिलवाड़ करने से अति मुग्धकारी कृत्य को संपन्न करने की क्षमता वाले, आप सर्वशक्तिमान् प्रभु को प्रणाम हो॥ १३॥

*संकेत*— मुग्धकारी = आश्चर्यजनक, कृत्य-कार्य।

**तटेष्वेव परिभ्रान्तैः लब्धास्तास्ता विभूतयः।**
**यस्य तस्मै नमस्तुभ्यमगाधहरसिन्धवे॥ १४॥**

*अन्वयः*—यस्य तटेषु एव परिभ्रान्तैः (जनैः) तास्ताः विभूतयः लब्धाः तस्मै तुभ्यं अगाधहरसिन्धवे नमः।

यस्य—जिस के, तटेषु—किनारों पर, एव—ही, परिभ्रान्तैः—घूमते-घामते, (जनैः—लोगों से), तास्ताः—वे (अर्थात् सुप्रसिद्ध), विभूतयः—(अणिमा आदि) सिद्धियाँ, लब्धाः—पाई जाती हैं, तस्मै तुभ्यं—उसी आप, अगाध—अथाह (अर्थात् आदि और अन्त से रहित), हर—शिव रूपी, सिन्धवे—समुद्र को, नमः—नमस्कार हो॥

(हे भक्तों को त्राण देने वाले शिव!) (बीच में डुबकी लगाने के बिना) जिसके किनारों पर ही भटकने वाले (अवर) साधकों को भी नाना प्रकार की (अणिमा इत्यादि) सिद्धियां उपलब्ध हो गई हैं—उसी आप अति अथाह शिव-समुद्र को प्रणाम हो॥ १४॥

*संकेत*—

प्रस्तुत मुक्तक में शिवसमुद्र के तटों पर ही भटकने से सच्ची भक्ति को भूलकर मंत्रसाधन, मुद्राप्रदर्शन, षट्चक्रभेदन इत्यादि प्रकार की अवर साधनाओं के फेर में उलझे रहने का अभिप्राय है।

**मायामयजगत्सान्द्रपङ्कमध्याधिवासिने।**
**अलेपाय नमः शम्भुशतपत्राय शोभिने॥ १५॥**

*अन्वयः*—मायामयजगत्सान्द्रपङ्कमध्यअधिवासिने अलेपाय शोभिने शम्भुशतपत्राय नमः।

मायामय—(स्वातंत्र्य-शक्ति के द्वारा) सर्वतः मायाकार बने हुए, जगत्—जगत् रूपी, सान्द्र—घनी, पङ्क—कीचड़ के, मध्य—बीच में, अधिवासिने—वास करते हुए (भी), अलेपाय—निर्लेप और, शोभिने—चमकते हुए, शम्भु—

महादेव रूपी, शतपत्राय—कमल को, नमः—नमस्कार हो॥

(हे निर्लेप शिव!) चित्-भाव की विस्मृति में खोये हुए जगत् के फिसलन भरे दलदल में निवास करने पर भी (कभी) लिप्त न होने वाले आप शिवरूपी पंकज (कमल) को प्रणाम हो॥ १५॥

माया—Absence of God consciousness (Swami Ji)

**मङ्गलाय पवित्राय निधये भूषणात्मने।**
**प्रियाय परमार्थाय सर्वोत्कृष्टाय ते नमः॥ १६॥**

*अन्वयः*—(परमात्मन्) मंगलाय पवित्राय निधये भूषणात्मने प्रियाय परमार्थाय (च) सर्वोत्कृष्टाय ते नमः।

(परमात्मन्—हे परमेश्वर!), **मंगलाय**—कल्याण-स्वरूप, **पवित्राय**—अति शुद्ध, **निधये**—(सब के लिए) कोष-स्वरूप, **भूषणात्मने**—भूषणों के भी भूषण, **प्रियाय**—अति प्रिय-स्वरूप, **परमार्थाय**—(तीनों कालों में स्थित होने के कारण) सत्य-स्वरूप, (च—और), **सर्वोत्कृष्टाय**—सर्वश्रेष्ठ (देवता), **ते**—आप को, **नमः**—प्रणाम हो॥

(हे सनातन ईश्वर!) सब से अतिशयशाली देवता, केवल मंगलमय (अनुग्रहैकरूप), मलों से रहित, सिद्धियों (भुक्ति-मुक्तिरूपी सिद्धियों) के भंडार, हरेक पदार्थ को (निजी व्यापकता से) सजाने वाले, प्रिय लगने वाले और परमार्थसत् रूपवाले आपको प्रणाम हो॥ १६॥

**नमः सततबद्धाय नित्यनिर्मुक्तिभागिने।**
**बन्धमोक्षविहीनाय कस्मैचिदपि शम्भवे॥ १७॥**

*अन्वयः*—सततबद्धाय नित्यनिर्मुक्तिभागिने (तत्त्वदृष्ट्या तु) बन्धमोक्षविहीनाय कस्मैचिदपि शम्भवे नमः।

**सतत**—सदा, **बद्धाय**—बन्धन में पड़े हुए, **नित्य**—सदैव, **निर्मुक्ति**—पारमार्थिक मुक्ति का, **भागिने**—पात्र बने हुए, (**तत्त्वदृष्ट्या तु**—किन्तु तत्त्वदृष्टि से) **बन्ध**—(संसार के) बन्धन, **मोक्ष**- —और मोक्ष से, **विहीनाय**—परे होने वाले, **कस्मैचिदपि**—एक (अलौकिक), **शम्भवे**—और कल्याण-स्वरूप प्रभु को, **नमः**—नमस्कार हो॥

(हे पार्वतीनाथ!) हमेशा बंधनों में पड़े हुए, हमेशा मुक्त, (वास्तव में) बंधन एवं मुक्ति दोनों से रहित, किसी अवर्णनीय आप शम्भू-महाराज को प्रणाम हो॥ १७॥

**उपहासैकसारेऽस्मिन्नेतावति जगत्त्रये।**
**तुभ्यमेवाद्वितीयाय नमो नित्यसुखासिने॥ १८॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) (तुच्छरूपत्वात्) उपहासएकसारे अस्मिन् एतावति जगत्त्रये नित्यसुखासिने अद्वितीयाय तुभ्यमेव नमः।

(प्रभो—हे ईश्वर!), (तुच्छरूपत्वात्—तुच्छ रूप वाली होने के कारण), उपहास—परिहास ही, एक—केवल, सारे—सार है जिसका, ऐसी, अस्मिन्—इस, एतावति—अति विस्तृत, जगत्त्रये—त्रिलोकी में, नित्य—सदैव, सुखासिने—आनन्द-घन तथा, अद्वितीयाय—असाधारण स्वरूप वाले, तुभ्यमेव—आप ही को, नमः—प्रणाम हो॥

(हे निरामय परमेश्वर!) अकल्पनीय आयाम वाले तीनों लोकों में मात्र ठठोली का सार भरा हुआ है, अतः हमेशा केवल चिदानन्दभाव में मस्त रहने वाले और सर्वथा द्वैतहीन आप को (कोटिशः) प्रणाम हो॥ १८॥

जगत्त्रय—भव, अभव, अतिभवरूप तीनों लोकों में।

**दक्षिणाचारसाराय वामाचाराभिलाषिणे।**
**सर्वाचाराय शर्वाय निराचाराय ते नमः॥ १९॥**

*अन्वयः*— (भैरवतंत्रदृष्ट्या) दक्षिणाचारसाराय (वादितंत्रदृष्ट्या) वामाचार-अभिलाषिणे (श्रीमतादिशास्त्रदृष्ट्या च) सर्व आचाराय (तथा) निराचाराय ते शर्वाय नमः।

(भैरवतंत्रदृष्ट्या—भैरव तंत्रों की दृष्टि से), दक्षिणाचार—दक्षिण-मार्ग के, साराय—सार-स्वरूप, (वादितंत्रदृष्ट्या—वादि नामक तंत्रों के दृष्टिकोण से), वामाचार—वाम मार्ग के, अभिलाषिणे—अभिलाषी, (श्रीमतादिशास्त्रदृष्ट्या च—और श्रीमत आदि उच्च शास्त्रों की दृष्टि से), सर्व—सभी (दक्षिण, वाम आदि), आचाराय—आचारों को अपनाने वाले, (तथा—और), निराचाराय—(ध्यान, पूजा आदि) सभी आचारों से रहित अर्थात् उन से परे होने वाले, ते शर्वाय—आप प्रभु को, नमः—नमस्कार हो॥

(हे स्वच्छन्द प्रभु!) (भैरवतंत्रों के मतानुसार) दक्षिणाचार का निचोड़ बने हुए, (वादितंत्रों के मतानुसार) वामाचार के अभिलाषी, (श्री मत इत्यादि तंत्रों के मतानुसार) सारे आचारों को अपनाने वाले, परन्तु असल में इन सारे आचारों से पूर्णतया मुक्त आपको प्रणाम हो॥ १९॥

*संकेत–*

प्रस्तुत मुक्तक में उल्लिखित भिन्न भिन्न आचार अद्वैत, द्वैताद्वैत एवं द्वैत दृष्टियों पर आधारित शैव-आचार ही हैं।

कहा भी है॥ वेदात् शैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्। ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥

**यथा तथापि यः पूज्यो यत्रतत्रापि योऽर्चितः।**
**योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोऽस्तु ते॥२०॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) यथातथापि यः (त्वं) पूज्यः यत्रतत्रापि यः (त्वम्) अर्चितः यः असौ देवः (सः) योऽपि वा सोऽपि वा तस्मै ते नमः अस्तु।

(प्रभो–हे प्रभु!), **यथातथापि**–जिस किसी भी रूप में, **यः (त्वं)**–जो (आप), **पूज्यः**–पूजनीय हैं, **यत्रतत्रापि**–जिस किसी भी (पवित्र या अपवित्र) स्थान पर, यः (त्वम्)–जो (आप), **अर्चितः**–पूजित हुए हैं, **यः असौ**–जो यह (हमारा), **देवः**–देवता है, (सः–वह), **योऽपि वा**–जो भी है, **सोऽपि वा**–सो भी है, **तस्मै**–उसी, **ते**–आप (परमात्मदेव) को, **नमः अस्तु**–नमस्कार हो॥

(हे सर्वमय शिव!) जो कोई भी देवता जिस किसी भी विधि से पूजा जाता है, जिस किसी भी देवता की अर्चना जिस किसी भी (पवित्र या अपवित्र) स्थान पर संपन्न हो जाती है, देवता चाहे जो भी हो सो भी हो, उसी स्वरूप में अवस्थित आप को नमस्कार हो॥ २०॥

*विशेष–*

इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणीः–तात्पर्य यह है कि जो भी इन्द्र आदि देवता लोगों से पूजे जाते हैं, वे सभी तत्त्वदृष्टि से आपके ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं, अतः उनकी पूजा आदि भी आप ही की पूजा है।

**मुमुक्षुजनसेव्याय सर्वसन्तापहारिणे।**
**नमो विततलावण्यवाराय वरदाय ते॥ २१॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) मुमुक्षुजनसेव्याय सर्वसन्तापहारिणे विततलावण्यवाराय (च) वरदाय ते नमः।

(प्रभो—हे प्रभु!), मुमुक्षु—मुक्ति चाहने वाले, जन—लोगों से, सेव्याय—सेवा किए जाने योग्य, सर्व—समस्त, सन्ताप—दुःखों का, हारिणे—नाश करने वाले, वितत—अनन्त, लावण्य—(परमानन्द रूपी) सौन्दर्य की, वाराय—राशि से (सुशोभित होने वाले), (च—और), वरदाय— (साधकों को) अभीष्ट वर देने वाले, ते—आप (प्रभु) को, नमः—नमस्कार हो॥

(हे देव!) मुक्ति की अभिलाषा रखने वाले भक्तजनों के द्वारा सेवनीय, सारी जगती के सन्तापों को हरने वाले और अनन्त सौन्दर्य का भंडार बने हुए आप वरदाता को प्रणाम हो॥ २१॥

**सदा निरन्तरानन्दरसनिर्भरिताखिल-**
**त्रिलोकाय नमस्तुभ्यं स्वामिने नित्यपर्वणे॥ २२॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) सदा निरन्तरआनन्दरसनिर्भरितअखिलत्रिलोकाय नित्यपर्वणे तुभ्यं स्वामिने नमः।

(प्रभो—हे प्रभु!), सदा—सदा, निरन्तर—लगातार, आनन्दरस— चिदानन्द-रस से, निर्भरित—भर दिया है, अखिल—सारी, त्रिलोकाय—त्रिलोकी को जिस ने, ऐसे (तथा), नित्य—सदा, पर्वणे—उत्सव (मनाने) वाले, तुभ्यं—आप, स्वामिने—स्वामी को, नमः—प्रणाम हो॥

(हे वीरभद्र!) लगातार बहती हुई चिदानन्द भाव के रस की धार से तीनों लोकों को तृप्त करने वाले और हमेशा विश्वभर की न्यूनताओं को पूरा करने वाले अथवा हमेशा उत्सव मनाने वाले आप स्वामी को नमस्कार हो॥ २२॥

*संकेत*—मूल पर्व शब्द 'पूर्ति' करने एवं उत्सव मनाने'-दोनों का वाचक है।

**सुखप्रधानसंवेद्यसम्भोगैर्भजते च यत्।**
**त्वामेव तस्मै घोराय शक्तिवृन्दाय ते नमः॥ २३॥**

*अन्वयः*—यत् च (शक्तिवृन्दं) सुखप्रधानसंवेद्यसंभोगैः त्वामेव भजते तस्मै घोराय ते शक्तिवृन्दाय नमः।

यत् च–जो, (शक्तिवृन्दं–इन्द्रिय-देवियों का समुदाय), सुख-प्रधान–आनन्द-प्रधान, संवेद्य–रूप आदि विषयों के, संभोगैः–भोग रूपी चमत्कारों से, त्वामेव–आप के ही स्वरूप की, भजते–सेवा अर्थात् पूजा करता है, तस्मै–उसी, घोराय–भयानक (अर्थात् भेदप्रथा को नष्ट करने वाले), ते–आप की, शक्ति–चक्षु आदि शक्तियों के, वृन्दाय–समुदाय को, नमः–नमस्कार हो॥

(हे विद्यास्वरूप शिव!) जो इन्द्रियशक्तियों (करणदेवियों) का समूह, रस भरे प्रमेय पदार्थों का उपभोग करते रहने के चमत्कार (रसास्वाद) से, (वास्तव में) आप ही को रिझा रहा है, उसी 'घोर'-अर्थात् अमंगलों का नाश करने वाले शक्तिसमूह के रूप में विराजमान आपको प्रणाम हो॥ २३॥

**मुनीनामप्यविज्ञेयं भक्तिसम्बन्धचेष्टिताः।**
**आलिङ्गन्त्यपि यं तस्मै कस्मैचिद्भवते नमः॥ २४॥**

*अन्वयः*–मुनीनाम् अपि अविज्ञेयं यं भक्तिसंबन्धचेष्टिताः आलिंगन्ति अपि तस्मै कस्मैचित् भवते नमः।

मुनीनाम्–(कपिल आदि तपोनिष्ठ) मुनियों से, अपि–भी, अविज्ञेयं–(सर्वथा) न जाने जा सकने वाले, यं–जिस (प्रभु) का, भक्ति–(समावेश रूपिणी) भक्ति के, संबन्ध–संबन्ध में, चेष्टिताः–व्यवहार करने वाले (भक्तजन), आलिंगन्ति अपि–आलिंगन भी करते हैं, तस्मै–उसी, कस्मैचित्–एक अलौकिक स्वरूप वाले, भवते–आप को, नमः–नमस्कार हो॥

(हे अष्टमूर्ति शिव!) भक्ति के साथ संबन्ध रखने वाली चेष्टाओं को संपन्न करने वाले–अर्थात् समावेशमयी पराभक्ति में लवलीन रहने के रसिक भक्तजन, पहुंचे हुए मुनियों के द्वारा भी अविज्ञेय जिस परमात्म-देव को (समावेश के बल से) गले भी लगा लेते हैं, उसी वाणी के अगोचर आपको प्रणाम हो॥ २४॥

**परमामृतकोशाय परमामृतराशये।**
**सर्वपारम्यपारम्यप्राप्याय भवते नमः॥ २५॥**

*अन्वयः*–परमामृतकोशाय परमामृतराशये सर्वपारम्यपारम्यप्राप्याय भवते नमः।

परमामृत—(जो) परमानन्द रूपी अमृत का, कोशाय—भंडार (है), परमामृत—(जो) मोक्ष रूपी स्वरूपामृत का, राशये—खज़ाना (है), सर्व—(तथा जो) समस्त (तत्त्ववर्ग की), पारम्य—(ईश्वर-तत्त्व आदि रूपी) उच्च काष्ठा की भी, पारम्य—अन्तिम सीमा पर (अर्थात् शिव-तत्त्व रूपी परम पदवी पर), प्राप्याय—प्राप्त होने से सुलभ (है), भवते—(उसी) आप को, नमः—प्रणाम हो॥

(हे आत्ममहेश्वर!) 'पारमार्थिक अमृत'—अर्थात् स्वरूप परिचय के रूप वाली अविनाशिता के भंडार, 'परम अमृत'—अर्थात् समूचे विश्व को पुष्टि प्रदान करने वाले चित्-अमृत के सागर, और सारे 'पारम्यों'—अर्थात् मायीय भूमिका से ऊपर शुद्ध विद्या, ईश्वर एवं सदाशिव, नामी उत्तरोत्तर उच्चकोटि की भूमिकाओं के भी 'पारम्य'—अर्थात् उच्चतम तुरीयारूपिणी शाक्त भूमिका पर प्राप्त किए जाने के योग्य आपको नमस्कार हो॥ २५॥

**महामन्त्रमयं नौमि रूपं ते स्वच्छशीतलम्।**
**अपूर्वामोदसुभगं परामृतरसोल्वणम्॥ २६॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) महामन्त्रमयं स्वच्छशीतलम् अपूर्वआमोदसुभगम् (एवं) परामृतरसउल्वणम् ते रूपम् नौमि।

(प्रभो—हे प्रभु!), महा—(जो) अति-उत्कृष्ट, मन्त्रमयं—अहं परामर्श से संपन्न (है), स्वच्छ- —(जो) निर्मल, शीतलम्—और शीतल (है), अपूर्व—(जो) अलौकिक, आमोद—सुगंधि से, सुभगम्—मनोहारी (है), (एवं—तथा जो), परामृतरस-उल्वणम्—सर्वोत्तम आनन्दरस से पूर्ण (है), ते रूपम्—(ऐसे) आप के रूप की, नौमि—मैं स्तुति करता हूँ॥

(हे त्रिनेत्रधारी शिव!) 'महामंत्र'—अर्थात् अन्तर्मुखीन अहंविमर्श की घनता वाले, निर्मल, शान्तिदायक, पहले कभी अनुभव न किए गए सौरभ से सुगन्धित, और परम उत्कृष्ट चिदानन्द भाव के रस से पूर्ण आपके स्वरूप को मेरा प्रणाम हो॥ २६॥

*संकेत*—

(क) सौरभ—दिव्य सुगन्ध।

(ख) कश्मीर के एक प्रसिद्ध योगी-कवि मटननिवासी श्रीपरमानन्द ने अपनी एक कश्मीरी भाषा में लिखी स्तुति का आरम्भ निम्नलिखित शब्दों में किया हैः—

रसपूर्ण परमु सदाशिवै।
सत्-चित्-आनन्द विज्ञान, रवै॥

**स्वातन्त्र्यामृतपूर्णत्वदैक्यख्यातिमहापटे।**
**चित्रं नास्त्येव यत्रेश तन्नौमि तव शासनम्॥ २७॥**

*अन्वयः*—ईश (अहं) तव तत् शासनं नौमि यत्र स्वातन्त्र्यअमृतपूर्णत्वद्ऐक्य-ख्यातिमहापटे चित्रं नास्त्येव।

ईश—हे स्वामी!, (अहं—मैं), तव—आप के, तत्—उस, शासनं—आदेश (अर्थात् शास्त्र रूपी परवाने) की, नौमि—स्तुति करता हूँ, यत्र—जिस, स्वातन्त्र्य—स्वरूप-स्वातंत्र्य रूपी, अमृत—अमृत से, पूर्ण—भरे हुए, त्वद्—आप के, ऐक्य—अद्वैत स्वरूप को, ख्याति—दिखाने वाले, महापटे—सर्वोत्तम (शासन रूपी) वस्त्र पर, चित्रं—(त्याग या ग्रहण का समर्थन करने वाली) नाना प्रकार की वार्ता, नास्त्येव—कुछ भी नहीं है॥

हे ईश्वर! मैं आपके ईश्वरीय मुख से निकले हुए 'शासन'-अर्थात् अद्वैत-शास्त्र के रूप वाले आज्ञापत्र को प्रणाम कर रहा हूं, जिस ईश्वरीय सुधा से भरपूर आपके एकात्मभाव की प्रत्यभिज्ञा कराने वाले महत्त्वपूर्ण (शास्त्ररूपी) चित्रपट पर (परम-अद्वैत के अतिरिक्त और) कोई 'चित्र'-अर्थात् अपना-पराया, हेय-उपादेय इत्यादि प्रकार की रंगीनियों वाला चित्र कहीं पर भी अंकित नहीं है॥ २७॥

*संकेत*—

प्रस्तुत मुक्तक में शायद उत्पलदेव साक्षात् भैरव वक्त्र से निकले हुए अद्वैततंत्रों अथवा शिवसूत्र जैसे उच्चकोटि के शैव शास्त्रों का नमन संकेत रूप में कर रहे हैं।

**सर्वाशङ्काशनिं सर्वालक्ष्मीकालानलं तथा।**
**सर्वामङ्गल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः॥ २८॥**

*अन्वयः*—सर्वआशङ्काअशनिं सर्वअलक्ष्मीकालानलं तथा सर्वअमंगल्य-कल्पान्तं माहेश्वरं मार्गं (वयं) नुमः।

सर्व—(जो) सारी, आशङ्का—शङ्काओं का, अशनिं—(नाश करने वाला) वज्र (है), सर्व—(जो) सारी, अलक्ष्मी—दरिद्रता को, कालानलं—(जलाने

वाला) कालाग्निरुद्र (है), तथा–और (जो), सर्व–सारे, अमंगल्य– अमंगलों को, कल्पान्तं–(नष्ट करने वाला) कल्पान्त अर्थात् प्रलय (है), माहेश्वरं–(उस) परमेश्वर के, मार्गं–मार्ग की, (वयं–हम), नुमः–स्तुति करते हैं॥

(हे परमेश्वर!) हम उस 'माहेश्वर-मार्ग'-अर्थात् परम अद्वैत मार्ग का नमन कर रहे हैं जो कि सारी कुंठाओं को चूर चूर करने वाला वज्र, सारी दरिद्रताओं को जलाने वाला कालाग्नि और सारे अमंगलों का नाशकारी प्रलय है॥ २८॥

**जय देव नमो नमोऽस्तु ते सकलं विश्वमिदं तवाश्रितम्।**
**जगतां परमेश्वरो भवान् परमेकः शरणागतोऽस्मि ते॥ २९॥**

*अन्वयः*–देव जय ते नमो नमः अस्तु इदं सकलं जगत् तव आश्रितम् भवान् परमेश्वरः (अहं) एकः ते शरणागतः अस्मि।

देव–हे भगवान्!, जय–आप की जय हो, ते–आप को, नमो नमः–बार-बार नमस्कार, अस्तु–हो, इदं–यह, सकलं–सारा, जगत्–संसार, तव–आप के, आश्रितम्–सहारे ठहरा हुआ है, भवान्–आप, जगतां–सारे जगत् के, परमेश्वरः–स्वामी हैं, (अहं–मैं), एकः–केवल एक ही, ते–आप की, शरणागतः–शरण में आया, अस्मि–हूँ॥

हे क्रीडामय भगवान्! आपकी जय-जयकार हो, बारबार आपका नमन हो, यह सारा विश्व आपके ही सहारे पर टिका हुआ है, आप सारे जगत् के स्वामी हो, और मैं सर्वहारा केवल आपकी ही शरण में पड़ा हूं॥ २९॥

नमो नमः का तात्पर्य है कि उसी भाव में समाविष्ट होना

दूसरा स्तोत्र समाप्त

ॐ नमः शिवाय

अनुग्रहाण महेश्वर मादृशे तव जपार्चन भक्तिपराङ्मुखे।
भवदुराशयग्राहनिबर्हणे पटुतमो विषमेक्षण! कोऽपरः?।।

# भक्तिविलास नामक तीसरा स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'प्रणयप्रसाद' भी है। भक्ति योग में एकाग्र भक्ति की अत्यन्त गहरी एवं अन्तर्लीन समावेशमयी अवस्था को प्रणय कहा जाता है। 'प्रसाद' शब्द ईश्वरीय अनुग्रह को द्योतित करता है। फलतः प्रणयभक्ति के द्वारा परमेश्वर अति अल्पकाल में ही संतुष्ट होकर भक्तजनों पर अनुकम्पा की वर्षा करते हैं। उसी अवस्था को प्रणय-प्रसाद कहते हैं।

**सदसत्त्वेन भावानां युक्ता या द्वितयी [1]गतिः।**
**तामुल्लङ्घ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे।। १।।**

*अन्वयः*– सदसत्त्वेन भावानां या द्वितयी गतिः युक्ता ताम् उल्लङ्घ्य तृतीयस्मै चित्राय शम्भवे नमः।

सदसत्त्वेन–सत् और असत्, इस दृष्टि से, भावानां–(सांसारिक) वस्तुओं की, या–जो, द्वितयी–दो प्रकार की, गतिः–गति (अर्थात् स्थिति), युक्ता–उचित रूप में देखी जाती है, ताम्–उस (द्विविध गति) को, उल्लङ्घ्य–छोड़ कर (जो), तृतीयस्मै–तीसरी (गति) है, उस, चित्राय–आश्चर्य-स्वरूप (अथवा जगत् के चित्र-स्वरूप), शम्भवे–शिव जी महाराज को, नमः–नमस्कार हो॥

(हे मुग्धकारी शिव!) सांसारिक पदार्थों की जो यह 'सत्'-अर्थात् भावरूप और 'असत्' अर्थात् अभावरूप दो अवस्थाएँ देखने में आती हैं वे युक्तियुक्त हैं, परन्तु आप तो इन दोनों ही अवस्थाओं का उल्लघन करके किसी तीसरी अवर्णनीय गति पर विराजमान हैं, अतः आप अतिविचित्र रूपवाले शम्भू महाराज को प्रणाम हो॥ १॥

*भाव*–

संसार के सारे जड़चेतनमय पदार्थों को भाव इसलिए कहते हैं कि वे

१. ख० पु० 'स्थितिः'–इति पाठः।

'भावनीय'-अर्थात् चेतन प्रमाताओं के द्वारा अपने अपने विचारानुसार अलग अलग रूपों में व्यवस्थित किए जाने के योग्य होते हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं:—

१. ऐसे पदार्थ जिनका कोई ठोस रूप हो जैसे घट, पट, नील इत्यादि, और २. जिनका कोई ठोस आकार-प्रकार न हो जैसे सांप के कान, आकाश के फूल इत्यादि। इन्हीं को क्रमशः सत्-पदार्थ या भावरूप पदार्थ, और असत्-पदार्थ या अभाव रूप पदार्थ कहा जाता है। इसलिए भावों का यह वर्गीकरण युक्तियुक्त ही है।

तृतीयस्मै=सत् एवं असत् इन दोनों लोकोचित स्थितियों को लांघकर 'तीसरी'-अर्थात् अवर्णनीय एवं 'तीसरी' इस संख्या से ही वाच्य लोकोत्तर स्थिति। इसको परमात्म-स्थिति भी कहते हैं जो कि उच्चकोटि के भक्तजनों के द्वारा समावेशदशा में ही स्वसंवेदन वेद्य है।

*विचित्र—*

अनाख्य होने के कारण आश्चर्यमय अथवा जगत्-चित्र के स्वरूप वाले शम्भू महाराज। आश्चर्यकारी इसलिए कि भगवान् शिव एक साथ ही— १. अलग अलग सत् एवं असत्, २. इकट्ठे दोनों सदसत्, ३. दोनों से तटस्थ, न सत् और न असत्, और ४. दोनों का अतिक्रमण करके अवर्णनीय, —इन रूपों में रममाण रहने के कारण विचित्र शिव को प्रणाम हो।

**आसुरर्षिजनादस्मिन्नस्वतन्त्रे जगत्त्रये।**
**स्वतन्त्रास्ते स्वतन्त्रस्य ये तवैवानुजीविनः॥ २॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) अस्मिन् अस्वतन्त्रे जगत्त्रये आसुरर्षिजनात् ते एव स्वतन्त्राः ये स्वतन्त्रस्य तव अनुजीविनः (स्युः)।

(प्रभो—हे स्वामी!), अस्मिन्—इस, अस्वतन्त्रे—परतन्त्र, जगत्त्रये—त्रिलोकी में, आसुरर्षिजनात्—(मरीचि अथवा नारद आदि) देवर्षि-जनों से लेकर, ते—वे (लोग), एव—ही, स्वतन्त्राः—स्वतन्त्र होते हैं, ये—जो, स्वतन्त्रस्य—(पूर्ण रूप में) स्वतन्त्र, तव—आप के, अनुजीविनः—सेवक अर्थात् भक्त, (स्युः—हों)॥

(हे स्वतन्त्र स्वामी!) निजी (स्वाभाविक) स्वातन्त्र्य से रहित तीनों लोकों में, (नारद) इत्यादि देवर्षियों से लेकर समूचे मानवसमाज में से

केवल वे ही (भक्तजन) यथार्थरूप में स्वतन्त्र हैं जो केवल आप पूर्णस्वतन्त्र परमेश्वर की सेवा-टहल (दासभाव) करने में जुटे रहते हैं॥ २॥

*संकेत*–

प्राचीन लोकपरंपरा के अनुसार सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, कपिल, आसुरी, वोढा, पञ्चशिख, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, पुलस्त्य, भृगु, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ और नारद–ये देवर्षि माने जाते हैं।

**अशेष-विश्वखचित-भवद्वपुरनुस्मृतिः।**
**येषां भवरुजामेकं भेषजं ते सुखासिनः॥ ३॥**

*अन्वयः*–अशेषविश्वखचितभवद्वपुःअनुस्मृतिः भवरुजाम् एकम् भेषजं येषां ते सुखासिनः।

अशेष–(इस) सारे, विश्व–जगत् से, खचित–परिपूर्ण बने हुए, भवद्–आप के, वपुः–चित्स्वरूप का, अनुस्मृतिः–बार बार होने वाला (स्वात्मावेश रूपी) स्मरण, भव–संसार के, रुजाम्–रोगों की, एकम्–अद्वितीय, भेषजं–औषधि (है), येषां–(यह) जिन को (प्राप्त होती है), ते–वे (लोग ही), सुखासिनः–स्वात्म-सुख में रमते हैं॥

(हे सदासुखी प्रभु!) जिन लोगों को, सारे विश्व की विचित्रताओं से जड़े हुए आपके स्वरूप का एकतान अनुसंधान करते रहने के रूपवाली, सांसारिक दुःख-दर्दों को मिटाने की एक ही औषधि उपलब्ध हुई है, केवल वे ही (भक्तजन) सदासुखी हैं॥ ३॥

**सितातपत्रं यस्येन्दुः स्वप्रभापरिपूरितः।**
**चामरं स्वर्धुनीस्रोतः स एकः परमेश्वरः॥ ४॥**

*अन्वयः*–स्वप्रभापरिपूरितः इन्दुः यस्य सितआतपत्रं (च) स्वर्धुनीस्रोतः (यस्य) चामरं स एकः परमेश्वरः।

स्वप्रभा- –अपने चित्प्रकाश से, परिपूरितः–परिपूर्ण बनाया गया, इन्दुः–(प्रमेय रूपी) चन्द्रमा, यस्य–जिस (प्रभु) का, सित–शुभ्र, आतपत्रं–छाता है, (च–और), स्वर्धुनी-स्रोतः–(मध्य-शक्ति रूपिणी) गंगा जी का प्रवाह, (यस्य–जिस का), चामरं–चामर है, स एकः–वही एक (अर्थात् अद्वितीय), परमेश्वरः–महान् ईश्वर है॥

(हे महिमामय ईश्वर!) निजी चित्-प्रकाश की छटा से परिपूर्ण कलाओं से बनाया गया 'इन्दुः'-अर्थात् प्रमेय-प्रपञ्चरूपी चन्द्रमा जिसका श्वेत छत्र है, और 'स्वर्धुनीस्रोतः'-अर्थात् मध्यनाडी में संचार करने वाली शक्तिरूपिणी गंगा का प्रवाह जिसका चामर है, केवल वही अतिशयशाली परमेश्वर है॥ ४॥

**प्रकाशां शीतलामेकां शुद्धां शशिकलामिव।**
**दृशं वितर मे नाथ कामप्यमृतवाहिनीम्॥ ५॥**

*अन्वयः*—नाथ! शशिकलामिव प्रकाशां शीतलां शुद्धाम् अमृतवाहिनीम् कामपि एकां दृशं मे वितर।

नाथ—हे स्वामी!, शशि—चन्द्रमा की, कलामिव—(अमृत-वर्षिणी) कला जैसी, प्रकाशां—अति प्रकट, शीतलां—शीतल (अर्थात् सन्तापों को हरने वाली), शुद्धाम्—अत्यन्त निर्मल, अमृत—परम-अमृत को, वाहिनीम्—धारण करने वाली, कामपि—एक अनूठी (तथा), एकां—अद्वितीय, दृशं—(अनुग्रह-प्रदा) दृष्टि, मे—मुझ पर, वितर—डाल दीजिए॥

हे नाथ! ईश्वरीय प्रकाशमयी (चन्द्रपक्ष में रात में प्रकाश बिखेरने वाली), संताप का शमन करने वाली (चन्द्रपक्ष में शीतल), दुविधारहित (चन्द्रपक्ष में निर्मल), और (शक्तिपातरूपी अमृत की वर्षा करने वाली (चन्द्रपक्ष में अमृतबिन्दुओं के समान ओस के बिन्दुओं को बरसाने वाली)-इस प्रकार चन्द्रमा की कला जैसी कोई अपूर्व दृष्टि मुझ पर एक ही बार डालिए॥ ५॥

**त्वच्चिदानन्दजलधेश्च्युताः संवित्तिविप्रुषः।**
**इमाः कथं मे भगवन्नामृतास्वादसुन्दराः॥ ६॥**

*अन्वयः*—भगवन् त्वत् चिदानन्दजलधेः च्युताः इमाः संवित्तिविप्रुषः मे अमृतआस्वाद-सुन्दराः कथं न (भवन्ति)।

भगवन्—हे भगवान्!, त्वत्—आप, चिदानन्द—चिदानन्द रूपी, जलधेः—समुद्र से, च्युताः—निकली हुई, इमाः—ये, संवित्ति—(नील सुखादि रूपी) ज्ञान की, विप्रुषः—बूंदें, मे—मेरे लिए, अमृत—परमानन्द-अमृत के,

आस्वाद–चमत्कार से, सुन्दराः–सुशोभित, कथं न (भवन्ति)–क्या नहीं होती हैं? (अर्थात् अवश्य होती हैं)॥

हे भगवान्! आप चिदानन्दमय सागर से उठे हुए 'ये'–अर्थात् पग पग पर प्रमाताओं के अनुभव का विषय बनने वाले, 'संवित्तियों'–अर्थात् घट, पट, नील, सुख इत्यादि प्रमेयज्ञानों की छींटे मेरे लिए अमृत के ही स्वादवाले और रुचिकर क्यों न बनें? अर्थात् अवश्य बन ही जाते हैं॥ ६॥

*तात्पर्य–*

सब लोग जानते हैं कि अमृत का उद्भव सागर से ही हुआ है अतः परमात्मरूपी चिदानन्दसागर का अमृतमय होना स्वाभाविक है। नील सुख आदि प्रमेयज्ञान उसी अृतमसागर की छींटे हैं। सागर में जैसा आस्वाद हो बूंद में भी वैसा ही होना आवश्यक है। फलतः सच्चे भक्तजनों के लिए सारे प्रमेयपदार्थ दुःखमय नहीं, प्रत्युत सुखमय ही होते हैं। सच्चे भक्तों को उनसे चिदानन्द भाव की ही उपलब्धि हो जाती है। उनके लिए कोई भी विषय हेय नहीं होता है। उनकी अन्तर्दृष्टि में शिवभाव और संसारभाव में रंचमात्र भी अन्तर नहीं रह जाता है।

**त्वयि रागरसे नाथ न मग्नं हृदयं प्रभो।**
**येषामहृदया एव तेऽवज्ञास्पदमीदृशाः॥ ७॥**

*अन्वयः*– नाथ! प्रभो! येषां हृदयं त्वयि रागरसे न मग्नं ईदृशाः अहृदयाः ते अवज्ञाआस्पदम् एव (भवन्ति)।

**नाथ**–हे स्वामी!, **प्रभो**–हे प्रभु!, **येषां**–जिन का, **हृदयं**–हृदय, **त्वयि**–आप के, **राग-रसे**–भक्ति-रस में, **न**–नहीं, **मग्नं**–डूबा, **ईदृशाः**–ऐसे, **अहृदयाः**–(प्रेम-रस-रहित कच्चे), **ते**–वे लोग, **अवज्ञा**–अवहेलना (अर्थात् अपमान के), **आस्पदम्**–स्थान (अर्थात् पात्र), **एव**–ही, (**भवन्ति**–होते हैं)॥

हे प्रभु! जिन लोगों का हृदय आपके प्रति सच्चे अनुरागरूपी रसप्रवाह (भक्तिरस) में न डूबा हो, वे निस्संशय रसिक हृदय से हीन जन ही होते हैं और ऐसी अवस्था में डूबते-उतराते हुए केवल तिरस्कार के पात्र बने रहते हैं॥ ७॥

**प्रभुणा भवता यस्य जातं हृदयमेलनम्।**
**प्राभवीणां विभूतीनां परमेकः स भाजनम्॥ ८॥**

*अन्वयः*—भवता प्रभुणा यस्य हृदयमेलनं जातं परम् सः एकः प्राभवीणां विभूतीनां भाजनं (अस्ति)।

भवता—आप, प्रभुणा—प्रभु के साथ, यस्य—जिस (जीव) के, हृदय-हृदय का, मेलनं—मेल, जातं—हुआ हो, परम्—केवल, सः—वह, एकः—एक (ही), प्राभवीणां—प्रभु की, विभूतीनां—विभूतियों का, भाजनं—पात्र, (अस्ति—होता है)॥

(हे सौन्दर्य के सागर!) जिस पुरुष का हृदय आप (अति उत्कृष्ट) प्रभु के साथ मिल गया हो, केवल वही (भक्तवर) आपकी ईश्वरीय विभूतियों का पात्र बना होता है॥ ८॥

**हर्षाणामथ शोकानां सर्वेषां प्लावकः समम्।**
**भवद्ध्यानामृतापूरो निम्नानिम्नभुवामिव॥ ९॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) भवद्ध्यानामृतआपूरः सर्वेषां हर्षाणाम् अथ शोकानां निम्नअनिम्नभुवामिव समं प्लावकः (भवति)।

(प्रभो—हे प्रभु!), भवद्—आप के, ध्यानामृत—ध्यान रूपी अमृत का, आपूरः—प्रवाह, सर्वेषां—सभी, हर्षाणाम्—हर्षों, अथ—तथा, शोकानां—शोकों को, निम्न—नीची-, अनिम्न—ऊँची, भुवामिव—भूमियों की तरह, समं—एक साथ, प्लावकः—बहाने वाला (अर्थात् नष्ट करने वाला), (भवति—होता है)॥

(हे अमृतेश्वर!) जिसप्रकार 'आ-पूर'-अर्थात् चारों ओर से उमड़ती हुई बाढ़ ऊबड़-खाबड़ स्थलों को जल में डुबोकर सपाट रूप देती है, उसी प्रकार आपके ध्यानरूपी अमृतप्रवाह की बाढ़ सारे हर्षों और शोकों को अपने में डुबोकर समरस (पूर्ण चिदानन्दमय) बना देती है॥ ९॥

**केव न स्यादृशा तेषां सुखसम्भारनिर्भरा।**
**येषामात्माधिकेनेश न क्वापि विरहस्त्वया॥ १०॥**

*अन्वयः*—ईश तेषां का इव दशा सुख-संभार निर्भरा न स्यात् येषाम् आत्मअधिकेन त्वया (सह) क्वापि विरहः न (भवति)।

ईश—हे ईश्वर!, तेषां—उन (भक्त-जनों) की, का इव—भला कौन सी, दशा—दशा, सुख-संभार—सुख के भंडार से, निर्भरा—परिपूर्ण, न—नहीं,

स्यात्–होती, येषाम्–जिन का, आत्म–(अपनी) आत्मा से, अधिकेन–अधिक (अर्थात् प्रिय), त्वया–आप के, (सह–साथ), क्वापि–किसी अवस्था में भी, विरहः–वियोग, न (भवति)–नहीं होता॥

हे ईश्वर! जिन (भक्तवरों) को, अपनी आत्मा से भी बढ़कर प्रिय लगने वाले, आप (परम-आत्मा) के साथ किसी भी अवस्था में विछोह नहीं होने पाता है, उनको भला 'सुख-संभार'-अर्थात् सर्वतोमुखी आनन्दमयता से भरित, कौन सी दशा (भोगरूपिणी या मोक्षरूपिणी) उपलब्ध नहीं होती है?। (तात्पर्य यह कि सारा सुखसंभार उनके तलवे चाटता रहता है)॥ १०॥

**गर्जामि बत नृत्यामि पूर्णा मम मनोरथाः।**
**स्वामी ममैष घटितो यत्त्वमत्यन्तरोचनः॥ ११॥**

*अन्वयः*– यत् एषः त्वं मम अत्यन्तरोचनः स्वामी घटितः (तर्हि) मम मनोरथाः पूर्णाः (इत्येवमहं) गर्जामि बत नृत्यामि।

(हे मेरे प्रिय स्वामी!) यह जो (अनूठी) घटना घटी कि (समावेश की अवस्था में) मुझे आप अत्यन्त मनभावन स्वामी के साथ अवर्णनीय मिलन हो गया, उसी से मेरी सारी मनोकामनाएँ पूरी हो गईं और मैं उस मस्ती में झूमता हुआ चिल्ला रहा हूँ और नाच रहा हूँ॥ ११॥

**नान्यद्वेद्यं क्रिया यत्र नान्यो योगो विदा च यत्।**
**ज्ञानं स्यात् किन्तु [1]विश्वैकपूर्णा चित्त्वं विजृम्भते॥ १२॥**

*अन्वयः*– यत्र अन्यत् वेद्यं न अन्या क्रिया न अन्यः योगः न (अन्या) विदा च न किन्तु यत् ज्ञानं स्यात् (तत्) विश्वएक-पूर्णा (तदेव) चित्त्वं विजृम्भते।

यत्र–जिस (आप जैसे स्वामी के होने की) दशा में, अन्यत्–और कोई, वेद्यं–जानने योग्य (तत्त्व), न–नहीं, अन्या–और कोई, क्रिया–(करने योग्य) क्रिया, न–नहीं, अन्यः–और कोई, योगः–योग-साधना, न–नहीं, (अन्या–और कोई), विदा च–संवित् भी, न–नहीं, किन्तु–किन्तु (केवल), यत्–जो, ज्ञानं–(पारमार्थिक) ज्ञान, स्यात्–हो सकता है, (तत्–वही), विश्व–भेदप्रथा

१. ख० पु० विश्वैकपूर्णम्–इति पाठः।

को (जलाने के लिए), एक-पूर्णा—एक पूर्णाहुति है, (तदेव—और वही), चित्त्वं—चित्-तत्त्व, विजृम्भते—विकसित होता है॥

(आप जैसे मनचाहे स्वामी के साथ मिलन होने पर) अब मेरे लिए और कुछ जानने के योग्य न रहा, कोई इतिकर्तव्यता शेष न रही, कोई दूसरा योगसाधन अपनाने की मजबूरी न रही, और तो और कोई संवित् न रही जिसको पूर्णज्ञान का नाम दूँ, चारों ओर केवल समूची विश्वमयता की एक ही पूर्णाहुति के रूपवाली चित्ता (चित्-प्रकाश) हुलस रही है॥ १२॥

**दुर्जयानामनन्तानां दुःखानां सहसैव ते।**
**हस्तात्पलायिता येषां वाचि शश्वच्छिवध्वनिः॥ १३॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) दुर्जयानाम् अनन्तानां दुःखानां हस्तात् ते सहसैव पलायिताः येषां वाचि शश्वत् शिवध्वनिः (वर्तते)।

(प्रभो—हे प्रभ! दुर्जयानाम्—जिनको जीतना कठिन है, ऐसे, अनन्तानां—अनन्त, दुःखानां - दुःखों के, हस्तात्- हाथ से, ते—वे (जन), सहसैव—एकाएक ही, पलायिताः—भाग निकले हैं, येषां—जिनकी, वाचि—वाणी में, शश्वत निरन्तर ही, शिव—शिव की, ध्वनिः—गूंज, वर्त ते—रहती है॥

(हे त्रिनयन देव!) जिन भक्तजनों की जीभ पर निरन्तर शिवनाम की धुन लगी रहती है, वे लोग अनगिणत और अतिकष्ट से जीते जाने के योग्य दुःखों के चंगुल से एकदम छूट जाते हैं॥ १३॥

**उत्तमः पुरुषोऽन्योऽस्ति युष्मच्छेषविशेषितः।**
**त्वं महापुरुषस्त्वेको निःशेषपुरुषाश्रयः॥ १४॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) युष्मद्शेषविशेषितः उत्तमः पुरुषः अन्यः अस्ति त्वं तु निःशेषपुरुषआश्रयः एकः महापुरुषः।

(प्रभो—हे स्वामी!), युष्मद्—युष्मद् (शब्द) से (और), शेष—शेष (अर्थात् तद् शब्द) से, विशेषितः—विशेष रूप वाला, उत्तमः पुरुषः—उत्तम पुरुष (अस्मद् शब्द), अन्यः—(कोई) विरला ही, अस्ति—है, त्वं तु—(पर) आप तो, निःशेष—सभी (अर्थात् तीनों), पुरुष—पुरुषों के, आश्रयः—आधार, एकः—

एक ही (अर्थात् अद्वितीय), महापुरुषः—महापुरुष (हैं)

(हे महापुरुष!) 'युष्मत्'–अर्थात् मध्यमपुरुष और 'शेष'–अर्थात् प्रथम पुरुष–दोनों से अतिशयशाली उत्तम पुरुष कोई विरला ही होता है, परन्तु इसके भी प्रतिकूल आप तीनों ही पुरुषों के मूलाधार होने के कारण सब से अतिशयशाली और 'एकले'–अद्वितीय महापुरुष कहलाए जाते हैं॥ १४॥

*संकेत*—

व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार उत्तमपुरुष, मध्यम-पुरुष और प्रथम पुरुष ये तीन पुरुष हैं। शैवी त्रिकप्रक्रिया में ये क्रमशः शिव, शक्ति और नर इस त्रिक के प्रतीक माने जाते हैं। साथ ही व्याकरणप्रक्रिया के एकवचन, द्विवचन और बहुवचन ये तीन भी शैवी त्रिकप्रक्रिया में क्रमशः शिव, शक्ति और नर इस त्रिक का प्रतिनिधित्व करते हैं—जैसा कि निम्नलिखित तालिका में दिखाया जा रहा है:—

*त्रिक तालिका*

| | *शिव* | *शक्ति* | *नर* | |
|---|---|---|---|---|
| *शिव* | अहम् | आवाम् | वयम् | उत्तम पुरुष |
| *शक्ति* | त्वम् | युवाम् | यूयम् | मध्यम पुरुष |
| *नर* | सः | तौ | ते | प्रथम पुरुष |

तालिका में दर्शाया गया सारा विस्तार शिव का बहिर्मुखीन प्रसार या सृष्टि क्रम है।

संहार क्रम में यह सारा विस्तार धीरे-धीरे 'अहम्' इस उत्तम पुरुष एकवचनात्मक परिपूर्ण शिवभाव में ही सिमट जाता है क्यों कि यही सारे प्रसार-संहार का उद्गमस्थान एवं विश्रान्ति स्थान है। संहार के पहले स्तर पर बहुवचनात्मक नरभाव अर्थात् 'वयम्, यूयम्, ते' इनमें क्रमशः संहत हो जाते हैं। दूसरे चरण पर ये नरभावों को गर्भ में लिए हुए शक्तिभाव अर्थात् 'आवाम्, युवाम्, तौ'—इनमें क्रमशः संहत हो जाते हैं। शेष बचे हुए 'अहम्, त्वम्, सः' में से भी 'सः' यह नरभाव पहले 'त्वम्' इस शक्तिभाव में और उपरान्त दोनों मिल कर 'अहम्'-इस सबके आधारभूत शिवभाव में ही संहत हो जाते हैं। इस प्रकार समूची विश्वमयता को स्वरूप में निहित रखकर नित्य वर्तमान रहने वाला 'अहम्'-यह स्वयंसिद्ध सद्भाव उत्तमपुरुष कहलाता है। इस उत्तम पुरुष का

भी आश्रय बना हुआ जो मौलिक एवं सर्वोत्तीर्ण चिन्मय रूप है वही उत्पलदेव का प्रस्तुत मुक्तक में वर्णित महापुरुष है। अधिक जानकारी के लिए प्रो० नीलकंठ गुर्टू के' श्रीपरात्रिंशिका भाषानुवाद के ११९ से १२५ तक के पृष्ठों का अध्ययन करें। यदि संभव हो सके तो निम्नलिखित शास्त्रवाक्य का भी परीक्षण करें–

'सर्वसंहारसंहारसंहारमपि संहरेत्।
सा शक्तिर्देवदेवस्याभिन्नरूपा शिवात्मिका॥' (तन्त्रालोक)

**जयन्ति ते जगद्वन्द्या दासास्ते जगतां विभो।
संसारार्णव एवैष येषां क्रीडामहासरः॥ १५॥**

*अन्वयः*–जगतां विभो ते जगद्वन्द्याः ते दासाः जयन्ति येषां एषः संसारअर्णवः एव क्रीडामहासरः।

**जगतां विभो**–हे (सभी) भुवनों के स्वामी!, **ते**–वे, **जगद्**–जगत् में, **वन्द्याः**–पूजनीय, **ते**–आप के, **दासाः**–सेवक (अर्थात् भक्त), **जयन्ति**–धन्य हैं, **येषां**–जिनके लिए, **एषः**–यह (भयप्रद), **संसार**–संसार रूपी, **अर्णवः एव**–समुद्र ही, **क्रीडा**–क्रीड़ा अर्थात् मनोरंजन का (काम देने वाला), **महा**–एक बड़ा, **सरः**–सरोवर (है)॥

हे जगत् के स्वामी! सारा संसार जिनकी चरणवंदना करता रहता है उन आपके दासजनों की जय-जयकार हो, उनके लिए तो यह सारा संसार ही क्रीडा करने का महान् सरोवर है॥ १५॥

*तात्पर्य*–

(क) सच्चे भक्तों के लिए यह दुःखमय समझा जाने वाला संसार भी सुखमय ही होता है क्योंकि उनको यह भी चिदानन्द का ही विस्तार दिखाई देता है।

(ख) –'दीयते सर्वम् अस्मै इति दासः'–इस शास्त्रीय निर्वचन के अनुसार सच्चा दास वही कहलाता है जिसको स्वामी प्रसन्न होने पर अपना सब कुछ देता है। भगवान् अपने दासों को अपना सब कुछ अर्थात् ईश्वरता ही सौंप देते हैं। स्मरण रहे शैवी पराभक्ति में दासभाव को विशेष महत्व दिया जाता है। उत्पलदेव जैसा कोई विरला ही व्यक्ति 'दास' नाम से अलंकृत किया जा सकता है।

क्रीडा महासरः– Swimming pool for swimming (Swami Ji)

**आसतां तावदन्यानि दैन्यानीह भवज्जुषाम्।**
**त्वमेव प्रकटीभूया इत्यनेनैव लज्ज्यते॥ १६॥**

*अन्वयः*—इह भवत्जुषाम् तावत् अन्यानि दैन्यानि आसताम् त्वमेव प्रकटीभूयाः इति अनेनैव तैः लज्ज्यते।

इह—इस (भक्ति-मार्ग) में, भवत्—आप की, जुषाम्—भक्ति करने वालों की, तावत्—अभी, अन्यानि—और और, दैन्यानि—दीनताएं (अर्थात् अणिमा आदि संबन्धी प्रार्थनाएँ), आसताम्—तो दूर रहीं, त्वमेव—'आप ही, प्रकटी-भूयाः—प्रकट हो जायें', इति—इस प्रकार की, अनेनैव—इस (प्रार्थना) से ही, (तैः—वे), लज्ज्यते—लजाते हैं (अर्थात् दूसरी दीनताओं की संभावना ही नहीं है)॥

(हे देवाधिदेव!) आपके दासजनों की 'दूसरी'-अर्थात् अणिमा आदि सिद्धियों को अधिगत करने की 'दीनताएँ'-अर्थात् दीनता से भरी प्रार्थनाएँ तो रहने ही दीजिए, वे तो आपसे—'हे प्रभु आप स्वयं ही दर्शन दीजिए'-इतनी छोटी सी याच्ञा करने पर भी लज्जित हो जाते हैं॥ १६॥

तात्पर्य—

प्रस्तुत मुक्तक में स्तोत्रकार व्यंग्यरूप में परमात्मा के स्वरूपतः प्रकट होने की याच्ञा कर रहे हैं। भगवान् का दर्शन मिलने की अवस्था में अणिमा आदि अवर सिद्धियां स्वयं ही उपलब्ध हो जाती हैं। उनको अधिगत करने के लिए अलग से दीन प्रार्थनाएँ करने की तनिक भी संभावना शेष नहीं रहती है।

**मत्परं नास्ति तत्रापि जापकोऽस्मि तदैक्यतः।**
**तत्त्वेन जप इत्यक्षमालया दिशसि क्वचित्॥ १७॥**

*अन्वयः*—(शिव) मत्परं (अन्यद्उत्कृष्टं दैवतं) न अस्ति तत्रापि (अहं) जापकः अस्मि तत् ऐक्यतः तत्त्वेन जपः इति (त्वम्) क्वचित् अक्षमालया दिशसि।

(शिव—हे मंगल-स्वरूप ईश्वर!), मत्परं—'मुझ से बढ़ कर, (अन्यद्—और कोई) उत्कृष्टं—उत्कृष्ट (दैवतं—देवता), न अस्ति—नहीं है, तत्रापि—फिर भी, (अहं—मैं), जापकः अस्मि—जप करता हूँ, तत्—इसलिए, ऐक्यतः—एकीकरण द्वारा (साक्षात्कार करना ही), तत्त्वेन—तत्त्व-दृष्टि से, जपः—जप (है), इति (त्वम्—यही आप), क्वचित्—कहीं (अर्थात् किसी अपने चित्र में),

अक्षमालया—रुद्राक्षमाला धारण करने से, दिशसि—उपदेश करते हैं॥

(हे सौम्यमूर्ति शिव!) आप 'किसी स्थान पर'-अर्थात् गौरीश्वर इत्यादि नामवाली अपनी किसी प्रतिकृति में, हाथ में जपमाला धारण किए हुए रूप से (वस्तुतः) यह उपदेश देते हैं कि—'यद्यपि मुझसे बढ़कर और कोई जप्य देवता नहीं है तो भी मैं जप करता रहता हूँ, तात्त्विक जप तो वही होता है जिसमें जप्य देवता और जपिया दोनों का (नीरक्षीरमय) ऐक्य हो जाए॥ १७॥

*संकेत*—

शिवस्तोत्रावली के विख्यात टीकाकार आचार्यवर्य क्षेमराज ने अपनी टीका में उल्लिखित गौरीश्वर नामवाली शिवजी की प्रतिमूर्ति का उल्लेख किया है। शायद उस प्राचीन काल में भगवान् शिव की ऐसी कोई विशेष प्रतिमूर्ति अत्यन्त लोकप्रिय रही होगी। श्री सद्गुरु महाराज ने भी प्रस्तुत मुक्तक के शब्दार्थ में चित्र का उल्लेख किया है।

**सतोऽवश्यं परमसत्सच्च तस्मात्परं प्रभो।**
**त्वं चासतस्सतश्चान्यस्तेनासि सदसन्मयः॥ १८॥**

*अन्वयः*—प्रभो असत् अवश्यं सतः परम् सत् च अस्मात् परम् (अस्ति) त्वं च असतः सतश्च अन्यः तेन सदसन्मयः असि।

प्रभो—हे प्रभु!, असत्—असत् (अव्यक्त), अवश्यं—अवश्य ही, सतः—सत् (व्यक्त) से, परम्—भिन्न है, सत् च—और सत्, अस्मात्—उस से (अर्थात् असत् से), परम् (अस्ति)—भिन्न है, त्वं च—आप तो, असतः—असत्, सतश्च—और सत् (दोनों) से, अन्यः—न्यारे हैं, तेन—इसीलिए (आप), सदसन्मयः असि—सत्-स्वरूप और असत्-स्वरूप दोनों हैं॥

हे प्रभु! अवश्य ही 'असत्'-अर्थात् आकाशपुष्प इत्यादि प्रकार का अभावरूप पदार्थवर्ग, 'सत्'-अर्थात् नील, घट, पट इत्यादि प्रकार के भावरूप पदार्थवर्ग से भिन्न है, और सत् पदार्थ से असत् पदार्थ नितरां भिन्न है, परन्तु आप सत् एवं असत् दोनों से न्यारे हैं, अतः आप 'सदसत्'-अर्थात् युगपत् ही सत् भी और असत् भी हैं॥ १८॥

*संकेत*—

भगवान् की सदसत्-रूपता का अभिप्राय इसी स्तोत्र के पहले मुक्तक की पादटिप्पणी में समझाया गया है।

**सहस्रसूर्यकिरणाधिकशुद्धप्रकाशवान्।**
**अपि त्वं सर्वभुवनव्यापकोऽपि न दृश्यसे॥ १९॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) सहस्रसूर्यकिरणअधिकशुद्धप्रकाशवान् अपि (च) सर्वभुवन-व्यापकः अपि त्वं न दृश्यसे।

(प्रभो–हे ईश्वर!), सहस्र–हज़ारों, सूर्य- –सूर्यों की, किरण– किरणों से, अधिक–अधिक, शुद्ध–उज्ज्वल, प्रकाशवान्–प्रकाश वाले, अपि–होते हुए भी, (च–और), सर्व–सभी, भुवन–लोकों में, व्यापकः–व्यापक, अपि–होने पर भी, त्वं–आप, न दृश्यसे–दिखाई नहीं देते॥

(हे निरंजन देव!) आप हज़ारों सूर्यों की किरणों से भी अत्यधिक निर्मल आभावाले, और सारे भुवनों में व्यापक होने पर भी किसी को दिखाई नहीं दे रहे हैं॥ १९॥

**जडे जगति चिद्रूपः किल वेद्येऽपि वेदकः।**
**विभुर्मिते च येनासि तेन सर्वोत्तमो भवान्॥ २०॥**

*अन्वयः*–येन (त्वं) किल जडे जगति चिद्रूपः (असि) वेद्ये-अपि वेदकः (असि) मिते च विभुः असि तेन भवान् सर्वोत्तमः।

येन–चूँकि, (त्वं–आप), किल–सचमुच, जडे–जड, जगति–जगत् में, चिद्रूपः–चेतन-स्वरूप, (असि–हैं), वेद्ये-अपि–और जानने योग्य (तत्त्व के विषय) में, वेदकः–ज्ञान कराने वाले, (असि–हैं), मिते च–तथा ससीम में, विभुः–व्यापक, असि–हैं, तेन–इसलिए, भवान्–आप, सर्वोत्तमः–सब से उत्तम हैं॥

(हे पुरुषोत्तम!) आप तो, निश्चय से, जड जगत् में भी चैतन्यमय प्रमाता, ज्ञेय विषयों के प्रपंच में भी ज्ञाता, और ससीमता में भी असीम व्यापकता के रूप में विराजमान हैं, अतः आप सब से उत्तम पुरुष हैं॥ २०॥

**अलमाक्रन्दितैरन्यैरियदेव पुरः प्रभोः।**

**तीव्रं विरौमि यन्नाथ मुह्याम्येवं विदन्नपि।। २१।।**

*अन्वय:*—नाथ! अन्यैः आक्रन्दितैः अलम् (अहं) इयत् एव प्रभोः पुरः तीव्रं विरौमि यत् एवं विदन् अपि मुह्यामि।

नाथ—हे स्वामी!, अन्यैः—और बातों के, आक्रन्दितैः—चिल्लाने से, अलम्—कोई लाभ नहीं, (अहं—मैं), इयत्—इतना, एव—ही, प्रभोः—प्रभु के, पुरः—सामने, तीव्रं—ज़ोर से, विरौमि—चिल्ला कर कहता हूँ, यत्—कि, एवं—ऐसा, विदन्—जानते हुए, अपि—भी, मुह्यामि—मैं मोह में पड़ता हूँ॥

**हे नाथ! दूसरी बातों के विषय में ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने-कलपने का कोई प्रयोजन नहीं है, मैं तो गला फाड़-फाड़कर आपसे केवल इतनी प्रार्थना कर रहा हूँ कि मैं यह सब कुछ जानते हुए भी मोह के दलदल में धंसता ही जा रहा हूँ॥ २१॥**

*संकेत*—

श्री क्षेमराजाचार्य के अनुसार इस मुक्तक के अंतिम चरण का तात्पर्य यह है कि—'मैं समावेश अवस्था के तत्त्व से परिचित होने पर भी, व्युत्थानदशा की वशिता के कारण, सहसा समावेश की अवस्था में बेरोकटोक प्रवेश नहीं पा रहा हूँ।

तीसरा स्तोत्र समाप्त

ॐ नमः शिवाय

जय निरामय भक्तिमदर्चित,
जय गिरीश दयाकरुणालय,
जय नवेन्दुद्रवद्रससागर,
जय जयामृतभैरव पाहि नः।

# भक्तिविलास नामक चौथा स्तोत्र

(प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'सुरसोद्बल' भी है। इस शब्द के तीन खंड हैं:–'सु+रस+उद्बल', इन खंडों का तात्पर्य इस प्रकार है : 'मनभावन रसवत्ता से सराबोर।' सत्य ही इस स्तोत्र में प्रयुक्त मधुरतम छंद, ललित पदावली, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव और उत्पलीय रचनाशैली इत्यादि गुण केवल भक्तजनों के ही नहीं बल्कि सर्वसाधारण पाठकों के भी हृदयों को द्रवित करने की क्षमता रखते हैं। संक्षेप में अगर इस स्तोत्र को ब्रह्मानन्द रस का फवारा ही कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी)

सुरसोद्बलाख्य– **Strengthening the real taste of Nectar, to infuse strength in thy devotion. (Swami Ji) August 1990.**

**चपलमसि यदपि मानस**
**[1]तत्रापि श्लाघ्यसे यतो भजसे।**
**शरणानामपि शरणं**
**[2]त्रिभुवनगुरुमम्बिकाकान्तम्॥ १॥**

*अन्वयः*–मानस यदपि (त्वं) चपलम् असि तत्रापि श्लाघ्यसे यतः (त्वं) शरणानाम् अपि शरणं त्रिभुवनगुरुम् अम्बिकाकान्तम् (महादेवं) (यदा तदा अपि) भजसे।

मानस–हे (मेरे) मन!, यदपि–यद्यपि, (त्वं–तू), चपलम्–चञ्चल, असि–है, तत्रापि–तो भी, श्लाघ्यसे–प्रशंसनीय है, यतः–क्योंकि, (त्वं–तू),

१. ख० पु० तथापि–इति पाठः।
२. ख० पु० भुवनगुरुम्–इति पाठः।

शरणानाम् अपि—रक्षकों की भी, शरणं—रक्षा करने वाले, त्रिभुवन—तीनों भुवनों के, गुरुम्—स्वामी और, अम्बिका—पार्वती के, कान्तम्—प्रिय, (महादेवं—महादेव जी को), (यदा तदा अपि—जब तब भी), भजसे—भजता है॥

रे मेरे मन! अगरचि तुम (स्वभाववश) चञ्चल ही हो तो भी प्रशंसा का पात्र बने हो, कारण यह कि तुम शरण देने वाले देवताओं को भी शरण देने वाले और तीनों भुवनों के गुरु, माता जगदम्बा (पराशक्ति) के अतिसुन्दर स्वामी का (कभी-कभार) भजन करते रहते हो॥ १॥

(क) अम्बिका कान्तं—Embraced by supreme power (Swami Ji) August) 1990.

तात्पर्य—

यदि कोई निम्न स्तर का व्यक्ति भी, थोड़ी देर के लिए ही सही, शुद्ध भाव एवं सच्ची श्रद्धाभक्ति के साथ भगवान् का भजन करे तो उसको भी भगवान् पूरी फलसंपदा वितरित कर देते हैं।

(ख) त्रिभुवन-तीन भवन-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। विज्ञानाकला, स्वप्न स्वातन्त्र्य तथा सुषुप्ति स्वातन्त्र्य। (स्वामी जी) अगस्त १९९०

**उल्लङ्घ्य विविधदैवत-**
**सोपानक्रममुपेयशिवचरणान्।**
**आश्रित्याप्यधरतरां भूमिं**
**नाद्यापि चित्रमुज्झामि॥ २॥**

*अन्वयः*—विविधदैवतसोपानक्रमम् उल्लङ्घ्य उपेयशिवचरणान् आश्रित्य अपि (अहम्) अद्यापि अधरतरां भूमिं न उज्झामि (इति तु) चित्रम्।

विविध—भिन्न भिन्न, दैवत—देवताओं के, सोपान—सोपान के, क्रमम्—क्रम का, उल्लंघन—उल्लंघन करके (तथा), उपेय—प्राप्त करने योग्य, शिव-चरणान्—शिव-चरणों का, आश्रित्य—सहारा लेकर, अपि—भी, (अहम्—मैं), अद्यापि—अभी भी, अधर-तरां—अत्यन्त नीच, भूमिं—अवस्था को, न—नहीं, उज्झामि—त्यागता, (इति तु—यह तो), चित्रम्—बड़ा आश्चर्य है॥

(हे आनन्दघन स्वामी!) (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इत्यादि) देवताओं की सीढ़ियों से उत्तरोत्तर भूमिकाओं पर चढ़ने के तार को एकदम लांघकर, और प्राप्त किए जाने के योग्य भगवान् शिव के चरणकमलों का आश्रय लेने पर भी न जाने क्यों मैं अभी भी इस अत्यन्त निम्नकोटि के धरातल को नहीं छोड़ रहा हूँ, अतः यह बहुत अचरज़ का विषय है॥ २॥

अधरतर भूमि–सब से निम्नकोटि का धरातल अर्थात् व्युत्थान काल में सहसा उभर आने वाले जड देहप्रमातृभाव की भूमिका।

I have crossed the highest state in Samadhi, I have reached your lotus feet, touched them, but to great astonishment: still I enjoy worldly enjoyments. *(Swami Ji) August 1990*

**प्रकटय निजमध्वानं**
**स्थगयतरामखिललोकचरितानि।**
**यावद्भवामि भगवं-**
**स्तव सपदि सदोदितो दासः॥ ३॥**

*अन्वयः*– भगवन् यावत् (अहं) तव सदाउदितः दासः सपदि भवामि (तावत्) निजम् अध्वानं प्रकटय (च) अखिल-लोक-चरितानि तराम् स्थगय।

भगवन्–हे भगवन्!, यावत्–जब तक, (अहं–मैं), तव–तुम्हारा, सदा–सदैव, उदितः–(सेवा में) तत्पर, दासः–सेवक, सपदि–शीघ्र ही (अर्थात् शक्तिपात से), भवामि–बन जाऊं, (तावत्–तब तक ही), निजम्–अपना, अध्वानं–(उत्तम) मार्ग, प्रकटय–प्रकट करें, (च–और), अखिल–सभी, लोकचरितानि–लोक-व्यवहारों को, तराम्–पूर्ण रूप में, स्थगय–आच्छादित करें॥

हे भगवान्! जब तक मैं बहुत जल्दी (अर्थात् तीव्र शक्तिपात होते ही) आपके नित्य आज्ञाकारी दासभाव पर पूरी तरह प्रतिष्ठित हो पाऊँ तब तक अपने पास पहुंचने के सही मार्ग (शाक्तमार्ग) का उजाला करते रहिए, और सारे सांसारिक लोगों को ही सजने वाले छिछोरपन का पूरा स्थगन कीजिए॥ ३॥

निज-अध्वा–अपना मार्ग (शाक्तमार्ग)

स्थगन—किसी अनपेक्षित या क्षति पहुंचाने वाली व्यवस्था को कुछ समय के लिए विचाराधीन रखना।

लोकचरितनि—क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ एकाग्र्य ये चार प्रकार के लोक व्यवहार हैं।

**शिव शिव शम्भो शङ्कर**
**शरणागतवत्सलाशु कुरु करुणाम्।**
**तव चरणकमलयुगल-**
**स्मरणपरस्य हि सम्पदोऽदूरे॥ ४॥**

*अन्वयः*—शिव शिव शम्भो शंकर शरणागतवत्सल आशु करुणां कुरु हि तव चरणकमलयुगलस्मरणपरस्य (मे) सम्पदः अदूरे।

**शिव शिव**—हे कल्याण-स्वरूप शिव!, **शम्भो**—हे शांतिदायक!, **शंकर**—हे कल्याणकारक, **शरणागत**—हे शरणागतों के प्रति, **वत्सल**—कृपालु प्रभु!, **आशु**—(मुझ पर) शीघ्र ही, **करुणां**—दया, **कुरु**—कीजिए, **हि**—क्योंकि, **तव**—आप के, **चरणकमल**—चरण-कमलों के, **युगल**—जोड़े का, **स्मरण** ध्यान करने में, **परस्य**—लगे हुए, (**मे**—मुझ से), **सम्पदः**—(मोक्ष रूपी) संपदाएं, **अदूरे**—दूर नहीं (रह सकतीं)॥

हे भगवन्, सबों का कल्याण करने वाले शिव, मंगल के उद्गम शम्भू, आपदाओं का शमन करने वाले शंकर, और शरणागतों के स्नेही! मुझ पर जल्दी दया कीजिए, यह बात निश्चित है कि आपके चरणकमलों की जोड़ी का, तत्परता से, स्मरण करने वाले (भक्त) जनों के लिए दिव्य विभूतियां दूर नहीं रह सकती हैं॥ ४॥

चरणकमलयुगल—कमल जैसे चरणों की जोड़ी—ईश्वरीय ज्ञातृता और कर्तृता। अर्थात् ज्ञानक्रियामरीचि द्वयम्।

**तावकाङ्घ्रिकमलासनलीना**
**ये यथारुचि जगद्रचयन्ति।**
**ते विरिञ्चिमधिकारमलेना-**
**लिप्तमस्ववशमीश हसन्ति॥ ५॥**

*अन्वयः*–ईश ये तावकअङ्घ्रिकमलआसनलीनाः यथारुचि जगत्‌रचयन्ति ते अधिकारमलेन आलिप्तम् (अत एव) अस्ववशं विरिञ्चिं हसन्ति।

**ईश**–हे ईश्वर!, **ये**–जो भक्तजन, **तावक**–आपके, **अङ्घ्रिकमल**–चरणरूपी कमलों के, **आसनलीनाः**–आसन पर बैठे हुए, **यथारुचि**–अपनी रुचि के अनुसार, **जगत्‌रचयन्ति**–जगत् का निर्माण करते हैं, **ते**–वे, **अधिकारमलेन**–अधिकार के विकार से, **आलिप्तम्**(अत एव)– पूरी तरह से लिप्त,(इसी लिए), **अस्ववशं**–पराधीन बने हुए, **विरिञ्चिं**–ब्रह्माजी पर, **हसन्ति**–हँसते हैं।

हे ईश्वर! जो भक्तजन आपके चरणरूपी कमलों के आसन पर तल्लीन मुद्रा में बैठकर, अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार, विश्व का निर्माण करते रहते हैं, वे (सृष्टिकर्ता होने के) अधिकार के मल से लिये हुए, और पराधीनभाव में ही पड़े हुए ब्रह्मा जी का मखौल उड़ाते रहते हैं॥ ५॥

**त्वत्प्रकाशवपुषो न विभिन्नं**
**किंचन प्रभवति प्रतिभातुम्।**
**तत्सदैव भगवन् परिलब्धो-**
**ऽसीश्वर प्रकृतितोऽपि विदूरः॥ ६॥**

*अन्वयः*–भगवन् (यतः) त्वत्- प्रकाशवपुषः विभिन्नं किंचन (अपि) प्रतिभातुं न प्रभवति तत् ईश्वर प्रकृतितः विदूरः अपि (त्वं) (मया) सदैव परिलब्धः असि।

**भगवन्**–हे भगवान्!, (यतः–चूंकि), **त्वत्**–आप के, **प्रकाशवपुषः**–प्रकाश-स्वरूप से, **विभिन्नं**–भिन्न, **किंचन**–कुछ, (अपि–भी), **प्रतिभातुं**–चमक, **न प्रभवति**–नहीं सकता, **तत्**–इसलिए, **ईश्वर**–हे स्वामी!, **प्रकृतितः**–स्वभाव से, **विदूरः**–दूर अर्थात् अप्राप्य, **अपि**–होते हुए भी, (त्वं–आप), (मया–मुझे), **सदैव**–सदा ही, **परिलब्धः**–प्राप्त, **असि**–हैं॥

हे भगवान्! आपके प्रकाशमय स्वरूप से विलग कर कोई भी पदार्थ (स्वतन्त्रतापूर्वक) 'प्रतिभात'-अर्थात् बुद्धिदर्पण में प्रतिबिम्बित हो ही नही सकता है, अतः, यद्यपि आप (स्वरूपगोपनात्मक) स्वभाव से 'दूर'-अर्थात् अत्यन्त गुप्त स्वरूपवाले ही हैं, तो भी (घट, पट, नील इत्यादि अनन्त प्रमेयप्रकाशों के रूप में) सदा हमारे पास ही हैं॥ ६॥

वपुः–स्वरूप

पादपङ्कजरसं तव केचिद्
भेदपर्युषितवृत्तिमुपेताः।
केचनापि रसयन्ति तु सद्यो
भात[१]मक्षतवपुर्द्वयशून्यम्॥ ७॥

*अन्वयः*—प्रभो केचित् भेदपर्युषितवृत्तिम् उपेताः तव पाद-पंकजरसं रसयन्ति (किन्तु) केचनापि सद्यःभातम् अक्षतवपुः द्वयशून्यं (रसयन्ति)।

प्रभो—हे भगवान्!, केचित्—कुछ लोग, भेद—(स्वरूप-अप्रथनात्मक) भेद रूपी, पर्युषित—बासी (अर्थात् नीरस), वृत्तिम्—वृत्ति से, उपेताः—युक्त होकर, तव—आप के, पाद-पंकज—चरण-कमलों का, रसं—आनन्द-रस, रसयन्ति—चखते हैं, (किन्तु—किन्तु), केचनापि—कुछ बिरले (आप के भक्त तो), सद्यः—एकबारगी, भातम्—प्रकट बने हुए, अक्षत—निरन्तर प्रथित, वपुः—स्वरूप वाले, द्वय- —और भेद-भाव से, शून्यं—रहित आपके चरण-कमलों का आनन्द-रस, (रसयन्ति—चखते हैं अर्थात् लूटते हैं)॥

(हे रसमय प्रभु!) भेदवासना के रूपवाली सडांध से दुर्गन्धिपूर्ण (अर्थात् कुत्सित) प्रवृत्ति पर ही टिके रहने वाले कई लोग आपके चरणकमलों के बासी रस का ही पान करते रहते हैं, जब कि उलटे में कई (भाग्यशाली) लोग 'तत्काल ही टपकते हुए'—अर्थात् समावेश दशा में प्रविष्ट होने के तत्काल ही अनुभूति का विषय बनने वाले, स्वरूपतः क्षतिग्रस्त न बने हुए और द्वैत की मिलावट से रहित रस का चर्वण करते रहते हैं॥ ७॥

*संकेत*—

जब तक साधक का मन द्वैतभाव के अति अल्प प्रदूषण से भी युक्त हो तब तक, कोई लाख चाहे, चिदानन्दभाव की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः इस विषय में पूर्ण सचेत रहने की आवश्यकता होती है।

नाथ विद्युदिव भाति विभा ते
या कदाचन ममामृतदिग्धा।
सा यदि स्थिरतरैव भवेत्तत्
पूजितोऽसि विधिवत्किमुतान्यत्॥ ८॥

*अन्वयः*—नाथ अमृतदिग्धा या ते विभा कदाचन मम विद्युदिव भाति सा यदि स्थिरतरा एव भवेत् तत् (त्वं) विधिवत् पूजितः असि किम्उतअन्यत्।

नाथ–(हे अभिलषणीय) प्रभु!, अमृत–परमानन्द से, दिग्धा–सनी हुई, या–जो, ते–आप की, विभा–प्रभा, कदाचन–कभी (अर्थात् किसी समाधिकाल में), मम–मुझे, विद्युदिव–बिजली की भांति (क्षण मात्र के लिए), भाति–प्रकाशित होती है, सा–वह (आप की झलक), यदि–यदि, स्थिरतरा एव–और अधिक स्थिर, भवेत्–बन जाती, तत्–तो फिर, (त्वं–आप-मुझ से), विधिवत्–विधिपूर्वक, पूजितः–पूजित, असि–होते, किम्-उत-अन्यत्–इससे बढ़कर और भला क्या (मेरे लिए वाञ्छनीय होता)॥

हे नाथ! आपकी दीप्ति की जो कोई अवर्णनीय एवं अमृत के रस से तरबतर झलक मुझे 'कभी-कभार'-अर्थात् किसी समाधि की अवस्था में आभासित हो जाती है, वही अगर चिरस्थायिनी बन पाती तो मेरी पूजा विधिवत् संपन्न हो जाती, और मेरे लिए उससे बढ़कर और कुछ भी वांछनीय नहीं रह जाता॥ ८॥

*तात्पर्य*–

भक्तप्रवर उत्पलदेव व्युत्थान की अवस्था में भी समावेशकालीन प्रकाशमयता की स्थिरता की याच्ञा कर रहे हैं।

**सर्वमस्यपरमस्ति न किंचिद्**
**वस्त्ववस्तु यदि वेति महत्या।**
**प्रज्ञया व्यवसितोऽत्र यथैव**
**त्वं तथैव भव सुप्रकटो मे॥ ९॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) वस्तु यदि वा अवस्तु सर्वम् असि अपरं किञ्चित् न अस्ति इति महत्या प्रज्ञया यथा एव अत्र (मया) त्वं व्यवसितः तथा एव (त्वं) मे सुप्रकटः भव।

(प्रभो–हे स्वामी!), वस्तु–सत् पदार्थ, यदि वा–अथवा, अवस्तु–असत् पदार्थ, सर्वम्–सब कुछ, असि–आप ही हैं, अपरं–(आप के बिना) और, किञ्चित्–कुछ भी, न अस्ति–नहीं है, इति–इस प्रकार, महत्या–बड़ी, प्रज्ञया–बुद्धि से, यथा एव–जैसे ही, अत्र–इस जगत् में, (मया–मैंने),

त्वं—आप के स्वरूप का, व्यवसितः—निश्चय किया है, तथा एव—वैसे ही, (त्वं—आप), मे—मुझे, सुप्रकटः—अच्छी तरह प्रकट, भव—हो जायें॥

(हे सर्वव्यापी देव!) चाहे भावरूप पदार्थों का या अभावरूप पदार्थों का अटाला हो सारे का सारा केवल आप का स्वरूप है, आपके स्वरूप से इतर या अतिरिक्त और कुछ भी नही है, फलतः बहुत सूझ-बूझ से मैंने आपके जैसे स्वरूप का निर्धारण अपने विमर्श में कर रखा है, आप ठीक उसी रूप में 'मेरे सामने'-अर्थात् व्युत्थानकाल में भी प्रकट हो जाइए॥ ९॥

**स्वेच्छयैव भगवन्निजमार्गे**
**कारितः पदमहं प्रभुणैव।**
**तत्कथं जनवदेव चरामि**
**त्वत्पदोचितमवैमि न किंचित्॥ १०॥**

*अन्वयः*—भगवन् (भवता) प्रभुणा एव स्वेच्छया एव अहं निजमार्गे पदं कारितः तत् कथं जनवदेव चरामि त्वत्पदउचितं किंचित् न अवैमि।

भगवन्—हे भगवान्!, (भवता—आप), प्रभुणा—प्रभु ने, एव—ही, स्वेच्छया एव—अपनी ही इच्छा से (अर्थात् निरपेक्ष अनुग्रह-शक्ति से), अहं—मुझे, निजमार्गे—अपने (ज्ञान के) मार्ग पर, पदं—पैर, कारितः—रखवाया है, तत्—तो, कथं—क्या बात है कि (मैं), जनवदेव—सांसारिक लोगों की भांति ही, चरामि—व्यवहार करता हूँ, त्वत्—और आप की, पद—पदवी के, उचितं—योग्य (अर्थात् आपकी पदवी पर पहुँचकर जानने योग्य), किंचित्न—कुछ भी नहीं, अवैमि—जानता हूँ॥

हे भगवान्! (दूसरे किसी ने नही प्रत्युत—) आप स्वामी ने स्वयं ही और अपनी ही इच्छा से मुझे अपने मार्ग पर (शाक्तमार्ग पर) पग धरवाया है, परन्तु न जाने मैं क्योंकर अभी भी जन्म-मरणशील पशुजनों का ही जैसा व्यवहार करने पर अड़ा हूँ और आपकी (उच्चतम) पदवी के अनुरूप आचरण के बारे में कोरे का कोरा ही हूँ?॥ १०॥

**कोऽपि देव हृदि तेषु तावको**
**जृम्भते सुभगभाव उत्तमः।**

**त्वत्कथाम्बुदनिनादचातका**
**येन तेऽपि सुभगीकृताश्चिरम्॥ ११॥**

*अन्वयः*– देव तावकः कोऽपि उत्तमः सुभग-भावः तेषु हृदि जृम्भते येन ते त्वत्‌कथा अम्बुदनिनादचातकाः अपि चिरं सुभगीकृताः (भवन्ति)।

देव–हे देवता!, तावकः–आपके स्वरूप की, कोऽपि–एक अलौकिक, उत्तमः–और उत्कृष्ट, सुभगभावः–आनन्ददशा, तेषु–उन (भक्तों) के, हृदि–हृदय में, जृम्भते–विकसित होती है, येन–जिससे, ते–वे, त्वत्–आप की, कथा–कथा रूपी, अम्बुद–मेघों की, निनाद–गड़गड़ाहट (को चाहने वाले), चातकाः–(आपके भक्त रूपी) चातक, अपि–भी, चिरं–चिर काल तक, सुभगीकृताः–(स्वरूप-समावेश के) आनन्द में लीन, (भवन्ति–हो जाते हैं)॥

हे देव! (अनुग्रह के पात्र बने हुए) भक्तजनों के हृदय में ऐसी कोई अवर्णनीय एवं उत्कृष्ट कोटि की आनन्दमयी अवस्था उदित हो जाती है, जिसके प्रभाव से आपकी चर्चा के रूपवाली मेघमाला की गड़गड़ाहट से हर्षित होने वाले वे भक्तरूपी चातक चिरकाल तक अत्यन्त विश्रान्ति की अवस्था में तल्लीन हो जाते हैं॥ ११॥

**त्वज्जुषां त्वयि कयापि लीलया**
**राग एष परिपोषमागतः।**
**यद्वियोगभुवि सङ्कथा तथा**
**संस्मृतिः फलति संगमोत्सवम्॥ १२॥**

*अन्वयः*–(स्वामिन्) त्वज्जुषां त्वयि एषः रागः कयापि लीलया परिपोषम्‌आगतः यत् (तेषां) वियोगभुवि तथा संकथा संस्मृतिः (त्वत्-) संगमउत्सवं फलति।

(स्वामिन्–हे स्वामी!), त्वज्जुषां–आप के भक्तों का, त्वयि–आप के प्रति, एषः–यह (असामान्य), रागः–अनुराग, कयापि–(आप की) अलौकिक, लीलया–अनुग्रह-लीला से, परिपोषम्–(इतना) बढ़, आगतः–जाता है, यत्–कि, (तेषां–उन भक्त-जनों के), वियोग–वियोग (अर्थात् व्युत्थान) की, भुवि–दशा में भी, तथा–वह (आप के स्वरूप की), संकथा–चर्चा (और), संस्मृतिः–स्मृति, (त्वत्–आप के), संगम–स्वरूप-समागम के, उत्सवं–उत्सव को, फलति–उत्पन्न करती है॥

(हे परमेश्वर!) लगन से आपकी सेवा करने वाले भक्तों का आपके प्रति (असाधारण) अनुराग, किसी ईश्वरीय लीला से ही, ऐसी चरमसीमा पर पहुंच जाता है कि वे आपसे विलगने की अवस्था (व्युत्थान अवस्था) में भी, केवल आपकी चर्चा या स्मरण मात्र करने से ही आपके साथ मिलन का उत्सव मनाने लगते हैं॥ १२॥

*संकेत*—

(क) संयोग का सुख मिलन की अवस्था में ही अनुभव किया जा सकता है, वियोग की अवस्था में नहीं, परन्तु प्रस्तुत मुक्तक में स्तोत्रकार ने जो वियोगदशा में ही मिलन के आनन्द का वर्णन किया है उससे परमात्मप्रेम की अलौकिकता अभिव्यंजित होती है।

(ख) कयापि लीलया =ईश्वरीय शक्तिपात से।

(ग) वियोगभूः=व्युत्थान की अवस्था।

**यो[1] विचित्ररससेकवर्धितः**
**शङ्करेति शतशोऽप्युदीरितः।**
**शब्द आविशति तिर्यगाशये-**
**ष्वप्ययं नवनवप्रयोजनः॥ १३॥**

**ते जयन्ति मुखमण्डले भ्रमन्**
**अस्ति येषु नियतं शिवध्वनिः।**
**यः शशीव [2]प्रसृतोऽमृताशयात्**
**स्वादु संस्रवति चामृतं परम्॥ १४॥**

*(युगलकम्)*

*अन्वयः*—विचित्ररससेकवर्धितः शतशः अपि उदीरितः यः अयम् शङ्कर-इति शब्दः तिर्यग्आशयेषु अपि नवनवप्रयोजनः (सन्) आविशति यः च शशी इव अमृताशयात् प्रसृतः स्वादु च परममृतं संस्रवति (सः) शिवध्वनिः येषु मुखमण्डले नियतं भ्रमन्अस्ति ते (एव) जयन्ति।

१ ख० पु० यैर्विचित्ररस—इति पाठः।

२ ख० पु० विसृतोऽमृताशयात्—इति पाठः।

विचित्र–(स्वरूप समावेश के) अनूठे, रस–आनन्द-रस के, सेक–सींचने से, वर्धितः–वृद्धि को प्राप्त हुआ, शतशः अपि–और सैकड़ों बार, उदीरितः–उच्चारण में आया हुआ, यः–जो, अयम्–यह, शङ्कर-इति–'शिव', शब्दः–शब्द, तिर्यग्–पशुओं के समान (मूर्ख लोगों के), आशयेषु–हृदयों में, अपि–भी, नव-नव–अपूर्व (चमत्कार के), प्रयोजनः–प्रयोजन से युक्त, (सन्–होकर), आविशति–प्रस्फुरित होता है, यः च–और जो (यह 'शिव' शब्द), शशी इव–चन्द्रमा की नाईं, अमृताशयात्–अमृतमय कला से, प्रसृतः–प्रसारित होता हुआ, स्वादु–मधुर, च–और, परममृतं–उत्कृष्ट अमृत, संस्रवति–खूब बहाता है, (सः)–वही (अचिन्त्य महिमा से युक्त), शिव-ध्वनिः–शिव-ध्वनि, येषु–जिन (भक्तों) के, मुखमण्डले–मुखमण्डल में, नियतं–निश्चित रूप में, भ्रमन्- –घूमती, अस्ति–रहती है, ते–वे, (एव–ही), जयन्ति–धन्य हैं॥

(युग्मक–)

(हे शंकर महादेव!) अतिविस्मयकारी चिदानन्द रस के छिड़काव से परिपुष्ट बनाया हुआ, और सौ-सौ बार मुख से उचारा जाता हुआ 'शंकर'-यह शब्द अशिष्ट जनों के भी हृदय में प्रतिपल नये ही नये 'प्रयोजन'-अर्थात् लोकोत्तर चमत्कार को साथ लेकर, स्वभाव से ही, स्पंदित होता रहता है, और जो 'शिव' शब्द 'अमृताशय से'–अर्थात् अमृतमयी अमाकला से चन्द्रमा की भान्ति प्रवाहित होता हुआ, चारों ओर से, अति स्वादिष्ठ एवं लोकोत्तर अमृतरस के निर्झर को उच्छलित करता रहता है, उसी (शंकर शब्द) की अनुगूँज जिन (विरले) भक्तवरों के मुख-मंडल पर निरन्तर गूँजती रहती है, उनकी जय-जयकार हो॥ १३, १४॥

*संकेत–*

प्रस्तुत मुक्तकयुगल में स्तोत्रकार ने शैवयोग की जिस उच्चतर भूमिका का सांकेतिक वर्णन प्रस्तुत किया है, उसको शास्त्रीय शब्दों में विस्मयमुद्रा कहते हैं। साधक को इस भूमिका पर स्वरूप-साक्षात्कार किसी ऐसे लोकोत्तर रूप में होता है कि वह स्वयं भी विस्मित हो जाता है। इसी कारण से इस अवस्था को शास्त्रों में विस्मयमुद्रा की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत मुक्तक में इस विस्मय की अभिव्यंजना मूल श्लोक में प्रयुक्त विचित्र शब्द से होती है।

**परिसमाप्तमिवोग्रमिदं जगद्**
**विगलितोऽविरलो मनसो मलः।**
**तदपि नास्ति भवत्पुरगोपुरा-**
**र्गलकवाटविघट्टनमण्वपि॥ १५॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) इदम् उग्रं जगत् परिसमाप्तम् इव (च) मनसः अविरलः मलः विगलितः तदपि भवत्पुरगोपुरअर्गलकवाटविघट्टनम्अणु अपि नास्ति।

(प्रभो—हे प्रभु!), इदम्—यह, उग्रं—भयंकर, जगत्—जगत, परिसमाप्तम् इव—समाप्त होने को है, (च—और), मनसः—(मेरे) मन का, अविरलः—बहुत बड़ा, मलः—मल (विकार), विगलितः—नष्ट हुआ है, तदपि—तो भी, भवत्—आप की, पुर—आनन्द-पुरी के, गोपुर—फाटक के, अर्गल—अर्गला-युक्त, कवाट—किवाड़, विघट्टनम् अणु अपि—ज़रा भी, नास्ति—नहीं खुलता॥

(हे रहस्यमय प्रभु!) यह डरावना संसार तो अब समाप्त जैसा हुआ जा रहा है, मन पर छाया रहने वाला सघन मल भी गल चुका है, ऐसी स्थिति होने पर भी आपके नगर (चिदानन्दभाव) के सिंहद्वार के अरगल लगे किवाड़ रंचमात्र भी नहीं खुल रहे हैं॥ १५॥

भवत्पुर=आपका नगर, चिन्मयपुरी।
गोपुर=सिंहद्वार, नगर में प्रवेश करने का मुख्य फाटक।
अर्गल=काठ की सिटकिनी, अख्याति का आवरण।
विघट्टनं=खुलना

**सततफुल्लभवन्मुखपङ्कजो-**
**दरविलोकनलालसचेतसः।**
**किमपि तत्कुरु नाथ मनागिव**
**स्फुरसि येन ममाभिमुखस्थितिः॥ १६॥**

*अन्वयः*—नाथ सततफुल्लभवत्मुखपङ्कजउदरविलोकनलालसचेतसः मम मनाक् इव तत् किमपि कुरु येन अभिमुखस्थितिः सन् स्फुरसि।

नाथ—हे स्वामी!, सतत—सदा, फुल्ल—खिले हुए, भवत्—आप के, मुखपङ्कज—मुख-कमल के, उदर—मध्य-भाग को, विलोकन—देखने के

लिए, लालस–लालायित बने हुए, चेतसः–मन वाले, मम–मुझ पर, मनाक् इव–ज़रा सा, तत्–वह, किमपि–अलौकिक (अनुग्रह), कुरु–कीजिए, येन–जिससे कि, अभिमुख–(मेरे) सामने, स्थितिः सन्–ठहरे हुए रूप में, स्फुरसि–आप प्रकट हो जायें॥

हे नाथ! हमेशा खिला हुआ रहने वाले आपके मुखरूपी कमल के 'उदर'-अर्थात् कर्णिका को देखने के लिए तरसते हुए मन वाले मुझ पर थोड़ा सा 'वह कुछ'-अर्थात् अनाशंकित शक्तिपात, कीजिए जिसके फलस्वरूप आप मेरी ओर मुख करके ठहरे हुए रूप में मेरे सामने स्फुरित हो सकें॥ १६॥

मुखकमल=कमल के समान मुख अर्थात् शक्ति के रूपवाला मुख। शैवप्रसंग में मुख शब्द से शक्ति का अभिप्राय लिया जाता है:–'शैवी मुखमिहोच्यते'।
उदर=कमल के बीचवाली कर्णिका अथवा बीजकोष प्रस्तुत प्रसंग में कर्णिकारूपी शक्तिपीठ।
मनाक्=तनिक सा।
तत्=अनुग्रह।

**त्वदविभेदमतेरपरं नु किं**
**सुखमिहास्ति विभूतिरथापरा।**
**तदिह तावकदासजनस्य किं**
**कुपथमेति मनः परिहृत्य ताम्॥ १७॥**

*अन्वयः*–(ईश) इह त्वद् अविभेदमतेः किं नु अपरं सुखम् अस्ति अथ अपरा विभूतिः तत् तावक दासजनस्य मनः तां परिहृत्य किं कुपथम् एति।

(ईश–हे प्रभु!), इह–इस संसार में, त्वद्–आप की, अविभेदमतेः–अभेद-बुद्धि को छोड़कर, किं नु–भला कौन सा, अपरं–दूसरा, सुखम्–सुख, अस्ति–(हो सकता) है, अथ–और, अपरा–(कौन सी) दूसरी, विभूतिः–संपदा (हो सकती) है, तत्–तो (फिर ऐसा होते हुए भी), तावक–आप के, दासजनस्य–दास का, मनः–मन, तां–उस (अद्वयानन्दरूपा बुद्धि) को, परिहृत्य–त्याग कर, किं–क्यों, कुपथम्–(व्युत्थानरूपी) कुत्सित मार्ग को ही, एति–ग्रहण करने लगता है॥

(हे मृत्युञ्जय देव!) आपकी अभेदभावना से बढ़कर इस संसार में और कौन सा सुख या कौन सा वैभव हो सकता है? तो फिर आपके दासजन का अर्थात् मेरा मन उस अभेदभावना से मुंह मोड़कर कुत्सित मार्गों की ओर क्यों भटकता जा रहा है?॥ १७॥

**क्षणमपीह न तावकदासतां**
**प्रति भवेयमहं किल भाजनम्।**
**भवदभेदरसासवमादरा-**
**दविरतं रसयेयमहं न चेत्॥ १८॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) चेत् अहं आदरात् (च) अविरतं भवद्अभेदरसआसवम् न रसयेयम् (तर्हि) अहं इह तावकदासतां प्रति भाजनं क्षणमपि किल न भवेयम्।

(प्रभो–हे स्वामी!), चेत्–यदि, अहं–मैं, आदरात्–बड़े आदर से, (च–और), अविरतं–लगातार, भवद्–आप के, अभेद-रस–अद्वयानन्द-रस रूपी, आसवम्–मदिरा का, न रसयेयम्–स्वाद न लेता रहूं, (तर्हि–तो फिर), अहं–मैं, इह–यहां, तावक–आप के, दासतां प्रति–दासभाव का, भाजनं–पात्र, क्षणमपि–क्षण भर के लिए भी, किल–कदापि, न भवेयम्–न बन जाऊं॥

(हे प्रकाशमान परमेश्वर!) अगर मैं आपकी अभेदभावना के रसरूपी आसव (मदिरा) का, बड़े चाव से, आस्वाद न लेता रहूँ, तो निश्चय से इस संसार में मैं पलभर के लिए भी आपका दासजन बनने के लिए उपयुक्त पात्र नहीं बन सकता हूँ॥ १८॥

भावार्थ–इस संसार में एक क्षण के लिए भी मुझे आशा नहीं थी कि मैं आपका दास बन सकूं। पर मैंने एक अच्छा काम किया था कि आपके अभेद रस का स्वाद **in continuity** मैंने किया था और वह भी आदर के साथ। जिस वजह से मैं आप का दास बना॥ (स्वामी जी महाराज अगस्त १९९०)

**न किल पश्यति सत्यमयं जन-**
**स्तव वपुर्द्वयदृष्टिमलीमसः।**

**तदपि सर्वविदाश्रितवत्सलः**
**किमिदमारटितं न शृणोषि मे।। १९।।**

*अन्वयः*–(प्रभो) सत्यं द्वयदृष्टि-मलीमसः अयं जनः किल तव वपुः न पश्यति तदपि (त्वं) सर्ववित् आश्रितवत्सलः (सन्) इदं मे आरटितं किं न शृणोषि।

(प्रभो–हे ईश्वर), सत्यं–सचमुच, द्वयदृष्टि–भेद-दृष्टि से, मलीमसः–मलिन बना हुआ, अयं–यह, जनः–जीव, किल–निश्चित रूप में, तव–आप के, वपुः–चिदात्मा-स्वरूप को, न पश्यति–नहीं देख पाता है, तदपि–पर तो भी, (त्वं–आप), सर्ववित्–सर्वज्ञ और, आश्रित–भक्तों के प्रति, वत्सलः–अनुकूल, (सन्–होते हुए), इदं मे–इस मेरी, आरटितं–पुकार को, किं न–क्यों नहीं, शृणोषि–सुनते॥

(हे सर्वज्ञ देव!) यह बात बिल्कुल सच्ची है कि भेददृष्टि से मैले बने हुए विचारों वाले ये पशुजन आपके वास्तविक (चित्प्रकाशमय) स्वरूप को देख नहीं पाते हैं, तो भी आप सब कुछ जानने वाले और शरणागतों के स्नेही होने के नाते मेरी इस मनुहार भरी गुहार को क्यों नहीं सुन रहे हैं?॥ १९॥

भावार्थ–ये दूसरे लोग मेरे बिना आपके रूप को नहीं देख सकते हैं क्योंकि भेद दृष्टि से ये मलिन बने हुए हैं पर फिर भी आपको सब कुछ मालूम है कि मैं कितने पानी में हूँ। आश्चर्य है कि इस समय आपने मुझे भी इन्हीं लोगों के साथ क्यों रखा? (स्वामी जी अगस्त १९९०)

**स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं**
**विषयसौख्यमथापि मयार्थितम्।**
**सततमेव भवद्वपुरीक्षणा-**
**मृतमभीष्टमलं मम देहि तत्।। २०।।**

*अन्वयः*–नाथ किं त्वं स्मरसि (यत्) मया कदाचित् अपि विषयसौख्यम् ईहितम् अथापि तत् अर्थितं मम (तु) (केवलं) भवद्वपुःईक्षणअमृतम् एव सततम् अलम् अभीष्टम् तत् (एव) (मह्यं) देहि।

नाथ–हे स्वामी!, किं त्वं–क्या आप को, स्मरसि–याद है, (यत्–कि),

मया—मैंने, कदाचित्—कभी, अपि—भी, विषयसौख्यम्—विषयसुख की, ईहितम्—चेष्टा की है, अथापि तत्—अथवा (वह विषयसुख), अर्थितं—मांगा है? (सच तो यह है कि), मम (तु)—मुझे तो, (केवलं—केवल), भवद्वपुः—आप के स्वरूप का, ईक्षण—साक्षात्कार रूपी, अमृतम्—अमृत, एव—ही, सततम्—सदैव, अलम्—अत्यन्त, अभीष्टम्—प्रिय है, तत् (एव)—वही, (मह्यं) देहि—मुझे दीजिए॥

हे नाथ! क्या आपको याद है कि क्या मैंने कभी विषय सुख को अपनाने की अपेक्षा की है अथवा (आप से) कभी उसकी याच्ञा की है? मुझे तो, बस, हमेशा आपके असली स्वरूप का साक्षात्कार करने के रूपवाला अमृतपान करना ही, पर्याप्त मात्रा में, रुचिकर रहा है, अतः मुझे वही दीजिए॥ २०॥

भावार्थ—हे नाथ ! ज़रा आप याद करें कि क्या मैं ने अपने सारे **life time** में कभी आप से विषय सुखों को मांगा है, या कभी सांसारिक **problem solve** करने के लिए कहा है, क्योंकि मैंने हर समय आपके स्वरूप लाभ के बगैर कुछ नहीं मांगा॥

**किल यदैव शिवाध्वनि तावके**
**कृतपदोऽस्मि महेश तवेच्छया।**
**शुभशतान्युदितानि तदैव मे**
**किमपरं मृगये भवतः प्रभो॥ २१॥**

*अन्वयः*—महेश किल यदा एव (अहं) तव इच्छया तावके शिव अध्वनि कृतपदः अस्मि तदा एव मे शुभ शतानि उदितानि (इत्यतः) प्रभो (अहं) भवतः अपरं किं मृगये।

महेश—हे परमेश्वर!, किल—सचमुच, यदा एव—ज्यों ही, (अहं—मैंने), तव—आप की, इच्छया—इच्छा से, तावके—आप के, शिव—कल्याण-मय, अध्वनि—मार्ग पर, कृतपदः अस्मि—पदार्पण किया, तदा एव—त्यों ही, मे—मेरे, शुभ-शतानि—सैकड़ों (प्रकार के) कल्याण का, उदितानि—उदय हुआ, (इत्यतः—इस लिए), प्रभो—हे प्रभु!, (अहं—मैं), भवतः—आप से, अपरं—और, किं—क्या, मृगये—मांगूं?॥

हे महान् ईश्वर! निश्चय से जिसी पल मैंने, आपकी ही इच्छा से, आपके मंगलमय मार्ग पर पग धरा है, उसी पल से मेरे सैंकड़ों कल्याणों का फल उदित हुआ है, अतः हे प्रभु, इससे बढ़कर और क्या रहा जो मैं आपसे मांग लूं?॥ २१॥

Did I put my feet on your benevolent path as a result of your sweet will and I started travelling on that path from that very peroid. I have come across hundreds of problems but I never told you anything nor do I require anything. (Swami Ji) Year 1990

**यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वाँ-**
**श्चन्द्रमा-प्रभृतिभिः सह सर्वैः।**
**कापि सा विजयते शिवरात्रिः**
**स्वप्रभाप्रसरभास्वररूपा॥ २२॥**

*अन्वयः*– यत्र सः विवस्वान् चन्द्रमाप्रभृतिभिः सर्वैः सह अस्तमयम् एति सा स्व-प्रभाप्रसरभास्वररूपा कापि शिवरात्रिः विजयते।

यत्र–जिस (अवस्था) में, सः–वह, विवस्वान्–(प्राण रूपी) सूर्य भगवान्, चन्द्रमा–(अपान रूपी) चन्द्रमा, प्रभृतिभिः–आदि, सर्वैः–सभी (विकल्प रूपी तारागणों) के, सह–सहित, अस्तमयम्–अस्त, एति–हो जाता है, सा–वह, स्व-प्रभा–अपनी (चिद्रूपिणी) कांति के, प्रसर–प्रसर से, भास्वररूपा–देदीप्यमान् रूप वाली, कापि–अलौकिक, शिवरात्रिः–शिव-रात्रि, विजयते–धन्य है॥

(हे स्वरूपलीन शिव!) जिस अवस्था में 'सूर्य'-अर्थात् प्राणप्रवाह और 'चन्द्रमा'-अर्थात् अपानप्रवाह सारे 'तारामंडल'-अर्थात् विकल्पपरंपराओं के समेत अस्त हो जाते हैं, उसी अवर्णनीय एवं अपनी ही चित्प्रकाशमयी आभा के विस्फार से चमकती हुई शिवरात्रि की जय-जयकार हो॥ २२॥

शिवरात्रि-शिव समावेशभूमिः। **Wonderful blissful night** जैसे रात्रि समस्त व्यापार जगत् को समेट लेती है इसी तरह सारी अख्याति, या अविद्या का संहरण करने से इसे भी रात्रि कहते हैं। मंगलमय होने

से इसे शिवरात्रि कहते हैं विवस्वान्-**Sun-in haling breath,** चन्द्रमा-**moon-exhaling breath** अस्तमयं एति-**has set or absorbed through the junction** (सन्धि)

**अप्युपार्जितमहं त्रिषु लोके-**
**ष्वाधिपत्यममरेश्वर मन्ये।**
**नीरसं तदखिलं भवदङ्घ्रि-**
**स्पर्शनामृतरसेन विहीनम्॥ २३॥**

*अन्वयः*— अमरेश्वर अहं भवत् अङ्घ्रिस्पर्शनअमृतरसेन विहीनं उपार्जितं त्रिषु लोकेषु तत् अखिलम् आधिपत्यम् अपि नीरसं मन्ये।

अमरेश्वर—हे देवेश्वर!, अहं—मैं, भवत्—आप के, अङ्घ्रि—चरणों के, स्पर्शन—स्पर्श रूपी, अमृतरसेन—अमृत-रस के, विहीनं—बिना, उपार्जितं—प्राप्त किए गए, त्रिषु—तीनों, लोकेषु—लोकों के, तत्—उस, अखिलम्—संपूर्ण, आधिपत्यम्—स्वामित्व को, अपि—भी, नीरसं—रसहीन अर्थात् तुच्छ, मन्ये—समझता हूँ॥

हे देवाधिदेव! अगर आपके चरणों को छूने के रूपवाले अमृतरस का पान करने के बिना मुझे तीनों ही भुवनों का स्वामित्व भी उपलब्ध हो, वह सारा आडंबर एकदम नीरस लगेगा॥ २३॥

त्रिषु लोकेषु=भूः भुवः और स्वः, अथवा भव, अभव, और अतिभव।

**बत नाथ दृढोऽयमात्मबन्धो**
**भवदख्यातिमयस्त्वयैव क्लृप्तः।**
**यदयं प्रथमानमेव मे त्वा-**
**मवधीर्य श्लथते न लेशतोऽपि॥ २४॥**

*अन्वयः*— नाथ बत त्वया एव क्लृप्तः भवत्अख्यातिमयः अयम् आत्मबन्धः दृढः (अस्ति) यद्अयं प्रथमानम् एव त्वाम् अवधीर्य लेशतः अपि न श्लथते।

नाथ—हे स्वामी!, बत—अहो!, त्वया—आप से, एव—ही, क्लृप्तः—बनाई गई (और), भवत्—आपके (स्वरूप को), अख्यातिमयः—छुपा रखने वाली,

अयम्–यह, आत्म–मानसिक, बन्धः–गांठ, दृढः–(ऐसी) मज़बूत, (अस्ति–है), यद्–कि, अयं–यह, प्रथमानम् एव–भासमान होने वाले, त्वाम्–आप की, अवधीर्य–उपेक्षा (या अवहेलना) करके, लेशतः–ज़रा सी, अपि–भी, न श्लथते–ढ़ीली नहीं होती।

हे नाथ! आपके स्वरूप की अधकचरी जानकारी के रूपवाली मानसिक कुंठा आपने ही मेरे अन्तस् में उत्पन्न की है, यह इतनी मज़बूत है कि समावेश की अवस्था में भासमान होने वाले आपकी उपेक्षा करके, रंचमात्र भी ढ़ीली नहीं पड़ रही है॥ २४॥

भावार्थ–हे स्वामी! आपने ही यह मन की गांठ बनाई। आपने ही इसे इतनी शक्ति दे दी। यद्यपि आपने ही यह बनायी फिर आपके मेरे सामने होने पर भी यह कैसे ठहर सकती है? इसे तो खत्म होना चाहिये था पर आपकी **presence** से भी इसे कुछ नहीं होता है। यह कौन सी **kingdom** है॥ (स्वामी जी महाराज)

**महताममरेश पूज्यमानो-**
**ऽप्यनिशं तिष्ठसि पूजकैकरूपः।**
**बहिरन्तरपीह दृश्यमानः**
**स्फुरसि द्रष्टृशरीर एव शश्वत्॥ २५॥**

*अन्वयः*–अमरेश (त्वं) अनिशं पूज्यमानः अपि महतां पूजक-एक-रूपः तिष्ठसि (च) इह अन्तः बहिः दृश्यमानः अपि शश्वत् द्रष्टृ-शरीरः एव स्फुरसि।

अमरेश–हे देवताओं के स्वामी!, (त्वं–आप), अनिशं–निरन्तर, पूज्यमानः–पूजे जाते हुए, अपि–भी, महतां–महापुरुषों अर्थात् भक्त जनों के लिए, पूजक-एक-रूपः–केवल पूजक के रूप में ही, तिष्ठसि–(प्रकाशित) होते हैं, (च–और), इह–इस जगत् में, अन्तः–भीतर तथा, बहिः–बाहर से, दृश्यमानः–दिखाई देते हुए, अपि–भी, शश्वत्–सदैव, द्रष्टृ-शरीरः–द्रष्टा अर्थात् देखने वाले के रूप में, एव–ही, स्फुरसि–प्रकट होते हैं॥

हे अमरेश! (दैनिक व्यवहार में) लगातार पूजे जाते हुए (अर्थात् प्रमेयभूमिका पर उतर कर पूजा के विषय बनाए जाते हुए) भी आप

'महापुरुषों'-अर्थात् सच्चे भक्तजनों के लिए केवल 'पूजक'-अर्थात् पूजा करने वाले प्रमाता के रूप में ही स्फुरायमाण रहते हैं, साथ ही इस संसार में बहिरंग रूप में या अंतरंग रूप में दृश्य होते हुए भी हमेशा 'द्रष्टा'-अर्थात् देखने वाले प्रमाता के रूप में स्फुरित होते रहते हैं॥ २५॥

*तात्पर्य–*

अहंरूप आत्ममहेश्वर विकल्पों से परे होने के कारण सदा प्रमातृभाव पर ही अविचल बने रहते हैं। वे किसी भी परिस्थिति में प्रमेय नहीं बन जाते हैं। जैसा स्तोत्रकार ने पहले भी समझाया है कि परापूजा में पूज्य एवं पूजक, दृश्य एवं द्रष्टा दोनों का समरसात्मक एका हो जाता है। उच्चकोटि के भक्तवर, जिनका मन राग-द्वेष भेद वासना इत्यादि प्रकार की जघन्य वृत्तियों से यथार्थ में और पूरी तरह मुक्त बन गया हो, समावेश की दशा में इस पूज्य एवं पूजक की सघन एकाकारता का अनुभव कर लेते हैं। सघन एका की दशा में समूचा प्रमेय-प्रपञ्च प्रमातृभाव में ही विलीन हो जाता है। यही कारण है कि पहुंचे हुए भक्तजनों के अन्तःविमर्श में भगवान् हमेशा मात्र प्रमातृरूप में स्फुरायमाण रहते हैं। सिद्ध भक्तों की मान्यता यह है कि भगवान् को प्रमेय मानकर पूजा ही नहीं होती है। अस्तु, निम्नलिखित तंत्रवाक्य का अनुसन्धान करना साधक के लिए परम आवश्यक है–

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः॥'

*इति शिवमस्तु सर्वजगताम्*

'औत्पलीयमिदं स्तोत्रं ग्रथितं मणिमौक्तिकैः।
अस्तु श्रीदेवदेवस्य भक्तानाञ्चापि प्रीतये॥

चौथा स्तोत्र समाप्त

ॐ नमः शिवाय

धूतकल्मषगदा निरामया
ये भवन्तमभितः प्रविशन्ति।
ते विलीनभवभारप्रबन्धाः
खेचरा न हि व्रजन्त्युपहास्यताम्।।

# भक्तिविलास नामक पांचवां स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'स्वबलनिदेशन' भी है। इस शब्द के तीन खंड इस प्रकार हैं : स्व-बल-निदेशन। इनका तात्पर्य इस प्रकार है : 'स्व'-अर्थात् स्वरूपभूत अनुत्तरभट्टारक के, 'बल' ईश्वरीय क्षमता का, 'निदेशन'-वर्णन।

**त्वत्पादपद्मसम्पर्कमात्रसम्भोगसङ्गिनम्।**
**गलेपादिकया नाथ मां स्ववेश्म प्रवेशय।। १।।**

*अन्वयः*—नाथ त्वत्पाद-पद्मसंपर्क-मात्रसम्भोगसंगिनं मां गलेपादिकया स्व-वेश्म प्रवेशय।

नाथ—हे स्वामी!, त्वत्—तुम्हारे, पाद-पद्म—चरण-कमलों के, संपर्क-मात्र—केवल स्पर्श रूपी, सम्भोग—आस्वाद में, संगिनं—आसक्त बने हुए, मां—मुझे, गलेपादिकया—हठशक्तिपातके क्रमसे, स्व-वेश्म—अपने (चित् रूपी) घर में, प्रवेशय—प्रवेश कराइये॥

हे नाथ! केवल आपके चरणकमलों के साथ चिपक कर (लोकोत्तर) रस का चर्वण करते रहने की लगन वाले मुझको हठशक्तिपात के ज़ोरदार धक्के से अपने घर के अंदर अर्थात् चित्-प्रकाशमय घर के अंदर ढ़केल दीजिए॥ १॥

*संकेत*—

यहां पर मूलमुक्तक में 'गलेपादिका' शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी पुरुष की गर्दन को ज़ोर से पकड़कर आगे की ओर धकेल देने को संस्कृत में गलेपादिका कहते हैं। भगवान् उत्पलदेव ने इस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग करके इससे परमेश्वर के हठशक्तिपात का अभिप्राय निकाला है।

**भवत्पादाम्बुजरजोराजिरञ्जितमूर्धजः।**
**अपाररभसारब्धनर्तनः स्यामहं कदा॥ २॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) अहं भवत्पादअम्बुजरजः राजिरञ्जितमूर्धजः (एवं फलतः) अपाररभसाआरब्धनर्तनः कदा स्याम्।

(प्रभो–हे ईश्वर!), अहं–मैं, भवत्–आपके, पाद-अम्बुज–चरण-कमलों की, रजः–धूलि के, राजि–पुञ्ज से, रञ्जित–रंगे हुए, मूर्धजः–केशों वाला, (एवं फलतः–और फलस्वरूप), अपार–असीम, रभसा–हर्ष से, आरब्ध–आरम्भ किए, नर्तनः–नृत्यवाला, कदा–भला कब, स्याम्–बनूं॥

(हे नटराज!) वह वेला कब आएगी जब मैं आपके पादकमलों से झड़ते हुए पराग के अंबार से अपने केशों को साज-संवर कर असीम हर्ष भरे वेग की मुद्रा में नाचने लगूँ॥ २॥

*संकेत*–

यह शैवयोग की एक भूमिका है।

**त्वदेकनाथो भगवन्नियदेवार्थये सदा।**
**त्वदन्तर्वसतिर्मूको भवेयं मान्यथा बुधः॥ ३॥**

*अन्वयः*–भगवन् त्वद्एकनाथः (अहं) इयत् एव सदा अर्थये त्वद्-अन्तर् वसतिः मूकः (एव) भवेयम् (किन्तु) अन्यथा बुधः (अपि) मा (भवेयम्)।

भगवन्–हे भगवान्!, त्वद्–आप ही, एक–एक, नाथः–स्वामी हैं जिसके, (अहं–ऐसा मैं), इयत्–(केवल) इतना, एव–ही, सदा–सदैव, अर्थये–मांगता हूँ, त्वद्-अन्तर्–आप के स्वरूप में, वसतिः–वास करता हुआ मै, मूकः–गूंगा, (एव–ही), भवेयम्–बना रहूँ, (किन्तु–पर), अन्यथा–अन्यथा (अर्थात् आप के स्वरूप से विमुख होकर), बुधः (अपि)–ज्ञानवान् भी, मा (भवेयम्)–न बनूं॥

(हे भगवान्!) आप मेरे एकले मनचाहे स्वामी हैं, आपसे केवल इतनी याच्ञा कर रहा हूँ कि मैं आपके (चिद्घन) स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने की दशा में हमेशा गूँगा ही बना रहूँ, अन्यथा (आपसे विमुख होने की दशा में) शास्त्रज्ञानी भी कतई न बन पावूँ॥ ३॥

*संकेत*–

स्वरूपसंवित्ति की उपलब्धि और उस भाव पर संरूढ होना ही सारे शास्त्रों के अनुशीलन एवं योग साधनाओं का मात्र एवं मुख्य प्रयोजन है। यदि परमेश्वर के अनुग्रह से किसी का वह उद्देश्य पूरा हो गया हो तो ज्ञान बघारने का कोई प्रयोजन नहीं, यदि नहीं भी हुआ हो तो शुष्कज्ञानी बनने का भी कोई प्रयोजन नहीं है।

**अहो सुधानिधे स्वामिन् अहो मृष्ट त्रिलोचन।**
**अहो स्वादो विरूपाक्षेत्येव नृत्येयमारटन्॥ ४॥**

*अन्वयः*–स्वामिन् अहो सुधानिधे! अहो मृष्ट! त्रिलोचन! अहो स्वादो! विरूपाक्ष! इत्येव आरटन् (अहं) नृत्येयम्।

**स्वामिन्**–हे ईश्वर!, **अहो सुधानिधे**–हे आनन्द-सागर!, **अहो मृष्ट!**–हे चमत्कारस्वरूप प्रभु!, **त्रिलोचन**–हे त्रिनेत्रधारी!, **अहो स्वादो**–हे मधुर स्वरूप वाले, **विरूपाक्ष**–हे डरावनी आंखों वाले!, **इत्येव**–इसी प्रकार, **आरटन्**–(करुण स्वर में) पुकारता हुआ, (**अहं**–मैं), **नृत्येयम्**–नाचता रहूं॥

हे स्वामी! मेरी केवल इतनी अभिलाषा है कि मैं निरन्तर–"हे अमृत के सागर, हे (अहं) चमत्कारमय, हे तीन नेत्रों वाले, हे मनभावन स्वरूपवाले, हे विषम नेत्रों वाले प्रभु!"–इसी आर्त मनुहार की रट लगाता हुआ नृत्य करता रहूँ॥ ४॥

**त्वपादपद्मसंस्पर्शपरिमीलितलोचनः।**
**विजृम्भेय भवद्भक्तिमदिरामदघूर्णितः॥ ५॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) (अहं) त्वत्पादपद्मसंस्पर्शपरिमीलितलोचनः (तथा) भवत्भक्तिमदिरामदघूर्णितः (सन्) विजृम्भेय।

(**प्रभो**–हे प्रभु!), (**अहं**–मैं), **त्वत्**–आप के, **पाद-पद्म**–चरण कमलों के, **संस्पर्श**–स्पर्श से, **परिमीलित**–अन्तर्मुख बने हुए, **लोचनः**–नेत्रों (अर्थात् अन्तःकरण), (**तथा**–तथा), **भवत्**–आपकी, **भक्ति**–भक्ति रूपिणी, **मदिरा**–मदिरा की, **मद**–मस्ती से, **घूर्णितः**–मतवाला, (**सन्**–होकर), **विजृम्भेय**–नाचता रहूं॥

(हे परमेश्वर!) आपके पादकमलों का स्पर्श पाने से सारी करणवृत्तियों (इन्द्रियवृत्तियों) के अन्तर्मुख बन जाने की अवस्था में मैं आपकी भक्तिरूपिणी सुरा के नशे में झूमता हुआ 'नाचता रहूँ'-अर्थात् अन्तः-बहिः चिद्विकास के आवेश में हुलसता रहूँ॥ ५॥

*संकेत*–

(१) यह शैवयोग की एक उच्चतर भूमिका है। शास्त्रीय शब्दों में इसको 'घूर्णिः' कहते हैं।

(२) मुक्तक के मूलपद 'परिमीलितलोचनः'-शब्द का अर्थ आंखें मूंदना है। यहां पर यह शब्द सारी इन्द्रिय वृत्तियों के अन्तर्मुख बन जाने की अभिव्यंजना कर रहा है।

(३) श्री सद्गुरु महाराज ने इस मुक्तक के संदर्भ में निम्नलिखित तंत्रवाक्य को उद्धृत किया है–

'ततः सत्यपदे रूढो विश्वात्मत्वेन संविदम्।
संविदन् घूर्णते घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता॥ इति।

महाव्याप्तिः से तात्पर्य है वैश्वात्म्य प्रथा या शिवव्याप्तिः

**चित्तभूभृद्भुवि विभो वसेयं क्वापि यत्र सा।**
**निरन्तरत्व[1]त्प्रलापमयी वृत्तिर्महारसा॥ ६॥**

*अन्वयः*–विभो (अहं) चित्तभूभृत्भुवि क्वापि वसेयं यत्र निरन्तर त्वत्प्रलापमयी सा महारसा वृत्तिः (प्राप्यते)।

विभो–हे व्यापक प्रभु!, (अहं–मैं), चित्त–चित्त रूपी, भूभृत्–पर्वत की, भुवि–भूमि अर्थात् तराई पर, क्वापि–कहीं अर्थात् किसी (ऐसे एकान्त) स्थान पर, वसेयं–निवास करूं, यत्र–जहां, निरन्तर–लगातार, त्वत्–आप के स्वरूप में, प्रलापमयी–परामर्श करने वाली, सा–वह (अलौकिक), महारसा–परमानन्द-रस-पूर्ण, वृत्तिः–स्वरूप-स्थिति, (प्राप्यते–प्राप्त होती है)॥

हे सर्वव्यापक प्रभु! चाहता हूँ कि मैं अपने चित्तरूपी पहाड़ की किसी (एकान्त) तराई पर निवास करता रहूँ, जहां लगातार लोकोत्तर आनन्दमयता (रसवत्ता) से भरी हुई स्वरूपसमावेश की स्थिति (मेरे लिए

१. ग० पु० प्रतापमयी–इति पाठः।

सुलभ हो)॥ ६॥

*संकेत–*

प्रस्तुत मुक्तक में 'चित्तभूभृद्भुवि=चित्तरूपी पर्वत की तराई' से चित्त से संबन्धित किसी योगभूमिका का अभिप्राय है।

**यत्र देवीसमेतस्त्वमासौधादा च गोपुरात्।**
**बहुरूपः स्थितस्तस्मिन्वास्तव्यः स्यामहं पुरे॥ ७॥**

*अन्वयः*–(भगवन्) यत्र देवीसमेतः त्वम् आसौधात् आ च गोपुरात् बहु-रूपः (सन्) स्थितः तस्मिन् पुरे अहं वास्तव्यः स्याम्।

(भगवन्–हे ईश्वर!), यत्र–जिस (चिदानन्द रूपी नगरी) में, देवी-समेतः–पराशक्ति के साथ, त्वम्–आप, आ-सौधात्–(अन्तरङ्ग उच्च परप्रमाता रूपी) भवन से लेकर, आ च गोपुरात्–(इन्द्रियों के विषय रूपी) द्वार तक, बहुरूपः (सन्)–अनेक रूपों को धारण किये हुए, स्थितः–ठहरे हैं, तस्मिन्–उसी, पुरे–नगरी में, अहं–मैं, वास्तव्यः–निवास, स्याम्–करूं॥

(हे सर्वमय प्रभु!) जिस नगरी में आप भगवती पराभट्टारिका के संग, 'सौध'-अर्थात् सुधामय हृदय के रूप वाले अंतरंग महल से लेकर 'गोपुर'-अर्थात् शब्द स्पर्श इत्यादि इन्द्रियविषयों के प्रवेशमार्ग के रूपवाले बाहरी मुख्य नगरद्वार तक (स्वयं) अनन्त रूपों में रममाण रहते हैं, मैं 'उसी नगरी'-अर्थात् चित्-भाव के रूपवाली नगरी का (स्थायी) निवासी बनूँ॥ ७॥

**समुल्लसन्तु भगवन् भवद्भानुमरीचयः।**
**विकसत्वेष यावन्मे हृत्पद्मः पूजनाय ते॥ ८॥**

*अन्वयः*–भगवन् भवद्भानुमरीचयः (तावत्) समुल्लसन्तु यावत् एषः मे हृत्पद्मः ते पूजनाय विकसतु।

भगवन्–हे भगवान्!, भवद्–आप, भानु–सूर्य भगवान् की, मरीचयः–(अनुग्रह-प्रद) किरणें, (तावत्–तब तक), समुल्लसन्तु–चमकती रहें, यावत्–जब तक कि, एषः–यह, मे–मेरा, हृत्-पद्मः–हृदय रूपी कमल, ते–आप की, पूजनाय–पूजा के लिए, विकसतु–(पूर्ण रूप में) खिल जाय॥

हे भगवान्! आप सूर्यदेव का किरणपुंज अर्थात् अनुग्रहमयी शक्तियों

का समूह मेरे लिए (तब तक) प्रकाश को फैलाता रहे जब तक मेरा हृदयरूपी कमल पूरी तरह विकसित होकर आपकी अर्चना करने के योग्य बन जाए॥ ८॥

*संकेत–*

प्रस्तुत मुक्तक में प्रयुक्त 'पूजनाय' शब्द स्वरूपसंवित्ति में पूरी तरह संरूढ होने के अभिप्राय को द्योतित कर रहा है।

**प्रसीद भगवन् येन त्वत्पदे पतितं सदा।**
**मनो मे तत्तदास्वाद्य क्षीवेदिव गलेदिव॥ ९॥**

*अन्वयः–* भगवन् प्रसीद येन त्वत्-पदे सदा पतितं मे मनः तत् तत् आस्वाद्य क्षीवेत् इव गलेत् इव।

**भगवन्**–हे (सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न) प्रभु!, **प्रसीद**–(आप) प्रसन्न हो जाइये, **येन**–ताकि, **त्वत्-पदे**–आप के चरणों में, **सदा**–सदैव, **पतितं**–पड़ा हुआ, **मे मनः**–मेरा मन, **तत् तत्**–उन (अवर्णनीय अवस्थाओं) का, **आस्वाद्य**–अनुभव करके, **क्षीवेत् इव**–(आनन्द से) मस्त सा हो जाय (और), **गलेत् इव**–(उसी आनन्द में) लय हो जाय॥

हे भगवान्! आप मुझ पर प्रसन्न हो जाइए (अर्थात् मुझ पर अनुग्रह कीजिए) ताकि हमेशा आप के चरणों की शरण में पड़ा हुआ यह मेरा मन, उत्तरोत्तर भूमिकाओं के आनन्द का आस्वाद लेता हुआ, मतवाला जैसा बनकर 'उसी में'-अर्थात् परिपूर्ण रसमयता में विलीन हो जाए॥ ९॥

**[1]प्रहर्षाद्वाथ शोकाद्वा यदि कुड्याद्धटादपि।**
**बाह्यादथान्तराद्भावात्प्रकटीभव मे प्रभो॥ १०॥**

*अन्वयः–* प्रभो प्रहर्षात् अथ वा शोकात् यदि वा कुड्यात् (अथवा) घटात् अपि (अथवा) बाह्यात् अथ आन्तरात् भावात् (यथा तथा अपि) (त्वं) मे प्रकटीभव।

**प्रभो**–हे (सर्वशक्तिमान) प्रभु!, **प्रहर्षात्**–हर्ष, **अथ वा**–या, **शोकात्**–शोक में से, **यदि वा**–अथवा, **कुड्यात्**–दीवार, (अथवा–या), **घटात् अपि**–घड़े

---

१. प्रहर्षाद्वाथवा शोकात्–इति पाठः।

में से, (अथवा–अथवा), बाह्यात्–(किसी) बाहरी, अथ–या, आन्तरात्–भीतरी, भावात्–पदार्थ में से, (यथा तथा अपि–जैसे तैसे भी), (त्वं–आप), मे–मेरे लिए, प्रकटीभव–प्रकट हो जाइये॥

हे प्रभु! हर्ष या शोक जैसे 'आन्तर'-अर्थात् अन्तःकरणों से वेद्य सुखरूपी प्रमेय विषयों, अथवा दीवार एवं कलसा जैसे 'बाह्य'-अर्थात् बाहरी इन्द्रियज्ञान से वेद्य नीलरूपी प्रमेयभावों में से किसी भी भाव से आप मेरे सामने प्रकट हो जाइए॥ १०॥

*संकेत–*

(क) विशेष जानकारी के लिए स्पन्दकारिका भाषानुवाद (प्रो० नीलकंठ गुर्टू) के पृष्ठांक १०४ से १०७ तक वर्णित अधोलिखित स्पन्दवाक्य का अनुशीलन करें:–

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥

(ख) संस्कृत कोशग्रन्थों के आधार पर मुक्तक में प्रयुक्त 'कुड्य' शब्द कुतूहल एवं तीव्र लालसा के अर्थों का भी वाचक है। अतः ये दोनों भी श्लोक में वर्णित हर्ष एवं शोक भावों के समान सुखरूप प्रमेयभाव हैं। देखिए संस्कृत-इंग्लिश कोश आपटे पृष्ठाङ्क ३६१।

**बहिरप्यन्तरपि तत्स्यन्दमानं सदास्तु मे।**
**भवत्पादाम्बुजस्पर्शामृतमत्यन्तशीतलम्॥ ११॥**

*अन्वयः*–(भगवन्) तत् अत्यन्तशीतलं (एवं) बहिः अपि अन्तः अपि स्यन्दमानं भवत्पादअम्बुजस्पर्शअमृतं मे सदा अस्तु।

(भगवन्–हे ईश्वर!), तत्–वह, अत्यन्त–अत्यन्त, शीतलं–शीतल, (एवं–और), बहिः अपि–बाहर तथा, अन्तः अपि–भीतर से, स्यन्दमानं–(अमृत) बहाने वाला, भवत्–आप के, पाद-अम्बुज–चरण-कमलों का, स्पर्श–स्पर्श रूपी, अमृतं–अमृत, मे–मुझे, सदा–सदैव, अस्तु–प्राप्त होता रहे॥

(हे अचिन्त्य महेश्वर!) आपके पादकमलों को छूने के रूपवाला अमृत, जो कि बाहरी विश्वमयता और भीतरी विश्वोत्तीर्णता-दोनों ओर

झरता रहता है, और अत्यन्त शान्तिदायक है, मुझे हमेशा उपलब्ध होता रहे॥ ११॥

**त्वत्पादसंस्पर्शसुधासरसोऽन्तर्निमज्जनम्।**
**कोऽप्येष सर्वसम्भोगलङ्घी भोगोऽस्तु मे सदा॥ १२॥**

*अन्वयः*– (नाथ) (यत्) त्वद्पादसंस्पर्शसुधासरसः अन्तर् निमज्जनम् एषः कोऽपि (च) सर्वसंभोगलंघी भोगः मे सदा अस्तु।

(नाथ–हे स्वामी!), (यत्–जो), त्वद्–आप के, पाद–चरणों के, संस्पर्श–स्पर्श रूपी, सुधा–अमृत के, सरसः–सरोवर के, अन्तर–बीच में, निमज्जनम्–डूबना (या स्नान करना) है, एषः–(वही) यह, कोऽपि–अलौकिक, (च–तथा), सर्व–समस्त, संभोग–भोगों से, लंघी भोगः–अत्युत्कृष्ट (स्वात्मानन्द रूपी) भोग, मे–मुझे, सदा अस्तु–सदैव प्राप्त हो॥

(हे देवाधिदेव!) आपके पादकमलों का स्पर्श करते रहने के रूपवाले अमृत के सरोवर में डुबकी मारना ही एक अतिविलक्षण एवं दूसरे सारे उपभोगों की अपेक्षा अतिरोचक उपभोग है, मुझे वही उपभोग हमेशा मिलता रहे॥ १२॥

**निवेदितमुपादत्स्व रागादि भगवन्मया।**
**आदाय चामृतीकृत्य भुङ्क्ष्व भक्तजनैःसमम्॥ १३॥**

*अन्वयः*– भगवन् मया निवेदितं राग-आदि उपादत्स्व (एवं) च आदाय अमृतीकृत्य भक्तजनैः समम् (तान्) भुङ्क्ष्व।

भगवन्–हे भगवान्!, मया–मुझ से, निवेदितं–अर्पित किये गये, राग-आदि–राग, द्वेष आदि को, उपादत्स्व–(आप) ग्रहण कीजिए, (एवं) च–और (उन्हें), आदाय–लेकर (तथा अपने चित्प्रकाश से), अमृतीकृत्य–आनन्दमय बना कर, भक्त-जनैः–हम भक्त-जनों के, समम्–समेत, (तान्–उनका), भुंक्ष्व–भोग कीजिये।

हे भगवान्! मैंने राग आदि सारी मानसिक वृत्तियों का भोग आपको अर्पण किया है, इसको स्वीकार कीजिए, और (चित्शक्ति के स्पर्श से)

अमृतमय बनाकर अपने भक्तप्रवरों के संग इसका भोग लगाइए॥ १३॥

**अशेषभुवनाहारनित्यतृप्तः सुखासनम्।**
**स्वामिन् गृहाण दासेषु प्रसादालोकनक्षणम्॥ १४॥**

*अन्वयः*– स्वामिन् अशेषभुवनआहारनित्यतृप्तः त्वं दासेषु सुखासनं प्रसादआलोकनक्षणं गृहाण।

स्वामिन्–हे स्वामी!, अशेष–सभी, भुवन–भुवनों का, आहार–ग्रास करने से, नित्य–सदैव, तृप्तः–परमानन्दघन बने हुए, त्वं–आप, दासेषु–(हम) सेवकों के लिये, सुखासनं–आनन्द-व्याप्ति-मय, प्रसाद–अनुग्रह-पूर्ण, आलोकन–दृष्टि-पात का, क्षणं–समय, गृहाण–ग्रहण कीजिए (अर्थात् अब हम पर अनुग्रह कीजिये)॥

हे स्वामी! आप सारे भुवनों का ग्रास करने के कारण 'नित्यतृप्त'-अर्थात् आकांक्षाओं से रहित केवल आनन्दघन अवस्था में वर्तमान हैं, आप केवल अपने दासजनों पर अनुग्रहमयी दृष्टि डालने के हेतु क्षणभर के लिए अति आनन्ददायक 'आसन'-अर्थात् चित्‌विमर्शमय आसन को ग्रहण कीजिए॥ १४॥

**अन्तर्भक्तिचमत्कारचर्वणामीलितेक्षणः।**
**नमो मह्यं शिवायेति पूजयन् स्यां तृणान्यपि॥ १५॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) अन्तर्भक्तिचमत्कारचर्वणआमीलितईक्षणः (अहं) मह्यं शिवाय नमः इति तृणानि अपि पूजयन् स्याम्।

(प्रभो–हे स्वामी!), अन्तर्–(अहं परामर्श रूपिणी) भीतरी, भक्ति–भक्ति के, चमत्कार–चमत्कार का, चर्वण–आस्वाद लेने से, आमीलित–बन्द की हुई, ईक्षणः–आंखों वाला (अर्थात् अन्तर्मुखीभूत इन्द्रियों वाला), (अहं–मैं), मह्यं–'मुझ (चिद्रूपी), शिवाय–शिव को, नमः–नमस्कार हो', इति–ऐसा कहते हुए, तृणानि–तिनकों की, अपि–भी, पूजयन्–पूजा करता, स्याम्–रहूं॥ १५॥

(हे प्रभु!) आन्तरिक (समावेशमयी) पराभक्ति की रसमयता का

आस्वाद लेने से 'मुंदी हुई आंखों वाला'-अर्थात् अन्तर्मुख बनी हुई इन्द्रियवृत्तियों वाला मैं—"नमो मह्यं शिवाय=मुझ चित्-प्रकाशमय शिव को प्रणाम हो"-इस महामंत्र का परामर्श करते हुए, तिनकों की भी (शिवरूप में) अर्चना करता रहूँ॥ १५॥

**अपि लब्धभवद्भावः स्वात्मोल्लासमयं जगत्।**
**पश्यन् भक्तिरसाभोगैर्भवेयमवियोजितः॥ १६॥**

*अन्वयः*—(भगवन्) लब्ध-भवत्-भावः (इदं) जगत् स्वात्मउल्लास-मयं पश्यन् अपि (अहं) भक्ति-रसआभोगैः अवियोजितः भवेयम्।

(भगवन्—हे भगवान्!), **लब्ध-भवत्-भावः**—आप के अद्वयानन्द को प्राप्त करके, (इदं—और इस), **जगत्**—जगत् को, **स्वात्म**—अपनी ही आत्मा की, **उल्लासमयं**—झलक से युक्त, **पश्यन्**—देखते हुए, **अपि**—भी, (अहं—मैं), **भक्ति रस**—भक्ति रस के, **आभोगैः**—चमत्कारों से, **अवियोजितः**—वंचित न, **भवेयम्**—रहूँ॥

हे भगवान्! आपके 'भाव'-अर्थात् चित्भाव पर प्रतिष्ठित होने और सारे जगत् को स्वरूप के ही (बाहरी) विकास के रूप में देखते रहने पर भी मैं कंही भक्तिरस के चमत्कार (अन्तर्मुखीन आस्वाद) से बिछुड़ने न पावूँ॥ १६॥

*संकेत*—

प्रस्तुत मुक्तक का तात्पर्य यह है कि उच्चतर आध्यात्मिक भूमिका पर संरूढ होने पर भी कहीं देहाभिमान इत्यादि की जकड़ मुझे फिर भी दबोच न ले और फलतः मैं उस भूमिका से च्युत न हो जावूँ।

**आकाङ्क्षणीयमपरं येन नाथ न विद्यते।**
**तव तेनाद्वितीयस्य युक्तं यत्परिपूर्णता॥ १७॥**

*अन्वयः*—नाथ येन तव अपरम् आकांक्षणीयं न विद्यते तेन तव अद्वितीयस्य यत् परिपूर्णता (सर्वत्र) (उक्ता) (तत्तु) युक्तम्।

**नाथ**—हे स्वामी!, **येन**—चूंकि, **तव**—आप को, **अपरम्**—(किसी) दूसरी वस्तु की, **आकांक्षणीयं**—अभिलाषा, **न**—नहीं, **विद्यते**—है, **तेन**—अतः, **तव**—

आप, अद्वितीयस्य—अद्वितीय (प्रभु) की, यत्—जो, परिपूर्णता—परिपूर्णता, (सर्वत्र—समस्त शास्त्रों में), (उक्ता—कही गई है), (तत्तु—वह तो), युक्तम्—ठीक (है)॥

हे नाथ! आपके लिए तो कोई दूसरी (चित्स्वरूप से इतर) अभिलषणीय वस्तु का सद्भाव नहीं है, अतः आप जैसे 'अद्वितीय'-अर्थात् एकल या अपरमुखापेक्षी प्रभु की जिस परिपूर्णता का बखान (शास्त्रों में) किया गया है वह बिल्कुल युक्तियुक्त है॥ १७॥

**हस्यते नृत्यते यत्र रागद्वेषादि भुज्यते।**
**पीयते भक्तिपीयूषरसस्तत्प्राप्नुयां पदम्॥ १८॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) (अहं) तत् पदं प्राप्नुयां यत्र हस्यते नृत्यते रागद्वेष-आदि भुज्यते (च) भक्तिपीयूषरसः पीयते।

(प्रभो—हे स्वामी!), (अहं—मैं), तत् पदं—उस (स्वरूप-समावेशमय) स्थान को, प्राप्नुयां—प्राप्त करूं, यत्र—जहां, हस्यते—हंसा जाता है, नृत्यते—नाचा जाता है, राग-द्वेष-आदि—राग और द्वेष आदि, भुज्यते—भोगे जाते हैं, (च—और), भक्ति—भक्ति रूपी, पीयूष-रसः—अमृत-रस, पीयते—पिया जाता है॥

हे ईश्वर! काश मैं उस (लोकोत्तर) पदवी पर पहुंच पावूँ जहां केवल हंसा जाता है, नृत्य किया जाता है, राग, द्वेष आदि वृत्तियों का भोग लगाया जाता है और भक्ति के अमृतमय रस का छक कर पान किया जाता है॥ १८॥

*संकेत*—

प्रस्तुत मुक्तक में जिन हंसने, नाचने इत्यादि आनन्दात्मिका अनुभूतियों का संकेत रूप में वर्णन किया गया है वे अलोकसामान्य समझनी चाहिए। हमारे यहां के भोंडे नाच-गानों से उनका कोई वास्ता नहीं है।

**तत्तदपूर्वामोद-**
**त्वच्चिन्ताकुसुमवासना दृढताम्।**
**एतु मम मनसि याव-**
**न्नश्यतु दुर्वासनागन्धः॥ १९॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) तत्तत्अपूर्वआमोदत्वत्चिन्ताकुसुमवासना मम मनसि (तावत्) दृढताम् एतु यावत् दुर्वासनागन्धः नश्यतु।

(प्रभो–हे स्वामी!), तत्-तत्–उस अनूठे, अपूर्व–तथा अलौकिक, आमोद–आनन्द से युक्त, त्वत्–आप के, चिन्ता–चिन्तन रूपी, कुसुम–फूल की, वासना–सुगन्धि, मम–मेरे, मनसि–हृदय में, (तावत्–तब तक), दृढताम्–स्थिरता को, एतु–प्राप्त हो जाय (अर्थात् स्थिर होकर बनी रहे), यावत्–जब तक कि, दुर्वासना–बुरी वासना रूपिणी, गन्धः–दुर्गन्ध, नश्यतु–(समूल) नष्ट हो जाय॥

(हे मलातीत प्रभु!) आपके चिंतन, जो कि अतिविलक्षण एवं नितनवल (अलौकिक) आह्लाद से सराबोर है, के रूपवाले फूल की 'वासना' अर्थात् चिन्तन की वासनारूपी महक, मेरे मन में (तब तक) पक्की बनती रहे जबतक इससे (राग द्वेष इत्यादि) कुत्सित वासनाओं की दुर्गन्ध (बदबू) पूरी तरह नष्ट हो जाए॥ १९॥

**क्व नु रागादिषु रागः**
**क्व च हरचरणाम्बुजेषु रागित्वम्।**
**इत्थं विरोधरसिकं**
**बोधय हितममर मे हृदयम्॥ २०॥**

*अन्वयः*–अमर क्व नु रागादिषु रागः च क्व हरचरणअम्बुजेषु रागित्वम् इत्थं हितं विरोधरसिकं मे हृदयं बोधय।

अमर–हे अमर प्रभु!, क्व नु–"कहां, रागादिषु–राग आदि विषयों के प्रति, रागः–आसक्ति, च–और, क्व–कहां, हर–महादेव जी के, चरण–चरण अम्बुजेषु–कमलों के प्रति, रागित्वम्–भक्ति", इत्थं–ऐसी, हितं–कल्याण की बात, विरोध–विरोध के, रसिकं–प्रेमी (अर्थात् इन दोनों) विरोधी बातों में लगे हुए, मे–मेरे, हृदयं–मन को, बोधय–समझाइये॥

हे मृत्युंजय देव! राग आदि (सांसारिक) वृत्तियों के साथ गहरा लगाव (अर्थात् व्युत्थानकाल में विषयों के प्रति उन्मुखता) कहां, और भगवान् शंकर के पादकमलों के प्रति गहरा अनुराग (अर्थात् समावेशकालीन

भगवद्भक्ति) कहां? इस प्रकार की परस्परविरोधी वृत्तियों के रसिक इस मेरे हृदय को हितकार की बात समझाने की दया करें॥ २०॥

*संकेत—*

उत्पलदेव के कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान् मेरे मन में इस विवेक को उजागर करें कि मुक्तक के पूर्वार्ध में संकेतित पहले प्रकार की पाशवी विषयासक्ति का पूर्ण बहिष्कार करने से ही हृदय का हितकार अर्थात् पूर्ण कल्याण हो सकता है।

**विचरन्योगदशास्वपि**
**विषयव्यावृत्तिवर्तमानोऽपि।**
**त्वच्चिन्तामदिरामद-**
**तरलीकृतहृदय एव स्याम्॥ २१॥**

*अन्वयः—* (प्रभो) योगदशासु विचरन् अपि (च) विषयव्यावृत्तिवर्तमानः अपि (अहं) त्वत्‌चिन्ता मदिरामदतरलीकृतहृदयः एव स्याम्।

(प्रभो—हे नाथ!), योगदशासु—योग सम्बन्धी अवस्थाओं में, विचरन्—फिरता हुआ, अपि—भी, (च—तथा), विषय—विषयों से, व्यावृत्ति—(अपने मन को) हटाने में, वर्तमानः अपि—लगा हुआ भी (अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखता हुआ भी), (अहं—मैं), त्वत्-चिन्ता—आप के चिन्तन रूपिणी, मदिरा—मदिरा की, मद—मस्ती से, तरलीकृत—चंचल बने हुए, हृदयः एव—हृदय वाला ही, स्याम्—बना रहूँ॥

(हे देव!) योग की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में संचार करते हुए भी, और सारी इन्द्रियों को विषयों से विमुख बनाने में जुटा हुआ होने पर भी, मैं आपके नामस्मरणरूपी शराब के नशे से चंचल हृदयवाला ही नित बना रहूँ॥ २१॥

**वाचि मनोमतिषु तथा**
**शरीरचेष्टासु करणरचितासु।**
**सर्वत्र सर्वदा मे**
**पुरःसरो भवतु भक्तिरसः॥ २२॥**

*अन्वयः*— (भगवन्) वाचि मनःमतिषु करणरचितासु शरीरचेष्टासु तथा सर्वत्र (भवत्) भक्तिरसः सर्वदा मे पुरःसरः भवतु।

(भगवन्—हे भगवान्!), वाचि—वाणी, मनः—मन, मतिषु—और बुद्धि, करण—इन्द्रियों द्वारा, रचितासु—की गई, शरीर—शारीरिक, चेष्टासु—चेष्टाओं, तथा—तथा, सर्वत्र—सभी अवस्थाओं में, (भवत्—आप की), भक्तिरसः—भक्ति का रस, सर्वदा—सदा, मे—मेरा, पुरःसरः—साथी, भवतु—बना रहे (अर्थात् मुझे उपलब्ध होता रहे)॥

(हे वरद ईश्वर!) वाणी, मन और बुद्धि के व्यापारों में, ज्ञानेन्द्रियों एव कर्मेन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली कायिक चेष्टाओं में, और दूसरी सारी अवस्थाओं में हमेशा आपकी भक्ति का रस मेरा अगुआ बना रहे॥ २२॥

**शिव-शिव-शिवेति नामनि**
**तव निरवधि नाथ जप्यमानेऽस्मिन्।**
**आस्वादयन् भवेयं**
**कमपि महारसमपुनरुक्तम्॥ २३॥**

*अन्वयः*—नाथ शिवशिवशिव इति तव अस्मिन् नामनि निरवधि जप्यमाने (अहं) कमपि अपुनरुक्तं महारसम् आस्वादयन् भवेयम्।

नाथ—हे प्रभु!, शिव—"हे शिव!, शिव—हे शिव!, शिव—हे शिव!" इति—इस प्रकार, तव—आप के, अस्मिन्—इस, नामनि—नाम का, निरवधि—लगातार, जप्यमाने—जप करते हुए, (अहं—मैं), कमपि—(उस) अवर्णनीय, अपुनरुक्तं—नित-नये रूप वाले, महा—पारमार्थिक, रसम्—रस का, आस्वादयन्—स्वाद, भवेयम्—लेता रहूं॥

हे नाथ! 'शिव!, शिव!, शिव!',-इस प्रकार आपके नाम का निरन्तर जप करते हुए, मैं किसी अवर्णनीय एवं नित-नव्य पारमार्थिक रस का आस्वाद लेता रहूं॥ २३॥

**स्फुरदनन्तचिदात्मकविष्टपे**
**परिनिपीतसमस्तजडाध्वनि।**

**अगणितापरचिन्मयगण्डिके**
**प्रविचरेयमहं भवतोऽर्चिता॥॥ २४॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) परिनिपीतसमस्तजडअध्वनि अगणितअपरचिन्मयगण्डिके स्फुरत्अनन्तचिदात्मकविष्टपे (अहं) भवतः अर्चिता (एव) प्रविचरेयम्।

(प्रभो–हे ईश्वर!), परिनिपीत–नष्ट किए जाते हैं, समस्त–सारे, जड–जड रूपी, अध्वनि–प्रमेय-मार्ग जिससे (और), अगणित–कुछ भी नहीं समझी जाती, अपर–दूसरी (अर्थात् स्वरूपव्यतिरिक्त), चिन्मय–चित् रूपिणी, गण्डिके–नगरी जिसमें, ऐसे, स्फुरत्–देदीप्यमान (चमकते हुए), अनन्त–और असीमित, चिदात्मक–चित् रूपी, विष्टपे–भुवन में, (अहं–मैं), भवतः–आप की, अर्चिता–पूजा करता हुआ, (एव–ही), प्रविचरेयम्–विहार करूं॥

(हे परमेश!) मैं आपका पुजारी बन कर उस भडकीले और असीम विस्तार वाले (चिन्मय) भुवन में विचरण करता रहूँ, जिस (भुवन ने) जड़प्रमेयता के सारे रास्तों को अपने में सोख रखा है, और जिसमें किसी दूसरी (अलग या अतिरिक्त) चिन्मय नगरी की गणना नहीं की जाती है॥ २४॥

*संकेत*–

मुक्तक का तात्पर्य यह कि विश्वभर में जितनी नगरियों की कल्पना का विस्तार हो सकता है वे सारी की सारी चिन्मय भुवन का ही विस्तारमात्र होने के कारण उसके साथ अभिन्न हैं, अतः उस भुवन में किसी दूसरी चिन्मयनगरी की गणना ही संभव नहीं है।

**स्ववपुषि स्फुटभासिनि शाश्वते**
**स्थितिकृते न किमप्युपयुज्यते।**
**इति मतिः सुदृढा भवतात् परं**
**मम भवच्चरणाब्जरजः शुचेः॥ २५॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) स्फुटभासिनि (तथा) शाश्वते स्ववपुषि स्थितिकृते (सति) किमपि न उपयुज्यते इति मतिः भवत्चरणअब्जरजः शुचेः मम (अस्तु) (सा च) परं सुदृढा भवतात्।

(प्रभो—हे स्वामी!), स्फुट—"अत्यन्त, भासिनि—प्रकाशस्वरूप, (तथा—तथा), शाश्वते—अविनाशी, स्व-वपुषि—अपनी (चिदानन्दस्वरूप), स्थिति—स्थिति के, कृते (सति)—स्थिर होने पर, किमपि—(ध्यान, जप आदि) किसी (दूसरी बात) का, न उपयुज्यते—उपयोग नहीं होता", इति मतिः—ऐसी बुद्धि, भवत्—आप के, चरणअब्ज—चरण-कमलों की, रजः—धूलि से, शुचेः—पवित्र बने हुए, मम (अस्तु)—मुझ को प्राप्त हो, (सा च)—और वह, परं—अत्यन्त, सुदृढा—स्थिर, भवतात्—रहे॥

(हे निरामय प्रभु!) "स्पष्ट रूप में भासमान (प्रकाशमान) रहने वाले और अविनाशी (चिन्मय) आत्मस्वरूप में पक्की स्थिति प्राप्त कर लेने पर (अथवा श्रीक्षेमराज के मतानुसार पक्की स्थिति प्राप्त कर लेने की दिशा में), किसी भी (ध्यान, धारणा आदि) उपाय की तनिक् भी उपयोगिता नहीं है", आपके चरणकमलों की धूलि से पवित्र बने हुए मेरे अंतस् में ऐसी ही प्रतिभा का विकास हो जाए और वही अटल भी बनी रहे॥ २५॥

*संकेत—*

अविनाशी आत्मस्वरूप में पूर्णतया संरूढ होने के लिए केवल आदिदेव का अनुग्रह चाहिए, क्योंकि शेष सारे कपोलकल्पित उपाय बेकार हैं—'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्'।

**किमपि नाथ कदाचन चेतसि**
**स्फुरति तद्भवदंघ्रितलस्पृशाम्।**
**गलति यत्र समस्तमिदं सुधा-**
**सरसि विश्वमिदं दिश मे सदा॥ २६॥**

*अन्वयः—* नाथ भवत्अंघ्रितलस्पृशां चेतसि कदाचन तत् किमपि स्फुरति यत्र इदं समस्तं विश्वं सुधासरसि गलति (इदं) मे सदा दिश।

नाथ—हे स्वामी!, भवत्—आप के, अंघ्रितल—चरण-तलों के, स्पृशां—स्पर्श से युक्त (भक्त-जनों) के, चेतसि—मन में, कदाचन—कभी (अर्थात् किसी समाधि-काल में), तत्—वह, किमपि—अलौकिक (अवस्था), स्फुरति— प्रकट होती है, यत्र—जिस में, इदं—यह, समस्तं—सारा, विश्वं—(भेद-प्रथा-रूप) संसार, सुधा—(स्वात्मानन्द रूपी) अमृत के, सरसि—सरोवर में, गलति—लय

हो जाता है;, (इदं–वही अवस्था), मे–मुझे, सदा–सदैव, दिश–प्रदान कीजिए।

हे नाथ! आपके चरणों के तलवे सहलाने वाले भक्तवरों के चित्त में कभी-कभार (कभी समाधि की दशा में) वह कोई अवर्णनीय दशा (स्वतः-सिद्ध रूप में) हिलोरने लगती है, जिस अमृत के सरोवर में यह समूचा विश्व (इदंभाव) गल जाता है, हे नाथ! मुझे भी वही अवस्था हमेशा के लिए प्रदान कीजिए॥ २६॥

*संकेत–*

यहां पर आचार्य जी के कथन का तात्पर्य यह है कि केवल समाधिकाल में चित्त में उभरने वाली दशा हमेशा के लिए अर्थात् समाधि एवं व्युत्थान दोनों में नित्य उदित बन जाए।

**रवेश्चन्द्रमसादीनां न जाने कति कोटयः।**
**भान्ति यस्य प्रकाशेन तस्मै शूलभृते नमः॥**

**पांचवां स्तोत्र समाप्त**

डों नमः शिवाय

हृदयदाहमपाकुरु नाथ! मे
त्वमसि रोगहरो भिषजां वरः।
अयि विषाद! सृतेर्विषमाहर
त्वमसि गारुढशास्त्रविदां गुरुः।।

# भक्तिविलास नामक छठा स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'अध्वविस्फुरण' भी है। किसी अज्ञात अन्तः प्रेरणा के द्वारा आगे बढ़ने का सही साधनामार्ग सूझने को अध्वविस्फुरण कहते हैं।

**क्षणमात्रमपीशान वियुक्तस्य त्वया मम।**
**निबिडं तप्यमानस्य सदा भूया दृशः पदम्।। १।।**

*अन्वयः*—ईशान! क्षणमात्रम् अपि त्वया वियुक्तस्य निबिडं तप्यमानस्य मम दृशः पदं सदा भूयाः।

ईशान—हे ईश्वर!, क्षणमात्रम्—क्षण मात्र के लिए, अपि—भी, त्वया—आप से, वियुक्तस्य—अलग होने पर (मैं), निबिडं—अत्यन्त, तप्यमानस्य—सन्तप्त होता हूं (अतः), मम—(आप) मेरे, दृशः—ज्ञान-चक्षु का, पदं—विषय, सदा—सदा अर्थात् लगातार, भूयाः—बने रहें (अर्थात् मैं क्षण भर भी आप के साक्षात्कार के आनन्द से वञ्चित न रहूं)॥

हे ईशानदेव! मैं पलभर के लिए भी आपसे अलग होने की दशा में (अर्थात् व्युत्थान की अवस्था में) असह्य संताप से पीडित होने लगता हूँ, अतः आप प्रतिसमय मेरी 'दृष्टि'-अर्थात् ज्ञान की दृष्टि के विषय बने रहिए॥ १॥

**वियोगसारे संसारे प्रियेण प्रभुणा त्वया।**
**अवियुक्तः सदैव स्यां जगतापि वियोजितः।। २।।**

*अन्वयः*—(प्रभो) जगता वियोजितः अपि (अहं) वियोगसारे (अस्मिन्) संसारे प्रियेण त्वया प्रभुणा अवियुक्तः एव सदा स्याम्।

(प्रभो–हे स्वामी!), जगता–जगत् से, वियोजितः–अलग होते हुए, अपि–भी, (अहं–मैं), वियोग–वियोग ही, सारे–सार है जिस का, ऐसे, (अस्मिन्–इस), संसारे–संसार में, प्रियेण–अत्यन्त प्रिय, त्वया–आप, प्रभुणा–प्रभु से, अवियुक्तः एव सदा स्याम्–कभी अलग न हो जाऊं॥

(हे कल्याणकारी शिव!) जुदाई संसारभाव का निचोड़ है, ऐसी परिस्थिति में जगत् से बिछुड़ने पर भी मैं आप अत्यन्त प्रिय स्वामी से अवियुक्त ही बना रहूँ–(तात्पर्य यह कि वियुक्त (जुदा) न होने पावूँ॥ २॥

**कायवाङ्मनसैर्यत्र यामि सर्वं त्वमेव तत्।**
**इत्येष परमार्थोऽपि परिपूर्णोऽस्तु मे सदा॥ ३॥**

*अन्वयः*– (भगवन्) कायवाक्मनसैः यत्र यामि तत् सर्वं त्वम् एव इति एषः परमार्थः अपि मे सदा परिपूर्णः अस्तु।

(भगवन्–हे भगवान्!), काय–"शरीर, वाक्–वाणी, मनसैः–और मन से, यत्र–जहाँ कहीं भी, यामि–(मैं) विचरता हूँ, तत् सर्वं–वह सब कुछ, त्वम् एव–आप का ही स्वरूप है", इति एषः–यह बात, परमार्थः–(सैद्धान्तिक रूप में) सत्य होते हुए, अपि–भी, मे–मेरी दशा में, सदा–सदा, परिपूर्णः–(समावेश में प्रत्यक्ष रूप में) सिद्ध, अस्तु–होती रहे॥

(हे शंकर!) मैं शरीर, वाणी या मन के द्वारा चाहे जहां कहीं भी जावूँ वह सारा आप ही का स्वरूप है, यह स्थिति परमार्थसत्य होने पर भी मेरे लिए हमेशा पूर्णता प्राप्त होती रहे–तात्पर्य यह कि समावेश की अवस्था में मुझे हमेशा इस यथार्थ का साक्षात्कार होता रहे॥ ३॥

**निर्विकल्पो महानन्दपूर्णो यद्वद्भवांस्तथा।**
**भवत्स्तुतिकरी भूयादनुरूपैव वाङ्मम॥ ४॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) यद्वत् भवान् निर्विकल्पः (च) महानन्दपूर्णः तथा भवत्स्तुतिकरी मम वाक् (अपि) (भवत्-) अनुरूपा एव भूयात्।

(प्रभो–हे प्रभु!), यद्वत्–जिस तरह, भवान्–आप, निर्विकल्पः–निर्विकल्प, (च–और), महानन्दपूर्णः–परमानन्द-पूर्ण हैं, तथा–उसी तरह, भवत्–आप की, स्तुतिकरी–स्तुति करने वाली, मम–मेरी, वाक्–वाणी,

(अपि—भी), (भवत्—आपके), अनुरूपा एव—समान ही (अर्थात् निर्विकल्प और परमानन्दपूर्ण), भूयात्—हो जाय॥

(हे ईश्वर!) जिस प्रकार आप (स्वरूपतः) विकल्पों से परे एवं असीम आनन्द से भरित हैं, उसी प्रकार आपकी स्तुति करने वाली यह मेरी वाणी भी उसी अनुपात में (पाखंड) से रहित एवं रसपूर्ण) बनी रहे॥ ४॥

**भवदावेशतः पश्यन् भावं भावं भवत्मयम्।**
**विचरेयं निराकाङ्क्षः प्रहर्षपरिपूरितः॥ ५॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) भवत्आवेशतः (अहं) भावं भावं भवत् मयं पश्यन् (एवं) निराकांक्षः (तथा) प्रहर्षपरिपूरितः सन् विचरेयम्।

(प्रभो—हे ईश्वर!), भवत्—आप (के स्वरूप में, आवेशतः—समाविष्ट होने से, (अहं—मैं), भावं भावं—प्रत्येक वस्तु को, भवत्मयं—आप का ही स्वरूप, पश्यन्—समझता रहूं, (एवं—और), निराकांक्षः—आकांक्षाओं से रहित, (तथा—तथा), प्रहर्ष—परमानन्द रूपी हर्ष से, परिपूरितः—पूर्ण, सन्—होकर, विचरेयम्—विहार करता रहूं॥

(हे शशिशेखर!) आपके स्वरूप में पूरी तरह समाविष्ट होने के प्रभाव से हरेक प्रमेयभाव को शिवरूप ही अनुभव करता हुआ मैं अभिलाषाओं से हीन और अलोकसामान्य हर्ष से युक्त अंतस् वाला बनकर विचरण करता रहूँ॥ ५॥

**भगवन्भवतः पूर्णं पश्येयमखिलं जगत्।**
**तावतैवास्मि सन्तुष्टस्ततो न परिखिद्यसे॥ ६॥**

*अन्वयः*—भगवन् (अहं) अखिलं जगत् भवतः पूर्णं पश्येयम् तावता एव सन्तुष्टः अस्मि ततः (त्वं) न परिखिद्यसे।

भगवन्—हे भगवान्, (अहं—मैं), अखिलं—समस्त, जगत्—संसार को, भवतः—आप के स्वरूप से, पूर्णं—परिपूर्ण (ही), पश्येयम्—समझता रहूं, तावता—उतने से, एव—ही, सन्तुष्टः—(मैं) संतुष्ट (अर्थात् परमानन्द-पूर्ण), अस्मि—हो जाऊंगा, ततः—उस के पश्चात्, (त्वं—आप), न—नहीं, परिखिद्यसे—खिजाये जाएंगे (अर्थात् फिर मैं अपनी प्रार्थनाओं से आप को कभी नहीं

खिजाऊंगा)॥

हे भगवान्! मैं केवल इतने से ही संतुष्ट हूँ कि सारे जगत् को आपके प्रकाश से परिपूर्ण अनुभव करता रहूँ, इसी कारण से आपको इससे और अधिक कष्ट नहीं दे रहा हूँ–(तात्पर्य यह कि दूसरी अवर सिद्धियों की मांग करने से आपको क्लेश नहीं पहुँचा रहा हूँ॥ ६॥

**विलीयमानास्त्वय्येव व्योम्नि मेघलवा इव।**
**भावा विभान्तु मे शश्वत्क्रमनैर्मल्यगामिनः॥ ७॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) व्योम्नि विलीयमानाः मेघ-लवाः इव भावाः शश्वत्क्रमनैर्मल्यगामिनः त्वयि एव (विलीयमानाः) मे विभान्तु।

(प्रभो–हे ईश्वर!), व्योम्नि–आकाश में, विलीयमानाः–लीन बने हुए, मेघलवाः–मेघखंडों की, इव–भान्ति, भावाः–(संसार के सभी) पदार्थ, शश्वत्–सदा के लिए, क्रम–क्रमपूर्वक (बिना प्रत्यवाय के), नैर्मल्य–निर्मलता (अर्थात् शुद्ध चिद्रूपता) को, गामिनः–प्राप्त हो कर, त्वयि–आप के स्वरूप में, एव–ही, (विलीयमानाः–लीन बने हुए), मे–मुझे, विभान्तु–दिखाई दें॥

(हे प्रभु!) जिसप्रकार आकाश में छोटे छोटे बादलों के खंड आकाश में ही विलीन होते हुए दिखते हैं, उसी प्रकार मुझे धीरे धीरे निर्मल बनते हुए सारे प्रमेयभाव हमेशा आपके ही स्वरूप में लय होते हुए दिखने लगें॥ ७॥

**स्वप्रभाप्रसर[१]ध्वस्तापर्यन्तध्वान्तसन्ततिः।**
**सन्ततं भातु मे कोऽपि भवमध्याद्भवन्मणिः॥ ८॥**

*अन्वयः*–(भगवन्) स्वप्रभा-प्रसरध्वस्तअपर्यन्तध्वान्तसन्ततिः कोऽपि भवत्मणिः मे भवमध्यात् सन्ततं भातु।

(भगवन्–हे ऐश्वर्य-संपन्न प्रभु!), स्वप्रभा–अपनी दीप्ति के, प्रसर–प्रसार से, ध्वस्त–समूल नष्ट किया है, अपर्यन्त–अथाह, ध्वान्त–अज्ञान रूपी, सन्ततिः–घना अंधकार जिस ने, ऐसा, कोऽपि–अलौकिक, भवत्–आप

---

१. ख० पु०, च० पु० ध्वस्तपर्यन्त–इति पाठः।

(का स्वरूप रूपी), मणिः–(चिन्तामणि) रत्न, मे–मुझे, भव-मध्यात्–इस संसार में ही, सन्ततं–सदा, भातु–दृष्टिगोचर होता रहे॥

(हे भगवान् शितिकंठ!) अपने प्रकाशविस्फार से घने अंधकार के असीम विस्तार को चीरता हुआ आप जैसा 'मणि'-अर्थात् चिन्तामणि मुझे सदा इस संसारभाव में ही चमकता हुआ दिखता रहे॥ ८॥

**कां भूमिकां नाधिशेषे किं तत्स्याद्यन्न ते वपुः।**
**श्रान्तस्तेनाप्रयासेन सर्वतस्त्वामवाप्नुयाम्॥ ९॥**

*अन्वयः*—(शंकर) (त्वं) कां भूमिकां न अधिशेषे (च) तत् किं (वस्तु) यत् ते वपुः न स्यात् तेन श्रांतः (अहं) त्वाम् अप्रयासेन सर्वतः अवाप्नुयाम्।

(शंकर–हे कल्याण कारी भगवान्!),(त्वं–आप), कां–किस, भूमिकां–अवस्था में, न–नहीं, अधिशेषे–रहते हैं (अर्थात् सभी अवस्थाओं में ठहरे हुए हैं),(च–और), तत्–वह, किं–कौन सी, (वस्तु–वस्तु है), यत्–जो, ते–आप का, वपुः–स्वरूप, न–नहीं, स्यात्–हो सकती? (अर्थात् प्रत्येक वस्तु आप का ही स्वरूप है।), तेन–इसलिए, श्रांतः–(स्वरूप-अप्रथा से संसार में चिरकाल से) दुःखी बना हुआ, (अहं–मैं), त्वाम्–आपको, अप्रयासेन–बिना प्रयास के ही, सर्वतः–प्रत्येक स्थान पर (अर्थात् जहां कहीं भी मैं चाहूं), अवाप्नुयाम्–प्राप्त करूं (अर्थात् देखूं)॥

हे भगवान्! आप किस अवस्था में व्यापक नहीं हैं? वह कौन सा भाव है जो आपका स्वरूप न हो? अतः (जन्म-जन्मान्तरों का) थका-मांदा मैं, कोई आयास करने के बिना, हरेक स्थान पर आपको प्राप्त करता रहूँ॥ ९॥

**भवदङ्गपरिष्वङ्गसम्भोगः स्वेच्छयैव मे।**
**घटतामियति प्राप्ते किं नाथ न जितं मया॥ १०॥**

*अन्वयः*—नाथ भवत्अंगपरिष्वंगसंभोगः मे स्वेच्छया एव घटताम् इयति प्राप्ते (सति) किं मया न जितम्।

नाथ–हे प्रभु!, भवत्–आप के, अंग–शरीर के, परिष्वंग–आलिंगन का, संभोगः–(परम-समावेश रूपी) चमत्कार, मे–मुझे, स्वेच्छया–अपनी

इच्छा से, एव–ही, घटताम्–सिद्ध हो जाय (अर्थात् प्राप्त होता रहे), इयति– इतना, प्राप्ते (सति)–प्राप्त होने पर, किं–क्या, मया–मैंने, न जितम्– नहीं जीता? (अर्थात् उस दशा में मैं सर्वोच्च आत्मस्थान को प्राप्त करूंगा॥

हे स्वामी! मुझे इच्छा होने के तत्काल ही आपको गले लगाने का 'सम्भोग'-अर्थात् समावेशमय चमत्कार सिद्ध होता रहे, क्योंकि इतना ही सिद्ध हो जाने पर मैं समझूंगा कि मैंने क्या नहीं पाया?–(अर्थात् सब कुछ पाया)॥ १०॥

**प्रकटीभव नान्याभिः प्रार्थनाभिः कदर्थनाः।**
**कुर्मस्ते नाथ ताम्यन्तस्त्वामेव मृगयामहे॥ ११॥**

*अन्वयः*–नाथ (त्वं) प्रकटी भव अन्याभिः प्रार्थनाभिः (वयं) ते कदर्थनाः न कुर्मः ताम्यन्तः (वयं) त्वाम् एव मृगयामहे।

नाथ–हे स्वामी!, (त्वं–आप), प्रकटी भव–प्रकट हो जाइये (अर्थात् स्वरूप-साक्षात्कार से हमें आनन्दित कीजिए), अन्याभिः–(अणिमा आदि संबंधी) अन्य, प्रार्थनाभिः–प्रार्थनाओं से, (वयं–हम), ते–आप को, कदर्थनाः– कष्ट, न कुर्मः–नहीं देते हैं, ताम्यन्तः–(आप के वियोग से) दुःखी हो कर, (वयं–हम), त्वाम् एव–आप की ही, मृगयामहे–टोह लेते हैं (अर्थात् आप को ही प्राप्त करना चाहते हैं)॥

हे स्वामी! हम विरह के मारे केवल आपको ढूँढ़ रहे हैं (कृपया हमें दर्शन दीजिए, इससे बढ़कर और याच्आएँ करने से हम आपको कष्ट देना नहीं चाहते हैं॥ ११॥

जगत् का कल्याण हो।

आर्तयो ग्लानिसंभूता ग्लानिश्चाज्ञानजा स्मृता।
अज्ञानशातने शक्तो यस्तस्मै शूलिने नमः॥

छठा स्तोत्र समाप्त

ओं नमः शिवाय

शमय चित्तविसंष्ठुलतां प्रभो!
ज्वल ज्वलाघचयं विषमं मृढ!।
ननु निधेहि पदं हृदये शुभं
शृणु ममार्तरवं गिरिजाप्रिय!।।

# भक्तिविलास नामक सातवां स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'विधुरविजय' भी है। इस शब्द के दो खंड हैं: विधुर+विजय। किसी भी प्रकार के मानसिक उद्वेग, व्याकुलता या दुःख पर विजय प्राप्त करने को विधुरविजय कहते हैं।

**त्वय्यानन्दसरस्वति**
**समरसतामेत्य नाथ मम चेतः।**
**परिहरतु सकृदियन्तं**
**भेदाधीनं महानर्थम्।। १।।**

*अन्वयः*—नाथ त्वयि आनन्द सरस्वति समरसताम् एत्य मम चेतः भेद अधीनं इयन्तं महानर्थं सकृत् परिहरतु।

नाथ—हे स्वामी!, त्वयि—आप, आनन्दसरस्वति—आनन्द-सागर में, समरसताम्—समरसता को, एत्य—प्राप्त हो कर, मम—मेरा, चेतः—हृदय, भेदअधीनं—भेद-प्रथा पर आश्रित (अर्थात् भेद-प्रथा से होने वाली), इयन्तं—(अज्ञान रूपी) इतनी, महा-अनर्थं—बड़ी आपत्ति को, सकृत्—एक बार ही (अर्थात् सदा के लिए), परिहरतु—दूर करे॥

हे स्वामी! मेरा चित्त आप आनन्दसागर में समरस (एकाकार) बनकर, भेदभाव पर पनपने वाली विपरीत चित्तवृत्तियों के रूपवाले अनर्थ के इतने बड़े पुलंदे को, एक ही बार, मलियामेट कर डाले॥ १॥

**एतन्मम न त्विदमिति**
**रागद्वेषादिनिगडदृढमूले।**
**नाथ भवन्मयतैक्य-**
**प्रत्ययपरशुः पतत्वन्तः।। २।।**

*अन्वयः*– नाथ एतत् मम (अस्तु) इदं तु न इति रागद्वेषआदिनिगडदृढ-मूले भवन्मयताऐक्यप्रत्ययपरशुः अन्तः पततु।

नाथ–हे स्वामी!, एतत्–"यह (सुखदायक वस्तु), मम–मुझे, (अस्तु–मिले), इदं–यह (दुःखदायक वस्तु), तु–तो, न–न (मिले)", इति–इस प्रकार के, राग-द्वेष–राग, द्वेष, आदि–आदि रूपी, निगड–बेड़ियों की, दृढ-मूले–कठिन जड़ पर, भवन्मयता–आप के स्वरूप के साथ, ऐक्य– एकता का, प्रत्यय–पूर्ण विश्वास (अथवा पूर्ण-आनन्द) रूपी, परशुः–फरसा, अन्तः–बीच में ही, पततु–आ पड़े (अर्थात् राग, द्वेष आदि को तहस-नहस कर दे),॥

हे स्वामी!–"अमुक वस्तु (मेरे लिए सुखद होने के कारण) मुझे मिलनी चाहिए, लेकिन अमुक वस्तु (मेरे लिए अनिष्टकारक होने के कारण) मुझे नहीं चाहिए'–इत्यादि प्रकार की राग-द्वेषमयी चित्तवृत्तियों की हथकड़ियों के मूल पर ही, आपके साथ मेरे समरस बन जाने की श्रद्धा के रूपवाला कुल्हाड़ा पड़े॥ २॥

**गलतु विकल्पकलङ्कावली**
**समुल्लसतु हृदि निरर्गलता।**
**भगवन्नानन्दरस-**
**प्लुतास्तु मे चिन्मयी मूर्तिः॥ ३॥**

*अन्वयः*–भगवन् (मे) विकल्पकलंकआवली गलतु हृदि निरर्गलता समुल्लसतु (एवं) मे चिन्मयी मूर्तिः आनन्द रसप्लुता अस्तु।

भगवन्–हे भगवान्!, (मे–मेरे), विकल्प–संकल्प-विकल्प रूपी, कलंक–कलंक की, आवली–माला, गलतु–नष्ट हो जाय, हृदि–(मेरे) हृदय में, निरर्गलता–पूर्ण स्वतंत्रता (का भाव), समुल्लसतु–चमक उठे, (एवं–और), मे–मेरी, चिन्मयी–चैतन्य-मयी, मूर्तिः–मूर्ति, आनन्दरस–आनन्द के रस से, प्लुता–आप्लावित, अस्तु–हो जाय॥

हे भगवान्! विकल्परूपी कालिख की परतें गल जाएं, हृदय की स्वतंत्रता फूले और फले, और मेरी चैतन्यमयी मूर्ति (समावेशमय) आह्लाद के रस से तराबोर हो जाए॥ ३॥

**रागादिमयभवाण्डक-**
**लुठितं त्वद्भक्तिभावनाम्बिका तैस्तैः।**
**आप्याययतु रसैर्मां**
**प्रवृद्धपक्षो यथा भवामि खगः।। ४।।**

*अन्वयः*—(परमात्मन्) राग आदिमयभवअण्डक लुठितं मां त्वद्भक्तिभावना-अम्बिका तैः तैः रसैः आप्याययतु यथा (अहं) प्रवृद्धपक्षः खगः भवामि।

(परमात्मन्—हे परमेश्वर!), **राग**—**आदि**—राग, (द्वेष) आदि से, **मय**—भरे हुए, **भव**—(इस) संसार रूपी, **अण्डक**—अंडे में, **लुठितं**—लोटते हुए, **मां**—मुझे, **त्वद्**—आपकी, **भक्ति**—भक्ति की, **भावना**—भावना रूपिणी, **अम्बिका**—माता, **तैः तैः**—उन (अलौकिक), **रसैः**—(परमानन्द के) रसों से, **आप्याययतु**—पुष्ट करे, **यथा**—जिस के फलस्वरूप, (अहं—मैं), **प्रवृद्ध- पक्षः**—बढ़े हुए (प्राण रूपी) परों वाला, **खगः**—पक्षी, **भवामि**—बन जाऊं॥

(हे परमात्मा!) राग इत्यादि (कुत्सित) चित्तवृत्तियों की भरमार वाले संसाररूपी अंडे के उदर में लुड़कते-पुड़कते रहने वाले मुझको, आपकी भक्तिरूपिणी माता उन उन अनूठे रसों से पुष्टि प्रदान करती रहे, ताकि मैं बड़े हुए परों वाला विहंगम (पक्षी) बन जाऊं॥ ४॥

*संकेत*—

सद्गुरु महाराज ने निम्नलिखित पादटिप्पणी में इस मुक्तक का स्पष्टीकरण एवं प्रस्तुत किया है—

"१. पूर्ण व्याख्या—जिस प्रकार पक्षिणी अंडे में लोटते हुए अपने बच्चे को रसों से पुष्टि करती है, जिससे उसके पर बढ़ जाते हैं और वह आकाश में उड़ने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार आपकी भक्ति की भावना राग, द्वेष आदि से भरे हुए इस संसार में फंसे हुए मुझको परमानन्द के रस से पुष्ट करे, ताकि मैं स्वतंत्रतापूर्वक चिदाकाश में विहार करूँ।"

**त्वच्चरणभावनामृत-**
**रससारास्वादनैपुणं लभताम्।**
**चित्तमिदं निःशेषित-**
**विषयविषासङ्गवासनावधि मे।। ५।।**

*अन्वयः*– (प्रभो) निःशेषितविषयविषआसंगवासनाअवधि इदं मे चित्तं त्वत्चरणभावना अमृत रससारआस्वादनैपुणं लभताम्।

(प्रभो–हे प्रभु!), निःशेषित–समाप्त कर ली है, विषय–विषय रूपी, विष–विष की, आसंग–आसक्ति की, वासना–इच्छा की, अवधि–अवधि जिस ने, ऐसा, इदं–यह, मे–मेरा, चित्तं–मन, त्वत्–आप के, चरण–चरणों की, भावना–भक्ति-भावना रूपी, अमृत-रस–अमृत-रस के, सार–सार का, आस्वाद–आस्वाद लेने (अर्थात् चमत्कार करने) की, नैपुणं–निपुणता को, लभताम्–प्राप्त करे॥

(हे शंकर!) मेरा यह चित्त जिसने विषयवासनारूपी ज़हर पीते रहने की लत की अवधि (निश्चित समय की सीमा) पार कर ली है, अब आपके चरणों की भक्ति करते रहने के अमृतरस का चर्वण करने की पटुता प्राप्त करे॥ ५॥

चर्वण=(आनन्दमयता का अहंरूप में आस्वाद लेना।

**त्वद्भक्तितपनदीधिति-**
**संस्पर्शवशान्ममैष दूरतरम्।**
**चेतोमणिर्विमुञ्चतु**
**रागादिक-तप्तवह्निकणान्॥ ६॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) एष मम चेतः मणिः त्वद्भक्तितपनदीधितिसंस्पर्शवशात्राग-आदिकतप्तवह्निकणान् दूरतरं विमुञ्चतु।

(प्रभो–हे स्वामी!), एष–यह, मम–मेरा, चेतः-मणिः–हृदय रूपी (सूर्यकांत) रत्न, त्वद्–आप की, भक्ति–भक्ति रूपी, तपन–सूर्य की, दीधिति–किरणों के, संस्पर्श–स्पर्श को, वशात्–पा कर, राग–राग, आदिक–आदि, तप्त-वह्नि-कणान्–(वासनाओं के संस्कार रूपी) आग के गर्म ज़रों को, दूरतरं–पूर्ण रूप में, विमुञ्चतु–छोड़ दे॥

(हे वरद ईश्वर!) मेरा यह चित्तरूपी सूरजमुखी रत्न, आपकी भक्ति के रूपवाले सूर्यदेव की किरणों का स्पर्श पाने के प्रभाव से राग आदि चित्तवृत्तियों की तपती हुई चिंगारियों को (स्वरूप से) बहुत दूर बिखेरता

रहे॥ ६॥

**तस्मिन्पदे भवन्तं**
**सततमुपश्लोकयेयमत्युच्चैः।**
**हरिहर्यश्वविरिञ्चा**
**अपि यत्र बहिः प्रतीक्षन्ते॥ ७॥**

*अन्वयः*—(अहं) सततं तस्मिन् अति उच्चैः पदे (तिष्ठन्तं) भवन्तं उपश्लोकयेयं यत्र हरिहर्यश्वविरिंचाः अपि बहिः (एव) प्रतीक्षन्ते।

(अहं—मैं), सततं—सदा, तस्मिन्—उस, अति उच्चैः—अत्यन्त ऊंचे (अर्थात् अलौकिक), पदे—स्थान पर, (तिष्ठन्तं—ठहरे हुए), भवन्तं—आप की, उपश्लोकयेयं—स्तुति के गीत गाता रहूं, यत्र—जहां, हरि—भगवान् विष्णु, हर्यश्व—इन्द्र, विरिंचाः—और ब्रह्मा, अपि—भी, बहिः (एव)—बाहर (ही), प्रतीक्षन्ते—प्रतीक्षा करते हैं॥

(हे त्रिलोकी के स्वामी!) मैं उस (अवर्णनीय) उच्चतम पदवी पर, जहां कि नारायण, इन्द्र और ब्रह्मा इत्यादि देवगण भी (प्रवेश न पाकर) बाहर ही प्रतीक्षा करते रहते हैं, आपके बड़प्पन के गीत ऊँचे स्वर में गाता रहूँ॥ ७॥

**भक्तिमदजनितविभ्रम-**
**वशेन पश्येयमविकलं करणैः।**
**शिवमयमखिलं लोकं**
**क्रियाश्च पूजामयी सकलाः॥ ८॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) (अहं) भक्तिमदजनितविभ्रमवशेन करणैः अविकलं अखिलं लोकं शिवमयं च सकलाः क्रियाः (त्वत्) पूजामयीः पश्येयम्।

(प्रभो—हे ईश्वर!), (अहं—मैं), भक्ति—(आप की) भक्ति (अर्थात् समावेश) के, मद—हर्ष से, जनित—उत्पन्न हुए, विभ्रम—स्वरूप-विलास के, वशेन—कारण, करणैः—(अपनी आंख आदि) इन्द्रियों से, अविकलं—पूर्ण रूप में, अखिलं—(इस) समस्त, लोकं—जगत् को, शिवमयं—शिव के रूप में, च—और, सकलाः—(अपने)

सारे, क्रियाः–कार्यों को, (त्वत्–आप की), पूजामयीः–पूजा के रूप में, पश्येयम्–देखता रहूं॥

(हे अनुत्तर देव!) मैं पराभक्ति के उन्माद से उत्पन्न हुए (लोकोत्तर) स्वरूप विलास की उठान से, अविकल रूप में, अपनी करणशक्तियों (अन्तर्मुखीन इन्द्रियवृत्तियों) के माध्यम से सारे विश्वप्रपञ्च को शिवमय और सारी क्रियाओं को शिव की अर्चना के रूप में देखता रहूँ॥ ८॥

*संकेत*– साधक की इस अवस्था को शास्त्रीय शब्दों में भैरवीयमुद्रा कहते हैं। सद्गुरु महाराज ने इस मुद्रा के स्वरूपनिर्धारण के संदर्भ में निम्नलिखित तंत्रवाक्य को उद्धृत किया है–
"अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
इयं सा भैरवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥" इति।

**मामकमनोगृहीत-**
**त्वद्भक्तिकुलाङ्गनाणिमादिसुतान्।**
**सूत्वा सुबद्धमूला**
**ममेति बुद्धिं दृढीकुरुताम्॥ ९॥**

*अन्वयः*– (नाथ) मामकमनःगृहीतत्वद्भक्तिकुलअंगना अणिमाआदिसुतान् सूत्वा (इत्येवं) सुबद्धमूला मम इति बुद्धिं दृढीकुरुताम्।

(नाथ–हे स्वामी!), मामक–मेरे, मनः–मन (रूपी प्राणेश्वर) से, गृहीत–(प्राणेश्वरी के रूप में) स्वीकार की गई, त्वद्–आप की, भक्ति–भक्ति रूपिणी, कुल-अंगना–कुल-स्त्री, अणिमा-आदि–(अभेद-सार), अणिमा आदि, सुतान्–पुत्रों को, सूत्वा–उत्पन्न कर के, (इत्येवं–और इस प्रकार), सुबद्धमूला–सुदृढ मूलों वाली अर्थात् प्रौढ (हो कर), मम–'(ये) मेरे (ही अपने हैं)', इति–ऐसी, बुद्धि–(अपनी ममता-भरी) बुद्धि को, दृढ़ीकुरुताम्–पुष्ट करे, (जिस के फलस्वरूप यह मेरे मन से कभी बिछुड़ न सके?)॥

(हे परब्रह्मस्वरूप!) मेरे मन के द्वारा (प्राणेश्वरी के रूप में) स्वीकारी गई आपकी भक्तिरूपिणी कुलस्त्री, अणिमा आदि सिद्धियों के रूपवाली संतति को जन्म देकर, और (मेरे) अंतस में गहरे मूलों को जमकर,–'यह

सारा विस्तार मेरा अपना ही रूप है'—इस विचार को पक्का बनाए॥ ९॥

आदिदेवी महाशक्तिश्चिच्चमत्कृतिरूपिणी।
शिवयन्ती जगत्सर्वं जयतादपराजिता॥
जगत् का कल्याण हो

सातवां स्तोत्र समाप्त

उँ नमः शिवाय

भव! प्रसन्नमुखेन विकासिना-
धरपुटेन दृशातिस्निग्धया।
प्रकटयन्निजभावमनाविलं
कुरु दयां हर त्र्यंबक! दुर्गतिम्।।

# भक्तिविलास नामक आठवां स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम अलौकिकोद्वलन भी है। इस शब्द का अर्थ इस प्रकार है : 'अलौकिक' अर्थात् अलोकसामान्य चित्परामर्श का 'उद्वलन' अर्थात् उच्छलित होना।

**यः प्रसादलव ईश्वरस्थितो**
**या च भक्तिरिव मामुपेयुषी।**
**तौ परस्परसमन्वितौ कदा**
**तादृशे वपुषि रूढिमेष्यतः।। १।।**

*अन्वयः*–(देव) ईश्वरस्थितः यः प्रसाद लवः या च भक्तिः इव माम् उपेयुषी तौ परस्परसमन्वितौ तादृशे वपुषि कदा रूढिम् एष्यतः।

(देव–हे परमात्मा!), ईश्वर–(आप) ईश्वर के पास, स्थितः–ठहरा हुआ, यः–जो, प्रसाद-लव–थोड़ा सा अनुग्रह है, या च–और जो, भक्तिः इव–थोड़ी सी भक्ति, माम्–मेरे पास, उपेयुषी–आई है, तौ–वे दोनों, परस्पर–एक दूसरे के साथ, समन्वितौ–सम्मिलित होकर, तादृशे–वैसे (अलौकिक), वपुषि–(सच्चिदानन्द) स्वरूप में, कदा–कब, रूढिम्–विकास को, एष्यतः–प्राप्त होंगे? (अर्थात् ऐसा समय कब आएगा, जब मैं भक्ति करता रहूंगा और आप अनुग्रह करते रहेंगे?)॥

हे प्रभु! जो अनुग्रह की तनिक सी मात्रा आपके पास सुरक्षित है, और जो भक्ति जैसी कोई (अलौकिक) वृत्ति मुझ में उदित होने लगी है, कब वह वेला आएगी जब ये दोनों आपस में समरस बनकर वैसे अवर्णनीय (चिदानन्दघन) स्वरूप में संरूढ़ बन जायेंगी?-(अर्थात् अच्छी प्रकार जड़ पकडेंगी॥ १॥

**त्वत्प्रभुत्वपरिचर्वणजन्मा**
**कोऽप्युदेतु परितोषरसोऽन्तः।**
**सर्वकालमिह मे परमस्तु**
**ज्ञानयोगमहिमादि विदूरे॥ २॥**

*अन्वयः*– (ईश्वर) इह परं त्वत्प्रभुत्वपरिचर्वणजन्मा कोऽपि परितोष रसः सर्वकालं मे अन्तः उदेतु, ज्ञानयोगमहिमा आदि विदूरे अस्तु।

(ईश्वर–हे स्वामी!), इह–इस संसार में, परं–केवल, त्वत्–आप के, प्रभुत्व–स्वामित्व के, परिचर्वण–आस्वादन से, जन्मा–उत्पन्न हुआ, कोऽपि–अलौकिक, परितोष-रसः–आनन्द-रस, सर्वकालं–सदैव (अर्थात् व्युत्थान में भी), मे–मेरे, अन्तः–हृदय में, उदेतु,–विकसित होता रहे;, ज्ञान–ज्ञान, योग–और योग की, महिमा आदि–महिमा आदि (तो), विदूरे–दूर ही, अस्तु–रहे, (अर्थात् उनसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं)॥

(हे दीनबन्धु भगवान्!) 'आप (अनुत्तर चैतन्यदेव) मेरे एक ही स्वामी हैं'–इस आन्तरिक आह्लाद का चर्वण करने से उपजे हुए किसी (अलौकिक) आत्मसंतोष के रस की धारा मेरे अंतस् को भिगोती रहे, परन्तु इस संसार में–'लोगों को ज्ञान बघारने, योगिक चमत्कार दिखाने और अपनी महिमा का बखान करने'-इत्यादि प्रकार के ढ़कोसले हमेशा मुझ से दूर ही रहें॥ २॥

**लोकवद्भवतु मे विषयेषु**
**स्फीत एव भगवन्परितर्षः।**
**केवलं तव शरीरतयैतान्**
**लोकयेयमहमस्तविकल्पः॥ ३॥**

*अन्वयः*–भगवन् लोक वत् मे (अपि) विषयेषु स्फीतः एव परितर्षः भवतु केवलं अहम् अस्तविकल्पः (सन्) एतान् तव शरीरतया लोकयेयम्।

भगवन्–हे भगवान्!, लोक-वत्–(अन्य) लोगों की तरह, मे–मुझे, (अपि–भी), विषयेषु–विषयों के प्रति, स्फीतः एव–बहुत बड़ी, परितर्षः–तृष्णा, भवतु–बनी रहे, केवलं–पर केवल इतनी सी बात हो कि, अहम्–मैं, अस्त–

नष्ट हुए, विकल्पः—विकल्पों वाला, (सन्—होकर), एतान्—इन (विषयों) को, तव—आप के, शरीरतया—स्वरूप से ही, लोकयेयम्—देखता रहूं॥

हे भगवान्! आम लोगों की तरह ही मेरे अन्तस् में (शब्द, स्पर्श आदि) सांसारिक विषयों का उपभोग करने की पिपासा ज़ोर पकड़ती रहे, परन्तु अन्तर इतना रहे कि मुझमें विकल्पों की धांधली शान्त हो जाए ताकि मैं इनको (शब्द और विषयों को) आपके ही स्वरूप के रूप में देखता रहूँ॥ ३॥

**देहभूमिषु तथा मनसि त्वं**
**प्राणवर्त्मनि च [1]भेदमुपेते।**
**संविदः पथिषु तेषु च तेन**
**स्वात्मना मम भव स्फुटरूपः॥ ४॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) देहभूमिषु तथा मनसि च भेदम् उपेते प्राणवर्त्मनि च तेषु संविदः पथिषु त्वं तेन स्वात्मना मम स्फुट रूपः भव।

(प्रभो—हे ईश्वर!), देह—देह-भूमियों, भूमिषु—(अर्थात् बुढ़ापा, मृत्यु आदि अवस्थाओं) में, तथा—और, मनसि—(संकल्पविकल्पमय), च—तथा, भेदम्—भेद को, उपेते—प्राप्त हुए, प्राण-वर्त्मनि—प्राण-मार्ग में (अर्थात् सुख-दुःख आदि अवस्थाओं में), च—एवं, तेषु—उन, संविदः—ज्ञान-सम्बन्धी, पथिषु—मार्गों में (अर्थात् सभी व्यावहारिक नील-पीत आदि ज्ञानों में), त्वं—आप, तेन—उस, स्वात्मना—चिदानन्दरूपी अलौकिकस्वरूप में, मम—मुझे, स्फुटरूपः—प्रत्यक्ष दर्शन, भव—दीजिए॥

(हे प्रभु!) (छः भावविकारों के रूपवाली) कायिक अवस्थाओं, (संकल्प-विकल्प के रूपवाली) मानसिक वृत्तियों, (प्राण, अपान आदि रूपों वाले) प्राणप्रवाह और (नीलज्ञान, सुखज्ञान इत्यादि रूपों वाले) 'संवित्'-अर्थात् ज्ञान के मार्गों में, तथाकथित भेदरूपता में भासमान रहने वाले आप, मुझे केवल अपने स्वभावसिद्ध चिन्मय रूप में ही स्पष्ट दर्शन दीजिए॥ ४॥

---

१. ग० पु० मुद्रितस्योक्तिः इति पाठः

**निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमाः**
**करणवृत्तय उल्लसिता मम।**
**क्षणमपीश मनागपि मैव भूत्**
**त्वदविभेदरसक्षतिसाहसम्॥५॥**

*अन्वयः*—ईश इमाः मम उल्लसिताः करणवृत्तयः निज निजेषु पदेषु पतन्तु (परं) (मम) त्वद् अविभेद रसक्षतिसाहसं क्षणम् अपि मनाक् अपि मैव भूत्।

**ईश**—हे स्वामी!, **इमाः**—ये, **मम**—मेरी, **उल्लसिताः**—उल्लास अर्थात् आनन्द से भरी हुई, **करण**—इन्द्रियों की, **वृत्तयः**—वृत्तियां, **निज-निजेषु**—अपने-अपने, **पदेषु**—विषयों में, **पतन्तु**—लगी रहें, (परन्तु **मम**—मुझे), **त्वद्**—आप के, **अविभेद-रस**—अद्वयानन्द-रस से, **क्षति**—वञ्चित होने का, **साहसं**—साहस, **क्षणम् अपि**—क्षण भर के लिए भी, **मनाक् अपि**—और जरा सा भी, **मैव भूत्**—न हो (अर्थात् मैं आप के विरह को न सह सकूं)॥

(हे भगवन्!) ये मेरी इन्द्रियवृत्तियां अन्तर्मुखीन इन्द्रियशक्तियों (करण शक्तियों) के रूप में विकसित होकर अपने अपने (शब्द, स्पर्श आदि) ग्राह्यविषयों की ओर दौड़ती रहें, परन्तु मुझे पलभर के लिए और रंचभर भी, आपके अभेदभावन के रस में क्षीणता आने के रूप वाला जोखिम उठाना न पड़े॥५॥

**लघुमसृणसिताच्छशीतलं**
**भवदावेशवशेन भावयन्।**
**वपुरखिलपदार्थपद्धते-**
**र्व्यवहारानतिवर्तयेय तान्॥६॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) भवत्आवेशवशेन (अहं) लघुमसृणसितअच्छशीतलं वपुः भावयन् तान् अखिलपदार्थपद्धतेः व्यवहारान् अतिवर्तयेय।

(**प्रभो**—हे स्वामी!), **भवत्**—आप के, **आवेश**—स्वरूप-समावेश के, **वशेन**—प्रभाव से, (**अहं**—मैं), **लघु**—(माया के गौरव से रहित होने से) हल्के, **मसृण**—(सुखदायक स्पर्श वाला होने से) कोमल, **सित**—(प्रकाश-स्वरूप होने से) श्वेत, **अच्छ**—(विश्व-प्रतिबिम्ब-धारी होने से) निर्मल, **शीतलं**—और

(संसारतापहारक होने से) शीतल, वपुः–(आप के आनन्दमय) स्वरूप की, भावयन्–भावना करते हुए, तान्–उन, अखिल–सब, पदार्थ–भाव-वर्ग-सम्बन्धी, पद्धतेः–प्रणालियों के, व्यवहारान्–(भेद-रूप लौकिक) व्यवहारों को, अतिवर्तयेय–छोड़ दूं॥

(हे गुणातीत परमेश्वर!) मैं स्वरूपसमावेश के सामर्थ्य से आपके हलके (माया के बोझ से रहित), अतिकोमल (सुखदायक स्पर्शवाले), श्वेतवर्ण (प्रकाशस्वरूप), निर्मल (प्रतिबिंबग्राही) और शीतल (शान्तिदायक) स्वरूप का चिन्तन करता हुआ, सारे (प्रमातृ-प्रमेयरूप) पदार्थों के चलन के अनुकूल व्यवहारों का अतिक्रमण करूं॥ ६॥

**विकसतु स्ववपुर्भवदात्मकं**
**समुपयान्तु जगन्ति ममाङ्गताम्।**
**व्रजतु सर्वमिदं द्वयवल्गितं**
**स्मृतिपथोपगमेऽप्यनुपाख्यताम्॥ ७॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) स्व वपुः भवत् आत्मकं (सन्) विकसतु जगन्ति मम अंगतां समुपयान्तु इदं सर्वं द्वय वल्गितं स्मृति-पथ-उपगमे अपि अनुपाख्यतां व्रजतु।

(प्रभो–हे भगवान्!), स्व-वपुः–मेरी आत्मा, भवत्–आप का, आत्मकं–स्वरूप, (सन्–होकर), विकसतु–खिल उठे, जगन्ति–(पृथ्वी से लेकर सदाशिव तक के सारे) लोक, मम–मेरे, अंगतां–अंग, समुपयान्तु–बन जायें!, इदं–यह, सर्वं–सारा, द्वय–भेद-प्रथा का, वल्गितं–विकास, स्मृति-पथ–स्मृति-पथ में, उपगमे–आकर, अपि–भी (अर्थात् याद पड़ने पर भी), अनुपाख्यतां व्रजतु–सर्वथा भूल जाये (अर्थात् इस के साथ मेरा दूर का सम्बन्ध भी न रहे)॥

हे भगवान्! यह मेरी जीवात्मा आपके (पारमार्थिक) चिदात्मा स्वरूप में विकसित हो जाए, सारे जगत् (भुवन) मेरे अपने ही अभिन्न अवयव बनें, और द्वैतभाव की सारी उछल-कूद, याद आने पर भी, विस्मृति के पारावार (सागर) में (सदा के लिए) खो जाए॥ ७॥

**समुदियादपि तादृशतावका-**
**ननविलोकपरामृतसम्प्लवः।**

**मम घटेत यथा भवदद्वया-**
**प्रथनघोरदरीपरिपूरणम्॥ ८॥**

*अन्वयः*—(नाथ) तादृश तावकआननविलोकपर अमृतसंप्लवः अपि समुदियात् यथा मम भवद्अद्वयअप्रथनघोरदरीपरिपूरणं घटेत।

(नाथ—हे स्वामी!), तादृश—(काश) उस, तावक—(स्वातन्त्र्य-शक्ति रूपी) आप के, आनन—मुख की, विलोक—दर्शन रूपी, पर-अमृत—परमामृत की, संप्लवः—बाढ़, अपि—भी, समुदियात्—(कभी) आ जाती, यथा—जिस से, मम—मेरे लिए, भवद्—आप के, अद्वय—अद्वैत-स्वरूप का, अप्रथन—अदर्शन रूपी, घोर—भयंकर, दरी—खंदक, परिपूरणं घटेत—पूर्ण रूप में भर जाये (अर्थात् जिस से आप के स्वरूप का दर्शन करने में कोई बाधा न रहे)॥

(हे स्वामी!) काश, आपके 'वैसे'-अर्थात् अवर्णनीय 'मुख'-अर्थात् स्वातन्त्र्यशक्तिरूपी मुख का दर्शन पाने के रूपवाले दिव्य अमृतप्रवाह की बाढ़ आ जाती, ताकि आपके द्वैतहीन स्वरूप की अख्याति (अधूरी जानकारी) की गहरी खोह भर जाने का मेरा प्रयोजन सिद्ध हो जाता॥ ८॥

**अपि कदाचन तावकसङ्गमा-**
**मृतकणाच्छुरणेन तनीयसा।**
**सकललोकसुखेषु पराङ्मुखो**
**न भवितास्म्युभयच्युत एव किम्॥ ९॥**

*अन्वयः*—(नाथ) कदाचन तनीयसा तावकसंगमअमृतकणआच्छुरणेन सकल-लोकसुखेषु पराङ्मुखः (अहं) किम् उभयच्युतः एव न भवितास्मि।

(नाथ—हे ईश!), कदाचन—किसी समय होने वाले, तनीयसा—जरा से, तावक—आप के, संगम—समागम रूपी, अमृत—अमृत की, कण—बूंदों के, आच्छुरणेन—छिड़काव से, सकल—समस्त, लोक—सांसारिक, सुखेषु—सुखों से, पराङ्मुखः—विमुख बना हुआ, (अहं—मैं), किम्—क्या, उभय—दोनों (अर्थात् परमार्थ तथा लौकिक सुख) से, च्युतः—वञ्चित, एव—ही हो, न—नहीं, भवितास्मि—हो जाऊंगा?॥

(हे ईश्वर!) कहीं ऐसा न हो कि 'कभी-कभार'-अर्थात् केवल

समावेश काल में आपके साथ ज़रा सा मिलन होने के रूपवाले अमृत के छींटों के छिड़काव से सारे लौकिक सुखों के प्रति विमुख हो जाने पर मैं अन्ततः दोनों (लौकिक एवं पारमार्थिक) प्रकार के सुखों से हाथ धो बैठूँ?॥ ९॥

*संकेत–*

श्री सद्गुरु महाराज के मतानुसार यहां पर उत्पलदेव के पहेली बुझाने का तात्पर्य यह है कि–'एक ओर समाधिकाल में आपके स्वरूप की धुंधली सी झलक पाने के माहात्म्य से मैं स्वतः ही सांसारिक शब्द, स्पर्श आदि विषयों का उपभोग करने से निवृत्त हो जावूँगा, तो दूसरी ओर आपके द्वारा भी मुझे परिपूर्ण स्वरूपसमावेश का सुख वितरित किए जाने की कोई शीघ्रता दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। स्पष्ट ही मैं दोनों प्रकार के सुखों से वंचित होने की कगार पर पहुंचा हूँ। हे प्रभु! परिस्थिति अतिविषम हो रही है, अतः इस संकटपूर्ण परिस्थिति से बचाने के लिए शीघ्रातिशीघ्र और एक ही बार मुझ पर परिपूर्ण अनुग्रह कीजिए।

**सततमेव भवच्चरणाम्बुजा-**
**करचरस्य हि हंसवरस्य मे।**
**उपरि मूलतलादपि चान्तरा-**
**दुपनमत्वज भक्तिमृणालिका॥ १०॥**

*अन्वयः–* अज सततम् एव भवत् चरण अम्बुजआकरचरस्य मे हंसवरस्य (भवत्-) भक्तिमृणालिका उपरि मूलतलात् अपि च अन्तरात् अपि उपनमतु।

अज–हे ज़न्म-रहित प्रभु!, सततम्–सदा, एव–ही, भवत्–आप के, चरण-अम्बुज–चरण-कमलों के, आकर–(पराशक्ति रूपी) सरोवर में, चरस्य–संचार करने वाले, मे–मुझ, हंसवरस्य–राजहंस को, (भवत्–आप की), भक्ति–भक्ति रूपिणी, मृणालिका–कमल की डण्डी, उपरि–ऊपर से (अर्थात् स्वरूपप्रवेश के समय), मूलतलात् अपि–नीचे से (अर्थात् स्वरूप-विश्रांति के समय), च–और, अन्तरात् अपि–मध्य में (अर्थात् स्वरूप-साक्षात्कार रूपी मध्य-काल में भी), उपनमतु–प्राप्त हो (अर्थात् मेरी आत्मा आप की भक्ति का आनन्द सदा उठाती रहे)॥

हे अजन्मा प्रभु! आपके चरणरूपी कमलों के 'उत्पत्तिस्थान'-अर्थात् पराशक्ति के रूपवाले सरोवर में हमेशा स्वच्छन्द विहार करने वाले मुझ

राजहंस को, ऊपर, नीचे और मध्य इन तीनों प्रवेश की वेलाओं पर आपकी भक्ति का 'मृणाल'-अर्थात् बिस या कमलककडी उपलब्ध होता रहे॥ १०॥

*संकेत*–

प्रस्तुत मुक्तक साधकों के लिए एक प्रकार की कूट उक्ति है।

(क) साधनाक्रम में स्वरूप समावेश की तीन भूमिकाओं को पारिभाषिक रूप में ऊर्ध्व, मूल एवं मध्य कहा जाता है। इनसे क्रमशः समावेश में प्रारम्भिक प्रवेशकाल, स्वरूपविश्रान्तिकाल और स्वरूप साक्षात्कार काल ये तीन काल अभिप्रेत हैं। प्रस्तुत मुक्तक में आचार्य ने इन तीनों कालों को क्रमशः 'उपरि, मूलतलात्, अन्तरा'-इन तीन पारिभाषिक शब्दों से अभिव्यक्त किया है।

(ख) परिभाषा में 'हंस' ऐसी आत्मा को कहा जाता है जिसने भेदभाव का परित्याग=हान, और अभेदभाव का स्वीकार=आदान किया हो अर्थात् दोनों को अपना स्वभाव ही बना डाला हो।

**उपयान्तु विभो समस्तवस्तून्यपि**
**चिन्ताविषयं दृशः पदं च।**
**मम दर्शनचिन्तनप्रकाशा-**
**मृतसाराणि परं परिस्फुरन्तु॥ ११॥**

*अन्वयः*–विभो समस्तवस्तूनि अपि मम चिन्ताविषयं च दृशः पदं उपयान्तु परं दर्शनचिन्तनप्रकाशअमृतसाराणि परिस्फुरल्तु।

विभो–हे व्यापक ईश्वर!, समस्त–(संसार की) सारी, वस्तूनि–वस्तुएँ, अपि–भी, मम–मेरी, चिन्ता–चिन्ता (अर्थात् विकल्पों) के, विषयं–विषय, च–और, दृशः–(मेरे) नेत्र (आदि इन्द्रियों) के, पदं–विषय, उपयान्तु–बन जाएं, परं–पर केवल (इतनी सी बात हो कि), दर्शन–दर्शन, –और चिन्तन के समय (वे), प्रकाश–प्रकाश, और अमृत (अर्थात् विमर्श) रूपी, साराणि–सार वाले (हो कर), परिस्फुरन्तु–खिल उठें॥

हे सर्वव्यापक परमेश्वर! जगत् के सारे पदार्थ मेरे चिंतन एवं दर्शन के विषय बनते रहें, परन्तु इतना हो कि मेरे दर्शन और चिंतन ईश्वरीय प्रकाश-विमर्श के सारवाले बनकर स्फुरित होते रहें॥ ११॥

*संकेत–*

आचार्य जी के कथन का तात्पर्य यह है कि संसार के सारे पदार्थ मुझे प्रकाश-विमर्शमय अर्थात् शिव-शक्ति यामल के रूपवाले दिखते रहें।

**परमेश्वर तेषु तेषु कृच्छ्रे-**
**ष्वपि नामोपनमत्स्वहं भवेयम्।**
**न परं गतभीस्त्वदङ्गसङ्गा-**
**दुपजाताधिकसम्मदोऽपि यावत्॥ १२॥**

*अन्वयः*—परमेश्वर अहं तेषु तेषु कृच्छ्रेषु उपनमत्सु अपि न परं गत भीः (एव) भवेयं यावत् त्वद्अङ्गसङ्गात् उपजातअधिकसम्मदः अपि भवेयम्।

परमेश्वर—हे परमेश्वर!, अहं—मैं, तेषु तेषु—उन अनेक, कृच्छ्रेषु—दुःखों के, उपनमत्सु—आने पर, अपि—भी, न परं—न केवल, गत-भीः—दूर हुए भय वाला (अर्थात् निर्भय), (एव—ही), भवेयं—बना रहूं, यावत्—बल्कि, त्वद्—आप के, अङ्ग—(चित् रूपी) शरीर के, सङ्गात्—स्पर्श से, उपजात—होने वाले, अधिक—अत्यन्त, सम्मदः—हर्ष को, अपि—भी, भवेयम्—प्राप्त करता रहूं॥

हे परमेश्वर! भिन्न भिन्न प्रकार के संकट आने के समयों पर मैं न केवल निडर ही बना रहूँ बल्कि आपके चिदानन्दमय स्वरूप का स्पर्श पाने से (अर्थात् अन्तःबहिः चित्बल का संचार हो जाने से) किसी अभूतपूर्व हर्ष का भी अनुभव करता रहूँ॥ १२॥

*संकेत–*

जिन महापुरुषों की चित्तवृत्ति संकटपूर्ण परिस्थितियों में भी अडिग बनी रहती है उनको महावीर कहा जाता है। महावीर भूमिका पर पहुंचे हुए सिद्धजनों में परिपूर्ण चित्-बल की व्यापकता स्थिर बनी रहती है।

**भवदात्मनि विश्वमुम्भितं यद्**
**भवतैवापि बहिः प्रकाश्यते तत्।**
**इति यद्दृढनिश्चयोपजुष्टं**
**तदिदानीं स्फुटमेव भासताम्॥ १३॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) यत् (इदं) विश्वं भवत्-आत्मनि उम्भितं तत् भवता एव बहिः अपि प्रकाश्यते इति यत् दृढ-निश्चयउपजुष्टं तदिदानीम् (अपि) स्फुटम् एव भासताम्।

(प्रभो–हे ईश्वर!), यत्–"जो, (इदं–यह), विश्वं–जगत, भवत्आत्मनि–आपके (तुर्यानन्दमय) स्वरूप (रूपी सूत्र) में, उम्भितं–पिरोया गया है, तत्–वह, भवता–आप के स्वरूप से, एव–ही, बहिः अपि–(भेद-प्रथा के रूप में) बाहर से भी, प्रकाश्यते–प्रकाशित किया जाता है," इति–इस प्रकार, यत्–जो (यह बात मैंने), दृढ-निश्चय–दृढ़ निश्चय से, उपजुष्टं–अपनाई है (अर्थात् समावेश में अनुभव की है), तदिदानीम् (अपि)–वह अब भी (अर्थात् व्युत्थान में भी) (मुझे), स्फुटम् एव–प्रत्यक्ष रूप में, भासताम्–दिखाई दे॥

हे प्रभु! 'आप परमात्मस्वरूप'-अर्थात् तुर्यानन्दस्वरूप में जो यह समूचा विश्व (धागे में माला की तरह) पिरोया हुआ है, वह आपके ही द्वारा बहिरंग रूप में प्रकाशित किया जाता है'-(समावेश की अवस्था में) इस प्रकार के जिस निश्चित विधान को मैंने अङ्गीकार किया है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन चलती हुई व्युत्थान की अवस्था में भी स्पष्ट रूप में हो जाए॥ १३॥

*संकेत–*

आचार्य जी का तात्पर्य यह है कि उसके परिप्रेक्ष्य में समावेशकालीन एवं व्युत्थानकालीन अनुभूतियों में कोई अन्तर न रहने पाए। अन्तः बहिः सब कुछ समरस बन जाए।

कृपां कुरु मृडानीश सर्वगोऽसि निरञ्जन।
भवसन्तापहारी त्वं शरणागतवत्सल॥

जगत् का कल्याण हो

आठवां स्तोत्र समाप्त

डों नमः शिवाय

शक्तिपातविषये विवरीतुं
कस्य नाम क्षमतास्ति, तदास्ताम्।
केवलं कुरु तथैव यथा स्यां
दासदास्य पदवीप्रतिष्ठितः।।

# भक्तिविलास नामक नवां स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'स्वातन्त्र्यविजय' भी है। यह शब्द जन्म-जन्मान्तरों से खोई हुई आत्मिक स्वतन्त्रता को फिर से उजागर बनाने के अभिप्राय को द्योतित कर रहा है।

**कदा नवरसार्द्रार्द्र-**
**सम्भोगास्वादनोत्सुकम्।**
**प्रवर्तेत विहायान्यन्**
**मम त्वत्स्पर्शने मनः।। १।।**

*अन्वयः*– (नाथ) नवरसआर्द्रआर्द्रसम्भोगआस्वादनउत्सुकं मम मनः अन्यत् (सर्वं) विहाय त्वद्स्पर्शने कदा प्रवर्तेत।

(नाथ–हे स्वामी!), नव–नित नये, रस–(भक्ति के) रस से, आर्द्र- आर्द्र– अत्यन्त कोमल (अर्थात् अत्यन्त स्पृहणीय), सम्भोग–(समावेश रूपी) सम्भोग का, आस्वादन–चमत्कार करने के लिए, उत्सुकं–लालायित बना हुआ, मम–मेरा, मनः–हृदय, अन्यत् (सर्वं)–और सब कुछ (अर्थात् कल्पनाओं का जाल आदि), विहाय–छोड़कर, त्वद्–आप का, स्पर्शने–स्पर्श करने में, कदा–भला कब, प्रवर्तेत–लग जाये? (अर्थात् कब आपके समावेश का अनुभव करेगा?)॥

(हे स्वतन्त्र परमात्मदेव!) भला वह समय कब आएगा जब कि नित नये ही नये (आस्वाद वाले) भक्ति रस से सने हुए (तर-ब-तर) समावेशमय मिलन का आस्वाद लेने की तीव्र लालसा से भरा हुआ यह मेरा मन, अन्य सारी अभिलाषाओं को एकदम तिलाञ्जलि देकर, केवल आपको स्पर्श करने की दिशा में अग्रसर बन जाए?॥ १॥

*संकेत–*

प्रस्तुत मुक्तक में प्रयुक्त 'त्वत्स्पर्शने'-शब्द से समावेश की अवस्था में परमेश्वर का स्पर्श प्राप्त करने का भाव अभिव्यक्त हो रहा है।

**त्वदेकरक्तस्त्वत्पाद-**
**पूजामात्रमहाधनः।**
**कदा साक्षात्करिष्यामि**
**भवन्तमयमुत्सुकः॥ २॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) त्वद् एक रक्तः त्वद्पादपूजामात्रमहाधनः उत्सुकः अयम् (अहं) भवन्तं कदा साक्षात् करिष्यामि।

(प्रभो–हे ईश्वर!), **त्वद्-एक-रक्तः**–केवल आप में ही अनुरक्त बना हुआ, **त्वद्**–(तथा) आप के, **पाद**–चरणों की, **पूजा**–पूजा ही, **मात्र**–केवल, **महाधनः**–जिसकी बड़ी धन-सम्पत्ति है, ऐसा, **उत्सुकः**–(और इसीलिये आप को पाने के लिए) लालायित बना हुआ), **अयम् (अहं)**–मैं, **भवन्तं**–आप (के चिदानन्द स्वरूप) का, **कदा**–भला कब, **साक्षात्**–प्रत्यक्ष दर्शन, **करिष्यामि**–करूंगा?॥

(हे प्रभु!) न जाने वह समय कब आएगा जब केवल आप के प्रति अनुरक्त, और केवल आपके चरणों की पूजा करने की महती संपदा को लेकर मैं आप (चिदानन्दघन आराध्यदेव) का बड़ी उत्सुकता से साक्षात्कार कर पाऊँ?॥ २॥

**गाढानुरागवशतो**
**निरपेक्षीभूतमानसोऽस्मि कदा।**
**पटपटिति विघटिताखिल-**
**महार्गलस्त्वामुपैष्यामि॥ ३॥**

*अन्वयः*– (परमात्मन्) गाढअनुरागवशतः (अहं) निरपेक्षीभूतमानसः अस्मि (एव) पटपट् इतिविघटितअखिलमहा अर्गलः (सन्) कदा त्वाम् उपैष्यामि।

(परमात्मन्–हे परमेश्वर!), **गाढ**–अत्यन्त, **अनुराग**–अनुराग के, **वशतः**–कारण, (अहं–तो मैं), **निरपेक्षीभूत**–आकांक्षा-रहित, **मानसः**–हृदय वाला, **अस्मि (एव)**–हूँ ही, **पटपट्-इति**–(अब) पट पट शब्द करके, **विघटित**–तोड़ी

हुई, अखिल–समस्त, महा-अर्गलः–(अविद्या आदि रूपिणी) बड़ी अर्गलाओं वाला (अर्थात् तोड़े हुए समस्त बन्धनों वाला), (सन्–होकर), कदा–कब, त्वाम्–आप के पास, उपैष्यामि–पहुंच जाऊंगा॥

(हे परमात्मदेव!) आपके गहरे अनुराग की विह्वलता से यह मेरा मन पूरी तरह आकांक्षाओं से रहित तो बन गया है, अब वह वेला कब आएगी जब मैं तडाक् तडाक् करके बड़े बड़े 'अरगलों'-अर्थात् तीन मलों, अख्याति, माया इत्यादि की मज़बूत सांकलों को तोड़कर आपके पास पहुंच पाऊँ?॥ ३॥

उपैष्यामि–अर्थात् आपके स्वरूप की एकता प्राप्त करूंगा।

**स्वसंवित्सारहृदया-**
**धिष्ठानाः सर्वदेवताः।**
**कदा नाथ वशीकुर्यां**
**भवद्भक्तिप्रभावतः॥ ४॥**

*अन्वयः*–नाथ भवत्भक्तिप्रभावतः (अहं) स्व संवित्सारहृदय अधिष्ठानाः सर्व देवताः कदा वशीकुर्याम्।

नाथ–हे स्वामी!, भवत्–आप की, भक्ति–(समावेश रूपिणी) भक्ति के, प्रभावतः–प्रभाव से, (अहं–मैं), स्व-संवित्–(प्रकाश और विमर्श-रूप) स्वात्म-संवित्ति के, सार–सार, हृदय–(चित्प्रकाश रूपी) हृदय में, अधिष्ठानाः–ठहरने वाली, सर्व-देवताः–सभी इन्द्रिय-देवियों को, कदा–भला कब, वशीकुर्याम्–वश में करूं (अर्थात् इन को अपने अधीन बना सकूं)?॥

हे नाथ! वह समय कब आएगा जब मैं आपकी भक्ति करने की महिमा से प्रकाश-विमर्शमयी स्वरूपसंवित् का निचोड़ बने हुए हृदयधाम में टिकी रहने वाली सभी करणशक्तियों को अपने वश में कर पाऊँ?॥ ४॥

*संकेत*–

प्रस्तुत मुक्तक में स्तोत्रकार अपने आराध्यदेव से यह प्रार्थना कर रहे हैं कि–'हे प्रभु! मैं कब अपनी करणशक्तियों पर पूरा अधिकार प्राप्त करके चक्रेश्वर की पदवी पर संरूढ बन पाऊँ?'

**कदा मे स्याद्विभो भूरि**
**भक्त्यानन्दरसोत्सवः।**
**यदालोकसुखानन्दी**
**पृथङ्नामापि [1]लप्स्यते।। ५।।**

*अन्वयः*—विभो भक्तिआनन्द रसउत्सवः कदा मे भूरि स्यात् यदा पृथक्नामा अपि (अयं) (भाववर्गः) आलोकसुख आनन्दी लप्स्यते।

विभो—हे व्यापक ईश्वर!, भक्ति—(आप की) भक्ति रूपी, आनन्द-रस—आनन्द-रस का (वह), उत्सवः—उत्सव, कदा—भला कब, मे—मुझे, भूरि—प्रभूत-मात्रा में, स्यात्—प्राप्त होगा, यदा—जब (अर्थात् जिस अवस्था में), पृथक्—भिन्न भिन्न, नामा—नामों वाला (होते हुए), अपि—भी, (अयं—यह), (भाववर्गः—भाव-वर्ग), आलोक—चित्-प्रकाश के, सुख आनन्दी—आनन्द-रस से प्रपूरित बना हुआ, लप्स्यते—कहलायेगा?॥

हे प्रभु! मेरे लिए कब वह आपकी भक्ति के आनन्दरस को छकने का बड़ी धूमधाम वाला त्यौहार आएगा जब कि अलग अलग नाम-रूप वाले सारे (सांसारिक) भाव भी चतुर्दिक् चित्प्रकाश की आनन्दमयता में ही तल्लीन हो जाएँ?॥ ५॥

**ईश्वरमभयमुदारं**
**पूर्णमकारणमपह्नुतात्मानम्।**
**सहसाभिज्ञाय कदा**
**स्वामिजनं लज्जयिष्यामि।। ६।।**

*अन्वयः*—(प्रभो) ईश्वरम् अभयम् उदारं पूर्णम् अकारणम् (तथा) अपह्नुत आत्मानं स्वामिजनं सहसा अभिज्ञाय (अहं) कदा लज्जयिष्यामि।

(प्रभो—हे प्रभु!), ईश्वरम्—सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न, अभयम्—अभय-स्वरूप, उदारं—उदार-चित्त, पूर्णम्—पूर्ण अर्थात् आकांक्षारहित, अकारणम्— कारण-रहित अर्थात् नित्य-स्वरूप, (तथा—और), अपह्नुत-आत्मानं—(अपनी स्वातंत्र्यशक्ति से) छिपाये हुए स्वरूप वाले, स्वामिजनं—(आप) स्वामी को,

१. घ० पु० लप्स्यसे—इति पाठः।

सहसा—(शांभव-आवेश से) एकबारगी, अभिज्ञाय—पहचान कर (अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन करके), (अहं—मैं), कदा—भला कब, लज्जयिष्यामि—लज्जित करूंगा? (अर्थात् आप को भक्त-जनों में प्रकट करूंगा)?॥

(हे परमेश्वर!) न जाने कब मैं सारी विभूतियों से परिपूर्ण, अभयवर देनेवाले, लोकोत्तर आशय वाले, नित्यतृप्त, कारण से रहित-(अर्थात् स्वयंसिद्ध), और स्वरूप को छिपाते रहने के स्वभाव वाले अपने स्वामी को, एकदम (अतर्कित रूप में) पहचान कर, लज्जित कर दूँगा?॥ ६॥

*संकेत*—

प्रस्तुत मुक्तक में स्तोत्रकार के कथन का अभिप्राय यह है कि स्वरूपगोपन तो परमेश्वर का अकाट्य स्वभाव है अतः उनके वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन कार्य है। क्या कभी वैसा समय आएगा जब मैं शांभव-समावेश के द्वारा सहसा उनके वास्तविक स्वरूप की पहचान पाकर उनको लज्जित कर दूँगा अर्थात् उनके स्वरूप गोपनात्मक स्वभाव का अपवाद बनकर भक्तमंडली में उनके स्वरूपरहस्य को अनावृत कर सकूँगा?

**कदा कामपि तां नाथ**
**तव वल्लभतामियाम्।**
**यया मां प्रति न क्वापि**
**युक्तं ते स्यात्पलायितुम्॥ ७॥**

*अन्वयः*— नाथ तव तां कामपि वल्लभताम् (अहं) कदा इयाम् यया मां प्रति ते पलायितुं क्वापि युक्तं न स्यात्।

नाथ—हे स्वामी!, तव—आप की, तां—उस, कामपि—अलौकिक, वल्लभताम्—प्रेमपात्रता अर्थात् कृपापात्रता को, (अहं—मैं), कदा—भला कब, इयाम्—प्राप्त करूं (अर्थात् मैं कब आप की कृपा का पात्र बनूं), यया—जिस (कृपा के प्रभाव) से, मां प्रति—मेरे विषय में (अर्थात् मेरे सामने से), ते—आप का, पलायितुं—भागना (अर्थात् अपने स्वरूप को छुपाना), क्वापि—किसी दशा में भी, युक्तं—ठीक, न स्यात्—नहीं होगा?॥

हे स्वामी! न जाने कब मैं किसी 'उस्'-अर्थात् लोकभूमिका से अतिक्रान्त 'वल्लभता'-अर्थात् असाधारण प्रेमपात्रता की स्थिति को प्राप्त करूँ, जिसके प्रभाव से आपके लिए, किसी भी परिस्थिति में, मुझसे दूर

भागना ठीक नहीं होगा॥ ७॥

**तत्त्वतोऽशेषजन्तूनां**
**भवत्पूजामयात्मनाम्।**
**दृष्ट्यानुमोदितरसा-**
**प्लावितः स्यां कदा विभो॥ ८॥**

*अन्वयः*—विभो (अहं) कदा अशेषजन्तूनां तत्त्वतः भवत्पूजामय आत्मनां (दृष्ट्वा) दृष्ट्या अनुमोदित रस आप्लावितः स्याम्।

विभो—हे व्यापक प्रभु!, (अहं—मैं), कदा—भला कब, अशेष—सभी, जन्तूनां—प्राणियों को, तत्त्वतः—यथार्थ रूप में, भवत्—आप की, पूजा—पूजा करने में, मय—लगे हुए, आत्मनां—स्वरूप वाले, (दृष्ट्वा—देखकर), दृष्ट्या—(इस पारमार्थिक) दृष्टि का आश्रय लेकर, अनुमोदित रस—आनन्द-रस से, आप्लावितः—आप्लावित अर्थात् व्याप्त, स्याम्—हो जाऊं?॥

(हे आनन्द के सागर!) पारमार्थिक दृष्टि में संसार के सारे जीवधारी हरेक क्रिया करते समय आत्मभाव पर ही टिके रहने के कारण, वास्तव में, आपकी ही अर्चना करने में जुटे रहते हैं, वह समय कब आएगा जब मैं भी उन्हीं की पारमार्थिक दृष्टि से अनुमोदन किए जाने वाले आनन्दरस से भिगोया जावूँ?॥ ८॥

**ज्ञानस्य परमा भूमि-**
**र्योगस्य परमा दशा।**
**त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि**
**पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता॥ ९॥**

*अन्वयः*—विभो या त्वद्-भक्तिः ज्ञानस्य परमा भूमिः (तथा) योगस्य परमा दशा (मता) तदर्थिता मे कर्हि पूर्णा स्यात्।

विभो—हे व्यापक स्वामी!, या—जो, त्वद्-भक्तिः—(स्वरूप-समावेश रूपिणी), आप की भक्ति, ज्ञानस्य—ज्ञान की, परमा—सर्वोत्कृष्ट, भूमिः—अवस्था, (तथा—और), योगस्य—योग की, परमा दशा (मता)—पराकाष्ठा (मानी गई) है, तदर्थिता मे—उस के लिए मेरी प्रार्थना, कर्हि—कब, पूर्णा—पूर्ण अर्थात्

कृतार्थ, स्यात्—होगी? (अर्थात् मुझे वह भक्ति कब प्राप्त होगी?)॥

हे स्वामी! केवल आपकी सच्ची भक्ति ही ज्ञान की सब से उत्कृष्ट भूमिका, और योगसाधना की आगे बढ़ी हुई पराकाष्ठा है, उसी भक्ति की अवस्था को प्राप्त करने के लिए मेरी याच्ञा न जाने कब स्वीकृत हो जाएगी?॥

**सहसैवासाद्य कदा**
**गाढमवष्टभ्य हर्षविवशोऽहम्।**
**त्वच्चरणवरनिधानं**
**सर्वस्य[1] प्रकटयिष्यामि॥ १०॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) त्वत्चरण वरनिधानं सहसा एव आसाद्य (एवं) गाढम् अवष्टभ्य (तथा फलतः) हर्ष विवशः (सन्) अहं कदा (तत् निधानं) सर्वस्य प्रकटयिष्यामि।

(प्रभो—हे ईश्वर!), त्वत्—आप के, चरण-वर—(परा शक्ति रूपी) उत्कृष्ट चरणों के, निधानं—कोष को, सहसा एव—एकबारगी ही (अर्थात् आप की अनुग्राहिका शक्ति से ही), आसाद्य—प्राप्त कर के, (एवं—और), गाढम्— भली भांति, अवष्टभ्य—अपना कर (अर्थात् उसे सुरक्षित रखकर), (तथा फलतः—तथा फलस्वरूप), हर्ष विवशः—परमानन्द-पूर्ण, (सन्—होकर), अहं—मैं, कदा—भला कब, (तत् निधानं—उस कोष को), सर्वस्य—सभी भक्तों के सामने, प्रकटयिष्यामि—प्रकट करूंगा?॥

(हे प्रभु!) मैं कब आपके 'पावन चरणों'-अर्थात् पराशक्ति के रूपवाले खज़ाने को सहसा प्राप्त करने से (अन्तः-बहिः) आनन्दविभोर होकर, और उस निधि को (सदा के लिए) सुरक्षित बनाकर, सारी भक्तमंडली के सामने प्रकट कर पाऊँ?॥ १०॥

**परितः प्रसरच्छुद्ध-**
**त्वदालोकमयः कदा।**
**स्यां यथेश न किञ्चिन्मे**
**मायाच्छायाबिलं भवेत्॥ ११॥**

१. ख० पु० सर्वत्रेति पाठः।

*अन्वयः*— ईश (अहं) परितः प्रसरत्शुद्धत्वद्आलोकमयः कदा स्याम् यथा मे किंचित् मायाछायाआबिलं न भवेत्।

ईश—हे स्वतन्त्र स्वामी!, (अहं—मैं), परितः—चारों ओर, प्रसरत्—व्याप्त हुए, शुद्ध—(और) अत्यन्त निर्मल, त्वद्—आप के, आलोक—चित्-प्रकाश से, मयः—सम्पन्न, कदा—कब, स्याम्—बनूं, यथा—जिसके फलस्वरूप, मे—मेरा, किंचित्—कुछ भी, माया—भेद-प्रथा रूपी, छाया—अन्धकार से, आबिलं—मलिन, न—न, भवेत्—होने पाये?॥

(हे प्रकाशस्वरूप!) न जाने कब मैं चारों ओर फैले हुए आपके निर्मल चित्-प्रकाश के ही रूपवाला बन पावूँगा, जिसके फलस्वरूप मेरे लिए कोई भी पदार्थ माया की छाया से धुंधला न बना रहे?॥ ११॥

**आत्मसात्कृतनिःशेष-**
**मण्डलो निर्व्यपेक्षकः।**
**कदा भवेयं भगवं-**
**स्त्वद्भक्तगणनायकः॥ १२॥**

*अन्वयः*—भगवन् आत्म सात्कृतनिःशेषमण्डलः निर्व्यपेक्षकः (सन्) (अहं) कदा त्वद्भक्त गणनायकः भवेयम्।

भगवन्—हे भगवान्!, आत्मसात्कृत—चित्-स्वरूप के साथ अभिन्न बनाये हुए, निःशेष—(सदाशिव से पृथ्वी तक के) सभी, मण्डलः—भुवनों वाला, निर्व्यपेक्षकः—(और इसी लिए) आकांक्षा-शून्य, (सन्—होकर), (अहं—मैं), कदा—भला कब, त्वद्—आप के, भक्त-गण—भक्त-जनों का, नायकः— प्रधान नियन्ता, भवेयम्—बन जाऊं?॥

हे भगवान्! 'आत्मभाव'- चित्-प्रकाश के साथ समरस बनाए हुए भुवनों वाला, और पूरी तरह आकांक्षाओं से रहित बना हुआ मैं कब आपके भक्तगणों (अर्थात् शिवगणों) का अग्रणी बन जाऊँ?॥ १२॥

**नाथ लोकाभिमानाना-**
**मपूर्वं त्वं निबन्धनम्।**
**महाभिमानः कर्हि स्यां**
**त्वद्भक्तिरसपूरितः॥ १३॥**

*अन्वयः*—नाथ लोकअभिमानानाम् अपूर्वं निबन्धनं त्वम् (एव) (असि) (परम्) (अहं) त्वद्भक्तिरसपूरितः (एवं) महाभिमानः कर्हि स्याम्।

नाथ—हे स्वामी!, लोक—लोक अर्थात् रुद्र तथा क्षेत्रज्ञ-प्रमाताओं के, अभिमानानाम्—अभिमान के, अपूर्वं—विशेष, निबन्धनं—कारण (तो), त्वम्—आप, (एव—ही), (असि—हैं), (परम्—पर), (अहं—मैं), त्वद्—आप की, भक्ति—भक्ति के, रस—रस से, पूरितः—परिपूर्ण, (एवं—तथा), महाभिमानः—(पूर्णाहन्ता रूपी) महान् अभिमान से युक्त, कर्हि—भला कब, स्याम्—बन जाऊं?॥

हे नाथ! संसारभर के (रुद्र एवं क्षेत्रज्ञ) प्रमाताओं में पाए जाने वाले (उनके अपने अपने अनुरूप) प्रमातृ-अभिमानों के आप ही स्वतन्त्र कारण हैं, न जाने कब मैं भी आपकी भक्ति के रस का भरपूर पान करने से 'महाभिमान'-अर्थात् मैं ही विश्वात्मा चिदानन्दघन शिव हूँ'-इस प्रकार के परिपूर्ण अहंभाव से भरित (सर्वोत्कृष्ट कोटि का) प्रमाता बन पाऊँ?॥ १३॥

*संकेत*—

इस मुक्तक पर श्रीसद्गुरु महाराज की लिखी हुई पादटिप्पणी इस प्रकार है—ब्रह्मा आदि पांच मुख्य कारणों को रुद्रप्रमाता कहते हैं, और सांसारिक समृद्धिशाली व्यक्तियों को क्षेत्रज्ञ प्रमाता कहते हैं।

**अशेषविषयाशून्य-**
**श्रीसमाश्लेषसुस्थितः।**
**[1]शयीयमिव शीताङ्घ्रि-**
**कुशेशययुगे कदा॥ १४॥**

*अन्वय*—(भगवन्) अशेषविषयअशून्यश्रीसमाश्लेषसुस्थितः (सन्) (अहं) शीत अङ्घ्रिकुशेशययुगे कदा शयीयम् इव।

(भगवन्—हे ईश्वर!), अशेष—सभी, विषय—(रूप आदि) विषयों से, अशून्य—पूर्ण, श्री—भक्ति-लक्ष्मी के, समाश्लेष—आलिंगन से, सुस्थितः—सुखी, (सन्—होकर), (अहं—मैं), शीत—(आप के) शीतल (अर्थात् संसार का

१. ख० पु० शयीय शिवशीताङ्घ्रिकुशेशययुगे—इति पाठः।

संताप हरने वाले), अङ्घ्रि—चरण रूपी, कुशेशय—कमलों के, युगे—जोड़े में, कदा—भला कब, शयीयम् इव—सो जाऊँ अर्थात् विश्राम करूं?॥

(हे प्रभु!) सारे (रूप, रस आदि) विषयों से भरपूर आपकी भक्ति-रूपिणी लक्ष्मी को अपनाने से सुखी बना हुआ मैं, न जाने कब आपके शान्तिदायक चरणकमलों की जोड़ी पर मानो सो जाऊँ अर्थात् नतमस्तक हो जाऊँ?॥ १४॥

**भक्त्यासवसमृद्धाया-**
**स्त्वत्पूजाभोगसम्पदः।**
**कदा पारं गमिष्यामि**
**भविष्यामि कदा कृती॥ १५॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) (अहं) भक्ति आसव समृद्धायाः त्वत् पूजा-भोग संपदः पारं कदा गमिष्यामि (अत एव) कदा कृती भविष्यामि।

(प्रभो—हे प्रभु!), (अहं—मैं), भक्ति—भक्ति रूपिणी, आसव—मदिरा से, समृद्धायाः—बढ़ी हुई, त्वत्—आप की, पूजा—पूजा के, भोग—उपयोग रूपी, संपदः—संपत्ति की, पारं—चरम सीमा को, कदा—कब, गमिष्यामि—प्राप्त करूंगा, (अत एव—और इस प्रकार), कदा—कब, कृती—कृतार्थ (अर्थात् सफल-मनोरथ), भविष्यामि—हो जाऊंगा!॥

(हे प्रभु!) न जाने कब मैं आपकी भक्तिरूपी मदिरा की मस्ती से परिपूर्ण अर्चना का उपभोग करने के रूपवाली विभूति के शिखर पर पहुंच पावूँ और सफल हुई मनोकामना वाला बन पाऊँ?॥ १५॥

**आनन्दबाष्पपूर-**
**स्खलितपरिभ्रान्तगद्गदाक्रन्दः।**
**[१]हासोल्लासितवदन-**
**स्त्वत्स्पर्शरसं कदाप्स्यामि॥ १६॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) आनन्दबाष्पपूरस्खलितपरिभ्रान्तगद्गद आक्रन्दः (एवं) हास-

१. ख० पु० हासोल्लसितवदनः—इति पाठः।

उल्लासितवदनः (अहं) त्वत्‌स्पर्शरसं कदा आप्स्यामि।

(प्रभो–हे स्वामी!), आनन्द–आनन्द के, बाष्प–आंसुओं की, पूर–धारा से, स्खलित–रुकी हुई, परिभ्रान्त–परिभ्रान्त (अर्थात् विस्मयान्वित), गद्गद–और अस्पष्ट, आक्रन्दः–पुकार वाला, (एवं–तथा), हास–(परमानन्द रूपी) अट्टहास से, उल्लासित–खिले हुए, वदनः–मुख वाला (होकर), (अहं–मैं), त्वत्–आप के, स्पर्श-रसं–स्पर्श-अमृत के रस को, कदा–भला कब, आप्स्यामि–(समाधि तथा व्युत्थान दोंनों अवस्थाओं में) प्राप्त करूंगा!॥

(हे महादेव!) न जाने मैं कब (समावेशमय) हर्ष की उछाल से बहती हुई अश्रुधारा से हकलाए हुए, अस्त-व्यस्त और गद्‌गद स्वर में बिलखता हुआ, और ठठाकर हंसने से खिले हुए मुखवाला बनकर, आपका स्पर्श करने के (लोकोत्तर) आह्लाद को प्राप्त करूँ?॥ १६॥

**पशुजनसमानवृत्ता-**
**मवधूय दशामिमां कदा शम्भो।**
**आस्वादयेय तावक-**
**भक्तोचितमात्मनो रूपम्॥ १७॥**

*अन्वयः*–शम्भो पशु जनसमानवृत्ताम् इमां दशाम् अवधूय (अहं) तावकभक्त-उचितम् आत्मनः रूपं कदा आस्वादयेय।

शम्भो–हे महादेव!, पशु-जन–तुच्छ लोगों के, समान–समान, वृत्ताम्–व्यवहार वाली, इमां–इस, दशाम्–(अज्ञान की) दशा को, अवधूय–झाड़ कर, (अहं–मैं), तावक–आप के, भक्त–भक्त-जनों के, उचितम्–योग्य, आत्मनः–अपने, रूपं–स्वरूप (अर्थात् चिद्रूप स्वात्मस्थिति) का, कदा–कब, आस्वादयेय–चमत्कार करूं?॥

हे शंकर! न जाने कब मैं, इस पशुजनों के समान आचरण करने वाली, और निन्दनीय अवस्था का बहिष्कार करके, आपके भक्तजनों को सजने वाले आत्माराम रूप में (सदा के लिए) रममाण रहूँ?॥ १७॥

**लब्धाणिमादिसिद्धि-**
**र्विगलितसकलोपतापसन्त्रासः।**

**त्वद्भक्ति[1]रसायनपान-**
**क्रीडानिष्ठः कदासीय॥ १८॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) लब्धअणिमाआदिसिद्धिः (अत एव) विगलितसकलउपताप-सन्त्रासः (सन्) कदा त्वद्भक्तिरसायनपानक्रीडानिष्ठः आसीय।

(**प्रभो**—हे प्रभु!), **लब्ध**—प्राप्त की हैं, **अणिमा**—(अभेदमयी) अणिमा, **आदि**—आदि, **सिद्धिः**—(अष्ट-) सिद्धियां जिसने, ऐसा, (**अत एव**—और इसलिए),) **विगलित**—नष्ट हो गए हैं, **सकल**—सभी, **उपताप**—दुःख, **सन्त्रासः**—भय जिसके, ऐसा, (**सन्**—होकर), **कदा**—कब, **त्वद्**—आप की, **भक्ति**—भक्ति रूपी, **रसायन**—रसायन (अर्थात् अमृत) का, **पान**—पान करने की, **क्रीडा**—क्रीडा में, **निष्ठः**—लीन, **आसीय**—बना रहूं!॥

(हे पार्वतीनाथ!) न जाने कब मैं, अणिमा आदि सिद्धियों का वरदान पाकर, और सारे कष्टों एवं भयों को नष्ट करके, आपकी भक्ति के रूपवाले रसायन (स्वास्थ्यवर्धक औषधी) का पान करते रहने के खिलवाड़ में मस्त हो जाऊँ?॥ १८॥

**नाथ कदा स तथाविध**
**आक्रन्दो मे[2] समुच्चरेद् वाचि।**
**यत्समनन्तरमेव**
**स्फुरति पुरस्तावकी मूर्तिः॥ १९॥**

*अन्वयः*—नाथ सः तथाविधः आक्रन्दः मे वाचि कदा समुच्चरेत् यत्समनन्तरम् एव तावकी मूर्तिः (मे) पुरः स्फुरति।

**नाथ**—हे स्वामी!, **सः**—वह, **तथाविधः**—उस प्रकार की (अर्थात् अलौकिक), **आक्रन्दः**—पुकार, **मे वाचि**—मेरी वाणी में से, **कदा**—भला कब, **समुच्चरेत्**—निकलेगी, **यत्**—जिसके, **समनन्तरम् एव**—साथ ही, **तावकी**—आप का, **मूर्तिः**—(परमानन्द-पूर्ण) स्वरूप, (**मे**—मेरे), **पुरः**—सामने (अर्थात् समावेश में), **स्फुरति**—चमक उठे!॥

१. ख०, ग० पु० रसनिपानक्रीडेति पाठः।
२. घ० पु०, च० पु० ममेति पाठः।

हे स्वामी! न जाने मेरी वाणी से, 'वह'-अर्थात् लोकोत्तर, और 'वैसी'-अर्थात् परारूपिणी मनुहार कब उच्छलित होगी, जिसके उपरांत तत्काल ही, आपकी भव्यमूर्ति 'मेरे सामने'-अर्थात् समावेशमय प्रत्यक्ष साक्षात्कार में, स्फुरायमाण होने लगे॥ १९॥

**गाढगाढभवदङ्घ्रिसरोजा-**
**लिङ्गनव्यसनतत्परचेताः।**
**वस्त्ववस्त्विदमयत्नत एव**
**त्वां कदा समवलोकयितास्मि॥ २०॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) गाढ-गाढभवत्‌अंघ्रिसरोजआलिंगनव्यसनतत्परचेताः (अहं) इदं वस्तु अवस्तु च त्वाम् अयत्नतः एव कदा सम् अवलोकयितास्मि।

(प्रभो—हे स्वामी!), गाढ-गाढ—अत्यन्त दृढ़ता से, भवत्—आप के, अंघ्रि—(ज्ञान और क्रिया रूपी) चरण-, सरोज—कमलों के, आलिंगन—आलिंगन के, व्यसन—व्यसन में, तत्पर—लगे हुए, चेताः—हृदय वाला, (अहं—मैं), इदं वस्तु अवस्तु च—सत् तथा असत् पदार्थों से युक्त (अर्थात् भाव-अभाव-मय) इस (विश्व) को, त्वाम्—आप के स्वरूप में, अयत्नतः एव—बिना प्रयास के ही (अर्थात् बिना ध्यान, जप आदि के ही), कदा—भला कब, सम्—भली भांति, अवलोकयितास्मि—देखूंगा॥

(हे अक्षमालाधारी!) आपके चरणकमलों के साथ प्रगाढ आलिङ्गन करने की लालसा से भरे हुए चित्तवाला मैं कब इस भावरूप और अभावरूप पदार्थों से भरे हुए विश्व को, किसी भी आयास के बिना, आपके रूप में देख पाऊँ?॥ २०॥

सारे जगत का कल्याण हो

पराभट्टारिकादेवी सदा दुर्गतिहारिणी।
अज्ञाता मातृका स्वैरं विहरेद्धृदये सदा॥

 नवां स्तोत्र समाप्त 

उों नमः शिवाय

आदिदेवी जगन्माता पार्वती सर्वमङ्गला।
विघ्नौघं जगतां हर्तुं भवतात्सततोद्यता।।

# भक्तिविलास नामक दसवां स्तोत्र

इस स्तोत्र का दूसरा नाम 'अविच्छेदभङ्ग' भी है। 'अविच्छेद'-अर्थात् पराद्वैतवाद के विरोध में उठाई जाने वाली शंकाओं का स्तोत्ररूप में ही शमन किया जाना शायद इस अविच्छेदभङ्ग शब्द का अभिप्राय रहा होगा।

**न सोढव्यमवश्यं ते जगदेकप्रभोरिदम्।**
**माहेश्वराश्च [1]लोकानामितरेषां समाश्च यत्।। १।।**

*अन्वयः*—(प्रभो) जगत्एकप्रभोः ते अवश्यम् इदं न सोढव्यं यत् (वयं) माहेश्वराः च इतरेषां लोकानां समाः च (स्याम)।

(प्रभो—हे प्रभु!), जगत्—जगत् के, एक—अद्वितीय, प्रभोः—स्वामी, ते—आप को, अवश्यम्—निःसन्देह, इदं—यह, न—नहीं, सोढव्यं—सहन करना चाहिए, यत्—कि, (वयं—हम), माहेश्वराः—(आप) महेश्वर के भक्त, च—भी हों (और), इतरेषां—अन्य, लोकानां—(अज्ञानी) लोगों के, समाः च—समान भी (अर्थात् अज्ञानी ही), (स्याम—बने रहें)।।

(हे भगवान् शंकर!) सारे जगत् के एक ही स्वामी आपके द्वारा अवश्य यह परिस्थिति सहन नहीं की जानी चाहिए कि आपके सच्चे भक्त एक ओर 'माहेश्वर'-अर्थात् आप जैसे महान् ईश्वर के दास भी बने रहें, परन्तु दूसरी ओर 'दूसरे'-अर्थात् अज्ञानी पशुजनों के समान ही बने रहें। (कहने का तात्पर्य यह कि व्युत्थान की वेला में सर्वसाधारण पशुजनों का जैसा ही व्यवहार करते रहें)।।१।।

**ये सदैवानुरागेण भवत्पादानुगामिनः।**
**यत्र तत्र गता भोगांस्ते कांश्चिदुपभुञ्जते।। २।।**

---

१. ख० पु० जगतामिति पाठः।

*अन्वयः*–(भगवन्) ये (जनाः) (भवत्-) अनुरागेण सदैव भवत्पादअनुगामिनः (भवन्ति) ते यत्र तत्र गताः कांश्चित् भोगान् उपभुञ्जते।

(भगवन्–हे भगवान्!), ये–जो, (जनाः–लोग), (भवत्–आप की), अनुरागेण–भक्ति से, सदैव–सदा ही, भवत्–आप के, पाद–(प्रकाश- विमर्श रूपी) चरणों के, अनुगामिनः–अनुयायी, (भवन्ति–बने रहते हैं), ते–वे, चाहे, यत्र तत्र–जिस किसी अवस्था में भी, गताः–हों, कांश्चित्–अलौकिक, भोगान्–(परमानन्द रूपी) भोगों का ही, उपभुञ्जते–चमत्कार करते हैं॥

(हे प्रभु!) जो भक्तजन अत्यन्त प्रेमपूर्वक भक्ति करते हुए प्रतिपल आपके चरणकमलों की सेवा करने में जुटे रहते हैं वे चाहे जिस किसी भी परिस्थिति में हों या जिस किसी भी जगह पर हों आत्मिक आनन्दमयता में ही तल्लीन रहते हैं॥ २॥

**भर्ता कालान्तको यत्र भवांस्तत्र कुतो रुजः।**
**तत्र चेतरभोगाशा का लक्ष्मीर्यत्र तावकी॥ ३॥**

*अन्वयः*–(स्वामिन्) यत्र कालअन्तकः भवान् भर्ता (स्यात्) तत्र रुजः कुतः च यत्र तावकी लक्ष्मीः (स्यात्) तत्र इतर भोगआशा का।

(स्वामिन्–हे प्रभु!), यत्र–जहां, काल–महाकाल के, अन्तकः–नाशक, भवान्–आप, भर्ता–रक्षा करने वाले, (स्यात्–हों), तत्र–वहां, रुजः–रोग (या दुःख), कुतः–कहां?, च–और, यत्र–जहां, तावकी–आप की, लक्ष्मीः–(भक्ति रूपिणी) लक्ष्मी, (स्यात्–हो), तत्र–वहां, इतर भोग–अन्य (सांसारिक विषयरूपी) भोगों की, आशा–अभिलाषा, का–कहां?॥

(हे अमरेश्वर!) जहां आप जैसे कालभय को मिटाने वाले एवं रक्षा करने वाले स्वामी की छत्रच्छाया हो वहां रोग कहां से फटकने पाते हैं? जहां आपकी (भुक्तिरूपिणी एवं मुक्तिरूपिणी) लक्ष्मी उपलब्ध हो वहां दूसरे (अवरकोटि के सांसारिक) उपभोगों की लालसा रखने का औचित्य ही क्या है?॥ ३॥

**क्षणमात्रसुखेनापि विभुर्येऽनासि लभ्यसे।**[1]
**तदैव सर्वः कालोऽस्य त्वदानन्देन पूर्यते॥ ४॥**

१. ख० पु० येनापि लभ्यसे–इति पाठः।

*अन्वयः*—(नाथ) येन क्षण मात्र सुखेन असि विभुः लभ्यसे तदा एव अस्य सर्वः कालः त्वद् आनन्देन पूर्यते।

(नाथ—हे स्वामी!), येन—जिस (भक्त) ने, क्षण-मात्र—(समाधि काल के), सुखेन—सुख से (भी), असि—आप, विभुः—व्यापक प्रभु को, लभ्यसे—प्राप्त किया हो, तदा एव—उसी वक्त से, अस्य—उस का, सर्वः कालः— (व्युत्थान-दशा-संबन्धी), सारा समय त्वद्—आप (चिद्रूप) के, आनन्देन—आनन्द-रस से, पूर्यते—भरा रहता है॥

(हे प्रभु!) जिस भक्तवर को (समाधि की अवस्था में), पलभर के लिए ही सही, आप सर्वव्यापक परमेश्वर का आह्लाददायक साक्षात्कार प्राप्त हुआ हो, उसके लिए हरेक काल (व्युत्थान काल भी) आपकी चिदानन्दमयता से सराबोर हो जाता है॥ ४॥

**आनन्दरसबिन्दुस्ते चन्द्रमा गलितो भुवि।**
**सूर्यस्तथा ते प्रसृतः संहारी तेजसः कणः॥ ५॥**
**बलिं यामस्तृतीयाय नेत्रायास्मै तव [1]प्रभो।**
**अलौकिकस्य कस्यापि माहात्म्यस्यैकलक्ष्मणे॥ ६॥**

*(युगलकम्)*

*अन्वयः*—विभो (अयं) चन्द्रमाः ते आनन्दरसबिन्दुः भुवि गलितः तथा (अयं) सूर्यः ते तेजसः (एकः) संहारी कणः प्रसृतः (वयं तु) कस्यापि अलौकिकस्य माहात्म्यस्य एक लक्ष्मणे तव अस्मै तृतीयाय नेत्राय बलिं यामः।

विभो—हे व्यापक स्वामी!, (अयं—यह), चन्द्रमा—चन्द्रमा तो, ते—आप के (स्वरूपसंबन्धी), आनन्दरस—आनन्द-रस का, बिन्दुः—एक बिन्दु (है जो), भुवि—इस जगत् में, गलितः—प्रसारित हुआ है, तथा—और, (अयं—यह), सूर्यः—सूर्य, ते—आप के (स्वरूप-संबन्धी), तेजसः—तेज का, (एकः—एक), संहारी—संहारक (अर्थात् भेदग्रासी), कणः—कण है (जो), प्रसृतः—प्रकाशित हुआ है, (वयं तु—हम तो), कस्यापि—(इन सूर्य, चन्द्रमा आदि के प्राण-प्रद), असामान्य, अलौकिकस्य—अलौकिक, माहात्म्यस्य—महिमा के, एक—अद्वितीय, लक्ष्मणे—चिह्न-स्वरूप, तव—आप के, अस्मै—इस, तृतीयाय—

१. ख० पु०, च० पु० विभो—इति पाठः।

तीसरे (प्रमातृ-रूप), नेत्राय–नेत्र पर, बलिं–निछावर, यामः–होते हैं (अर्थात् इसी अग्निस्वरूप नेत्र में अपनी प्रमातृता समर्पित करते हैं)॥

हे प्रभु! यह चन्द्रमा तो आप की चिदानन्द भूमिका से संबन्धित चित्-रस का एक नन्हा सा छींटा प्रसार में आया है, और यह सूर्य आपके संहारमय तेज का एक छोटा सा अंश प्रसार में आया है (आपके ये चंद्रमय और सूर्यमय दो नयन प्रमाणरूप और प्रमेयरूप होने के कारण विश्वमय ही हैं)। हम भक्तगण तो आपके इस तीसरे (प्रमातृतेजोमय) नयन, जोकि अलोकसामान्य, अवर्णनीय और आपकी ईश्वरीय महिमा (गौरव) का एकमात्र चिह्न है, पर ही बलिहारी होते हैं॥ ५, ६॥ *(युग्मक)*

**तेनैव दृष्टोऽसि भवद्दर्शनाद्योऽतिहृष्यति।**
**कथञ्चिद्यस्य वा हर्षः कोऽपि तेन त्वमीक्षितः॥ ७॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) यः (शक्ति-समावेशेन) भवत्‌दर्शनात् अतिहृष्यति तेन एव (त्वं) दृष्टः असि वा कथञ्चित् यस्य कोऽपि हर्षः तेन त्वम् ईक्षितः।

(प्रभो–हे ईश्वर!), यः–जो भक्त, (शक्ति समावेशेन–शक्ति समावेश के क्रम से), भवत्–आप का, दर्शनात्–दर्शन कर के, अति–अत्यन्त, हृष्यति–आनन्दित हो जाता है, तेन एव–उस ने, (त्वं–आप को), दृष्टः–देखा, असि–है, वा–और, कथञ्चित्–किसी प्रकार (अर्थात् शांभव-समावेश के क्रम से), यस्य–जिसे, कोऽपि–अलौकिक, हर्षः–आनन्द प्राप्त होता है, तेन–उसी ने, त्वम्–आप (के तात्त्विक स्वरूप) का, ईक्षितः–साक्षात्कार किया है॥

(हे ईश्वर!) जो भक्तशिरोमणि (शक्तिसमावेश की अवस्था में) अंतस् में आपका दर्शन पाने से प्रगाढ हर्ष का (हर्ष नामवाली योगभूमिका) अनुभव कर लेता है उसी ने आपका दर्शन पाया है, अथवा जिस किसी भी भक्तजन को (शांभवसमावेश की अवस्था में ध्यान, जप या मंत्रोच्चार इत्यादि के बिना) किसी अतर्कित प्रेरणा से आंतरिक आनन्द की अनुभूति हो जाती है उसी ने आपके दर्शन पाये हैं॥ ७॥

**येषां प्रसन्नोऽसि [1]विभो यैर्लब्धं हृदयं तव।**
**आकृष्य त्वत्पुरात्तैस्तु बाह्यमाभ्यन्तरीकृतम्॥ ८॥**

१. ख० पु०, प्रभो–इति पाठः।

*अन्वयः*—विभो येषां (त्वं) प्रसन्नः असि (तथा) यैः तव हृदयं लब्धं तैः तु त्वत्-पुरात् बाह्यम् आकृष्य (पुनरिदम्) आभ्यन्तरीकृतम्।

**विभो**—हे व्यापक प्रभु!, **येषां**—जिन के प्रति, (**त्वं**—आप), **प्रसन्नः**—दयालु अर्थात् अनुकूल, **असि**—होते हैं, (**तथा**—और), **यैः**—जिन्हों ने, **तव**—आप के, **हृदयं**—हृदय (अर्थात् प्रकाश-विमर्शात्मक संविद्धाम) को, **लब्धं**—प्राप्त किया है, **तैः**—उन्होंने, **तु**—तो, **त्वत्**—आप के, **पुरात्**—(चिद्रूप) स्थान से, **बाह्यम्**—(इस) बाहरी (जगत्) को, **आकृष्य**—निकाल कर (अर्थात् प्रकट कर के), (**पुनरिदम्**—फिर इसे), **आभ्यन्तरीकृतम्**—भीतर (चित्पद में ही) लीन किया है॥

**हे प्रभु! जिन भक्तजनों पर आपकी अनुग्रहमयी दृष्टि हो, और जिन्होंने आपके 'हृदय'-अर्थात् प्रकाशविमर्शमय संवित्धाम को पाया हो, उन्होंने तो आप के चिदानन्द स्थान से इस बहिरंग जगत् को, बाहरी रूप में प्रतिष्ठित करके, पुनः भीतरी चिद्भाव में ही विश्रान्त किया है॥ ८॥**

*संकेत*—

पहुंचे हुए भक्तवरों की दृष्टि में यह सारा बहिरंग रूप में आभासमान विश्वप्रपञ्च आंतरिक संवित्धाम से ही निकला हुआ और उसी के आधार पर प्रकाशमान रहता हुआ, वास्तव में, अन्तः-बहिः चित्-शक्तिमय रूप में ही भासमान होता है।

**त्वदृते निखिलं विश्वं समदृग्यातमीक्ष्यताम्।**
**ईश्वरः पुनरेतस्य त्वमेको विषमेक्षणः॥ ९॥**

*अन्वयः*—(विभो) त्वद् ऋते (इदं) निखिलं विश्वं समदृक् ईक्ष्यतां यातम् पुनः एतस्य एकः ईश्वरः त्वं विषम ईक्षणः (असि)।

(**विभो**—हे स्वामी!), **त्वद्**—आप के, **ऋते**—विना, (**इदं**—यह), **निखिलं**—सारा, **विश्वं**—जगत तो, **समदृक्**—(भेद-दृष्टि के कारण) सम-नेत्र अर्थात् दो नेत्रों वाला, **ईक्ष्यतां**—देखने में, **यातम्**—आता है, **पुनः**—किन्तु, **एतस्य**—इस (जगत्) के, **एकः**—अद्वितीय, **ईश्वरः**—स्वामी, **त्वं**—आप, **विषम-ईक्षणः**—(अभेद-दृष्टि के कारण) विषम-नेत्र अर्थात् तीन नेत्रों वाले, (**असि**—हैं)॥

(हे परमेश्वर!) आप से छिन्न होकर यह समूचा विश्व 'समदृक्'-अर्थात्

दो आंखों वाला (=द्वैत भरी दृष्टिवाला) बना हुआ दिखाई दे रहा है, परन्तु इस विश्वप्रपञ्च के एकले संचालक आप तो 'विषमेक्षण'=तीन नयनों वाले अर्थात् अति भयावह दृष्टि से भेदभाव के विष को जला डालने वाले हैं॥ ९॥

**आस्तां भवत्प्रभावेण विना सत्तैव नास्ति यत्।**
**त्वद्दूषणकथा येषां त्वदृते नोपपद्यते॥ १०॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) येषां त्वद्दूषणकथा त्वद्ऋते न उपपद्यते भवत्प्रभावेण विना तेषां सत्ता एव न अस्ति (इति) यत् (तत्) आस्ताम्।

(प्रभो–हे स्वामी!), येषां–'जिन (चार्वाक आदि अनीश्वरवादियों) से की गई, त्वद्–आप की, दूषण–निन्दा की, कथा–बात, त्वद्–आप (चिद्रूप) के, ऋते–बिना, न उपपद्यते–हो ही नहीं सकती, भवत्–आप (चिदात्मा) के, प्रभावेण–प्रभाव के, विना–बिना, तेषां–उन की, सत्ता एव–सत्ता ही, न अस्ति–नहीं हो सकती', (इति) यत्–(यह) जो बात है, (तत्–उसे), [१]आस्ताम्–रहने दिया जाय॥

(हे चिन्मय देव!) जिन (चार्वाक नास्तिक आदि) अनात्मवादी लोगों के लिए आप (चैतन्यदेव) की स्फुरणा के बिना आपकी ही टीका-टिप्पणी कर सकना भी संभव नहीं हो सकता है, उनके परिप्रेक्ष्य में तो यह बात रहने ही दीजिए कि "आपके प्रभाव के बिना उनका कोई निजी (स्वतन्त्र) अस्तित्व ही नहीं है"॥ १०॥

*संकेत*–

प्रस्तुत मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज ने निम्नलिखित टिप्पणी लिखी है–
नास्तिक्यवासना शास्त्रों में निंद्य कही गई है इसी आशय से स्तोत्रकार इस विषय में आलोचना नहीं करना चाहते हैं। कहा भी है–
'नास्तिक्यवासनां प्राहुः पापात्पापीयसीमिमाम्'।
इत्यादि तन्त्रालोक में।

**बाह्यान्तरान्तरायालीकेवले चेतसि स्थितिः।**
**त्वयि चेत्स्यान्मम विभो किमन्यदुपयुज्यते॥ ११॥**

*अन्वयः*–विभो बाह्यआन्तरअन्तरायआलीकेवले मम चेतसि चेत् त्वयि स्थितिः

स्यात् (ततः) किम् अन्यत् उपयुज्यते।

विभो—हे व्यापक ईश्वर!, बाह्य—(भेद-प्रथा रूपी) बाहरी, आन्तर—(तथा संकल्प-विकल्प रूपी) भीतरी, अन्तराय—विघ्नों की, आली—पंक्तियों से, केवले—रहित बने हुए, मम—मेरे, चेतसि—हृदय में, चेत्—यदि, त्वयि—आप (चित्-स्वरूप) की, स्थितिः—स्थिति, स्यात्—प्राप्त हो जाय, (अर्थात् मुझे समावेश-एकाग्रता प्राप्त हो), (ततः—तो फिर), किम्—भला कौन सी, अन्यत्—दूसरी वस्तु, उपयुज्यते—उपयोग में आ सकती है (अर्थात् फिर किसी दूसरी चीज़ या उपाय की अपेक्षा नहीं रहेगी।)?॥

हे सर्वव्यापक प्रभु! देहप्रमातृभाव के साथ जुड़े हुए विरह मिलन इत्यादि और मन के साथ संबन्ध रखने वाले संकल्प-विकल्प आदि विघ्नों की भरमार से रहित मेरे चित्त में अगर आपका पदार्पण हो जाए—(अर्थात् समावेश की अवस्था में मुझे परिपूर्ण एकाग्रता प्राप्त हो जाए) तो मुझे और काहे की अपेक्षा रह जाएगी?॥ ११॥

**अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिदुःस्थिताः।**
**अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिसुस्थिताः॥ १२॥**

*अन्वयः*— भगवन् अन्ये आत्मनि एव अतिदुःस्थिताः (सन्तः) भ्रमन्ति (तथा) भगवन् अन्ये आत्मनि एव अतिसुस्थिताः (सन्तः) भ्रमन्ति।

भगवन्—हे भगवान्!, अन्ये—कई (अर्थात् अज्ञानी लोग), आत्मनि एव—अपने ही स्वरूप में, अति—अत्यन्त, दुःस्थिताः—दुःखी, (सन्तः—होकर), भ्रमन्ति—(जन्म, मरण आदि के असीम चक्कर में) घूमते रहते हैं, (तथा—और), भगवन्—हे ईश्वर!, अन्ये—कई (अर्थात् ज्ञानवान् भक्तजन), आत्मनि एव—अपने ही (चिदानन्द-मय) स्वरूप में, अति—अत्यन्त, सुस्थिताः—सुखी (परमानन्द-पूर्ण), (सन्तः—होकर), भ्रमन्ति—(इस जगत् में) विहार करते हैं॥

हे भगवान्! (इस संसार में) कई ऐसे भी (अज्ञानी) लोग हैं जो अपने आप में ही (जीना-मरना इत्यादि प्रकार की) दुर्गति के चक्कर में बल खाते रहते हैं, दूसरी ओर ऐसे भी (विवेकशील) जन हैं जो अपने स्वरूपभूत चिदानन्दभाव में विश्रान्त होकर रममाण रहते हैं॥ १२॥

**अपीत्वापि भवद्भक्तिसुधामनवलोक्य च।**
**त्वामीश त्वत्समाचारमात्रात्सिद्ध्यन्ति जन्तवः।। १३।।**

*अन्वयः*—ईश भवत्‌भक्ति सुधाम् अपीत्वा अपि (तथा) त्वाम् अनवलोक्य च त्वत्‌समाचार मात्रात् जन्तवः सिद्ध्यन्ति।

ईश—हे ईश्वर!, भवत्—आप के, भक्ति-सुधाम्—(समावेश रूपी) भक्ति-अमृत का, अपीत्वा—पान न करके, अपि—भी, (तथा—तथा), त्वाम्—आप के स्वरूप का, अनवलोक्य—साक्षात्कार न करके, च—भी, त्वत्—आप (चिद्रूप) की, समाचार-मात्रात्—केवल (बाह्य जप आदि चर्या रूपिणी) कथा करने से (ही), जन्तवः—(आप के भक्त) जन, सिद्ध्यन्ति—(स्वरूप- समावेश-रूपी) सिद्धि को पाते हैं॥

हे परमेश्वर! (इस संसार में) ऐसे भी निराले लोग हैं जो आपकी भक्ति के रस का पान न करने, अथवा (समावेश की अवस्था में) आपके स्वरूप का साक्षात्कार न पाने पर भी केवल आपके साथ संबन्धित जप, ध्यान, चर्या इत्यादि विषयों की चर्चा करने से ही (समावेशमयी) सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं॥ १३॥

**भृत्या वयं तव विभो तेन त्रिजगतां यथा।**
**बिभर्ष्यात्मानमेवं ते भर्त्तव्या वयमप्यलम्।। १४।।**

*अन्वयः*—विभो वयं तव भृत्याः (स्मः) तेन यथा (त्वं) त्रिजगताम् आत्मानं बिभर्षि एवं वयम् अपि ते अलं भर्त्तव्याः (स्मः)।

विभो—हे व्यापक प्रभु!, वयं—हम, तव—आप के, भृत्याः—सेवक, (स्मः—हैं,), तेन—इसलिए, यथा—जैसे, (त्वं—आप), त्रिजगताम्—तीनों लोकों की, आत्मानं—आत्मा (अर्थात् अपने स्वरूप) को, बिभर्षि—धारण तथा पोषण करते हैं, एवं—इसी तरह, वयम् अपि—हम (सेवक) भी, ते—आप से, अलं—पूर्ण रूप में, भर्त्तव्याः—धारण और पोषण किए जाने योग्य, (स्मः—हैं)॥

हे विभु! हम आपके दास हैं, इसलिए जिस प्रकार आप तीन भुवनों के रूपवाले अपने आप का भरण एवं पोषण करते रहते हैं उसी प्रकार हम भी आपके द्वारा पालन-पोषण किए जाने के उपयुक्त पात्र हैं॥ १४॥

**परानन्दामृतमये दृष्टेऽपि जगदात्मनि।**
**त्वयि स्पर्शरसेऽत्यन्ततरमुत्कण्ठितोऽस्मि ते॥ १५॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) पर आनन्दअमृत मये त्वयि जगदात्मनि दृष्टे अपि (अहं) ते स्पर्श रसे अत्यन्ततरम् उत्कण्ठितः अस्मि।

(प्रभो–हे ईश्वर!), पर-आनन्द–परमानन्द रूपी, अमृतमये–अमृत-स्वरूप, त्वयि–आप, जगदात्मनि–विश्वात्मा (प्रभु) का, दृष्टे–साक्षात्कार करने पर, अपि–भी, (अहं–मैं), ते–आप के, स्पर्श-रसे–(समावेश रूपी) स्पर्श का आनन्द पाने के लिए, अत्यन्ततरम्–अत्यन्त ही, उत्कण्ठितः–लालायित, अस्मि–होता हूं॥

**(हे प्रभु!) चिदानन्दरूपी अमृत के ही स्वरूपवाले और समूचे विश्व की आत्मा बने हुए आपके स्वरूप का (अति अल्पकालीन समावेशमय) साक्षात्कार करने पर भी मैं आपके 'स्पर्शरूपी रस का'-अर्थात् निश्चल समाधि के रस का आस्वाद प्राप्त करने के लिए अतिमात्रा में तरस रहा हूँ॥ १५॥**

*संकेत*–

यहां पर भक्तवर के कहने का तात्पर्य यह है कि मैं निश्चल समाधि की अवस्था में आपके स्पर्श का आनन्द प्राप्त करने के लिए अत्यन्त उत्कंठित हूँ।

**देव दुःखान्यशेषाणि यानि संसारिणामपि।**
**धृत्याख्यभवदीयात्मयुतान्यायान्ति सह्यताम्॥ १६॥**

*अन्वयः*–देव यानि अशेषाणि दुःखानि (भवन्ति) (तानि) धृति आख्यभवदीय-आत्मयुतानि (सन्ति) (अतः) संसारिणाम् अपि सह्यतां आयान्ति।

देव–हे लीलामय प्रभु!, यानि–जो (अर्थात् जितने) भी, अशेषाणि–समस्त, दुःखानि–(आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) दुःख, (भवन्ति–होते हैं,), (तानि–वे), धृति-आख्य–धृति नाम वाले, भवदीय–आप के, आत्म–स्वरूप से, युतानि–संबन्ध रखते, (सन्ति–हैं,), (अतः–अतः), संसारिणाम्–संसारी जनों के लिए, अपि–भी, सह्यतां–सहनीय, आयान्ति–हो जाते हैं (अर्थात् आप धैर्यात्मा प्रभु के प्रभाव से सभी दुःख सहन किये जा सकते हैं)॥

हे लीलामय प्रभु! संसार में जो तीन संतापों के रूपवाले सारे दुःख हैं वे अवश्य आपका ही स्वरूप बनी हुई 'धृति' नामवाले मनोभाव के साथ जुड़े हुए हैं क्योंकि वैसा होने पर ही वे दुःख सर्वसाधारण संसारी लोगों के द्वारा सहन किए जा सकते हैं॥ १६॥

*संकेत*—

भविष्य में सुख मिलने की थोथी आशा को लेकर वर्तमान काल में दुःखों के भार को सहन करते रहना 'धृति' कहलाता है। इस प्रसंग में भगवान् कृष्ण ने श्रीगीता में इस प्रकार उपदेश दिया है—

'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ'॥

(श्रीगीता अ० १६, श्लो० १३)

**सर्वज्ञे सर्वशक्तौ च त्वय्येव सति चिन्मये।**
**सर्वथाप्यसतो नाथ युक्तास्य जगतः प्रथा॥ १७॥**

*अन्वयः*—नाथ त्वयि चिन्मये सर्वज्ञे च सर्वशक्तौ सति एव सर्वथा अपि असतः अस्य जगतः प्रथा (सर्वथा) युक्ता (भवति)।

नाथ—हे स्वामी!, त्वयि—आप, चिन्मये—चिद्रूप के, सर्वज्ञे—सर्वज्ञ, च—और, सर्वशक्तौ—सर्वशक्तिमान्, सति—होने से, एव—ही, सर्वथा—सब प्रकार से,अपि—ही, असतः—सत्ताहीन, अस्य—इस, जगतः—जगत् का, प्रथा—प्रकाश अर्थात् अस्तित्व, (सर्वथा—सर्वथा), युक्ता—पूर्ण रूप से सिद्ध, (भवति—हो जाता है)॥

हे स्वामी! आप जैसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान चैतन्यमय परमेश्वर का अस्तित्व होने से ही इस, अपने आप में कतई सत्ताहीन, जगत् का प्रकाशमान होना भी चरितार्थ बन जाता है॥ १७॥

**त्वत्प्राणिताः स्फुरन्तीमे गुणा लोष्टोपमा अपि।**
**नृत्यन्ति पवनोद्धूताः कार्पासपिचवो यथा॥ १८॥**
**यदि नाथ गुणेष्वात्माभिमानो न भवेत्ततः।**
**केन हीयेत जगतस्त्वदेकात्मतया प्रथा॥ १९॥**

*(युगलक)*

*अन्वयः*—नाथ यथा कार्पासपिचवः पवनउद्धूताः नृत्यन्ति (तथा) लोष्टउपमाः अपि इमे गुणाः त्वत्प्राणिताः (सन्तः) स्फुरन्ति यदि गुणेषु आत्म अभिमानः न भवेत् ततः जगतः त्वद्एक आत्मतया प्रथा केन *हीयेत।

नाथ—हे स्वामी!, यथा—जैसे, कार्पास—रूई के, पिचवः—छोटे-छोटे टुकड़े, पवन—वायु से, उद्धूताः—उड़ाये जाने पर, नृत्यन्ति—(आकाश में) नाचने लगते हैं, (तथा—वैसे ही), लोष्ट—मिट्टी के, उपमाः—समान (अत्यन्त जड़ होती हुईं), अपि—भी, इमे—ये, गुणाः—इन्द्रियां, त्वत्—आप (की चिद्रूपता) से, प्राणिताः (सन्तः)—जीवित होकर ही, स्फुरन्ति—स्फूर्ति को प्राप्त करती हैं, यदि—यदि, गुणेषु—(इन) इन्द्रियों में, आत्म-अभिमानः—आत्म-अभिमान, न भवेत्—न होता, ततः—तो, जगतः—(इस) जगत् की, त्वद्—आप के स्वरूप के साथ, एक-आत्मतया—अभेद-रूप, प्रथा—स्थिति (अर्थात् स्वात्म-परामर्श की स्थिति) को, केन—कौन, *हीयेत—त्यागता?॥

(हे प्रभु!) यद्यपि ये गुण (इन्द्रियां) अपने आप में मिट्टी के समान हैं, तो भी आप चित्-प्रकाश से अनुप्राणित होकर ठीक उसी प्रकार स्फुरित होने लगते हैं, जिस प्रकार वायु के द्वारा उड़ाई जाती हुई रूई की पूनियां आकाश में नाचने लगती हैं॥ १८॥

हे प्रभु! अगर संसारी लोगों पर इन (मिट्टी के समान जड़) गुणों (इन्द्रियों) पर ही सच्ची आत्मा का अभिमान रखने की धुन सवार न होती, तो भला कौन सा व्यक्ति आपके स्वरूप के साथ इस जगत् की अभेदप्रथा का परित्याग ही कर लेता?॥ १९॥

**वन्द्यास्तेऽपि महीयांसः प्रलयोपगता अपि।**

---

*भाव यह है—हे भगवन्! ये इन्द्रियां तो मिट्टी आदि के समान ही जड़ पदार्थ हैं, किन्तु आप की चिद्रूपता से अनुप्राणित होकर ये अपने कार्य करने के योग्य हो जाती हैं। इन इन्द्रियों को अपना-अपना काम कर सकने का अभिमान होता है, जैसे—"मैं देखता हूं, मैं खाता हूं"—इत्यादि। उन के इस अभिमान का कारण आप की सत्ता ही है। अतः इन इन्द्रियों के विषय-सेवन रूपी सामान्य व्यवहार में ही स्वात्म-परामर्श के स्पर्श का आभास सब व्यक्तियों को मिलता है। फलतः वे विषय ग्रहण करने की दशा में भी आप की अहंता होने के कारण अपनी तात्त्विक आत्मस्थिति को त्याग देते हैं। यदि इन्द्रियों में अभिमान न होता और आप के स्वरूप-स्पर्श की प्राप्ति न होती तो स्वात्म-परामर्श-स्थिति को कोई भी व्यक्ति न त्यागता।

***त्वत्कोपपावकस्पर्शपूता ये परमेश्वर॥ २०॥**

*अन्वयः*—परमेश्वर ते अपि महीयांसः वन्द्याः ये प्रलयउपगताः अपि त्वत्कोप-पावकस्पर्शपूताः (सन्ति)।

परमेश्वर—हे परमेश्वर!, ते अपि—वे (महाकाल, कामदेव, त्रिपुरासुर तथा अन्धकासुर आदि) भी, महीयांसः—(अलौकिक) महिमा वाले, वन्द्याः—पूजनीय हैं, ये—जो, प्रलय—(आप के द्वारा) नाश को, उपगताः—प्राप्त होने पर, अपि—भी, त्वत्—आप के, कोप—क्रोध रूपी, पावक—अग्नि के, स्पर्श—स्पर्श से, पूताः—पवित्र, (सन्ति—हो गए हैं)॥

हे परमेश्वर! वे महामहिमशाली (कामदेव, त्रिपुरासुर, अन्धकासुर इत्यादि) जन भी परमपूजनीय हैं जो कि आपके द्वारा मारे जाने पर भी, आपके क्रोधरूपी पावक (अग्नि) का स्पर्श हो जाने से पवित्र हो गए—अर्थात् मुक्त हो गए॥ २०॥

**महाप्रकाशवपुषि विस्पष्टे भवति स्थिते।**
**सर्वतोऽपीश तत्कस्मात्तमसि प्रसराम्यहम्॥ २१॥**

*अन्वयः*—ईश भवति महाप्रकाशवपुषि (तथा) सर्वतः विस्पष्टे स्थिते अपि अहं तत् कस्मात् तमसि प्रसरामि।

ईश—हे स्वामी!, भवति—आप के, महाप्रकाशवपुषि—महाप्रकाश-स्वरूप, (तथा—तथा), सर्वतः—पूर्ण रूप में, विस्पष्टे—प्रकट-स्वरूप (अर्थात् विश्व-प्रकाश-मय), स्थिते—होने पर, अपि—भी, अहं—मैं, तत्—भला कस्मात्—क्यों, तमसि—(व्युत्थान-संबन्धी भेद-प्रथात्मक) अन्धकार में, प्रसरामि—फिरता (अर्थात् भटकता) हूँ?॥

(हे परमेश्वर!) जब असीम प्रकाश के स्वरूपवाले और अतिस्पष्ट विश्वरूप में रममाण रहने वाले आप जैसे परमेश्वर की सर्वतोमुखी व्यापकता वर्तमान है, तो भला मैं क्यों अंधेरे में ही भटक रहा हूँ?॥ २१॥

---

*भाव यह है—यद्यपि महाकाल और अन्धक आदि राक्षस आपकी क्रोधाग्नि से भस्म हो गए, तो भी वे उसके स्पर्श से पवित्र होने के कारण मुक्त हो गए। फलतः वे धन्य हैं।

*संकेत*—

श्रीक्षेमराजाचार्य ने इस मुक्तक के 'तमसि प्रसराम्यहम्' इन शब्दों का तात्पर्य यह निकाला है कि—'हे भगवन् मैं व्युत्थान की वेला में आपसे क्यों बिछुड़ जाता हूँ'।

**अविभागो भवानेव स्वरूपममृतं मम।**
**तथापि मर्त्यधर्माणामहमेवैकमास्पदम्॥ २२॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) अविभागः भवान् एव मम अमृतं स्वरूपम् (अस्ति) तथापि अहं मर्त्यधर्माणाम् एव एकम् आस्पदम् (अस्मि)।

(प्रभो—हे प्रभु!), अविभागः—अद्वैत-स्वरूप, भवान्—आप, एव—ही, मम—मेरे, अमृतं—अमृत-मय (अर्थात् आनन्दघन), स्वरूपम्—(तात्त्विक) स्वरूप, (अस्ति—हैं,), तथापि—तो भी, अहं—मैं, मर्त्यधर्माणाम्—(मनुष्य आदि) मरण-शील प्राणियों के स्वाभाविक गुणों का (अर्थात् जन्ममरण के चक्कर का), एव—ही, एकम्—एक, आस्पदम्—स्थान (या आश्रय), (अस्मि—बना रहा हूँ)॥

(हे परमदेव!) विभागों से रहित (परम अद्वैतमय) आप ही तो मेरे 'अमृतमय'-अर्थात् अमरणशील या आनन्दघन स्वरूप हैं, ऐसी परिस्थिति होने पर भी (आवा-गमन इत्यादि प्रकार के) मरणशील जीवनधारियों के स्वाभाविक धर्मों का मैं आश्रय बन रहा हूँ—(यह ईश्वरीय रहस्य मेरी समझ में नहीं आ रहा है)॥ २२॥

**महेश्वरेति यस्यास्ति [1]नामकं वाग्विभूषणम्।**
**प्रणामाङ्कश्च शिरसि स एवैकः प्रभावितः॥ २३॥**

*अन्वय*—(प्रभो) "महेश्वर" इति नामकं यस्य वाक्विभूषणम् अस्ति च (यस्य) शिरसि प्रणामअङ्कः (अस्ति) स एव एकः प्रभावितः (अस्ति)।

(प्रभो—हे स्वामी!), "महेश्वर"—'हे महेश्वर!', इति—ऐसा, नामकं—(आप का पवित्र), नाम, यस्य—जिस की, वाक्—वाणी का, विभूषणम्—भूषण, अस्ति—बना रहता है, च—और, (यस्य—जिस के), शिरसि—सिर अर्थात् माथे पर, प्रणाम—(आप के प्रति) प्रणाम का, अङ्कः (अस्ति)—चिह्न (लगा रहता है),

१. ग० पु० नामाङ्कमिति पाठः।

स एव—वही (आप का भक्त), एकः—अद्वितीय, प्रभावितः—महिमा वाला (अर्थात् धन्य), (अस्ति—होता है)॥

(हे परमेश्वर!) जिस भक्तजन की वाणी पर—'हे महेश्वर!' यह आपके नाम से पवित्रित अलंकार (नियमित रूप में) लगा रहता है, जिसके माथे पर आपको प्रणाम करने का चिह्न (हर समय) वर्तमान रहता है, वही एक श्लाघनीय पुरुष है॥ २३॥

**सदसच्च भवानेव येन तेनाप्रयासतः।**
**स्वरसेनैव भगवंस्तथा सिद्धिः कथं न मे॥ २४॥**

*अन्वयः*—भगवन् येन सत् असत् च भवान् एव तेन तथा सिद्धिः मे अप्रयासतः स्वरसेन एव कथं न (भवति)।

भगवन्—हे भगवान्!, येन—चूंकि, सत्—(घट, पट आदि) सत्, असत् च—और (आकाशपुष्प आदि) असत् पदार्थ (अर्थात् भाव अभाव मय जगत्), भवान्—आप, एव—ही हैं, तेन—इसलिए, तथा—वैसी (अर्थात् अलौकिक), सिद्धिः—(आप की साक्षात्काररूपिणी) सिद्धि, मे—मुझे, अप्रयासतः—(ध्यान आदि के) आयास के बिना, स्वरसेन एव—आप ही आप, कथं न—क्यों नहीं, (भवति—प्राप्त होती है?)॥

हे भगवन्! जब यह (घट, पट आदि) भावरूप, और (आकाशपुष्प इत्यादि) अभावरूप पदार्थों के रूपवाला सारा जगत् आप ही हैं, तो फिर मुझे 'वैसी सिद्धि' ध्यान, तप इत्यादि प्रकार का आयास करने के बिना ही क्यों नहीं प्राप्त हो रही है?॥ २४॥

ध्यानाकर्षण—श्री सद्गुरु महाराज ने अगला मुक्तक भक्तजनों की ओर संबोधित किया है—

**शिवदासः शिवैकात्मा किं यन्नासादयेत्सुखम्।**
**तर्प्योऽस्मि देवमुख्यानामपि येनामृतासवैः॥ २५॥**

*अन्वयः*—(भक्त-जनाः) (तत्) किं सुखम् (अस्ति) यत् शिवएकआत्मा शिवदासः न आसादयेत् येन (अहं) देवमुख्यानाम् अपि अमृत आसवैः तर्प्यः अस्मि।

(भक्त-जनाः—हे भक्त-जनो!), (तत्—वह), किं—कौन सा, सुखम्—सुख,

(अस्ति—है), यत्—जिसे, शिव—शिव में, एक—मिली हुई, आत्मा—आत्मा वाला, शिवदासः—शिव का भक्त, न आसादयेत्—प्राप्त नहीं कर सकता (अर्थात् वह परमानन्दपूर्ण हो ही जाता है), येन—क्योंकि, (अहं—मैं), देव—दूसरों से तृप्त किये जाने वाले, मुख्यानाम्—ब्रह्मा आदि प्रमुख देवताओं के द्वारा, अपि—भी, अमृत-आसवैः—अमृत-रसों से, तर्प्यः—तृप्त किये जाने योग्य, अस्मि—हूं॥

(हे भक्तजनों!) वह कौन सी वस्तु है जिसको शिवभाव में पूर्ण तल्लीन बनी हुई आत्मावाला शिव का दासजन प्राप्त नहीं कर लेता है? इसी कारण से तो मैं (ब्रह्मा इत्यादि) प्रमुख देवताओं के द्वारा भी अमृतरस से तृप्त की जाने के योग्य पदवी पर पहुंचा हूँ॥ २५॥

**हृन्नाभ्योरन्तरालस्थः प्राणिनां पित्तविग्रहः।**
**ग्रससे त्वं महावह्निः सर्वं स्थावरजङ्गमम्॥ २६॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) प्राणिनां हृत्नाभ्योः अन्तरालस्थः पित्तविग्रहः महा वह्निः त्वं सर्वं स्थावर जंगमं (जगत्) *ग्रससे।

(प्रभो—हे स्वामी!), प्राणिनां—(मनुष्य आदि) प्राणियों के, हृत्—हृदय, नाभ्योः—और नाभि के, अन्तराल—बीच में, स्थः—ठहरे हुए, पित्त—जठर-अनल, विग्रहः—स्वरूप, महावह्निः—महान् अग्नि, त्वं—आप, सर्वं—सारे, स्थावर-जंगमं—जड़चेतनमय, (जगत्—जगत्) का, *ग्रससे—ग्रास करते हैं॥

(हे प्रभु!) आप सारे जीवधारियों के हृदय और नाभि के बीचवाले स्थान में, पित्तमय जाठराग्नि बनकर, समूचे जड़-चेतनमय विश्व का ग्रास करते रहते हैं॥ २६॥

सारे जगत् का कल्याण हो।

आशुतोष नमस्तुभ्यं नमस्ते भूतभावन।
हे महेश्वर देवेश प्रसादः क्रियतां मयि॥

दसवां स्तोत्र समाप्त

---

*भाव यह है—हे भगवन्! मनुष्य का रूप धारण करके आप समस्त जड़-वर्ग का ग्रास करते हैं अर्थात् उसे निगल जाते हैं और पशु, पक्षी आदि के रूप में चेतन-वर्ग का आस्वाद लेते हैं।

ॐ नमः शिवाय

तुषारगौरासु वनस्थलीषु
मन्दारवातासु हिमालयस्य।
प्रत्यूष काले विचरन्तमीशं
सशक्तिकं शान्तमहं प्रपद्ये।।

# भक्तिविलास नामक ग्यारहवां स्तोत्र

इस स्तोत्र का दूसरा नाम औत्सुक्यविश्वसित भी है। 'औत्सुक्य' से तीव्रतम उत्कण्ठा और विश्वसित से भक्तजन के मानसिक विश्वास की दृढ़ता का अभिप्राय ध्वनित हो रहा है। प्रस्तुत स्तोत्र में भक्त के इस आत्मिक विश्वास की अभिव्यंजना हो रही है कि "भगवान् के अनुग्रह से मेरी तीव्र अभिलाषा अवश्य पूरी, हो जाएगी"—अतः इस स्तोत्र का 'औत्सुक्यविश्वसित' यह नाम भी ठीक ही है।

**जगदिदमथ वा सुहृदो**
**बन्धुजनो वा [1]न भवति मम किमपि।**
**त्वं पुनरेतत्सर्वं**
**यदा तदा कोऽपरो मेऽस्तु।। १।।**

*अन्वयः*—*(प्रभो) इदं जगत् अथवा सुहृदः वा बन्धु-जनः मम किमपि न भवति यदा पुनः (तत्त्वतः) त्वम् (एव) मे एतत् सर्वम् (असि) तदा अपरः कः (मे) अस्तु।

*(प्रभो—हे ईश्वर!), इदं—यह, जगत्—जगत, अथवा—अथवा, सुहृदः—मित्रजन, वा—या, बन्धुजनः—बन्धु-बान्धव, मम—(इनमें से) मेरा, किमपि—कोई भी, न—नहीं, भवति—है।, यदा पुनः—जब फिर, (तत्त्वतः—वास्तव में), त्वम्— आप, (एव— ही), मे—मेरे, एतत्—यह, सर्वम्—सब कुछ (अर्थात् मित्र, बन्धु- बान्धव आदि), (असि—हैं), तदा—तो, अपरः—(आप के अतिरिक्त) दूसरा, कः—कौन, (मे) अस्तु—(मेरा) हो? (अर्थात् किसी दूसरे सखा या

---

१. ख० पु० न भवति किमति—इति पाठः, ग० पु० भवति न मे किमपि—इति च पाठः।

*आशय यह है कि—हे परमेश्वर! आप ही मेरी दुनिया हैं, आप ही मित्र तथा संबन्धी हैं और आप ही मेरे सब कुछ हैं।

संबन्धी की अपेक्षा नहीं है।)॥

(हे भगवान् शंकर!) 'यह संसार, या मित्रों की मंडली, या अपने कुल से संबन्धित जन'- ऐसे ऐसे नातों रिश्तों के साथ मेरा किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, जब केवल आप मेरे बंधु, मित्र इत्यादि सब कुछ हैं तब आपसे बढ़कर और कौन सा संबन्धी होने की संभावना हो सकती है?॥ १॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

आशय यह है—हे परमेश्वर! आप ही मेरी दुनिया हैं, आप ही मित्र तथा संबन्धी हैं और आप ही मेरे सब कुछ हैं।

**स्वामिन्महेश्वरस्त्वं साक्षात्सर्वं जगत्त्वमेवेति।**
**वस्त्वेव सिद्धिमेत्विति याच्ञा तत्रापि याच्ञैव॥ २॥**

*अन्वयः*—*स्वामिन् त्वं महेश्वरः (असि) (तथा इदं) सर्वं जगत् साक्षात् त्वम् एव (असि) इति वस्तु एव सिद्धिम् एतु इति याच्ञा तत्रापि याच्ञा एव (भवति)।

*स्वामिन्—हे स्वामी!, त्वं—आप, महेश्वरः—परमेश्वर, (असि—हैं), (तथा इदं—और यह), सर्वं—सारा, जगत्—जगत्, साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप में, त्वम्—आप का, एव—ही स्वरूप, (असि—है), इति—इस लिए, वस्तु—'(कोई निश्चित) वस्तु, एव—ही, सिद्धिम्—सिद्धि को, एतु—प्राप्त करे,'', इति—ऐसी, याच्ञा—प्रार्थना, तत्रापि—ऐसी दशा में तो, याच्ञा एव—प्रार्थना ही, (भवति—रह जाती है)॥

हे स्वामी! परमाद्वैत की दृष्टि से आप ही महान् ईश्वर हैं, और यह सारा जगत् का प्रपञ्च भी आप ही हैं—(अर्थात् आपके स्वरूप से अलग या अतिरिक्त और किसी पदार्थ का सद्भाव ही नहीं है) तो ऐसी स्थिति में आपसे किसी एक विशेष वस्तु के सिद्ध होने की मांग करना केवल मांग बन कर ही रह जाती है—(तात्पर्य यह कि वैसी याच्ञा करने का तनिक भी औचित्य नहीं है)॥ २॥

*संकेत*—

इस पद्य पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है—'भाव यह है—हे भगवन्!

आप सर्वसिद्धिप्रद हैं। आपके सानिध्य के कारण संसार में होने वाली कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो मुझे सहज ही में उपलब्ध न हो। अतः किसी वस्तु के लिए आपसे प्रार्थना करने का कोई अवकाश ही नहीं है।

**त्रिभुवनाधिपतित्वमपीह य-**
**त्तृणमिव प्रतिभाति भवज्जुषः।**
**किमिव तस्य फलं शुभकर्मणो**
**भवति नाथ भवत्स्मरणादृते।। ३।।**

*अन्वयः*– नाथ इह यत् त्रिभुवनअधिपतित्वम् (अस्ति) (तत्) अपि भवत्जुषः तृणम् इव प्रतिभाति (अतः) तस्य शुभ कर्मणः भवत्स्मरणात् ऋते किम् इव फलं भवति।

नाथ–हे स्वामी!, इह–इस संसार में, यत्–जो, त्रि–तीनों, भुवन–लोकों का, अधिपतित्वम्–स्वामित्व, (अस्ति–है), (तत्–वह), अपि–भी, भवत्–आप के, जुषः–(समावेश-युक्त) भक्त-जनों को, तृणम्–तृण के, इव–समान (तुच्छ), प्रतिभाति–दिखाई देता है, (अतः–अतः), तस्य–उस (स्वरूपसंपन्मय), शुभ कर्मणः–शुभ-कर्म का (अर्थात् उस कर्म के करने वाले का), भवत्–आप के, स्मरणात्–स्मरण के, ऋते–बिना, किम् इव–भला और क्या, फलं–फल, भवति–हो सकता है!।।

हे स्वामी! इस संसार में आपकी सेवा करनेवाले समाधिनिष्ठ भक्तजनों को तीनों लोकों की अधिकारिता भी घास का तिनका जैसी प्रतीत होती है, (वास्तव में) उस आपकी भक्ति को ही महत्त्व प्रदान करने के रूपवाले पुण्यकर्म का, आपका नाम स्मरण करने से बढ़कर और क्या फल हो सकता है?।। ३।।

**येन नैव भवतोऽस्ति विभिन्नं**
**किञ्चनापि जगतां प्रभवश्च।**
**त्वद्विजृम्भितमतोऽद्भुतकर्म-**
**स्वप्युदेति न तव स्तुतिबन्धः।। ४।।**

*अन्वयः*–(प्रभो) येन भवतः विभिन्नं किंचन अपि न अस्ति च जगतां प्रभवः (अपि) त्वद्विजृम्भितम् इव (अस्ति) अतः तव अद्भुतकर्मसु अपि स्तुति बन्धः न उदेति।

(प्रभो—हे ईश्वर!), येन—चूंकि, भवतः—आप (के स्वरूप) से, विभिन्नं—भिन्न, किंचन—कुछ, अपि—भी, न अस्ति—नहीं है, च—और, जगतां—(समस्त) जगत् को, प्रभवः—उत्पन्न करने वाला, (अपि—(ब्रह्मा) भी), त्वद्—आप के ही स्वरूप का, विजृम्भितम् इव (अस्ति)—स्फार है, अतः—इस लिए, तव—(संसार की उत्पत्ति तथा नाश आदि) आप के, अद्भुत—चमत्कार-पूर्ण, कर्मसु—कार्यों में, अपि—भी (भेद के अभाव के कारण), स्तुति बन्धः—(आप की) स्तुति करने (का प्रश्न ही), न—नहीं, उदेति—उठता॥

(हे परमदेव!) चूँकि कोई भी पदार्थ आपसे कतई भिन्न नहीं है, (ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु इत्यादि) जगत् के अधिकारी देवता भी आपके ही स्वरूप का विस्तारमात्र हैं, अतः ऐसे आश्चर्यजनक (ईश्वरीय) कृत्यों को संपन्न करते रहने पर भी आप की स्तुति करने का अवकाश ही कहां है?॥ ४॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणीः—

भाव यह है—हे प्रभु! इस संसार में अत्यन्त चमत्कारपूर्ण कार्यों का करना आपके बायें हाथ का खेल है। जब आप ही स्तुत्य, स्तोत्र, स्तुति तथा स्तुतिकर्ता आदि के रूपों में अवभासमान हैं, तो कौन किसकी और कैसे स्तुति करे?

**त्वन्मयोऽस्मि भवदर्चननिष्ठः**
**सर्वदाहमिति चाप्यविरामम्।**
**भावयन्नपि विभो स्वरसेन**
**स्वप्नगोऽपि न तथा किमिव स्याम्॥ ५॥**

*अन्वयः*—विभो अहं सर्वदा भवत्‌अर्चननिष्ठः च त्वद्‌मयः अस्मि इति अविरामम् अपि (भवन्तं) भावयन् अपि (अहं) स्वप्नगः अपि स्वरसेन (एव) तथा किम् इव न *स्याम्।

विभो—हे व्यापक ईश्वर!, अहं—मैं, सर्वदा—सदैव, भवत्—आप (चित्-स्वरूप) के, अर्चन—पूजन में, निष्ठः—लगा हुआ, च—और, त्वद्—आप (के स्वरूप) से, मयः—अभिन्न, अस्मि—बना रहता हूँ, इति—इस प्रकार, अविरामम्—लगातार, अपि—ही, (भवन्तं—आप की), भावयन्—भक्ति-भावना करता हुआ, अपि—भी, (अहं—मैं), स्वप्नगः—स्वप्न-अवस्था में जा कर, अपि—भी, स्वरसेन—आप से आप, (एव—ही), तथा—वैसा (अर्थात् आप के

पूजन में लगा हुआ), किम् इव—भला क्यों, न—नहीं, स्याम्—होता हूं!॥

(हे प्रभु!) "मैं आपकी अर्चना करने पर कटिबद्ध हूँ और आपके साथ एकाकार बना हूँ"—(जागरण में) पलपल इस प्रकार की भावना करता हुआ भी, स्वप्न अवस्था में प्रविष्ट होने पर स्वरसता से वैसी ही भावना क्यों नहीं कर पाता हूँ?॥ ५॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणीः—

भाव यह है—हे भगवान्! मुझे स्वप्न-अवस्था में भी उस समावेश सुख का अनुभव क्यों नहीं होता, जो मुझे जागरण अवस्था में सदा और सहज में ही उपलब्ध होता है?

**येन मनागपि भवच्चरणाब्जो-**
**द्भूतसौरभलवेन विमृष्टाः।**
**तेषु विस्त्रमिव भाति समस्तं**
**भोगजातममरैरपि मृग्यम्॥ ६॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) ये (भक्ताः) भवत्चरण अब्जउद्भूतसौरभलवेन मनाक् अपि विमृष्टाः तेषु अमरैः अपि मृग्यं समस्तं भोगजातं विस्रम्* इव भाति।

(प्रभो—हे स्वामी!), ये—जो, (भक्ताः—भक्त-जन), भवत्—आप के, चरण अब्ज—चरण-कमलों से, उद्भूत—निकली हुई, सौरभ—(चिदानन्द रूपी) सुगंधि के, लवेन—लेशमात्र का, मनाक्—ज़रा सा, अपि—भी, विमृष्टाः—स्पर्श प्राप्त करते हैं, तेषु—उन्हें (तो), अमरैः—देवताओं के लिए, अपि—भी, मृग्यं—वाञ्छनीय, समस्तं—समस्त, भोग—(स्वर्ग आदि) भोगों का, जातं—समूह, विस्रम्*—दुर्गन्धि से भरा हुआ, इव—जैसा (अर्थात् अत्यन्त तुच्छ और त्याज्य), भाति—प्रतीत होता है॥

(हे भगवान् शंकर!) जिन भक्तवरों को आपके चरणकमलों से निकलने वाले सौरभ (सुगन्ध) का रंचमात्र भी स्पर्श हुआ होता है, उनको बड़े बड़े देवताओं के द्वारा भी अभिलषणीय सारे (स्वर्ग आदि) सुखभोगों का संभार दुर्गन्धिपूर्ण कूड़ा-करकट जैसा प्रतीत होता है॥ ६॥

*संकेत*—

इस पद्य पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणीः—जब सामान्य भक्त की ऐसी दशा होती

है, तो उनका भला क्या कहना, जिन्हें पूर्ण समावेश-सुख का अनुभव होता है, उनके हृदय से तो विषयसंबन्धी सुख की अभिलाषा आपसे आप ही दूर भाग जाती है।

**हृदि ते न तु विद्यतेऽन्यदन्य-**
**द्वचने कर्मणि चान्यदेव शंभो।**
**परमार्थसतोऽप्यनुग्रहो वा**
**यदि वा निग्रह एक एव कार्यः।। ७।।**

*अन्वयः*— शम्भो ते हृदि अन्यत् वचने अन्यत् च कर्मणि अन्यत् एव विद्यते (इति) तु अस्ति (तस्मात्) परमार्थसतः अपि (मम) अनुग्रहः वा यदि वा निग्रहः एकः एव कार्यः।

**शम्भो**—हे महादेव!, **ते**—आप के, **हृदि**—हृदय (अर्थात् संकल्प) में, **अन्यत्**—कुछ, **वचने**—वाणी में, **अन्यत्**—कुछ, **च**—और तथा, **कर्मणि**—कर्म (अर्थात् व्यवहार) में, **अन्यत्**—कुछ और, **एव**—ही, **विद्यते**—हो, **(इति) तु**—(ऐसी बात) तो, **न**—नहीं, **अस्ति**—है (अर्थात् आप के मन, वचन और कर्म में पूर्ण साम्य है), **(तस्मात्**—इसलिए) (आप को), **परमार्थसतः अपि (मम)**—(मुझ) सच्चे भक्त तथा सरल-स्वभाव वाले पर, **अनुग्रहः वा**—अनुग्रह (अर्थात् आप के स्वरूप के साथ एकता), **यदि वा**—अथवा, **निग्रहः**—निग्रह (अर्थात् आप चित्-स्वरूप की अप्रथा), **एकः एव**—एक ही, **कार्यः**—करना चाहिए॥

(हे महादेव!) ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है कि आपके हृदय में एक बात, वाणी में दूसरी बात और करने में इन दोनों से भिन्न कोई तीसरी ही बात हो, अतः तत्त्वतः सरल स्वभाव वाले मुझ पर अनुग्रह एवं निग्रह इन दोनों में से, (अपनी रुचि के अनुसार) कोई एक ही करने की कृपा करें॥ ७॥

**मूढोऽस्मि दुःख कलितोऽस्मि जरादि दोष-**
**भीतोऽस्मि शक्ति रहितोऽस्मि तवाश्रितोऽस्मि।**
**शम्भो तथा कलय शीघ्रमुपैमि येन**
**सर्वोत्तमां धुरमपोज्झितदुःखमार्गः।। ८।।**

*अन्वयः*—शम्भो (अहं) मूढः अस्मि दुःखकलितः अस्मि जराआदिदोषभीतः अस्मि शक्ति रहितः अस्मि (परञ्च) तव आश्रितः अस्मि (तस्मात् त्वं) तथा कलय येन (अहं) अपोज्झितदुःखमार्गः सर्वोत्तमां धुरं शीघ्रम् उपैमि।

शम्भो—हे महादेव!, (अहं—मैं), मूढः—मूर्ख अर्थात् अज्ञानी, अस्मि—हूँ, दुःख—(संसार के) दुःखों में, कलितः—फंसा हुआ, अस्मि—हूँ, जरा—बुढ़ापा, आदि—आदि, दोष—दोषों से, भीतः—भयभीत, अस्मि—हुआ हूँ, शक्ति रहितः—सामर्थ्य-हीन, अस्मि—हूँ, (परञ्च—किन्तु), तव—आप की, आश्रितः—शरण में, अस्मि—आया हूँ।, (तस्मात् त्वं—इसलिए आप), तथा—ऐसा, कलय—कीजिए, येन—कि, (अहं—मैं), अपोज्झितदुःखमार्गः—(स्वरूपअप्रथन रूपी) दुःख-मार्ग को त्याग कर, सर्वोत्तमां—(स्वरूप-समावेश-रूपिणी) सर्वोत्कृष्ट, धुरं—पदवी को, शीघ्रम्—(शाम्भवोपाय द्वारा) तुरन्त, उपैमि—प्राप्त करूँ॥

हे कल्याणकारी देव! मैं तो निरा अनाड़ी, दुःखों का मारा, बुढ़ापा आदि दोषों से डरा हुआ और निर्बल व्यक्ति आपकी शरण में पड़ा हूँ, अतः हे प्रभु! जल्दी से जल्दी कुछ ऐसा कीजिए जिससे मैं कंटीले मार्ग से हटकर (सरलता से) सर्वोच्च पदवी पर पहुंच पावूँ॥ ८॥

*संकेत*—

भगवान् उत्पल इस मुक्तक में निश्चल समावेशमयी अवस्था की मांग कर रहे हैं।

**त्वत्कर्णदेशमधिशय्य महार्घभाव-**
**माक्रन्दितानि मम तुच्छतराणि यान्ति।**
**वंशान्तरालपतितानि जलैकदेश-**
**खण्डानि मौक्तिकमणित्वमिवोद्वहन्ति॥ ९॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) मम तुच्छतराणि आक्रन्दितानि त्वत्कर्णदेशम् अधिशय्य महार्घभावं यान्ति, इव जलएक देश खण्डानि वंशअन्तरालपतितानि मौक्तिक मणित्वम् *उद्वहन्ति।

(प्रभो—हे स्वामी!), मम—मेरी, तुच्छतराणि—अति तुच्छ, आक्रन्दितानि—करुण-स्वर-पूर्ण पुकारें, त्वत्—आप के, कर्ण—कानों के, देशम्—पास, अधिशय्य—पहुँच कर ही, महार्घभावं—बहुमूल्यता (अर्थात् बड़े गौरव) को,

यान्ति,—प्राप्त करती हैं, इव—जिस प्रकार (स्वाति-नक्षत्र में), जल—(वर्षा के) जल की, एक-देश-खण्डानि—छोटी-छोटी बूंदें, वंश—बांस के, अन्तराल—बीच में, पतितानि—पड़कर, मौक्तिक-मणित्वम्—मोतियों के रूप को, *उद्वहन्ति—धारण करती हैं॥

(हे प्रभु!) मेरी यह दर्दभरी गुहार आपके कानों में पड़कर, ठीक उसी प्रकार, अनमोल बन जाती है, जिस प्रकार बांस के खोंडरों में पड़े हुए (बरसात के) जलबिन्दु मुक्तामणियों के स्वभाव का आदान करते हैं॥ ९॥

*संकेत*—

(क) *सद्गुरु महाराज की टिप्पणीः—कवि परम्परागत वर्णन के अनुसार कहा जाता है कि स्वाती नक्षत्र में वर्षा के जल की बूंदें सीप में मोती, बांस में वंशलोचन मणि और सांप के मुंह में विष बनती हैं।

(ख) खोंडरे=बांस के अंदरवाले पोले भाग।

**किमिव [1]च लभ्यते बत न तैरपि नाथ जनैः**
**क्षणमपि कैतवादपि च ये तव नाम्नि रताः।**
**शिशिरमयूखशेखर तथा [2]कुरु येन मम**
**क्षतमरणोऽणिमादिकमुपैमि यथा विभवम्॥ १०॥**

*अन्वयः*—नाथ क्षणम् अपि च कैतवात् अपि ये तव नाम्नि रताः तैः जनैः अपि किमिव च बत न लभ्यते (तस्मात्) शिशिर मयूख शेखर मम तथा कुरु येन (अहं) क्षत मरणः (सन्) यथा विभवम् अणिमादिकम् उपैमि।

नाथ—हे ईश्वर!, क्षणम्—क्षण-मात्र के लिए, अपि च—भी अथवा, कैतवात्—छल-कपट से, अपि—भी, ये—जो, तव—आप के, नाम्नि—नाम (के स्मरण) में, रताः—अनुरक्त होते हैं, तैः—उन, जनैः—लोगों से, अपि—भी, किमिव च—भला क्या कुछ, बत न लभ्यते—प्राप्त नहीं किया जाता! (अर्थात् वे भी इच्छानुसार सब कुछ पाते हैं)!, (तस्मात्—इसलिए), शिशिर मयूख शेखर—हे शशिशेखर! (महादेव जी!), मम—मेरे लिए, तथा कुरु—ऐसा कीजिए, येन—जिससे (अहं)—कि (मैं), क्षत-मरणः (सन्)—मृत्यु-पाश से

१. ख० पु० न—इति पाठः।

२. ग० पु० कुरुषे न ममेति पाठः।

छूटकर (अर्थात् अकाल-कलित होकर), **यथाविभवम्**—ऐश्वर्य पूर्वक, **अणिमादिकम्**— अणिमा आदि (सिद्धियों) को, **उपैमि**—प्राप्त करूँ॥

हे स्वामी ! आश्चर्य यह है कि वे लोग, जो केवल पाखंड (छलकपट) का आश्रय लेकर, पलभर के लिए, आपके नाम का स्मरण करते रहने का स्वांग भरते हैं, वे भी (आपसे) क्या कुछ प्राप्त नहीं कर लेते हैं? इसलिए हे चन्द्रकिरणों का किरीट धारण करने वाले! आप मेरे लिए वैसा कुछ करें जिससे मैं, मृत्युभय से छूटकर, ईश्वरीय वैभव के अनुसार अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करूँ॥ १०॥

**शम्भो शर्व शशाङ्कशेखर शिव त्र्यक्षाक्षमालाधर**
**श्रीमन्नुग्रकपाललाञ्छन लसद्भीमत्रिशूलायुध।**
**कारुण्याम्बुनिधे त्रिलोकरचनाशीलोग्रशक्त्यात्मक**
**श्रीकण्ठाशु विनाशयाशुभभरानाधत्स्व सिद्धिं पराम्॥११॥**

*अन्वयः*—शम्भो शर्व शशाङ्क शेखर शिव त्र्यक्ष अक्षमालाधर श्रीमन् उग्र- कपाल लाञ्छन लसत्भीमत्रिशूलआयुध कारुण्य अम्बुनिधे त्रि लोक रचना-शील उग्रशक्ति-आत्मक श्रीकण्ठ अशुभआशु विनाशय (तथा) परां सिद्धिम् आधत्स्व।

**शम्भो**—हे कल्याण-कारक!, **शर्व**—हे (पापियों को) सन्ताप देने वाले!, **शशाङ्कशेखर**—हे चन्द्र-शेखर!, **शिव**—हे कल्याण-स्वरूप!, **त्र्यक्ष**—हे त्रिनेत्र-धारी!, **अक्षमालाधर**—हे जपमालाधारी!, **श्रीमन्**—हे मोक्षलक्ष्मी वाले!, **उग्र**—हे भयंकर, **कपाललाञ्छन**—खोपड़ियों के चिह्न वाले!, **लसत्**—हे चमकीले, **भीम**—तथा भयानक, **त्रिशूल**—त्रिशूल रूपी, **आयुध**—आयुध को धारण करने वाले, **कारुण्यअम्बुनिधे**—हे दयासागर!, **त्रिलोक- रचनाशील**—हे तीनों लोकों के निर्माता!, **उग्र**—हे भयंकर, **शक्ति आत्मक**—शक्ति स्वरूप, **श्रीकण्ठ**—हे श्रीकण्ठ!, **अशुभ**—(मेरे) पापों की, **भरान्**—गठरियों को, **आशु**—तुरन्त, **विनाशय**—तहस-नहस कीजिए, (तथा—और), **परां**—(मुक्ति-रूपिणी) उत्कृष्ट, **सिद्धिम्**—सिद्धि (मुझे), **आधत्स्व**—प्रदान कीजिए॥

हे भगवान् शम्भू! पापियों का संहार करने वाले! चन्द्रकलाधारी! ईश्वरीय संपदाओं से परिपूर्ण! (दुष्टों के लिए) भयंकर! जप मालाधारी!

प्रकाशस्वरूप! कपालधारी भयानक त्रिशूल आयुध को धारण करने वाले! दया के सागर! तीनों लोकों का निर्माण करते रहने के स्वभाव वाले! प्रचंड शक्ति से पूर्ण! एवं श्रीकंठदेव! मेरे पापों की गठरी को तत्काल नष्ट कीजिए और मुझे परा-सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्रदान कीजिए॥ ११॥

**तत्किं नाथ भवेन्न यत्र भगवान्निर्मातृतामश्नुते**
**भावः स्यात्किमु तस्य चेतनवतो नाशास्ति यं शङ्करः।**
**इत्थं ते परमेश्वराक्षतमहाशक्तेः सदा संश्रितः**
**संसारेऽत्र निरन्तराधिविधुरः क्लिश्याम्यहं केवलम्॥ १२॥**

*अन्वयः*—नाथ परमेश्वर तत् किं भवेत् यत्र भगवान् निर्मातृतां न अश्नुते (तथा) तस्य चेतनवतः किमु भावः स्यात् यं शङ्करः न आशास्ति इत्थं अक्षतमहा शक्तेः ते संश्रितः (अपि) अहम् अत्र संसारे सदा निरन्तरआधिविधुरः (सन्) केवलं *क्लिष्यामि।

**नाथ**—हे स्वामी!, **परमेश्वर**—हे महेश्वर!, **तत्**—वह, **किं**—कौन सी वस्तु, **भवेत्**—हो सकती है, **यत्र**—जहाँ (अर्थात् जिस के), **भगवान्**—आप प्रभु, **निर्मातृतां**—निर्माता के रूप में, न **अश्नुते**—व्याप्त नहीं होते? (**तथा**—और), **तस्य**—उस, **चेतनवतः**—(सकल आदि) चेतन (प्रमातृ-वर्ग) का, **किमु**—(वह) कौन सा, **भावः**—(भूत, भुवन आदि रूपी) पदार्थ, **स्यात्**—हो सकता है, **यं**—जिस पर, **शङ्करः**—(आप) महादेव, न **आशास्ति**—अनुशासन नहीं करते? **इत्थं**—इस प्रकार, **अक्षत**—परिपूर्ण, **महाशक्तेः**—महाशक्ति वाले, **ते**—आप की, **संश्रितः**—शरण में आकर, (**अपि**—भी), **अहम्**—मैं, **अत्र**—इस, **संसारे**—संसार में, **सदा**—सदैव, **निरन्तर**—लगातार, **आधि**—मानसिक पीड़ाओं से, **विधुरः** (**सन्**)—व्याकुल हो कर, **केवलं**—केवल, **क्लिष्यामि**—दुःख का ही अनुभव करता हूँ॥

हे स्वामी! वह कौन सा पदार्थ है जिसके निर्माण का श्रेय आप ऐश्वर्यशाली देव को न जाता हो? (संसार के किसी भी) चेतनप्रमाता का वह कौन सा प्रमेय पदार्थ है जिस पर आप कल्याणकारी ईश्वर का

*भाव यह है—हे शंकर! आप सारे जगत के उत्पादक, रक्षक तथा संहारक हैं। मैं आप की शरण में आया हूँ, किन्तु फिर भी दुःखी हूँ। आप ऐसे सर्वशक्तिमान प्रभु का शरणागत हो और वह दुःखी हो! यह क्यों?

अधिकार न हो? इसप्रकार महान् शक्तिपुंज से परिपूर्ण (आप जैसे) परमेश्वर की शरण में पड़ा हुआ होने पर भी मैं इस संसार में लगातार मानसिक संतापों से पीड़ित होकर केवल कष्टों का भागी बना हूँ॥ १२॥

**यद्यप्यत्र वरप्रदोद्धततमाः पीडाजरामृत्यवः**
**एते वा क्षणमासतां बहुमतः शब्दादिरेवास्थिरः।**
**तत्रापि स्पृहयामि सन्ततसुखाकाङ्क्षी चिरं स्थास्नवे**
**भोगास्वादयुतत्वदङ्घ्रिकमलध्यानाग्र्यजीवातवे॥१३॥**

*अन्वयः*—वर प्रद यद्यपि अत्र पीडाजरामृत्यवः उद्धततमाः (भवन्ति) एते वा क्षणम् आसताम् (किन्तु) बहु मतः शब्द-आदिः एव अस्थिरः (भवति) तत्रापि संतत सुखआकाङ्क्षी (अहं) चिरं स्थास्नवे भोग आस्वादयुतत्वद्अङ्घ्रि कमल ध्यानअग्र्यजीवातवे स्पृहयामि।

वर-प्रद—हे वर-दायक (प्रभु)!, यद्यपि—यद्यपि, अत्र—इस संसार में, पीडा—दुःख, जरा—बुढ़ापा, मृत्यवः—और मृत्यु, उद्धततमाः—अत्यन्त भयंकर अर्थात् असह्य, (भवन्ति—होते हैं), एते वा—तो भी इन को, क्षणम्— अभी, आसताम्—रहने दीजिए, (किन्तु—किन्तु), बहुमतः—बहु-मान्य, शब्द-आदिः—शब्द आदि विषय, एव—ही तो, अस्थिरः—अस्थिर अर्थात् क्षणभंगुर, (भवति—हैं)।, तत्रापि—ऐसा होते हुए भी, संतत सुख—(अद्वयानन्द रूपी) स्थायी सुख को, आकाङ्क्षी—चाहने वाला, (अहं—मैं), चिरं स्थास्नवे— चिर स्थायी, भोग आस्वाद—(चित्-आनन्द के) चमत्कार से, युत—युक्त, त्वद्—(चित्-प्रकाश संबन्धी प्रकाश-विमर्श रूपी) आप के, अङ्घ्रि कमल— चरण कमलों के, ध्यान—ध्यान से युक्त, अग्र्यजीवातवे—(और इसीलिए) श्रेष्ठ जीवन के लिए, स्पृहयामि—कामना करता हूँ॥

हे वरद महादेव! अगरचि इस संसार में दुःख, बुढ़ापा एवं मृत्यु—ये तीनों एक से बढ़कर एक असह्य होते हैं, तो भी पलभर के लिए इनकी चर्चा रहने ही दीजिए क्योंकि यहां तो सबों के मान्य शब्द आदि प्रमेय पदार्थ ही क्षणभंगुर हैं। ऐसी स्थिति में भी अविनाशी सुख को चाहने वाला मैं आपके चिदानन्दभाव के चमत्कार से परिपूर्ण और प्रकाश,विमर्शमय चरणकमलों की जोड़ी का निरन्तर ध्यान करते रहने से श्रेष्ठ बने हुए चिरस्थायी जीवन की कामना कर रहा हूँ॥ १३॥

*संकेत–*

शास्त्रों में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां सिद्ध पुरुषों ने भी चिरजीवन की याच्ञा की है। इसके मूल में उनकी यह कामना रही है कि उनकी साधना उस चलते हुए जन्म में ही पूरी हो जाए ताकि उसको पूरा करने के लिए उनको दूसरा जन्म लेना न पड़े।

**हे नाथ प्रणतार्तिनाशनपटो श्रेयोनिधे धूर्जटे**
**दुःखैकायतनस्य जन्ममरणत्रस्तस्य मे साम्प्रतम्।**
**तच्चेष्टस्व यथा मनोज्ञविषयास्वादप्रदा उत्तमाः**
**जीवन्नेव समश्नुवेऽहमचलाः सिद्धीस्त्वदर्चापरः॥ १४॥**

*अन्वयः*–हे नाथ प्रणतआर्तिनाशनपटो श्रेयः निधे धूर्जटे दुःख-एकआयतनस्य जन्म मरणत्रस्तस्य मे साम्प्रतं तत् चेष्टस्व यथा अहं त्वद्अर्चापरः (सन्) मनोज्ञविषय-आस्वादप्रदाः उत्तमाः अचलाः सिद्धीः जीवन्नेव समश्नुवे।

हे नाथ–हे नाथ!, **प्रणत**–हे शरणागतों के, **आर्ति**–दुःखों को, **नाशन**–नष्ट करने में, **पटो**–प्रवीण!, **श्रेयः निधे**–हे कल्याण सागर!, **धूर्जटे**–हे धूर्जटि शङ्कर!, **दुःख एक**–केवल दुःखों का, **आयतनस्य**–घर बने हुए, **जन्म-मरण**–(तथा) जन्म-मृत्यु से, **त्रस्तस्य**–भयभीत बने हुए, **मे**–मेरे लिए, **साम्प्रतं**–अब, **तत्**–ऐसा, **चेष्टस्व**–कीजिए, **यथा**–कि, **अहं**–मैं, **त्वद्**–आप की, **अर्चा**–पूजा में, **परः**–तत्पर, (सन्–हो कर), **मनोज्ञ**– (चिदानन्द रूपी) मनोहर, **विषय**–विषयों के, **आस्वाद**–चमत्कार को, **प्रदाः**–देने वाली, **उत्तमाः**–श्रेष्ठ, **अचलाः**–तथा चिरस्थायी, **सिद्धीः**–(स्वरूप-प्रथनात्मक) सिद्धियों को, **जीवन्नेव**–जीते जी ही, **समश्नुवे**–प्राप्त करूँ। (अर्थात् समाविष्ट होकर ही मैं आप की पूजा में लीन होता रहूँ और इस प्रकार जीवन्मुक्त बनूँ)॥

हे स्वामी! प्रणाम परायण भक्तों की पीड़ाओं का नाश करने में चतुर और कल्याण के सागर भगवान् शिव! अब तो सारे दुःखों का घर बने हुए और आवागमन के भय से डरे हुए मेरे लिए कुछ वैसा कीजिए जिससे मैं (इसी जीवन में) लगातार आपकी अर्चना करता हुआ (चित् चमत्कार जैसे) मनोहर विषयों का आस्वाद कराने वाली, उत्कृष्ट और अविनाशी सिद्धियों का उपभोग करता रहूँ॥ १४॥

**नमो मोहमहाध्वान्त-**
**ध्वंसनानन्यकर्मणे।**
**सर्वप्रकाशातिशय**
**प्रकाशायेन्दुलक्ष्मणे*** ॥ १५॥

*अन्वयः*– (नाथ) मोहमहाध्वान्तध्वंसनअनन्य-कर्मणे सर्वप्रकाशअतिशय-प्रकाशाय (च) इन्दु लक्ष्मणे (भवते) नमः (अस्तु)।

(नाथ–हे स्वामी!), मोह–मोह रूपी, महा–महान्, ध्वान्त–अन्धकार को, ध्वंसन–नष्ट करने में, अनन्य-कर्मणे–सदा उद्यत रहने वाले, सर्व–समस्त, प्रकाश–(अग्नि, सूर्य और चन्द्र आदि के) प्रकाश से, अतिशय–बढ़ चढ़ कर, प्रकाशाय–तेज को धारण करने वाले, (च–और), इन्दुलक्ष्मणे–चन्द्रमा ही चिह्न वाले (अर्थात् सोम कला धारी), (भवते–आप को), नमः (अस्तु)–नमस्कार (हो)॥

हे परमदेव!) माया-ममतारूपी प्रगाढ अंधकार को छितराने के काम पर सदा उद्यत रहने वाले सारे प्रकाशमान पदार्थों से भी अधिक प्रकाशमान एवं अमाकला के चिह्नवाले आपको मेरा प्रणाम हो॥ १५॥

विश्वेश्वर महादेव नमस्ते भूतभावन।
जन्मजन्मार्जितां वृत्तिं पाशवीं मम नाशय॥

एकादश स्तोत्र समाप्त

* 'इन्दुलक्ष्मणे' – यह महादेव का नाम अत्यन्त सार्थक है। इससे सूचित होता है कि भगवान् शकंर प्रकाश फैला कर अन्धकार को दूर करने की पूरी क्षमता रखते है।

उॐ नमः शिवाय

दस्युभिः सर्वमाक्रान्तं विषमैर्गुणतस्करैः।
रुद्रशक्तिप्रभावेन शातयैतान्प्रभो मयि॥

# भक्तिविलास नामक बारहवां स्तोत्र।

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'रहस्यनिर्देश' भी है। भगवान् उत्पलदेव ईश्वरीय इच्छास्वातंत्र्य के रहस्य से अपने को अवगत कराना चाहते हैं अतः वे इस स्तोत्र में अपने इष्ट आराध्यदेव से ही उस रहस्य को समझाने की प्रार्थना स्तोत्ररूप में करते हैं। अतः इसका नाम 'रहस्यनिर्देश' भी रखा गया है।

**सहकारि न किञ्चिदिष्यते**
**भवतो न प्रतिबन्धकं दृशि।**
**भवतैव हि सर्वमाप्लुतं**
**कथमद्यापि तथापि नेक्षसे॥ १॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) भवतः दृशि किञ्चित् सहकारि न इष्यते (तथा किंचित्) प्रतिबन्धकं न हि सर्वं भवता एव आप्लुतं तथापि कथम् अद्य-अपि (त्वं) *न ईक्षसे।

(प्रभो–हे ईश्वर!), भवतः–आप का, दृशि–साक्षात्कार करने में, किञ्चित्–(अन्तः करण की शुद्धि आदि) किसी, सहकारि–सहायक (साधन) की, न इष्यते–अपेक्षा नहीं है, (तथा किंचित्–तथा कोई), प्रतिबन्धकं–रोकने वाला भी, न–नहीं है, हि–क्योंकि, सर्वं–(यह) सारा (जड-चेतन-मय-जगत), भवता–आप (चिद्रूप) से, एव–ही, आप्लुतं–व्याप्त है।, तथापि–ऐसा होते हुए भी, कथम्–क्या बात है कि, अद्य-अपि–अभी भी (व्युत्थान में), (त्वं–आप), *न ईक्षसे–(प्रत्यक्ष रूप में) दिखाई नहीं देते॥

(हे परमदेव!) आपका दर्शन पाने के लिए कोई भी सहायक-सामग्री उपेक्षित नहीं है, और न इस दिशा में कहीं कोई अड़चन ही है, निश्चय से यह सारा प्रपंच (अन्तःबहिः) आप चित्-प्रकाश से व्याप्त है, तो भी न जाने क्यों (मुझे), अभी भी (अर्थात् व्युत्थानकाल में भी, आपका स्पष्ट साक्षात्कार नहीं हो रहा है)?॥ १॥

**अपि भावगणादपीन्द्रिय-**
**[१]प्रचयादप्यवबोधमध्यतः।**
**प्रभवन्तमपि स्वतः सदा**
**परिपश्येयमपोढविश्वकम्।। २।।**

*अन्वयः*—(प्रभो) भाव गणात् अपि इन्द्रियप्रचयात् अपि अवबोध मध्यतः अपि स्वतः प्रभवन्तं (त्वाम्) (अहं) सदा अपोढ विश्वकं *परिपश्येयम्।

(प्रभो—हे स्वामी!), **भाव-गणात्**—(घट, पट आदि) वस्तुवर्ग से, **अपि**—भी, **इन्द्रिय**—इन्द्रियों के, **प्रचयात्**—समूह में से, **अपि**—भी, **अवबोध-मध्यतः अपि**—(और) चित् प्रकाश रूपी तुर्यअवस्था में भी, **स्वतः**—आप से आप ही, **प्रभवन्तं**—प्रकट बने हुए, (त्वाम्—आप के स्वरूप को), (अहं—मैं), **सदा**—सदा, **अपोढविश्वकं**—भेदभाव को तिलाञ्जलि दे कर, **परिपश्येयम्**—सर्वथा (अर्थात् व्युत्थान में भी, देखता रहूँ॥

(हे प्रभु!) 'प्रमेय-पदार्थों के अटाले, इन्द्रियों का समूह, और (तुरीया जैसी) ज्ञानमयी अवस्थाएँ'—इन सबों में स्वरसता से प्रकट होने वाले, और भेदभाव पर आधारित विश्वभाव का पूरा बहिष्कार करने वाले, आपके स्वरूप को (मैं) प्रतिसमय (अर्थात् व्युत्थान काल में भी देखता रहूँ॥ २॥

*संकेत*—

सद्गुरु महाराज ने इस मुक्तक का भाव इस प्रकार समझाया है—'भाव यह है चाहे समावेश हो अथवा व्युत्थान, सभी दशाओं में मैं प्रत्यक्ष रूप में आपके साक्षात्कार का आनन्द उठाता रहूँ। यही मेरी कामना है, और इसके सिवा मेरे सुख का दूसरा कोई साधन नहीं है।

**कथं ते जायेरन्कथमपि च ते दर्शनपथं**
**व्रजेयुः केनापि प्रकृति महताङ्केन खचितः।**
**तथोत्थायोत्थाय स्थलजलतृणादेरखिलतः**
**पदार्थाद्यान्सृष्टिस्त्रवदमृतपूरैर्विकिरसि।। ३।।**

*अन्वयः*—(नाथ) स्थलजलतृण आदेः अखिलतः पदार्थात् यान् (त्वं) तथा उत्थाय

१. ख० पु०, च० पु० इन्द्रियप्रथमादिति पाठः।

उत्थाय सृष्टिस्रवत्अमृत पूरैः विकिरसि ते (भक्ताः) केन अपि प्रकृतिमहता अङ्केन खचिताः (सन्तः) कथं जायेरन् च कथम् अपि ते (लोकस्य) दर्शन पथं *व्रजेयुः।

(नाथ–हे नाथ!), **स्थल**–स्थल, **जल**–जल और, **तृण आदेः**–तृण आदि, **अखिलतः**–समस्त, **पदार्थात्**–वेद्य वर्गों से (अर्थात् परिमित वेद्य दशा से), **यान्**–जिन्हें, (त्वं–आप), **तथा**–अलौकिक अनुग्रह-शक्ति से, **उत्थाय-उत्थाय**–उठा-उठा कर (अर्थात् उनका उद्धार कर के), **सृष्टि**–(उन पर परमानन्द रूपी) सृष्टि से, **स्रवत्**–बहती हुई, **अमृत-पूरैः**–अमृत की धारायें, **विकिरसि**–बरसाते हैं, **ते (भक्ताः)**–वे (भक्त-जन), **केन-अपि**–एक अलौकिक, **प्रकृति**–(पारमार्थिक) स्वभाव के, **महता**–बड़े (अर्थात् असाधारण), **अङ्केन**–चिह्न से, **खचिताः**–प्रकाशित, (सन्तः–हो कर), **कथं**–कैसे, **जायेरन्**–(इस संसार में फिर) जन्म ले सकते हैं, **च**–और, **कथम् अपि**–कैसे, **ते**–वे, (**लोकस्य**–लोगों की), **दर्शन-पथं**–दृष्टि के मार्ग पर (अर्थात् वेद्य-रूपता में), ***व्रजेयुः**–आ सकते हैं? (अर्थात् वे ज्ञातृ-रूप हैं, अतः किसी प्रकार से ज्ञेय नहीं बन सकते)॥

**(हे अनुग्रहमय भगवान्!) भूमि, जल या घास इत्यादि पदार्थों के रूपवाली संकुचित वेद्यदशा से, अलौकिक अनुग्रह-शक्ति के द्वारा ऊपर उठा उठाकर (बार बार उद्धार करके), आप जिन को परम आनन्दमयी सृष्टि से बहती हुई अमृत की धाराओं से (चारों ओर) छिड़कते रहते हैं, वैसे भक्तजन किसी अवर्णनीय ईश्वरीय स्वभाव के अनूठे चिह्न से जड़े हुए होने की दशा में, कैसे (इस संसार में) फिर से जन्म लें या लोगों की नज़रों में पड़ें–(तात्पर्य यह कि लोगों की नज़रों में पड़कर फिर से वेद्य-भूमिका पर उतरें?)॥ ३॥**

*संकेत–*

इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–'भाव यह है–हे नाथ! जिन भक्तों पर आपकी दया-दृष्टि आनन्द अमृतधारा छिटकाती है, वे सदा के लिए जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं और लोगों से देखे नहीं जा सकते, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

**साक्षात्कृतभवद्रूपप्रसृतामृततर्पिताः।**
**उन्मूलिततृषो मत्ता विचरन्ति यथारुचि॥ ४॥**

*अन्वयः*–(भगवन्) साक्षात् कृतभवत्रूपप्रसृतअमृततर्पिताः उन्मूलित तृषः मत्ताः (भवद्भक्ताः) (संसारे) यथारुचि विचरन्ति।

(भगवन्–हे भगवान्!), साक्षात्-कृत–साक्षात्कार किये हुये, भवत्–आप के, रूप–स्वरूप से, प्रसृत–बहते हुए, अमृत–आनन्दरस से, तर्पिताः–जो तृप्त हो गये हैं, उन्मूलित-तृषः–जिन्होंने तृष्णा को जड़ से उखाड़ डाला है (अर्थात् ऐश्वर्य की इच्छा को बिल्कुल शान्त कर लिया है), मत्ताः–और जो (पारमार्थिक) मस्ती से युक्त हैं, ऐसे, (भवद्भक्ताः–आप के भक्तजन), (संसारे–इस संसार में), यथारुचि–अपनी इच्छा से (अर्थात् स्वतन्त्र और निश्चिन्त होकर), विचरन्ति–विहार करते हैं॥

(हे परमदेव!) आपका साक्षात्कार मिल जाने पर आपके स्वरूप से टपकती हुई अमृत की धारा से तृप्त बने हुए, और (सांसारिक सुखभोगों की) पिपासा (तृष्णा) को उन्मूलित करने वाले भक्तजन, अपनी इच्छा के अनुसार (स्वतन्त्रता से) रमते रहते हैं॥ ४॥

**[१]न तदा न सदा न चैकदे-**
**त्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।**
**तदिदं भवदीयदर्शनं**
**न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा॥ ५॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) न सदा न तदा च न एकदा इति सा कालधीः अपि यत्र न भवेत् तत् इदं भवदीयदर्शनम् (अस्ति) (इदं) न च नित्यं न च अन्यथा कथ्यते।

(प्रभो–हे प्रभु!), न सदा–'सदा नहीं', न तदा–'उस समय नहीं', च–और, न एकदा–'एक बार नहीं', इति–ऐसी, सा–यह, काल धीः–काल-कलनात्मिका बुद्धि, अपि–भी, यत्र–जहाँ (अर्थात् जिस के विषय में), न भवेत्–(लागू) नहीं हो सकती है, तत्–ऐसा ही, इदं–यह (काल कलना से परे), भवदीय–आप (के यथार्थ स्वरूप) का, दर्शनम्–दर्शन (अर्थात् साक्षात्कार), (अस्ति–है), (इदं–यह), न च–न तो, नित्यं–नित्य ही, न च–और न, अन्यथा–अन्यथा (अर्थात् अनित्य) ही, कथ्यते–कहा जा सकता है॥

(हे प्रभु!) जिसके परिप्रेक्ष्य में–'उस समय नहीं हमेशा नहीं, एक

१. ख०, च० पु० न सदा न तदा–इति पाठः।

दिन नहीं'—ऐसी ऐसी सामयिक इयत्ताएँ कोई अर्थ नहीं रखती हैं वैसा आपका साक्षात्कार—'तत्'-अर्थात् वही पूर्वानुभूत अलोकसामान्य वस्तु, 'इदम्'—अर्थात् वर्तमान में भी उसी रूप में स्फुरायमाण—इस प्रकार की अकालकलित प्रत्यभिज्ञा के रूपवाला होने के कारण, न तो नित्य और न अनित्य (अर्थात् मानव कल्पनाओं का अविषय) ठहराया जा सकता है॥ ५॥

**त्वद्विलोकनसमुत्कचेतसो**
**योगसिद्धिरियती सदास्तु मे।**
**यद्विशेयमभिसन्धिमात्रत-**
**स्त्वत्सुधासदनमर्चनाय ते॥ ६॥**

*अन्वयः*—(परमेश्वर) त्वद्विलोकनसमुत्कचेतसः मे इयती योग सिद्धिः सदा अस्तु यद् (अहम्) अभिसंधि मात्रतः ते अर्चनाय त्वत्सुधा सदनं विशेयम्।

(परमेश्वर—हे भगवान्!), **त्वद्**—आप के, **विलोकन**—दर्शन के लिए, **समुत्क**—उत्कण्ठित, **चेतसः**—हृदय वाले, **मे**—मुझे, **इयती**—इतनी सी, **योग सिद्धिः**—योग-सिद्धि, **सदा**—हमेशा, **अस्तु**—प्राप्त होती रहे, **यद्**—कि, (**अहम्**—मैं), **अभिसंधि-मात्रतः**—केवल इच्छा होते ही (अर्थात् जब जी चाहे तब), **ते**—आप की, **अर्चनाय**—पूजा करने के लिए, **त्वत्**—आप के, **सुधासदनं**—चिदानन्द सदन (अर्थात् परमानन्द-धाम) में, **विशेयम्**—प्रवेश करूँ॥

(हे ईश्वर!) आपका साक्षात्कार पाने के लिए तरसते हुए मनवाले मुझको हमेशा इतनी योगसिद्धि प्राप्त होती रहे कि मैं मात्र संकल्प उठने के तत्काल ही आपके चिदानन्दधाम में, आपकी अर्चना करने के लिए, प्रवेश पा सकूँ। (तात्पर्य यह कि मैं समाधिकाल या व्युत्थानकाल दोनों में, अपनी इच्छा के अनुसार, समान रूप से आपका शुभ-साक्षात्कार पाने के लिए सक्षम बनूँ॥ ६॥

**निर्विकल्पभवदीयदर्शन-**
**प्राप्तिफुल्लमनसां महात्मनाम्।**
**उल्लसन्ति विमलानि हेलया**
**चेष्टितानि च वचांसि च स्फुटम्॥ ७॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) निर्विकल्प भवदीयदर्शनप्राप्तिफुल्लमनसां महात्मनां विमलानि चेष्टितानि च वचांसि हेलया स्फुटं च उल्लसन्ति।

(प्रभो—हे स्वामी!), निर्विकल्प भवदीय—आप के निर्विकल्प, दर्शन—दर्शन (अर्थात् साक्षात्कार) की, प्राप्ति—प्राप्ति से, फुल्ल—खिल उठते हैं, मनसां—हृदय जिन के, ऐसे, महात्मनां—महात्माओं का, विमलानि—निर्मल (अर्थात् जगत् का उद्धार करने में समर्थ), चेष्टितानि—चेष्टायें (अर्थात् व्यवहार), च—तथा, वचांसि—वचन, हेलया—सहज में ही (अर्थात् बिना किसी कठिनाई के), स्फुटं च—और स्पष्ट रूप में, उल्लसन्ति—देदीप्यमान होते हैं॥

(हे भगवन्!) आपका विकल्पों से रहित साक्षात्कार पाने से आनन्दमग्न हृदय वाले महापुरुषों की निर्मल चेष्टाएँ और वचन स्वाभाविक एवं स्पष्टरूप में हुलसने लगते हैं॥ ७॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

भाव यह है—हे प्रभु! जो भक्तजन आपके साक्षात्कार का आनन्द लूटते हैं, उनके सभी व्यवहार और वचन लोकोपकार की भावना से प्रेरित होते हैं स्वार्थसिद्धि की भावना से नहीं। इसलिए वे देदीप्यमान होते हैं।

**भगवन्भवदीयपादयो-**
**र्निवसन्नन्तर एव निर्भयः।**
**भवभूमिषु तासु तास्वहं**
**प्रभुमर्चेयमनर्गलक्रियः॥ ८॥**

*अन्वयः*—भगवन् भवदीयपादयोः अन्तरे एव निवसन् अहं तासु तासु भवभूमिषु निर्भयः (तथा) अनर्गलक्रियः (सन्) प्रभुम् अर्चेयम्।

भगवन्—हे भगवान्!, भवदीय—आप के, पादयोः—(ज्ञान-क्रिया रूपी) चरणों के, अन्तरे—बीच में, एव—ही, निवसन्—बसता हुआ, अहं—मैं, तासु तासु—उन अनन्त, भव—लौकिक, भूमिषु—अवस्थाओं में, निर्भयः—निर्भय, (तथा—तथा), अनर्गल—अनियन्त्रित, क्रियः—चेष्टाओं वाला (अर्थात् पूर्ण रूप में स्वतन्त्र), (सन्—होकर), प्रभुम्—(आप) प्रभु की, अर्चेयम्—पूजा करूँ॥

(हे भगवन्!) मैं केवल आपके (ज्ञान-क्रियारूपी) चरणों की

छत्रछाया में रहता हुआ, भिन्न भिन्न प्रकार की (असंख्य) सांसारिक अवस्थाओं में, निर्भय बनकर और परिपूर्ण स्वतंत्रता से आप परमदेव की अर्चना करता रहूँ॥ ८॥

**भवदङ्घ्रिसरोरुहोदरे**
**परिलीनो गलितापरैषणः।**
**अतिमात्रमधूपयोगतः**
**परितृप्तो विचरेयमिच्छया॥ ९॥**

*अन्वयः*—(नाथ) भवत्अङ्घ्रि सरोरुहउदरे परिलीनः (च) गलितअपरएषणः (अहम्) अतिमात्र मधु उपयोगतः परितृप्तः (सन्) इच्छया विचरेयम्।

(नाथ—हे स्वामी!), भवत्—आप के, अङ्घ्रि-सरोरुह—चरण-कमलों के, उदरे—बीच में, परिलीनः—अत्यन्त लीन बना हुआ, (च—और), गलित—शान्त हुई, अपर—अन्य, एषणः—इच्छाओं वाला, (अहम्—मैं), अतिमात्र—अत्यन्त, मधु-उपयोगतः—आनन्दरस (अर्थात् आत्म-सुख) के उपयोग से, परितृप्तः—पूर्ण रूप में तृप्त, (सन्—हो कर), इच्छया—(अपनी) इच्छा से (अर्थात् अत्यन्त स्वतन्त्र होकर), विचरेयम्—विहार करूँ (अर्थात् स्वात्मलाभ सम्बन्धी अवस्थाओं का अनुभव करूँ)॥

(हे शंकर!) आपके चरणकमलों की छाया में रहता हुआ, और समाप्त हुई सांसारिक अभिलाषाओं वाला मैं, 'मधु'—अर्थात् आत्मआनन्दमयी मदिरा का, छक कर पान करने से तृप्त होकर, अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार रमता रहूँ॥ ९॥

**यस्य दम्भादिव भवत्पूजासङ्कल्प उत्थितः।**
**तस्याप्यवश्यमुदितं सन्निधानं तवोचितम्॥ १०॥**

*अन्वयः*—(भगवन्) यस्य दम्भात् इव भवत्पूजासङ्कल्पः उत्थितः तस्य अपि तव उचितं सन्निधानम् अवश्यम् उदितम्।

(भगवन्—हे भगवान्!), यस्य—जिस (मनुष्य के मन) में, दम्भात् इव—पाखण्ड से (अर्थात् झूठमूठ ही), भवत्—आप (के स्वरूप) की, पूजा—पूजा

करने का, सङ्कल्पः—संकल्प (अर्थात् विचार), उत्थितः—उठा हो, तस्य—उस को, अपि—भी, तव—आपका, उचितं—उचित, सन्निधानम्—सान्निध्य (अर्थात् साक्षात्कार), अवश्यम्—अवश्य ही, उदितम्—प्राप्त होता है॥

(हे परमदेव!) जिस व्यक्ति के मन में, झूठी ठसक दिखाने के अभिप्राय से ही सही, आपकी अर्चना करने का विचार उठे, उसका भी अवश्य (किसी न किसी समय पर) आपका उचित साक्षात्कार प्राप्त होता है॥ १०॥

**भगवन्नि[१]तरानपेक्षिणा**
**नितरामेकरसेन चेतसा।**
**सुलभं सकलोपशायिनं**
**प्रभुमातृप्ति पिबेयमस्मि किम्॥ ११॥**

*अन्वयः*—(भगवन्) किम् (अहम्) इतरअनपेक्षिणा नितराम् एक रसेन चेतसा सकलउपशायिनम् (अतएव) सुलभं (त्वां) प्रभुम् आतृप्ति पिबेयम् अस्मि।

(भगवन्—हे भगवान्!), किम्—क्या, (अहम्—मैं), इतर—(किसी) दूसरी (बात) को, अनपेक्षिणा—न चाहने वाले, नितराम्—(किन्तु) केवल (आप की समावेश-भक्ति के लिए), एकरसेन—अत्यन्त लालायित बने हुए, चेतसा—(अपने) हृदय से, सकल—सारे जगत् में, उपशायिनम्—व्याप्त होने वाले, (अतएव—और इसीलिए), सुलभं—सुलभ (अर्थात् सहज में ही प्राप्त होने वाले, (त्वां—आप), प्रभुम्—स्वामी (के स्वरूप) का, आतृप्ति—पूर्ण रूप में, *पिबेयम् अस्मि—पान कर सकूँगा? (अर्थात् क्या मैं आपके साथ एकात्मता का अनुभव कर सकूंगा?)॥

हे भगवन्! भला क्या मैं दूसरी कामनाओं की अपेक्षा से रहित, और अनन्तकाल के लिए (आपकी समावेशमयी) भक्ति की अवस्था में एकतान बने हुए मन से, सर्वव्यापक एवं सहज ही में लभ्य आप प्रभु के स्वरूप का छक कर पान करने लगूँगा?—(अर्थात् तन्मय बन जावूँगा?)॥ ११॥

*संकेत—*

१. ख०, ग० पु० भगवन्नपरानपेक्षिणा—इति पाठः।

संस्कृत कवि-परम्परा में नितान्त तन्मयीभाव से अपने इष्ट के सौन्दर्य को देखते रहने की अवस्था को 'पान करना' कहते हैं।

**त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत्तदेव तु।**
**त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः।। १२।।**

*अन्वयः*—(प्रभो) एतत् सर्वं त्वया निराकृतं हेयम् (अस्ति) तत् एव तु त्वन्मयं (सत्) समुपादेयं (भवति) इति अयं सार संग्रहः (अस्ति)।

(प्रभो—हे प्रभु!), एतत्—यह, सर्वं—सब कुछ (अर्थात् वेद्य-वर्ग), त्वया—आप (चिदात्मा) से, निराकृतं—अलग होने पर, हेयम्—त्याज्य, (अस्ति)—(है) (अर्थात् सत्ता-हीन है), तत् एव तु—किन्तु यही (वेद्य-वर्ग), त्वन्मयं—आप (के स्वरूप) से अभिन्न, (सत्—होने पर), समुपादेयं (भवति)—सर्वथा ग्राह्य (अर्थात् स्वरूप-सत्ता-सम्पन्न बनता है), इति अयं—यही तो, सार संग्रहः (अस्ति)—(हमारे सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्त का) संक्षिप्त सार है।।

(हे स्वामी!) पराद्वैतवाद का संक्षिप्त निचोड़ केवल इतना है कि यह सारा प्रमेय-प्रपंच आपके स्वरूप से अलगरूप में प्रत्यभिज्ञात होने पर बिल्कुल हेय (अस्वीकार्य) है, जबकि यही प्रमेय-प्रपंच आपके स्वरूप के साथ बिल्कुल अभिन्न रूप में प्रत्यभिज्ञात होने पर सर्वथा उपादेय (ग्राह्य, स्वीकार्य) है।। १२।।

*संकेत*—

प्रत्यभिज्ञात होना=प्रत्यभिज्ञा का विषय बन जाना अर्थात् पहचाना जाना।

**भवतोऽन्तरचारि-भावजातं**
**प्रभुवन्मुख्यतयैव पूजितं तत्।**
**भवतो बहिरप्यभावमात्रा**
**कथमीशान भवेत्समर्च्यते वा।। १३।।**

*अन्वयः*—ईशान भवतः अनन्तर चारी (यत्) (इदं) भाव जातम् (अस्ति) तत् (तत्त्वज्ञेन) मुख्यतया प्रभु वत् एव पूजितं (भवति) (किन्तु) भवतः बहिः अभाव मात्रा अपि कथं भवेत् वा (कथं) समर्च्यते।

ईशान—हे ईश्वर!, भवतः—आप (चित्-प्रकाश) से, अनन्तर चारी—अभिन्न

होने वाला, (यत्–जो), (इदं–यह), भाव जातम्–भाव वर्ग, (अस्ति–है), तत्–वह, (तत्त्वज्ञेन–तत्त्वज्ञानी से), मुख्यतया–प्रधान रूप में, प्रभुवत्–(आप) प्रभु की भांति, एव–ही, पूजितं (भवति)–पूजा जाता है, (किन्तु–किन्तु), भवतः–आप (के स्वरूप) से, बहिः–भिन्न, अभाव-मात्रा–असद्रूप (अर्थात् आकाश-पुष्प), अपि–भी, कथं भवेत्–कैसे हो सकता है, वा (कथं)–और (कैसे), समर्च्यते–पूजा जा सकता है? (अर्थात् यह सारा जगत् आप से अभिन्न ही है)॥

हे ईशानदेव! यह सारे प्रमेय-पदार्थों का अटाला आपके स्वरूप में अभेदभाव से वर्तमान होने से ही आप प्रभु की तरह ही, मुख्य रूप में, पूजनीय बन जाता है, इसके विपरीत, आपके स्वरूप से बाहर किसी (आकाश कुसुम जैसे) असत्पदार्थ की भी स्वरूपसिद्धि ही कैसे हो सकती है, और किस प्रकार से वह (असिद्ध असत् पदार्थ) पूजनीय (ग्राह्य) बन सकता है?॥ १३॥

*संकेत*–

आचार्य जी ने इस मुक्तक में द्वैतवादियों की पूजा-अर्चना के तौर-तरीकों पर व्यंग्य कसा है।

**निःशब्दं निर्विकल्पं च निर्व्याक्षेपमथानिशम्।**
**क्षोभेऽप्यध्यक्षमी[1]क्षेयं त्र्यक्ष त्वामेव सर्वतः॥ १४॥**

*अन्वयः*–त्र्यक्ष (अहं) क्षोभे अपि निःशब्दं निर्विकल्पं च अध्यक्षं त्वाम् एव सर्वतः अथ अनिशं निर्व्याक्षेपम् ईक्षेयम्।

त्र्यक्ष–हे त्रिनेत्र-धारी प्रभु!, (अहं–मैं), क्षोभे–व्याकुलता (अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक अवस्था) में, अपि–भी, निःशब्दं–शब्दब्रह्मपद से परे होने वाले, निर्विकल्पं–निर्विकल्प-स्वरूप, च–तथा, अध्यक्षं–प्रत्यक्ष-स्वरूप, त्वाम्–आप (चित्-प्रकाश) को, एव–ही, सर्वतः–पूर्ण रूप में, अथ–और, अनिशं–सदा, निर्व्याक्षेपम्–बिना किसी विघ्न-बाधा के, ईक्षेयम्–देखता रहूँ! (अर्थात् व्युत्थान और समाधि, दोनों अवस्थाओं में मैं आपका साक्षात्कार करता रहूँ।)॥

१. ख०, ग० पु० ईक्षेय–इति पाठः।

हे त्रिनेत्रधारी! मैं, 'क्षोभ'—अर्थात् प्रमातृभाव और प्रमेयभाव की पारस्परिक खींचातानी से जनित उथल-पुथल में भी, (वैयाकरणों के द्वारा स्वीकृत) शब्द-ब्रह्म से भी उत्कृष्ट,.सर्वथा विकल्पों से दूर और प्रत्यक्ष रूप में वर्तमान आप (चित्-प्रकाश) को ही, बिना किसी रुकावट के, चारों ओर, और रात-दिन देखता रहूँ॥ १४॥

**प्रकटय निजधाम देव यस्मि-**
**[1]स्त्वमसि सदा परमेश्वरीसमेतः।**
**प्रभुचरणरजःसमानकक्ष्याः**
**[2]किमविश्वासपदं भवन्ति भृत्याः॥ १५॥**

*अन्वयः*— देव निजधाम प्रकटय यस्मिन् त्वं परमेश्वरीसमेतः सदा असि प्रभु-चरणरजःसमानकक्ष्याः (मादृशाः) (तव) भृत्याः किम् अविश्वास पदं भवन्ति।

देव—हे ज्योतिः-स्वरूप प्रभु!, निज—अपना, धाम—(वह चिद्रूप) घर, प्रकटय—प्रकट कीजिये, यस्मिन्—जिस में, त्वं—आप, परमेश्वरी—परा-शक्ति के, समेतः—साथ, सदा—सदा, असि—रहते हैं।, प्रभु- (आप) स्वामी के, चरण—चरणों की, रजः—धूलि के, समान—समान, कक्ष्याः—पदवी वाले, (मादृशाः—मुझ जैसे), (तव—आप के), भृत्याः—सेवक, किम्—क्या, अविश्वास-पदं भवन्ति—विश्वास के पात्र नहीं हो सकते हैं?॥

हे स्वच्छन्द अनुत्तरदेव! अपने उस (चिन्मयतारूपी) पवित्र धाम को दिखा दीजिए जिसमें आप अपनी सहचरी (परा-भट्टारिका) के साथ अवस्थित रहते हैं, क्या कहीं ऐसे भृत्य, जो आप प्रभु की चरणधूलि के समान हैं, अविश्वास के पात्र हो सकते हैं?॥ १५॥

**दर्शनपथमुपयातोऽप्यपसरसि**
**कुतो ममेश भृत्यस्य।**
**क्षणमात्रकमिह न भवसि**
**कस्य न जन्तोर्दृशोर्विषयः॥ १६॥**

---

१. ख० पु० 'वसति भवान्'—इति पाठः।

२. ग० पु०, च० पु० किमु विश्वासपदमिति पाठः।

*अन्वयः*—ईश (त्वं) मम भृत्यस्य दर्शन पथम् उपयातः अपि कुतः अपसरसि (एवं) क्षणमात्रकं (त्वम्) इह कस्य जन्तोः दृशोः विषयः न न भवसि।

ईश—हे स्वामी!, (त्वं—आप), मम—मुझ, भृत्यस्य—सेवक के, दर्शन-पथम्—दृष्टि-मार्ग पर, उपयातः अपि—आकर भी (अर्थात् दर्शन देकर भी), कुतः—क्यों, अपसरसि—भाग जाते हैं (अर्थात् फिर अदृश्य हो जाते हैं)?, (एवं—इस प्रकार), क्षणमात्रकं—क्षण भर के लिये, (त्वम्—आप), इह—इस संसार में, कस्य—किस, जन्तोः—प्राणी के, दृशोः विषयः—दृष्टि-गोचर, न न—नहीं, भवसि—होते? (अर्थात् प्रत्येक प्राणी को कभी न कभी क्षण भर के लिये आप दर्शन देते ही हैं।)॥

**हे ईश्वर! जब मैं आपका (विश्वासपात्र) दास हूँ, तो आप क्यों मुझे अपने स्वरूप की थोड़ी सी झलक दिखाकर तुरन्त भाग जाते हैं, आप तो सर्वसाधारण जीवधारियों को (किसी किसी अवसर पर) पलभर के लिए दर्शन देते ही रहते हैं॥ १६॥**

*संकेत*—

यह बात पहले ही समझाई गई है कि भय, क्रोध, हर्ष इत्यादि मानसिक अवस्थाओं की चरम सीमाओं पर हरेक जीवधारी को परमात्मभाव का क्षणपर्यवस्थायी आवेश कभी-कभार होता ही रहता है, यदि भक्तजनों को भी ऐसा ही क्षणिक आवेश होता रहे तो पशुजनों और भक्तजनों में अन्तर ही क्या रहेगा?॥

**ऐक्यसंविदमृताच्छधारया**
**सन्ततप्रसृतया [1]कदा विभो।**
**प्लावनात् परमभेदमानयं-**
**स्त्वां निजं च वपुराप्नुयां [2]मुदम्॥ १७॥**

*अन्वयः*—विभो सन्ततप्रसृतया ऐक्य संवित् अमृतअच्छधारया प्लावनात् त्वां च निजं वपुः परम अभेदम् आनयन् (अहं) कदा मुदम् आप्नुयाम्।

---

१. ख० पु०, च० पु० सदेति पाठः।
२. ग० पु० मदम्—इति पाठः।

विभो–हे व्यापक ईश्वर!, सन्तत–लगातार, प्रसृतया–बहती हुई, ऐक्यसंवित्–अभेद-ज्ञान रूपी, अमृत–(आनन्द-रसात्मक) अमृत की, अच्छ–निर्मल, धारया–धारा से (सदा), प्लावनात्–आप्लावित होकर, त्वां–आप के, च–तथा, निजं–अपने, वपुः–स्वरूप को, परम-अभेदम्–परम-अभेद अर्थात् एकात्मता (की दशा) को, आनयन्–पहुँचाते हुए, (अहं–मैं), कदा–कब, मुदम्–परमानन्द को, आप्नुयाम्–प्राप्त करूँ?॥

हे स्वामी! लगातार बहती हुई अभेदभावना रूपी अमृत की निर्मल धारा से आपके और अपने स्वरूप-दोनों को समरस बनाता हुआ मैं कब परमआनन्द धाम में ही तल्लीन हो जावूँ?॥ १७॥

**अहमित्यमुतोऽवरुद्धलोका-**
**द्भवदीयात्प्रतिपत्तिसारतो मे।**
**अणुमात्रकमेव विश्वनिष्ठं**
**घटतां येन भवेयमर्चिता ते॥ १८॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) अमुतः अहम्-इति अवरुद्ध-लोकात् भवदीयात् प्रतिपत्ति-सारतः विश्वनिष्ठम् अणुमात्रकम् एव मे घटतां येन (अहं) ते अर्चिता भवेयम्।

(प्रभो–हे भगवन्!), अमुतः–इस, अहम्-इति–पूर्णाहं विमर्श रूपी, अवरुद्धलोकात्–लोकवर्ती भेद-प्रथा से शून्य, भवदीयात्–आप के, प्रतिपत्ति–स्वरूप-ज्ञान संबन्धी, सारतः–(परमार्थ-) सार में से, विश्व–व्युत्थान में, निष्ठम्–प्रकाशमान, अणुमात्रकम्–जरा सा, एव–ही, मे–मुझे, घटतां–प्राप्त हो, येन–जिससे, (अहं–मैं), ते–आप (के स्वरूप) का, अर्चिता–पूजक, भवेयम्–बना रहूँ॥

हे स्वामी! व्युत्थानकाल में भी निजी स्वाभाविक रूप में प्रकाशमान रहने वाले, और द्वैतपूर्ण लोकव्यवहार का निरोध करने वाले 'अहम्' इस आपके ईश्वरीय अहंभाव, जो कि आपकी स्वरूपसंवित्ति (ज्ञातृता) का निचोड़ है, का तनिक् सा अंश ही मुझे उपलब्ध होता ताकि मैं आपका यथार्थ आराधक बन पाता॥ १८॥

[1]अपरिमितरूपमहं
तं तं भावं प्रतिक्षणं पश्यन्।
त्वामेव विश्वरूपं
निजनाथं साधु पश्येयम्।। १९।।

*अन्वयः*–(प्रभो) तं तं भावं पश्यन् (अपि) अहं प्रतिक्षणम् अपरिमितरूपं विश्व रूपं निजनाथं त्वाम् एव साधु पश्येयम्।

(प्रभो–हे ईश्वर!), तं तं–उन (अर्थात् संसार में होने वाले सभी), भावं–पदार्थों को, पश्यन्–देखते हुए, (अपि–भी), अहं–मैं, प्रतिक्षणम्–हर वक्त, अपरिमित–असीमित (अर्थात् अनन्त), रूपं–स्वरूप वाले, विश्व रूपं–जगदात्मा, निज–अपने, नाथं–स्वामी, त्वाम्–आप का, एव–ही, साधु–अच्छी तरह (अर्थात् पूर्ण रूप में), पश्येयम्–(समाधि और व्युत्थान, दोनों अवस्थाओं में) साक्षात्कार करता रहूँ।।

(हे परमेश्वर!) ऐसा हो कि मैं प्रतिपल (संसार के) भिन्न-भिन्न प्रमेय पदार्थों का साक्षात्कार करता हुआ, आप असीम रूपविस्तार वाले और विश्वरूप में विराजमान रहने वाले अपने प्रभु का स्वरूप ही 'अच्छी प्रकार'–अर्थात् समाधिदशा और व्युत्थानदशा दोनों में समानरूप से देखता रहूं।। १९।।

भवदङ्गगतं तमेव कस्मा-
न्न मनः पर्यटतीष्टमर्थमर्थम्।
प्रकृतिक्षतिरस्ति नो तथास्य
मम चेच्छा परिपूर्यते परैव।। २०।।

*अन्वयः*–(प्रभो) भवद् अङ्गगतं तम् एव इष्टम् अर्थम् अर्थम् (मे) मनः कस्मात् न पर्यटति तथा अस्य प्रकृतिक्षतिः नो अस्ति च मम परा इच्छा परिपूर्यते एव।

(प्रभो–हे प्रभु!), भवद्–आप (चिद्रूप) से, अङ्गगतं–अभिन्न बने हुए, तम्-एव–उन्हीं (अर्थात् सभी लौकिक), इष्टम्–अभीष्ट, अर्थम्-अर्थम्–विषयों

१. ख० पु० अतिपरिमितरूपमहम्–इति पाठः।

में, (मे–मेरा), मनः–मन, कस्मात्–क्यों, न–नहीं, पर्यटति–घूमता?, तथा–इस प्रकार (अर्थात् ऐसी भावना से विषय-सेवन करने से), अस्य–इस (मन) के, प्रकृति–स्वभाव को, क्षतिः–हानि, नो–नहीं, अस्ति–होगी, च–और, मम–मेरी, परा–सबसे बड़ी, इच्छा–(स्वरूप-लाभ सम्बन्धी) लालसा भी, परिपूर्यते एव–पूरी होकर ही रहेगी॥

(हे परमेश्वर!) क्यों न यह मेरा मन, उन्हीं प्रमेय विषयों को आपके अंगरूप में ही अनुभव करता हुआ, अभिलषित विषयों की ओर ही भटकता रहे? कारण यह कि–'उस प्रकार'–अर्थात् हरेक पदार्थ को आपका ही स्वरूप अनुभव करने की परिस्थिति में जहां उसके (मन के) अभेदभावनारूपी स्वभाव को कोई हानि पहुंचने की संभावना नहीं रहेगी वहीं मेरी 'परा इच्छा'–अर्थात् स्वरूप प्रत्यभिज्ञान की अभिलाषा भी पूरी होगी॥ २०॥

*संकेत*– इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी–

"भाव यह है–मन स्वभाव से ही चंचल है, वह अपनी चञ्चलता को छोड़ने वाला नहीं। किन्तु यह मन जिन जिन अभीष्ट विषयों में घूमता-फिरता है, वे सभी आप चिद्रूप से अभिन्न अर्थात् आपके ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं–यह बात तो मैं समझ चुका हूँ। अतः हे भगवन्! ऐसा कीजिये कि इसी भावना से अर्थात् इन विषयों को आप (चिद्रूप) से अभिन्न समझ कर मेरा मन उनमें लगता रहे। इस प्रकार जहां मेरे मन को अपनी चञ्चलता नहीं छोड़नी पड़ेगी, वहां मेरी लालसा भी पूरी होगी। अर्थात् मन के इच्छानुसार घूमते रहने पर भी मैं सदा व्यावहारिक रूप में स्वात्मज्ञान संपन्न ही बना रहूँ और भेदप्रथा को सर्व प्रकार से छोड़ दूँ।

**शतशः किल ते तवानुभावा-**
**द्भगवन्केऽप्यमुनैव चक्षुषा ये।**
**अपि हालिकचेष्टया चरन्तः**
**परिपश्यन्ति भवद्वपुः सदाग्रे॥ २१॥**

*अन्वयः*– भगवन् किल ते केऽपि शतशः (विद्यन्ते) ये हालिक-चेष्टया चरन्तः अपि तव अनुभावात् भवत्वपुः सदा अग्रे अमुना एव चक्षुषा परिपश्यन्ति।

भगवन्–हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभु!, किल–निस्सन्देह, ते–ऐसे, केऽपि–विरले अर्थात् अलौकिक पुरुष भी, शतशः–सैंकड़ों, (विद्यन्ते–होते हैं), ये–जो, हालिकचेष्टया–किसानों अर्थात् अज्ञ-जनों की भाँति, चरन्तः–व्यवहार करते हुये, अपि–भी, तव–आप के, अनुभावात्–प्रभाव से, भवत्–आप के, वपुः–चिदानन्द-स्वरूप का, सदा–सदा (अर्थात् व्युत्थान में भी), अग्रे–प्रत्यक्ष रूप में, अमुना एव–इन्हीं, चक्षुषा–नेत्रों से, परिपश्यन्ति–साक्षात्कार करते हैं॥

(हे परमेश्वर!) वैसे भी कई विरले पुरुष हैं जो देखने में (सीधे-सादे) खेतिहरों के से व्यवहार करते हुए भी, असल में, आपके अनुग्रह से सैंकड़ों वार, इन्हीं आंखों से, निश्चित रूप में, आपका साक्षात्कार करते रहते हैं॥ २१॥

**न सा मतिरुदेति या न भवति त्वदिच्छामयी**
**सदा शुभमथेतरद्भगवतैवमाचर्यते।**
**अतोऽस्मि भवदात्मको भुवि यथा तथा सञ्चरन्**
**स्थितोऽनिशमबाधितत्वदमलाङ्घ्रिपूजोत्सवः॥ २२॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) सा मतिः न उदेति या त्वद्इच्छामयी न भवति एवं शुभम् अथ इतरत् सदा (भगवता) आचर्यते अतः (अहं) भुवि यथा-तथा सञ्चरन् (अपि) भवत् आत्मकः अस्मि (फलतः) (अहम्) अनिशम् अबाधितत्वद्अमलअंघ्रिपूजा उत्सवः स्थितः (अस्मि)।

(प्रभो–हे स्वामी!), सा–वह, मतिः–बुद्धि, न उदेति–चमक नहीं उठती, या–जो, त्वद्–आप की, इच्छा–इच्छा के, मयी–अनुसार चलने वाली, न–नहीं, भवति–होती।, एवं–इस प्रकार, शुभम्–अच्छा (अर्थात् कल्याणकारक), अथ–और, इतरत्–बुरा (सारा मेरा व्यवहार), सदा–सदा, (भगवता–(आप) प्रभु से ही), आचर्यते–किया जाता है।, अतः–इस लिए, (अहं–मैं), भुवि–इस संसार में, यथा-तथा–ज्यों-त्यों, सञ्चरन्–व्यवहार करते हुए, (अपि–भी), भवत्–आप का ही, आत्मकः–स्वरूप, अस्मि–हूँ, (फलतः–फलतः), (अहम्–मैं), अनिशम्–निरन्तर, अबाधित–बे रोक-टोक होने वाले, त्वद्–आप के, अमल–निर्मल, अंघ्रि–चरणों की, पूजा-उत्सवः–

पूजा का उत्सव (अर्थात् आनन्द वाला) होकर ही, स्थितः (अस्मि)–रहता हूँ॥

(हे परमेश्वर!) ऐसा कोई संकल्प उठ ही नहीं सकता जो आपकी इच्छा न हो, हरेक सत्कर्म या उससे इतर (असत्कर्म) आप ऐश्वर्यशाली परमात्मा के द्वारा ही संपन्न किया जाता है, इसलिए मैं संसार में कोई भी व्यवहार करता हुआ आपका ही स्वरूप हूँ, और रात-दिन, किसी भी रुकावट के बिना, आपके स्वच्छातिस्वच्छ चरणों की अर्चना करते रहने के उत्सव को मनाता हुआ ही स्थित हूँ॥ २२॥

*संकेत*– श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी–

भावार्थ–हे प्रभु! मेरी बुद्धि तब ही चलती है और सार्थक होती है जब वह आपकी इच्छा के अनुकूल हो। इसलिए मैं जो कुछ व्यवहार करता हूँ उसके करने वाले आप ही हैं, मैं नहीं। आपके श्रीचरणों की पूजा का काम आपकी इच्छा के अनुकूल है, फलतः उस काम के करने का आनन्द मुझे सदा अनायास ही मिलता रहता है।

**भवदीयगभीरभाषितेषु**
**प्रतिभा सम्यगुदेतु मे पुरोऽतः।**
**तदनुष्ठितशक्तिरप्यतस्त–**
**द्भवदर्चाव्यसनं च निर्विरामम्॥ २३॥**

*अन्वयः*– नाथ पुरः मे प्रतिभा भवदीयगभीरभाषितेषु सम्यक् उदेतु ततः अपि तत्अनुष्ठितशक्तिः (उदेतु) अतः च तत् भवत् अर्चाव्यसनं निर्विरामम् (उदेतु)।

नाथ–हे नाथ!, पुरः–पहले, मे–मेरी, प्रतिभा–बुद्धि, भवदीय–(शास्त्रों में दिए गए) आप के, गभीर–गंभीर अर्थात् रहस्यपूर्ण, भाषितेषु–वाक्यों (के समझने) में, सम्यक्–भलीभाँति (अर्थात् पूर्ण रूप में), उदेतु–चमक उठे (अर्थात् सफल हो जाय), ततः अपि–उसके बाद, तत्–उन (वाक्यों) के अनुसार, अनुष्ठित–कार्य करने की, शक्तिः–शक्ति, (उदेतु–मुझे प्राप्त हो जाय)।, अतः च–और फिर, तत् भवत् अर्चा–आप की (समावेश रूपी) पूजा करने की वह (अर्थात् अलौकिक), व्यसनं–चाव-पूर्ण भावना, निर्विरामम्–(मुझे) लगातार, (उदेतु–होती रहे)॥

(हे सर्वशक्तिमान्!) सबसे पहले मुझ में आपके अति रहस्यपूर्ण (अद्वैत तंत्रों में वर्णित) उपदेशों को भलीभांति समझ पाने के अनुकूल प्रतिभा का विकास हो, अनन्तर उनमें वर्णित इति कर्तव्यताओं को (अविकल रूप में) संपन्न करने की शक्ति का उदय हो, उपरान्त लगातार आपकी (उचित) पूजा (सुचारु ढंग से) करते रहने की लत भी उत्पन्न हो॥ २३॥

**व्यवहारपदेऽपि सर्वदा**
**प्रतिभात्वर्थकलाप एष माम्।**
**भवतोऽवयवो यथा न तु**
**स्वत एवादरणीयतां गतः॥ २४॥**

*अन्वयः*—(भगवन्) एषःअर्थ कलापः यथा भवतः अवयवः (अस्ति) व्यवहार पदे अपि (स तथा एव) मां सर्वदा प्रतिभातु तु स्वतः एव आदरणीयतां गतः (मां कदापि) न (प्रतिभातु)।

(भगवन्—हे ईश्वर!), एषः—(संसार के) यह, अर्थ कलापः—सभी पदार्थ, यथा—(वस्तुतः अर्थात् अभेद-प्रथा से) जैसे, भवतः—आप के, अवयवः—अंग (अर्थात् आप के स्वरूप के अंश), (अस्ति—हैं), व्यवहारपदे— (सामान्य) व्यवहार में, अपि—भी, (स तथा एव—वे वैसे ही), मां—मुझे, सर्वदा—सदा, प्रतिभातु—दिखाई दें, तु—किन्तु, स्वतः एव—(वे) आप से आप ही (अर्थात् भेद-प्रथा से युक्त होते हुए ही), आदरणीयतां गतः—(केवल विषयसुखरूपता से) आदरणीय बने हुए, (मां कदापि—मुझे कभी), न (प्रतिभातु)—दिखाई न दें॥

(हे ईश्वर!) यह प्रमेय पदार्थों का समूह मुझे आम लोकव्यवहार करते रहने की दशा में भी आपका अंगभूत (चित्-प्रकाशमय) दिखाई देता रहे, इसके विपरीत यह मुझे अपनी विषयसुखरूपता के ही प्रभाव से आदरणीय बना हुआ (अर्थात् स्वीकार्य) कभी भी न दिखाई दे॥ २४॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज का स्पष्टीकरण—

हे भगवन्! संसार के सभी पदार्थ वस्तुतः आपके स्वरूप के अंश अर्थात् आपसे अभिन्न हैं। मैं चाहता हूँ कि सामान्य व्यवहार में भी मैं उनको वैसे ही अर्थात्

आपसे अभिन्न समझूँ और इसी भावना से उनका आदर करूँ। केवल यह समझ कर कि वे सुख (इन्द्रिय सुख) आदि के कारण हैं, मैं उनका आदर न करूँ।

**मनसि स्वरसेन यत्र तत्र**
**प्रचरत्यप्यहमस्य गोचरेषु।**
**प्रसृतोऽप्यविलोल एव युष्म-**
**त्परिचर्याचतुरः सदा भवेयम्॥ २५॥**

*अन्वयः*–(ईश) मनसि स्वरसेन यत्र-तत्र प्रचरति अपि अस्य गोचरेषु प्रसृतः अपि अहम् अविलोलः एव (सन्) सदा युष्मद् परिचर्या चतुरः भवेयम्।

(ईश–हे प्रभो!), मनसि–मन के, स्वरसेन–अपने मज़े से (अर्थात् अपने स्वाभाविक रूप में), यत्र-तत्र–जहाँ-तहाँ, प्रचरति अपि–घूमते रहने पर, भी अस्य –इसके, गोचरेषु–विषयों (का सेवन करने), प्रसृतः–लगा हुआ, अपि– भी, अहम्–मैं, अविलोलः एव (सन्)–चञ्चलता से रहित होकर ही, सदा– हमेशा, युष्मद्–आप की, परिचर्या–उपासना करने में, चतुरः–प्रवीण, भवेयम्–बना रहूँ॥

(हे ईश्वर!) स्वभाववश मन के इधर-उधर भटकते रहने और मेरे इसके (मनके) विषयों का सेवन करने पर लगा हुआ होने पर भी मैं, सारी चञ्चलताओं को भूलकर, केवल आपकी आराधना करते रहने की दिशा में प्रवीण बना रहूँ॥ २५॥

**भगवन्भवदिच्छयैव दास-**
**स्तव जातोऽस्मि परस्य नात्र शक्तिः।**
**कथमेष तथापि वक्त्रबिम्बं**
**तव पश्यामि न जातु चित्रमेतत्॥ २६॥**

*अन्वयः*– भगवन् भवत्इच्छया एव (अहं) तव दासः जातः अस्मि अत्र परस्य शक्तिः न (अस्ति) तथापि कथम् एषः तव वक्त्र बिंबं न जातु पश्यामि एतत् (तु) चित्रम्।

भगवन्–हे स्वामी!, भवत्–आप की, इच्छया–(अनुग्रह रूपिणी अप्रतिहता) इच्छा से, एव–ही, (अहं–मैं), तव–आप का, दासः–अनन्य-भक्त,

जातः—बन गया, अस्मि—हूँ, अत्र—इस विषय में, परस्य—(मल-परिपाक आदि) अन्य साधनों का, शक्तिः—सामर्थ्य, न (अस्ति)—नहीं है।, तथापि—तो भी, कथम्—क्या बात है कि (मैं इस व्युत्थान में), एषः—इस, तव—आप के, वक्त्र बिंबं—(पराशक्ति रूपी) मुखमण्डल को, न जातु—कभी नहीं, पश्यामि—देख पाता!, एतत् (तु)—यह (तो), चित्रम्—आश्चर्य की बात है॥

हे भगवन्! मैं आपकी (लोकोत्तर अनुग्रहमयी) इच्छाशक्ति के प्रभाव से ही आपका दास बन गया हूँ क्योंकि मेरे द्वारा अपनाए गए साधनों में ऐसा करने की शक्ति नहीं थी, लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि ऐसा होने पर भी, किस रुकावट के कारण, मुझे (व्युत्थान काल में) आपके सुन्दर मुखबिम्ब का दर्शन कभी भी क्यों नहीं मिलता है?॥ २६॥

**समुत्सुकास्त्वां प्रति ये भवन्तं**
**प्रत्यर्थरूपादवलोकयन्ति।**
**तेषामहो किं तदुपस्थितं स्यात्**
**किं साधनं वा फलितं भवेत्तत्॥ २७॥**

*अन्वयः*—(नाथ) त्वां प्रति समुत्सुकाः ये भवन्तं प्रत्यर्थ रूपात् अवलोकयन्ति तेषाम् अहो तत् किं साधनम् उपस्थितं स्यात् वा तत् किं फलितं भवेत्।

(नाथ—हे नाथ!), त्वां प्रति—आप (की प्राप्ति) के लिए, समुत्सुकाः—अत्यन्त उत्कंठित बने हुए, ये—जो (भक्त-जन), भवन्तं—आप (चित्-स्वरूप) को, प्रत्यर्थ-रूपात्—प्रत्येक वस्तु (या बात) में, अवलोकयन्ति—देखते हैं, तेषाम्—उन को, अहो—भला, तत् किं—वह कौन सा, साधनम्—साधन (अर्थात् युक्ति-क्रम), उपस्थितं—उपलब्ध, स्यात्—होता होगा, वा—और (उस साधना से उन को), तत्—वह, किं—कौन सा, फलितं भवेत्—फल प्राप्त होता होगा (अर्थात् वे किस अवस्था को प्राप्त करते होंगे!)॥

(हे परमात्मा!) आपका दर्शन पाने के लिए अति उत्कंठित जो भक्तवर प्रत्येक पदार्थ में आपके स्वरूप को निहारते रहते हैं, उनको, भला, वैसा कौन सा अनूठा साधन उपलब्ध हुआ होता है, और उसका कैसा अतर्क्य फल भी मिलता रहता है?॥ २७॥

**भावा भावतया सन्तु**
**भवद्भावेन मे भव।**
**तथा न किञ्चिदप्यस्तु**
**न किञ्चिद्भवतोऽन्यथा॥ २८॥**

*अन्वयः*—भव भवत्भावेन भावाः मे भावतया सन्तु तथा (यत्) भवतः अन्यथा किंचित् न (अस्ति) (तन्मे) किंचित् अपि न अस्तु।

भव—हे महादेव!, भवत्—आप के, भावेन—प्रभाव (या सत्ता) से, भावाः—(ये सभी सांसारिक) पदार्थ, मे—मुझे, भावतया—(आप के) स्वरूप की सत्ता के रूप में (ही), सन्तु—प्रतीत हो जायें, तथा—और, (यत्—जो कोई वस्तु), भवतः— आप (चिद्रूप) से, अन्यथा—भिन्न हो कर, किंचित्—कुछ भी, न (अस्ति)—नहीं है (अर्थात् कुछ सत्ता ही नहीं रखती), (तन्मे—वह वस्तु मेरे लिए), किंचित् अपि न अस्तु—कुछ भी न हो (अर्थात् मैं उस वस्तु को वस्तु ही न समझूँ)॥

हे भगवान् शंकर! आपके ईश्वरीय प्रभाव से मुझे सारे पदार्थ 'भावरूप में' अर्थात् आपकी चिन्मय सत्ता के रूप में ही भासमान होते रहें, इसके प्रतिकूल आपकी स्वरूपसंवित्ति से पृथक् होने की दशा में, कोई भी पदार्थ मेरे लिए कुछ भी न हो॥ २८॥

**यन्न किञ्चिदपि तन्न किञ्चिद-**
**प्यस्तु किञ्चिदपि किञ्चिदेव मे।**
**सर्वथा भवतु तावता भवान्**
**सर्वतो भवति लब्धपूजितः॥ २९॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) यत् न किंचित् अपि (अस्ति) तत् मे किंचित् अपि न अस्तु (यत् च) किञ्चित् अपि (अस्ति) (तत् मे) सर्वथा किंचित् एव भवतु तावता भवान् सर्वतः (मया) लब्ध पूजितः भवति।

(प्रभो—हे ईश्वर!), यत्—(चित्-प्रकाश से भिन्न) जो (कोई वस्तु), न किंचित् अपि (अस्ति)—(अप्रकाशमान होने से) कुछ भी नहीं है (अर्थात् कुछ सत्ता नहीं रखती), तत्—वह, मे—मेरे लिए, किंचित् अपि—कुछ भी, न

अस्तु—न हो (अर्थात् मैं उसे कुछ भी न समझूँ), (यत् च—और जो वस्तु), किञ्चित् अपि (अस्ति)—(चिद्रूपता से अभिन्न होने के कारण) कुछ है (अर्थात् कुछ सत्ता रखती है), (तत् मे—वह मेरे लिए), सर्वथा—सर्वथा (या हर प्रकार से), किंचित् एव— कुछ (अर्थात् स्वरूपसत्ता से युक्त) ही, भवतु—हो (अर्थात् मैं उसको ऐसा ही समझूँ), तावता—इतने से (अर्थात् ऐसा होने पर), भवान्—आप (चिद्रूप), सर्वतः (मया)—सभी अवस्थाओं में (अर्थात् समाधि तथा व्युत्थान दोनों में) मुझसे, लब्ध पूजितः भवति—प्राप्त किये जा सकते हैं और पूजित हो सकते हैं॥

(हे पापनाशन!) जो पदार्थ 'कुछ भी न हो'—अर्थात् चित्-प्रकाश के साथ अभिन्न न हो, उसका कहीं पर भी अस्तित्व ही न हो, और मेरे लिए भी वह कुछ भी न हो, इसके प्रतिकूल जो भाव 'कुछ हो'—अर्थात् चिन्मयता के साथ अभिन्न होने के कारण यथार्थ सत्तावान हो, वही मेरे लिए भी 'कुछ हो'—अर्थात् अस्तित्व वाला हो, केवल ऐसी ही परिस्थिति में आप मेरे द्वारा—'सभी दशाओं में'—अर्थात् समाधि, व्युत्थान इत्यादि दशाओं में अच्छी प्रकार अर्चित बन सकते हैं। (अथवा अच्छी प्रकार पूजित हो सकते हैं)॥ २९॥

मुखबिम्बे समस्तस्य विश्वस्य प्रतिबिम्बनम्।
यस्य तस्मै महेशाय नमोऽस्तु परमात्मने॥

शुभमंस्तु सर्वजगतां

बारहवां स्तोत्र समाप्त

उों नमः शिवाय

क्षिप्तोऽस्मि शर्व भवतैव यतो विषाक्ते
मोहोदधौ विषयग्राहसमाकुलेऽस्मिन्।
झंझा प्रघातप्रविशीर्ण समस्त धैर्यं
तन्नौमि तारकवरं नु भवन्तमेव॥

# भक्तिविलास नामक तेरहवां स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'संग्रहस्तोत्र' भी है। प्रस्तुत प्रसंग में 'संग्रह' शब्द के दो अभिप्राय द्योतित हो रहे हैं। १. समावेशदशा में अनुभव में आई हुई बहुत सी आध्यात्मिक अनुभूतियों का संकलन, २. संक्षेप में उनकी अभिव्यंजना। इस स्तोत्र में भगवान् उत्पलदेव समावेश-अवस्था में परमात्मसाक्षात्कार पाने से बटोरे हुए संस्कारों के बल से व्युत्थान अवस्था में भी उन्हीं समावेशकालीन आध्यात्मिक अनुभूतियों की संक्षिप्त, अभिव्यंजना कर रहे हैं अतः इसको 'संग्रहस्तोत्र' कहते हैं। इसके अतिरिक्त क्षेमराज के मतानुसार प्रस्तुत स्तोत्र अतिसुन्दर स्तोत्र रचना होने के कारण उत्पलदेव के समूचे स्तोत्रभंडार का संग्रहरूप ही है।

आचार्य उत्पलदेव ने इस स्तोत्र का नामकरण "संग्रहस्तोत्र" स्वयं किया है।

**संग्रहेण सुखदुःखलक्षणं**
**मां प्रति स्थितमिदं शृणु प्रभो।**
**सौख्यमेष भवता समागमः**
**स्वामिना विरह एव दुःखिता॥ १॥**

*अन्वयः*—प्रभो शृणु संग्रहेण मां प्रति स्थितं सुखदुःखलक्षणम् इदम् (अस्ति) भवता एषः समागमः (एव) (मम) सौख्यम् (च भवता) स्वामिना विरहः एव (मम) दुःखिता (अस्ति)।

**प्रभो**—हे स्वामी!, **शृणु**—सुनिये, **संग्रहेण**—संक्षेप में, **मां प्रति**—मेरे विषय में, **स्थितं**—होने वाला, **सुख**—सुख, **दुःख**—और दुःख का, **लक्षणम्**—लक्षण (अर्थात् रूप या सच्चा वर्णन), **इदम्**—यह, (अस्ति—है), **भवता**—आप (चिद्रूप)

के साथ, एषः–यह (अर्थात् समावेश में साक्षात्कार द्वारा), समागमः–(एकात्मभाव रूपी), (एव–ही), (मम–मेरा), सौख्यम्–सुख (है), (च भवता–और आप), स्वामिना–स्वामी का, विरहः–वियोग, एव–ही (अर्थात् आप के स्वरूप का अज्ञान ही), (मम) दुःखिता–(मेरा) दुःख, (अस्ति–है)॥

हे प्रभु! यह मेरे सुख और दुःख की परिभाषा (पहचान), जैसे मेरे अंतस् में स्फुरित हो रही है, आप ज़रा सुनिए–'मेरे लिए (समावेशदशा में) आपके स्वरूप के साथ मिलन की अवस्था (सर्वतोमुखी) सुख, और (व्युत्थानदशा में) आप स्वामी से बिछड़ जाना ही (सर्वतोमुखी) दुःख है॥ १॥

*संकेत*– इस मुक्तक पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है–

नाथ तेरा संग ही तो सुख है।
तुझसे रहना ही जुदा तो दुःख है॥

**अन्तरप्यतितरामणीयसी**
**या त्वदप्रथनकालिकास्ति मे**
**तामपीश परिमृज्य सर्वतः**
**स्वं[1] स्वरूपममलं प्रकाशय॥ २॥**

*अन्वयः*–ईश त्वद्अप्रथनकालिका अतितराम् अणीयसी अपि या मे अन्तर् अस्ति ताम् अपि सर्वतः परिमृज्य स्वम् अमलं स्वरूपं प्रकाशय।

ईश–हे प्रभु!, त्वद्–आप (चित्-स्वरूप) को, अप्रथन–अप्रकट (अर्थात् छुपा) रखने वाली, कालिका–मलिनता (अर्थात् अज्ञान), अतितराम्–चाहे वह अत्यन्त, अणीयसी अपि–सूक्ष्म भी (अर्थात् ज़रा सी क्यों न हो), या–जो, मे–मेरे, अन्तर् अस्ति–चित्त में (आप के स्वरूप-साक्षात्कार के समय) होती है, ताम्–उस को, अपि–भी, सर्वतः–पूर्ण रूप में, परिमृज्य–दूर करके, स्वम्–अपने (चिदानन्द-मय), अमलं–निर्मल, स्वरूपं–स्वरूप को, प्रकाशय–प्रकट कीजिए॥

हे ईश्वर! जो आपके (ज्योतिर्मय) स्वरूप को ढकने वाली कलौंस

१. ख० पु०, ग० पु० स्वरूपमिति पाठः।

(अख्याति की कालिख) की बहुत पतली परत मेरे अन्तर्हृदय में छाई हुई है, उसको भी, संस्कार के सहित, पूरी तरह मिटा कर अपने निर्मल स्वरूप को प्रकाशित कीजिए॥ २॥

कलौंस–कलंक या कालापन

**तावके वपुषि विश्वनिर्भरे**
**चित्सुधारसमये निरत्यये।**
**तिष्ठतः सततमर्चतः प्रभुं**
**जीवितं मृतमथान्यदस्तु मे॥ ३॥**

*अन्वयः*–(नाथ) तावके निरत्यये विश्वनिर्भरे चित् सुधारसमये वपुषि तिष्ठतः (एव) सततं प्रभुम् अर्चतः मे जीवितं मृतम् अथ अन्यत् अस्तु।

(नाथ–हे स्वामी!), तावके–(मेरी यही अभिलाषा है कि मैं) आप के, निरत्यये–अविनाशी, विश्व–जगद्रूपता से, निर्भरे–पूर्ण, चित्सुधा–चिदानन्द रूपी, रस–अमृत-रस से, मये–भरे हुए, वपुषि–स्वरूप में, तिष्ठतः–लीन होकर, (एव–ही), सततं–निरन्तर, प्रभुम्–(आप) स्वामी की, अर्चतः–पूजा करने में लगा रहूँ, मे–(चाहे फिर) मैं, जीवितं–जीवित रहूँ, मृतम्–(या) मर जाऊँ, अथ–अथवा (मुझे), अन्यत् अस्तु–कुछ और हो जाय (अर्थात् मैं मोक्ष को प्राप्त करूँ)॥

(हे परमदेव!) (मेरी यह कामना है कि–) समूची विश्वमयता को प्रकाशित करने से परिपूर्ण (अथवा जगदानन्द भाव से परिपूर्ण), चित्-भाव के अमृत की रसमयता से सराबोर और अविनाशी आपके स्वरूप में लवलीन होकर, निरंतर, आप प्रभु की अर्चना करने में व्यस्त रहता हुआ ही मैं जीवित रहूँ, मर जावूँ अथवा और किसी अवस्था का भागी बनूँ–(अर्थात् मुक्त हो जावूँ)॥ ३॥

**ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान्**
**पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः।**
**मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते**
**मानिता त्वदनुरागिणः परम्॥ ४॥**

*अन्वयः*– (अहं-विमर्श-कारिन्) अहम् ईश्वरः (अस्मि) अहम् एव रूपवान् (अस्मि) (अहं) पण्डितः अस्मि (अहम् एव) सुभगः अस्मि (किं बहुना) जगति मत् समः अपरः कः अस्ति, इति मानिता त्वद्*अनुरागिणः परं शोभते।

(अहं-विमर्श-कारिन्–हे पूर्णाहन्तास्वरूप स्वामी!), अहम्–"मैं, ईश्वरः–ईश्वर (अर्थात् पूर्ण रूप में स्वतंत्र), (अस्मि–हूँ), अहम्–मैं, एव–ही, रूपवान्–सुन्दर (अर्थात् चिदात्मा के प्रकाश से उज्ज्वल), (अस्मि–हूँ), (अहं–मैं), पण्डितः अस्मि–ज्ञानवान् (अर्थात् तत्त्वदर्शी) हूँ, (अहम् एव–मैं ही), सुभगः–सौभाग्यवान् (अर्थात् परमानन्द-रस-पूर्ण होने के कारण सब के लिए स्पृहणीय), अस्मि–हूँ, (किं बहुना–ज्यादा क्या कहूँ?), जगति–(इस) जगत् में, मत्-समः–मेरे समान, अपरः–दूसरा, कः–कौन, अस्ति,–है",–, इति–इस प्रकार के, मानिता–स्वात्माभिमान की भावना, त्वद्–आप के, *अनुरागिणः परं शोभते–उस भक्त को अत्यन्त शोभा देती है, (जो समावेश में आप के साथ एकात्मता का अनुभव करता है)॥

(हे परमेश्वर!) "मैं ही ईश्वर (स्वतन्त्र स्वामी) हूं, मैं ही रूपवाला (सुन्दर चित्-रूप) हूँ, मैं ही पंडित (प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ता) हूँ, मैं ही (सबका) मनचीता हूँ, मेरे समान और दूसरा कौन है?"–इस प्रकार की (स्वाभिमान की) बातें करना केवल उन्ही पुरुषों को सजता है जो आपके सच्चे अनुरागी हों–(अर्थात् अन्तः-बहिः परमात्मस्वरूप बन गए हों)॥ ४॥

*संकेत*– सद्गुरु महाराज ने प्रस्तुत मुक्तक का भावार्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है–

*भावार्थः*–हे भगवान्! जो भक्त आपके स्वरूप में लीन होता है अर्थात् समावेश में आपके साक्षात्कार का आनन्द उठाता है, उसका अभिमान भी अलौकिक चमत्कार से युक्त होने के कारण उसका भूषण ही होता है, किन्तु सांसारिक लोगों का अभिमान उस चमत्कार से रहित होने के कारण दूषण ही होता है।

**देवदेव भवदद्वयामृता–**
**ख्यातिसंहरणलब्धजन्मना।**
**तद्यथास्थितपदार्थसंविदा**
**मां कुरुष्व चरणार्चनोचितम्॥ ५॥**

*अन्वयः*–तद् देवदेव भवत्‌अद्वय–अमृतअख्यातिसंहरणलब्ध–जन्मना यथास्थित–

पदार्थसंविदा मां चरणअर्चनउचितं कुरुष्व।

तद्—इसलिए, देवदेव—हे देवताओं के प्रभु!, भवत्—आप के, अद्वय-अमृत—(चित्-आनन्द रूपी) अभेद-अमृत की, अख्याति—अप्रथा (अर्थात् अज्ञान) के, संहरण—नष्ट होने पर, लब्ध जन्मना—जो (स्वरूप-साक्षात्कार रूपी ज्ञान) जन्म लेता है, अर्थात् उत्पन्न होता है, ऐसे, यथास्थित—अपने स्वाभाविक रूप में होने वाले (अर्थात् आप चिद्रूप से अभिन्न होने वाले), पदार्थ—(सभी) पदार्थों के, संविदा—ज्ञान से, मां—मुझे, चरण—(अपने) चरणों की, अर्चन—पूजा करने के, उचितं—योग्य, कुरुष्व—बना दीजिए॥

हे देवाधिदेव! इसलिए आपके (चिदानन्दमय) अभेदभाव के रूपवाले अमृत की जानकारी न होने की दशा (अख्याति) को समेटने से उदित होने वाली 'संवित्'—अर्थात् सारे पदार्थों को चिन्मात्रस्वरूप अनुभव करने के रूपवाले यथार्थज्ञान का उन्मेष करने से मुझे आपके चरणों की अर्चना करने के योग्य बना दीजिए॥ ५॥

**ध्यायते तदनु दृश्यते ततः**
**स्पृश्यते च परमेश्वरः स्वयम्।**
**यत्र पूजनमहोत्सवः स मे**
**सर्वदास्तु भवतोऽनुभावतः॥ ६॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) यत्र (महोत्सवे) परमेश्वरः स्वयं ध्यायते तदनु दृश्यते ततः च स्पृश्यते सः पूजनमहाउत्सवः भवतः अनुभावतः मे सर्वदा अस्तु।

(प्रभो—हे स्वामी!), यत्र—जिस, (महोत्सवे—बड़े उत्सव में), परमेश्वरः—परमेश्वर का, स्वयं—आप से आप (अर्थात् अनायास ही), ध्यायते—ध्यान किया जाता है, तदनु—उसके बाद, दृश्यते—(समावेश में) दिखाई देता है, ततः च—और फिर, स्पृश्यते—(आप से आप ही) स्पर्श किया जाता है, सः—वही, पूजन—(आप की) पूजा का, महा—बड़ा, उत्सवः—उत्सव, भवतः—आप के, अनुभावतः—प्रभाव से, मे—मुझे, सर्वदा—सदैव, अस्तु—प्राप्त होता रहे॥

(हे प्रभु!) आपके अनुग्रह से मुझे उस (अवर्णनीय) आपकी परा-पूजारूपी उत्सव को हमेशा मनाते रहने की प्रेरणा (समावेशमयी

प्रेरणा) मिलती रहे जिसमें—१. आपका ध्यान किया जाता है, २. उपरान्त आपका (समावेशमय) साक्षात्कार प्राप्त होता है और ३. आप परमेश्वर का स्पर्श किया जाता है—(अर्थात् आपके स्वरूप में परिपूर्ण लयीभाव हो जाता है।। ६।।

*संकेत—*

प्रस्तुत मुक्तक में ध्यान, दर्शन (साक्षात्कार) और स्पर्श—इन तीन शास्त्रीय शब्दों से क्रमशः आणव, शाक्त एवं शांभव इन तीन भूमिकाओं पर आरोह करने का अभिप्राय लिया जाता है।

**यद्यथास्थितपदार्थदर्शनं**
**युष्मदर्चनमहोत्सवश्च यः।**
**युग्ममेतदितरेतराश्रयं**
**भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते।। ७।।**

*अन्वयः*—(उमेश) यत् यथास्थितपदार्थदर्शनम् (अस्ति) यः च युष्मद् अर्चन महा उत्सवः (अस्ति) एतत् युग्मम् इतर-इतरआश्रयम् (अस्ति) (इदं च) भक्ति शालिषु सदा विजृम्भते।

(उमेश—हे पार्वती-नाथ!), यत् यथा-स्थित-पदार्थ-दर्शनम्—अपने स्वाभाविक स्वरूप में ठहरी हुई (अर्थात् आप चिद्रूप से अभिन्न होने वाली) सभी सांसारिक वस्तुओं का जो दर्शन (अर्थात् ज्ञान), (अस्ति—है), यः च युष्मद्अर्चनमहाउत्सवः—और (अद्वय-आनन्द-रूपिणी) आप की पूजा का जो बड़ा उत्सव, (अस्ति—है), एतत्—ये, युग्मम्—दोनों बातें, इतर-इतर—एक दूसरे पर, आश्रयम् (अस्ति)—आश्रित रहती हैं। (अर्थात् वस्तुओं की वास्तविक स्थिति आप से अभिन्नता के ज्ञान के विना अद्वयानन्दरूपिणी आप की पूजा का बड़ा उत्सव संभव नहीं होता। ऐसे ही उस उत्सव के बिना वस्तुओं की स्थिति का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इसलिए ये दोनों बातें एक साथ होती हैं।), (इदं च—और इन दोनों बातों का), भक्ति-शालिषु—(आप के) अनन्यभक्तों में, सदा—हमेशा, विजृम्भते—विकास होता है।।

(हे पार्वतीनाथ!) १. जो यह (शब्द, स्पर्श आदि) प्रमेय पदार्थों की स्वाभाविक स्थिति—जिसमें वे चित्-स्वरूप ही दिखाई देते हैं—की

जानकारी है, और २. जो यह आपकी अद्वय-आनन्दरूपिणी परा-पूजा के महान् उत्सव का (समावेश रूप में) मनाया जाना है, ये दोनों बातें आपस में एक दूसरे पर आश्रित हैं, और पराभक्ति से शोभायमान भक्तजनों के हृदय में सदा उसी रूप में विकासमान रहती हैं॥ ७॥

*संकेत*–

(क) प्रस्तुत मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है–
अर्थात् आपके अनुग्रह से भक्तजन समावेश में इन दोनों बातों का एक साथ ही अनुभव करते हैं

(ख) दर्शन और अर्चन इन दोनों का आपस में अन्योन्याश्रित होने का तात्पर्य यह है कि जब तक पदार्थों की असली चिन्मय स्थिति भासमान न हो तब तक परा-पूजा रूपी महान् उत्सव की अनुभूति नहीं हो सकती, और जब तक परा-पूजा रूपी उत्सव की अनुभूति न हो तब तक पदार्थों के असली रूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। पहुंचे हुए भक्तजनों में ये दोनों बातें युगपत् ही विकासमान होती हैं।

**तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं**
**युष्मदर्चनरसायनासवम्।**
**सर्वभाववचषकेषु पूरिते-**
**ष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः॥ ८॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) पूरितेषु सर्वभावचषकेषु तत् ततइन्द्रियमुखेन युष्मद्अर्चन-रसायनआसवं सन्ततम् आपिबन् अपि (अहम्) उन्मदः भवेयम्।

(प्रभो–हे ईश्वर!), पूरितेषु–(मेरी यही लालसा है कि) लबालब भरे हुए, सर्व–समस्त, भाव–पदार्थों रूपी, चषकेषु–प्यालों में, तत्-तत्–सभी, इन्द्रिय–इन्द्रियों रूपी, मुखेन–अर्थात् द्वारों से, युष्मद्–आप की, अर्चन–(स्वरूप-परामर्श रूपिणी) पूजा के, रसायन–रसायन रूपी, आसवं–मदिरा को, सन्ततम्–लगातार (और) पूर्ण रूप में, आपिबन्–पीते हुए, अपि–ही, (अहम्–मैं), उन्मदः–मतवाला (अर्थात् मस्त या आनन्द-मग्न), भवेयम्–बना रहूँ॥

(हे परमेश्वर!) क्या ऐसा होगा कि मैं (आनन्दमयी) हाला (शराब) से छलकते हुए सारे पदार्थों के प्यालों में, सारे (आंख, कान इत्यादि)

इन्द्रियरूपी मुखों से आपकी (स्वरूपविमर्शमयी) परापूजा के रूपवाली रसायनमयी हाला का छक कर पान करता हुआ सारी (लौकिक) सुध-बुध खो जावूँ? —अर्थात् चिदानन्दभाव में ही लीन हो जावूँ?)॥ ८॥

**अन्यवेद्यमणुमात्रमस्ति न**
**स्वप्रकाशमखिलं विजृम्भते।**
**यत्र नाथ भवतः पुरे स्थिति**
**तत्र मे कुरु सदा तवार्चितुः॥ ९॥**

*अन्वयः*— नाथ यत्र अन्यवेद्यम् अणु मात्रम् (अपि) न अस्ति (यत्र च) अखिलं स्वप्रकाशम् (एव) विजृम्भते तत्र भवतः पुरे तव अर्चितुः मे सदा स्थितिं कुरु।

नाथ—हे स्वामी!, यत्र—जिस (चिदानन्दरूपी नगर) में, अन्य—(आप से भिन्न कोई) दूसरी, वेद्यम्—जानने योग्य वस्तु, अणु-मात्रम्—जरा सी, (अपि—भी), न अस्ति—नहीं रहती, (यत्र च—और जहां), अखिलं—(यह) सारा जगत्, स्वप्रकाशम्—स्वप्रकाश-रूप हो कर, (एव—ही), विजृम्भते—विकसित होता है, तत्र—उसी, भवतः—आपके (चिदानन्द रूपी), पुरे—नगर में, तव—आप की, अर्चितुः—पूजा करने में लगे हुए, मे—मुझ को, सदा—सदा के लिए, स्थितिं—स्थान, कुरु—दीजिए॥

हे रक्षक भगवान्! जहां आपके स्वरूप से अलग दूसरा कोई पदार्थ नाम के लिए भी नहीं है, जहां यह सारा विश्वप्रपञ्च एकदम स्वरूप में ही विलसमान है, आपकी अर्चना करने पर कटिबद्ध रहने वाले मुझको उसी अपने (चिदानन्दमय) नगर का स्थायी निवासी बना दीजिए—(अर्थात् मुझे निर्व्युत्थान समावेश का भागी बना दीजिए)॥ ९॥

**दासधाम्नि विनियोजितोऽप्यहं**
**स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया।**
**दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः**
**पादसंवहनकर्मणापि वा॥ १०॥**

*अन्वयः*—परमेश्वर त्वया स्वेच्छया एव अहं दास धाम्नि विनियोजितः अपि किं दर्शनेन वा पादसंवहनकर्मणा अपि पात्रितः न अस्मि।

परमेश्वर–हे सर्वैश्वर्यवान् प्रभु!, त्वया–आप, स्वेच्छया–अपनी इच्छा (अर्थात् अनुग्रहशक्ति) से, एव–ही, अहं–मुझे, दासधाम्नि–(अपने) दास की पदवी पर, विनियोजितः–लगा चुके हैं, अपि–तो भी, किं–क्या बात है कि (आप), दर्शनेन–(अपने) दर्शन, वा–और, पाद–(अपने ज्ञान-क्रिया रूपी) चरण, संवहन–दबाने के (विमर्श करने के), कर्मणा–काम के लिए, अपि–भी, पात्रितः–(मुझे) पात्र, न अस्मि–नहीं बनाते। (अर्थात् दर्शन दे कर और अपने चरणों की सेवा का काम सौंप कर मुझे कृतार्थ क्यों नहीं करते?)।

हे परमेश्वर! आपने अपनी (ईश्वरीय) इच्छा से ही मुझे अपने दासभाव की पदवी पर नियुक्त किया है, तो किस कारण से मुझे अपना दर्शन देने, या आपके चरणों को दबाने के काम को सोंपने के लिए हिचकिचाते हैं? १०॥

**शक्तिपातसमये विचारणं**
**प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।**
**अद्य मां प्रति किमागतं यतः**
**स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे॥ ११॥**

*अन्वयः*–ईश (त्वया) शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तं (किन्तु त्वं तथा) कर्हिचित् न करोषि अद्य मां प्रति किम् आगतं यतः (त्वं) स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे।

ईश–हे स्वेच्छाचारी प्रभु!, (त्वया–आप को तो), शक्तिपात–मुझ पर) शक्तिपात अर्थात् अनुग्रह करने के, समये–समय, विचारणं–विचार करना, प्राप्तं–चाहिए था (कि मैं आप के अनुग्रह का पात्र हूँ या नहीं), (किन्तु त्वं तथा–किन्तु आप ऐसा), कर्हिचित्–कभी, न करोषि–करते ही नहीं, अद्य–आज, मां प्रति–मुझ पर, किम्–क्या, आगतं–आ पड़ी है, यतः–जो, (त्वं–आप), स्वप्रकाशन–अपने चित्-प्रकाश की, विधौ– झलक दिखाने में, विलम्बसे–देर लगाते हैं॥

हे सर्वस्वतन्त्र ईश्वर! मुझ पर शक्तिपात करने की वेला पर आपको (मेरी योग्यता या अयोग्यता का) विचार करना चाहिए था, परन्तु वैसा तो आप किसी भी हालत में करते ही नहीं हैं, तो आज मुझ पर क्या आन पड़ी है कि आप अपने स्वरूप को प्रकाशित करने की दिशा में देर लगा

रहे हैं?॥ ११॥

*संकेत–* प्रस्तुत मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है–

अयं श्लोकः आचार्याभिनवगुप्तपादैरेवं श्रीतंत्रालोके विवृतः–

श्रीमानुत्पलदेवश्चाप्यस्माकं परमो गुरुः।

'शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।

अद्य मां प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशविधौ विलम्बसे॥'

कर्हिचित्प्राप्तशब्दाभ्यामनपेक्षित्वमूचिवान्।

दुर्लभत्वमरागित्वं शक्तिपातविधौ विभोः॥ *(तं० लो०, १३ आ०, श्लो० २९१)*

अपरार्धेन तस्यैव शक्तिपातस्य चित्रताम्॥

व्यवधानचिरक्षिप्रभेदाद्यैरुपवर्णितैः॥ *(तं० लो० १९२)*

इति। अस्य श्लोकसंदर्भस्यार्थो श्रीतन्त्रालोकविवेके द्रष्टव्यः।

**तत्र तत्र विषये बहिर्विभा–**
**[१]त्यन्तरे च परमेश्वरीयुतम्।**
**त्वां जगत्त्रितयनिर्भरं सदा**
**लोकयेय निजपाणिपूजितम्॥ १२॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) बहिः अन्तरे च विभाति तत्र तत्र विषये परमेश्वरी युतं (च) जगत् त्रितयनिर्भरं त्वाम् (अहं) निजपाणिपूजितं सदा लोकयेय।

(प्रभो–हे स्वामी!), बहिः–बाहर (अर्थात् इस जगत् में), अन्तरे च–तथा भीतर (अर्थात् चित्त में), विभाति–भासमान, तत्र तत्र–सभी, विषये–विषयों में, परमेश्वरी–परा-शक्ति देवी से, युतं–युक्त, (च–और), जगत्-त्रितय–तीनों लोकों से, निर्भरं–परिपूर्ण, त्वाम्–आप को, (अहं–मैं), निज–अपने, पाणि–हाथ से, पूजितं–(आप की) पूजा करते हुए ही, सदा–सदा (अर्थात् समाधि और व्युत्थान दोनों दशाओं में), लोकयेय–देखता रहूँ॥

(हे शक्तिघन स्वामी!) (मेरी कामना यह है कि–) मैं 'बाहरी'–अर्थात् इन्द्रियबोध के द्वारा ज्ञेय स्थूल नील इत्यादि रूपों वाले, और 'भीतरी'–अर्थात् (चित्त के द्वारा अनुभव किए जाने वाले सुख इत्यादि रूपों वाले) भिन्न भिन्न प्रकार के प्रमेय-पदार्थों में देवी पराशक्ति के समेत

१. ख० पु० विभात्यन्तरेऽथ–इति पाठः।

प्रकाशमान रहनेवाले, और तीनों लोकों की प्रभुता से परिपूर्ण आपको अपने हाथों से पूजे जाते हुए रूप में हमेशा देखता रहूँ॥ १२॥

बहिः अन्तरे=नीलहर्षादिभेदेन यद् बाह्याभ्यन्तरं जगत्।

**स्वामिसौधमभिसन्धिमात्रतो**
**निर्विबन्धमधिरुह्य सर्वदा।**
**स्यां प्रसादपरमामृतासवा-**
**[1]पानकेलिपरिलब्धनिर्वृतिः॥ १३॥**

*अन्वयः*– (परमेश्वर) (अहम्) अभिसन्धि मात्रतः स्वामिसौधं निर्विबन्धम् अधिरुह्य (भवत्-) प्रसादपरमअमृत-आसवआपान केलिसर्वदा परिलब्ध निर्वृतिः स्याम्।

(परमेश्वर–हे परमेश्वर!), (अहम्–मैं), अभिसन्धि मात्रतः–(अपनी) इच्छा से ही, स्वामि–(आप) प्रभु के, सौधं–(अत्यन्त ऊँचे शाक्त पद रूपी) महल पर, निर्विबन्धम्–बिना रोक टोक के, अधिरुह्य–चढ़ कर, (भवत्–आप के), प्रसाद–अनुग्रह से, परम–(समावेश में साक्षात्कार रूपी) अत्युत्कृष्ट, अमृत-आसव–अमृत-मधु का, आपान-केलि–पान करने की क्रीड़ा से, सर्वदा–सदैव, परिलब्ध-निर्वृतिः–आनन्द-परिपूर्ण, स्याम्–बना रहूँ॥

(हे परमेश्वर!) मैं केवल इच्छा होने के तत्काल ही आप स्वामी के महल (शाक्त भूमिका) में, बिना किसी रुकावट के, संरूढ होकर आपके अनुग्रहरूपी अमृत के रूपवाली लोकोत्तर मदिरा का पान करते रहने की केलि (लीला, क्रीडा) करने में हमेशा आनन्दमग्न रहूँ॥ १३॥

**यत्समस्तसुभगार्थवस्तुषु**
**स्पर्शमात्रविधिना चमत्कृतिम्।**
**तां समर्पयति तेन ते वपुः**
**पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः॥ १४॥**

*अन्वयः*– (सदाशिव) यत् समस्त सुभग अर्थ वस्तुषु स्पर्शमात्र-विधिना तां

१. च० पु० पानकेन इति पाठः।

चमत्कृतिं समर्पयति तेन अचल भक्तिशालिनः (त्वद्-भक्ताः) ते वपुः पूजयन्ति।

(सदाशिव–हे सदाशिव!), यत्–जो बात (अर्थात् पारमार्थिक युक्ति), **समस्त-सुभग-अर्थ-वस्तुषु**–(आप चिद्रूप से अभिन्न होने के कारण) सुन्दर प्रयोजन वाली सभी वस्तुओं के विषय में, **स्पर्श-मात्र-विधिना**–(उनके रूप आदि विषयों के) केवल स्पर्श से ही (अर्थात् प्राथमिक आलोचन से ही), **तां**–एक अलौकिक, **चमत्कृतिं**–स्वात्म-चमत्कार, **समर्पयति**–प्रदान करती है, **तेन**–उसी युक्ति से, **अचल-भक्ति**–(नित नये समावेश रूपिणी) आप की अटल भक्ति से, **शालिनः**–सुशोभित, (**त्वद्-भक्ताः**–आप के भक्त-जन), **ते**–आप के, **वपुः**–(चिन्मय) स्वरूप की, **पूजयन्ति**–पूजा करते हैं (अर्थात् आप सच्चिदानन्द-स्वरूप में समाविष्ट होकर आनन्दमग्न रह जाते हैं)॥

(हे भगवन्!) जो (अतर्क्य ईश्वरीय जगत्) सारे (चित्-स्वरूप होने के कारण) मनोरम प्रयोजनों वाले पदार्थों में, इन्द्रियवर्ग के साथ स्पर्श मात्र होते ही, किसी अलौकिक चमत्कारिता (आनन्दमय आस्वाद) को वितरित कर देती है, उसी (जगत्) से आपकी अविचल (समावेशीमयी) भक्ति करने से शोभायमान बने हुए भक्तवर आपके स्वरूप की अर्चना करते रहते हैं॥ १४॥

(*तात्पर्य*–वे भक्तजन सर्वाङ्गीण रूप में सच्चिदानन्द भाव में ही विश्रान्ति प्राप्त करते हैं।)

**स्फारयस्यखिलमात्मना[१] स्फुरन्**
**विश्वमामृशसि रूपमामृशन्।**
**यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे**
**तत्समुल्लसति भावमण्डलम्॥ १५॥**

*अन्वयः*–(जगत्प्रभो) (त्वम्) आत्मना स्फुरन् अखिलं विश्वं स्फारयसि रूपम् आमृशन् (अखिलं विश्वम्) आमृशसि (च) यद् स्वयं निज रसेन घूर्णसे तद्भाव मण्डलं समुल्लसति।

(जगत्प्रभो–हे जगत्-प्रभु!), (त्वम्–आप), आत्मना–अपने (चिद्रूप)

१. ख० पु० आत्मनः–इति पाठः।

में, स्फुरन्–भासमान होते (ही), अखिलं विश्वं–सारे जगत् को, स्फारयसि–विकसित करते हैं (अर्थात् खिलाते हैं), रूपम्–(अपने) चिन्मय स्वरूप का, आमृशन्–चमत्कार करते (ही), (अखिलं विश्वम्–सारे संसार को), आमृशसि–आमृष्ट करते हैं (अर्थात् आस्वादन करके आनन्द-घन बनाते हैं), (च–और), यद्–जब (आप), स्वयं–स्वयं (अर्थात् अपनी इच्छा से), निज-रसेन–अपने चिदानन्द-रस में लीन होकर, घूर्णसे–घूमने लगते हैं, तद्–तभी तो, भाव-मण्डलं–सभी पदार्थों का समूह (अर्थात् यह सारा जगत्), समुल्लसति–आनन्द से नाच उठता है॥

(हे चिन्मय परमेश्वर!) आप अपने चित्-स्वरूप में स्पन्दायमान रहते हुए समूचे विश्व को स्पन्दायमान बना देते हैं, आप अपने स्वरूप को चमत्कृतिमय बनाने से सारे विश्व को आनन्दमयता से सराबोर कर देते हैं, और आप जो अपने चिदानन्द भाव की रसमयता से झूमते रहते हैं (अर्थात् उच्छलित होते रहते हैं) उसी से (चित्-भूमिका पर) सारा पदार्थवर्ग विकसित होता रहता है॥ १५॥

*तात्पर्यार्थ–*

(हे प्रभु!) आपका चित्-स्पन्दन ही विश्व की स्फुरणा है, आपका स्वरूपविमर्श ही विश्वमय विमर्श है, और आपके स्वरूप-आनन्द में झूमते रहने (उच्छलित होते रहने) से सारे जड़-चेतन पदार्थों का अटाला (बहिरंग रूप में) विकसित होता रहता है।

**योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं**
**पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः।**
**स्वात्मपक्षपरिपूरिते जग-**
**त्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्॥ १६॥**

*अन्वयः*–ईश यः इदं निखिलम् अर्थ मण्डलम् अविकल्पं भवत्वपुः पश्यति इति स्वात्म-पक्षपरिपूरिते जगति अस्य नित्य सुखिनः भयं कुतः।

ईश–हे स्वतंत्र प्रभु!, यः–जो (आप का भक्त), इदं–इस, निखिलम्–समस्त, अर्थ-मण्डलम्–वस्तु-समूह (अर्थात् सारे जगत्) को, अविकल्पं–निर्विकल्पता से (अर्थात् शाक्त-समावेश-क्रम से), भवत्–आप का, वपुः–स्वरूप ही,

पश्यति—देखता है (अर्थात् जिसे प्रत्येक वस्तु में आप चिद्रूप की ही झलक दिखाई देती है), (इति—इस प्रकार), स्वात्म-पक्ष—स्वात्म-स्वरूप से (अर्थात् चिदेकता से), परिपूरिते—परिपूर्ण बने हुए, जगति—संसार में, अस्य—उस, नित्य-सुखिनः—सदा सुखी (अर्थात् परमानन्द-घन भक्त) को, भयं कुतः—भयं (किस से अथवा कहाँ हो सकता है?॥

(हे चित् स्फारमय देव!) जो कोई (विरला) भक्तजन निर्विकल्पभाव से इस सारे (जागतिक) पदार्थवर्ग को आपके चिन्मय स्वरूप से अभिन्न रूप में देखता रहता है, तो सारे जगत को, चारों ओर से, चित्-भाव की एकता के कारण आत्मरूप में ही अनुभव करने वाले उस भक्तप्रवर को कहां से और किस से भय की आशंका हो सकती है?॥ १६॥

तन्त्रालोक में कहा है—एकको ऽहमिति कोऽस्ति मत्परः त्रास साहसरसेन खिद्येत।एककोऽहमिति संसृतौ जनः।

**कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते**
**कालकूटमपि मे महामृतम्।**
**अप्युपात्तममृतं भवद्वपु-**
**र्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे॥ १७॥**

*अन्वयः*—ईश ते कण्ठकोणविनिविष्टं कालकूटम् अपि मे महामृतम् (अस्ति) उपात्तम् अमृतम् अपि यदि भवत् वपुः भेद वृत्तिः (तर्हि तत्) मे न रोचते।

ईश—हे स्वामी!, ते—आपके, कण्ठ—गले के, कोण—कोने में, विनिविष्टं—पड़ा हुआ, कालकूटम्—कालकूट विष, अपि—भी, मे—(आप से अभिन्न होने के कारण) मेरे लिए, महामृतम्—बहुत बड़ा अमृत, (अस्ति—है), उपात्तम्—अनायास प्राप्त हुआ, अमृतम्—अमृत, अपि—भी, यदि—यदि, भवत् वपुः—आप के स्वरूप से, भेद वृत्तिः—भिन्न हो, (तर्हि तत्—तो वह), मे—मुझे, न रोचते—अच्छा नहीं लगता॥

हे ईश्वर! आपके गले के किसी कोने में रखा हुआ कालकूट विष भी (आपके अंग के साथ चिपका हुआ होने के कारण) मेरे लिए अति उत्कृष्ट अमृत ही है, इसके प्रतिकूल यदि आपके स्वरूप से भिन्न अमृत भी मुझे अनायास ही मिल जाए, वह मेरे लिए कतई रोचक नहीं है॥ १७॥

**त्वत्प्रलापमयरक्तगीतिका-**
**नित्ययुक्तवदनोपशोभितः।**
**स्यामथापि भवदर्चनक्रिया-**
**प्रेयसीपरिगताशयः सदा॥ १८॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) (अहं) त्वत्प्रलापमयरक्तगीतिकानित्ययुक्तवदनउपशोभितः अथापि भवत्अर्चन क्रियाप्रेयसीपरिगतआशयः सदा स्याम्।

(प्रभो—हे स्वामी!), (अहं—मैं), त्वत्—आप (चित्-स्वरूप) की, प्रलाप—कथाओं (के अमृत) से, मय—पूर्ण, रक्त—(और भक्ति के कारण) मधुर तथा सुन्दर, गीतिका—गीतों (के गाने) में, नित्य—सदा, युक्त—लगे हुए, वदन—मुख से, उपशोभितः—सुशोभित, अथापि—और, भवत्—आप की, अर्चन-क्रिया—पूजा-क्रिया रूपिणी, प्रेयसी—परम-प्रिया से, परिगत—स्वीकृत किये गए, आशयः—(अपने) हृदय वाला अथवा आप की पूजा-क्रिया रूपिणी परमप्रिया के स्वरूप (अर्थात् मर्म) को पूर्ण रूप में जानने वाला, सदा—सदैव, स्याम्—बना रहूँ॥

(हे प्रभु!) मैं सदा आप स्वामी के दिव्य चरितों की चर्चाओं से भरपूर, और मनभावन एवं सुन्दर गीतमाला को नित गुनगुनाते रहने वाले मुख से अतिरमणीक, और आपकी अर्चनामयी प्रियतमा के द्वारा स्वीकारी गई भावनावाला भी बना रहूँ॥ १८॥

*संकेत*—

श्री सद्गुरु महाराज ने इस मुक्तक के अन्तिम दो चरणों का तात्पर्य इस प्रकार समझाया है—"आपकी पूजारूपिणी परमप्रिया के स्वरूप (अर्थात् मर्म को) पूर्ण रूप में जानने वाला सदैव बना रहूँ।

**ईहितं न बत पारमेश्वरं**
**शक्यते गणयितुं तथा च मे।**
**दत्तमप्यमृतनिर्भरं वपुः**
**स्वं न पातुमनुमन्यते तथा॥ १९॥**

*अन्वयः*—बत पारमेश्वरम् ईहितं गणयितुम् न शक्यते तथा च मे अमृतनिर्भरं स्वं

वपुः पातुं दत्तम् अपि तथा (पातुं) न अनुमन्यते।

बत–ओह, कितना आश्चर्य!, पारमेश्वरम्–परमेश्वर की, ईहितं–करनी, गणयितुम्–समझी, न शक्यते–नहीं जा सकती, तथा च–क्योंकि, मे–मुझे, अमृत–(चिदानन्दरूपी) अमृतरस से, निर्भरं–भरा हुआ, स्वं–अपना, वपुः–(आनन्द-मय) स्वरूप, पातुं–पीने (अर्थात् आस्वाद लेने) के लिए, दत्तम्–प्रदान करके, अपि–भी, तथा–वैसे ही (अर्थात् इच्छा-पूर्वक), (पातुं)–(उस अमृत-रस को) लगातार पीना अर्थात् आस्वाद लेना, न अनुमन्यते–नहीं मानते, (अर्थात् समावेश का आनन्द प्रदान करके भी मुझे फिर व्युत्थान-भूमि में ही भेजते हैं)॥

**(हे भगवन्!) आश्चर्य है कि आप ईश्वरों के भी ईश्वर की अभीष्ट करनी का तौर-तरीका तनिक भी समझा नहीं जा सकता है, जैसा कि मुझे ही अपना चिदानन्दरूपी अमृतरस से सना हुआ स्वरूप-अमृत पान करने के लिए देकर भी, निरंतर रूप में, उसका पान करते रहने की अनुमति प्रदान नहीं करते हैं॥ १९॥**

*संकेत–*

कहने का तात्पर्य यह है कि समावेश की अवस्था में उस स्वरूप-आनन्द का रसपान करते रहने पर भी, बीच ही में अकस्मात्, मुझे व्युत्थान अवस्था में धकेल कर, बेरोकटोक, रसपान करते रहने की अनुमति प्रदान नहीं करते हैं।

**त्वामगाधमविकल्पमद्वयं**
**स्वं स्वरूपमखिलार्थघस्मरम्।**
**आविशन्नहमुमेश सर्वदा**
**पूजयेयमभिसंस्तुवीय च॥ २०॥**

*अन्वयः*–उमेश अगाधम्, अविकल्पम् अद्वयं, स्वं स्वरूपम् अखिलअर्थघस्मरं त्वाम् आविशन् अहं सर्वदा पूजयेयं च अभिसंस्तुवीय।

उमेश–हे उमापति!, अगाधम्,–अथाह (अपार), अविकल्पम्–निर्विकल्प, अद्वयं,–अभेद-रूप, स्वं स्वरूपम्–स्वात्म-स्वरूप, अखिल–(और) सभी, अर्थ–(भेदात्मक) पदार्थों को, घस्मरं–निगल डालने वाले, त्वाम्–आप (चिद्रूप) में, आविशन्–समावेश करते हुए, अहं–मैं, सर्वदा–सदैव,

पूजयेयं—(आप की) पूजा करता रहूँ, च—और, अभिसंस्तुवीय—पूर्ण रूप में स्तुति (अर्थात् परामर्श) करता रहूँ॥

हे उमापति! (मेरी कामना यह है कि—) मैं अथाह, विकल्पों से परे, द्वैतभाव से रहित, (हरेक पदार्थ के) आत्मस्वरूप और सारे भेदप्रपञ्च का भक्षण करने वाले आप चिदानन्दस्वरूप में पूरी तरह प्रवेश करता हुआ, आपकी अर्चना और सर्वाङ्गीणभाव से स्तुति भी करता रहूँ—(तात्पर्य यह है कि सर्वतोमुखी अभेदभाव का विमर्श करता रहूँ)॥ २०॥

शाङ्करीच्छा परादेवी यत्किञ्चित्करणेक्षमा।
भवताद्वरदाजस्रं भक्तेभ्यः सर्वमङ्गला॥

परहित निरताः भवन्तुभूतगणाः

तेरहवां स्तोत्र समाप्त

ॐ नमः शिवाय

पाणौ शूलशिखात्रयं शिरसि सा ज्योत्स्नामयी शीतला
इन्दोः शिष्टकला गलेऽपि गरलं कुक्षौ सुधागर्गरी।
कंठे फूत्कृतिभीषणो विषधरः, सर्वं विरोधावहं
द्वन्द्वं साम्यमुपैति यत्र जयतात्सोऽद्वैतभावः शिवः।।

# भक्तिविलास नामक चौदहवां स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम जयस्तोत्र भी है। इसका यह नाम मूल ग्रन्थकार के आशय के अनुसार रखा गया है। इसमें भगवान् उत्पलदेव ने अपने आराध्यदेव को रिझाने के लिए भरपूर जय-उद्घोष किया है। अतः उसी आशय के अनुसार आचार्य उत्पल देव ने स्वयं इसका नाम जयस्तोत्र रखा है।

**ॐ जयलक्ष्मीनिधानस्य निजस्य स्वामिनः पुरः।**
**जयोद्घोषण पीयूष रससमास्वादये क्षणम्।। १।।**

*अन्वयः*— (अहं) जयलक्ष्मीनिधानस्य निजस्य स्वामिनः पुरः जयउद्घोषण-पीयूषरसं क्षणम् आस्वादये।

(अहं—मैं), जय—सर्वोत्कृष्ट, लक्ष्मी—मोक्ष-लक्ष्मी के, निधानस्य—आश्रय, निजस्य—अपने, स्वामिनः—स्वामी के, पुरः—सामने (अर्थात् समावेश में साक्षात्कार होते ही), जय—जय-जय-कार की, उद्घोषण—ध्वनिरूपी, पीयूषरसं—(परमानन्द-मय) अमृत-रस का, क्षणम्—प्रतिक्षण, आस्वादये—आस्वादन करता रहूँ।।

जय-जयकार करने के योग्य विभूति (मोक्षसंपदा) का अक्षय भंडार बने हुए प्रभु के सामने (अर्थात् समावेशमय साक्षात्कार में) मैं प्रतिपल जयघोष करने के रूपवाले अमृत का रसपान करता रहूँ।। १।।

**जयैकरुद्रैकशिव महादेव महेश्वर।**
**पार्वती प्रणयिञ्शर्व सर्वगीर्वाण पूर्वज।। २।।**

*अन्वयः*—एक-रुद्र एक-शिव महादेव महेश्वर पार्वतीप्रणयिन् शर्व सर्वगीर्वाण-पूर्वज (त्वं) जय।

एक-रुद्र–हे अद्वितीय रुद्र!, एक-शिव–हे अद्वितीय शङ्कर!, महादेव–हे महादेव!, महेश्वर–हे सर्व-ऐश्वर्यवान् प्रभु!, पार्वती–हे पार्वती (अर्थात् पराशक्ति) के, प्रणयिन्–प्रिय स्वामी!, शर्व–हे (पापियों को) नष्ट करने वाले, सर्व–हे सभी, गीर्वाण–देवताओं के, पूर्वज–पूर्वज अर्थात् आद्य प्रभु!, (त्वं)–आप की, जय–जय हो॥

हे अभेदस्वरूप रुद्र! अद्वितीय शिव! महान् लीलापुरुष! महान् ईश्वर! पार्वतीमाता के प्रिय स्वामी! कल्याणकारी! और सारे देवताओं के सनातन पितर! आपकी जय-जयकार हो॥ २॥

*संकेत–*

प्रस्तुत मुक्तक में मूलशब्द 'रुद्र और शिव' दोनों के साथ 'एक' शब्द का दो बार प्रयोग परमात्मा में स्वाभाविक अभेदभाव की पराकाष्ठा को दर्शाने के लिए किया गया है, अतः इसमें पुनरुक्तिदोष नहीं है।

**जय त्रैलोक्यनाथैक लाञ्छनालिकलोचन।**
**जय पीतार्तलोकार्ति कालकूटाङ्ककन्धर॥ ३॥**

*अन्वयः–*त्रैलोक्यनाथएकलाञ्छनअलिकलोचन जय पीतआर्तलोकआर्तिकाल-कूटअंककंधर जय।

त्रैलोक्य–तीनों लोकों के (अथवा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के), नाथ–स्वामित्व के, एक–एक (अद्वयसूचक और अलौकिक), लाञ्छन–चिह्न के रूप में अलिक-माथे पर, लोचन–(तीसरा) नेत्र धारण करने वाले (त्रिलोचन)!, जय–आप की जय हो।, पीत–हे पिये गए, आर्तलोक–(सभी) दुःखी लोगों (अर्थात् देवताओं, मनुष्यों और असुरों) के, आर्ति–दुःख (के कारण), कालकूट–कालकूट विष की, अंक–छाप से युक्त, कंधर–गले वाले, (नीलकण्ठ)!, जय–आप की जय हो॥

माथे पर तीनों भुवनों की प्रभुता का एक ही चिह्न बने हुए तीसरे नयन से सुशोभित (भगवान्) आपकी जय हो, पीडित होने वाले सारे (देवता, असुर और मानव) समाज की पीड़ा के हेतुभूत कालकूट विष का पान करने की छाप से अंकित गले वाले (नीलकंठ) आप की जय-जयकार हो॥ ३॥

**जय मूर्त त्रिशक्त्यात्म*सितशूलोल्लसत्कर।**
**जयेच्छामात्रसिद्धार्थ पूजार्ह चरणाम्बुज॥ ४॥**

*अन्वयः*— मूर्तत्रिशक्त्यात्मसितशूलउल्लसत्कर जय इच्छा मात्रसिद्धार्थपूजा-अर्हचरण-अम्बुज जय।

मूर्त—शरीर-धारी, त्रि—(इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन) तीन, शक्त्यात्म—शक्तियों के रूप वाले, सित—सफेद, शूल—त्रिशूल से, उल्लसत्—सुशोभित, कर—हाथ वाले (शूली)!, जय—आप की जय हो।, इच्छा-मात्र—इच्छा होते ही, सिद्धार्थ—कामना को पूर्ण करने वाले, पूजा— (और इसीलिए) पूजा के, अर्ह—योग्य, चरण-अम्बुज—चरण-कमलों वाले (आशु-तोष)!, जय—आप की जय हो!॥

'इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया'—इन तीन शक्तियों का साकार रूप धारण करने वाले और सफेद रंग के त्रिशूल से सजते हुए हाथ वाले (त्रिशूलधारी) आपकी जय हो, इच्छामात्र से ही मनोरथों को पूरा करने के कारण अति पूजनीय बने हुए पाद कमलों वाले (शिव) आपकी जय-जयकार हो॥ ४॥

**जय शोभाशतस्यन्दि लोकोत्तरवपुर्धर।**
**जयैकजटिकाक्षीणगङ्गाकृत्यात्तभस्मक॥५॥**

*अन्वयः*—शोभा-शत-स्यन्दिलोकोत्तरवपुःधर जय एकजटिकाक्षीणगङ्गाआकृति-आत्त भस्मक जय।

ध्यानकर्षण—इस मुक्तक में प्रयुक्त मूल 'शोभा' शब्द से प्रकाश, आह्लाद और रुचि अर्थात् आरोह क्रम में क्रिया, ज्ञान एवं इच्छा—इन शक्तियों का अभिप्राय लिया जाता है।

शोभा-शत-स्यन्दि—(प्रकाश, आह्लाद आदि की) सैकड़ों (किरनों की) छटा को छिटकाने वाले, लोकोत्तर—(तथा) अलौकिक, वपुः—स्वरूप को,

---

* सित पाठ "शित के स्थान पर सद्गुरु महाराज ने इसलिए उचित ठहराया क्योंकि संहार क्रम में ही शिव का त्रिशूल तीक्ष्ण घात वाला होता है पर भक्ति क्रम में यह सफेद रंग का होता है इसीलिए परा, परापरा अपरा में यह सफेद है पर अघोर घोर और घोर-घोर में यह लाल रंग का है।

धर—धारण करने वाले (चित्स्वरूप)!, जय—आप की जय हो।, एक—एक, जटिका—छोटी सी जटा के बीच में, क्षीण—जो छोटा सा, गङ्गा— गंगा का, आकृति—आकार है, उसके रूप में, आत्त-भस्मक—भस्म से युक्त सिर वाले (जटाधर, गङ्गाधर, भस्मप्रिय)!, जय—आप की जय हो॥

(प्रकाश, आह्लाद एवं रुचि—इन तीन दैवी शक्तियों के रूपवाली) शोभा की सैंकड़ों रश्मियों को बिखराने वाले और अलोकसामान्य स्वरूपवाले (ईश्वर) आपकी जय हो, एक ओर छोटे से जटाभाग में विद्यमान गंगा-माता की पतली सी आकृति के रूप में मानो सिर पर भस्म मले हुए (गंगाधर) आपकी जय-जयकार हो॥ ५॥

**जय क्षीरोदपर्यस्तज्योत्स्नाच्छायाअनुलेपन।**
**जयेश्वराङ्गसङ्गोत्थरत्नकान्ताहिमण्डन॥ ६॥**

*अन्वयः*—क्षीरोदपर्यस्तज्योत्स्नाछायाअनुलेपन जय ईश्वरअंगसंगउत्थरत्नकान्त-अहिमण्डन जय।

क्षीरोद—क्षीर-सागर पर, पर्यस्त—बिखरी हुई, ज्योत्स्ना—चन्द्रिका का, छाया—प्रतिबिंब ही, अनुलेपन—(शुभ्र) अनुलेपन है जिस का, ऐसे (शुभ्रांशुधर)!, जय—आप की जय हो।, ईश्वर—(आप) ईश्वर के, अंग—अंगों के, संग—सम्पर्क से, उत्थ—निकले (अर्थात् प्राप्त हुए), रत्न—रत्नों से, कान्त—मनोहर बने हुए, अहि—(शेष, वासुकि आदि) साँप ही, मण्डन—आभूषण हैं जिस के, ऐसे (नागधर)!, जय—आप की जय हो॥

क्षीरसागर के आरपार बिखराई हुई चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का लेप किए हुए (सितांशु भगवान्) आपकी जय हो, आप परमेश्वर के अंगों का स्पर्श करने से (स्वयं ही) उत्पन्न हुई रत्नों से सजते हुए सांपों की अलंक्रिया को धारण करने वाले (सर्पभूषण शिव) आपकी जय-जयकार हो॥ ६॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

"शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् शंकर के शरीर के अङ्गों के साथ संपर्क होने पर वासुकि, शेष आदि सांपों को रत्न प्राप्त हुए थे।"

**जयाक्षयैकशीतांशुकलासदृशसंश्रय।**
**जयगङ्गासदारब्धविश्वैश्वर्याभिषेचन॥ ७॥**

*अन्वयः*—अक्षयएक शीतांशु-कलासदृशसंश्रय जय गंगासदाआरब्धविश्वऐश्वर्य-अभिषेचन जय।

अक्षय—सदा बनी रहने वाली (अमा नामक), एक—एक, शीतांशु-कला—चन्द्र-कला के, सदृश—योग्य (अर्थात् अविनाशी), संश्रय—आश्रय, (शशिशेखर)!, जय—आप की जय हो।, गंगा—गंगा से, सदा—सदा, आरब्ध—किया जाता है, विश्व—जगत् के, ऐश्वर्य—ऐश्वर्य (अर्थात् सर्वतोमुखी कल्याण) के लिए, अभिषेचन—ऊपर से जल डालकर स्नान जिस का, ऐसे (गंगेश)!, जय—जय आप की जय हो॥

**चन्द्रमा की एक ही कला अर्थात् अमाकला, जो कि आपकी ही सनातन अविनाशिनी कला है, का आश्रय बने हुए (चन्द्रकलाधारी) आपकी जय हो, विश्वभर को सुखसंपदा वितरित करने के लिए गंगामाता के द्वारा सदा अभिषेक किए जाते हुए (गंगाधर) आपकी जय-जयकार हो॥ ७॥**

*संकेत*— प्रस्तुत मुक्तक पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

चन्द्रमा की सोलह कलायें होती हैं। कृष्णपक्ष के पंद्रह दिनों में इसकी पंद्रह कलाओं का क्षय होता है। इसकी सोलहवीं कला को अमाकला अर्थात् अमावस्या की कला कहते हैं। इसका क्षय कदापि नहीं होता। भगवान् चन्द्रचूड़ इसी अमाकला को अपने माथे पर धारण करते हैं। चन्द्रशेखर महादेव का स्वरूप भी अविनाशी है। अतः ये अमाकला के योग्य आश्रय कहे गये हैं।

**जयाधराङ्गसंस्पर्शपावनीकृतगोकुल।**
**जय भक्तिमदाबद्ध गोष्ठी नियतसन्निधे॥ ८॥**

*अन्वयः*— अधर अङ्गसंस्पर्शपावनीकृतगोकुल जय भक्तिमत् आबद्धगोष्ठी-नियतसन्निधे जय।

अधर-अङ्ग—(अपने) निचले अंगों (अर्थात् चरणों) के, संस्पर्श— स्पर्श से, पावनी—पवित्र, कृत—किया है, गो-कुल—बैलों की जाति (अर्थात् जगत् के सारे बैलों तथा गायों) को जिस ने, ऐसे (वृषभवाहन)!, जय—आप की जय हो।, भक्तिमत्—भक्त-जनों से, आबद्ध—बँधी हुई, गोष्ठी—मण्डली में, नियत—नियत रूप से (अर्थात् सदा), सन्निधे—उपस्थित होने वाले (भक्तवत्सल,

आशुतोष)!, जय—आप की जय हो॥

निचले अंग अर्थात् चरणकमलों के स्पर्श से सारे 'गोकुल'—अर्थात् गोओं और बैलों के कुल को पवित्र बनाने वाले (वृषभवाहन) आपकी जय हो, भक्तजनों के सत्संग की मंडली में नियमित एवं निश्चित रूप में उपस्थित रहनेवाले (भक्तप्रिय) आपकी जय-जयकार हो॥ ८॥

*संकेत*—

गोकुल शब्द से यहां पर नन्दिकेश्वर की ओर इशारा किया गया है।

**जय स्वेच्छातपोवेशविप्रलम्भितबालिश।**
**जय गौरीपरिष्वङ्ग योग्यसौभाग्यभाजन॥ ९॥**

*अन्वयः*—स्वइच्छातपःवेशविप्रलम्भितबालिश जय गौरीपरिष्वङ्गयोग्यसौभाग्य-भाजन जय।

**स्व**—अपनी, **इच्छा**—इच्छा से (अर्थात् अपने विनोद के लिए), **तपः**—की गयी तपस्या और, **वेश**—(उसके अनुकूल जटा-आदि-मय) वेश से, **विप्रलम्भित-बालिश**—मूर्ख अर्थात् अज्ञानी लोगों को धोखा देने वाले (जटिल)!, **जय**—आप की जय हो।, **गौरी**—(पराशक्ति रूपिणी) गौरी के, **परिष्वङ्ग**—आलिंगन के, **योग्य**—योग्य, **सौभाग्य**—सौभाग्य के, **भाजन**— पात्र, (उमाकान्त, गौरीशङ्कर)!, **जय**—आप की जय हो॥

अपनी (लीलामयी) इच्छा से तपस्वी (जटिल) का वेश धारण करके दुराग्रही जनों को अंधकार में ही रखने वाले (जटिल) आपकी जय हो, गौरी (पार्वती जी) के साथ आलिंगन करने के अनुकूल सौभाग्य वाले (पार्वतीप्रिय) आपकी जय-जयकार हो॥ ९॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

(क) भगवान् के जटाधारी तपस्वी बनने की बात से अज्ञानी लोगों को यों धोखा मिलता है। कुछ लोग समझते हैं कि ब्रह्मा के पांचवें सिर को काटने से होने वाले पाप का प्रायश्चित करने के लिये ही भगवान् शंकर तपस्वी बने। औरों का विचार है कि सिद्धि प्राप्त करने के लिये उन्होंने ऐसा वेश धारण किया। अन्य लोग कहते हैं कि यही तो महादेव का सच्चा अर्थात् असली रूप है। किन्तु यह सब बातें गलत हैं। चिदानन्दघन शिव के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। बात यह है कि भगवान् अपने विनोद के लिए जब जैसा चाहते

हैं, तब वैसा रूप धारण करते हैं। तभी तो उनका नाम बहुरूप पड़ा। (ख) जब गौरी जी हिमालय पर अपने प्राणेश्वर भगवान् शंकर के लिए तपस्या कर रहीं थीं तो भगवान् जटाधारी ब्रह्मचारी के रूप में ही उनके पास गये और इस प्रकार क्षणभर के लिए अपनी अर्द्धांगिनी को भी धोखा दिया, किन्तु तुरंत ही अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होकर उनको रिझाया और उनकी तपस्या को सफल बनाया। तभी से उनका नाम जटिल पड़ा है।

**जय भक्तिरसार्द्रार्द्रभावोपायनलम्पट।**
**जय भक्तिमदोद्दाम भक्तवाङ्नृत्ततोषित॥ १०॥**

*अन्वयः*– भक्तिरसआर्द्र आर्द्रभावउपायनलम्पट जय भक्तिमदउद्दामभक्त-वाक्नृत्ततोषित जय।

**भक्ति**–भक्ति के, **रस**–रस से, **आर्द्र**-आर्द्र–(सने हुए और इसीलिए) अत्यन्त सरस, **भाव**–(भक्त के) भावरूपी, **उपायन**–उपहार को ग्रहण करने के लिए, **लम्पट**–लालायित बने रहने वाले (भक्तवत्सल)!, **जय**–आप की जय हो।, **भक्ति**–भक्ति की, **मद**–मस्ती से, **उद्दाम**–मतवाले (अर्थात् मस्त) बने हुए, **भक्त**–भक्तों के, **वाक्**–वचनों, **नृत्त**–और नृत्य से (अर्थात् गाते, बजाते और नाचते हुए उन से की गई अपनी स्तुतियों से), **तोषित**–प्रसन्न होने वाले (नृत्य-प्रिय)!, **जय**–आप की जय हो॥

**आप की भक्ति के रस का पान करने वाले भक्तजनों की सरस बनी हुई भावनाओं का उपहार स्वीकारने के लिए अति उत्सुक रहने वाले (भक्त- वत्सल) आपकी जय हो, भक्ति के उन्माद में मस्त रहने वाले भक्तजनों की वाणी (स्तुतिगान) एवं नर्तन से प्रसन्न होने वाले (शिव) आपकी जय-जयकार हो॥ १०॥**

**जय ब्रह्मादिदेवेशप्रभावप्रभवव्यय।**
**जयलोकेश्वरश्रेणी शिरोविधृतशासन॥ ११॥**

*अन्वयः*– ब्रह्माआदिदेवेशप्रभावप्रभवव्यय जय लोकेश्वरश्रेणीशिरः-विधृतशासन जय।

**ब्रह्मा**–ब्रह्मा, **आदि**–विष्णु आदि, **देवेश**–देवदेवों (अर्थात् बड़े देवताओं) के, **प्रभाव**–प्रभाव (अर्थात् जगत् की सृष्टि आदि करने की शक्ति) को,

प्रभव—उत्पन्न, व्यय—और नष्ट करने वाले, (देवाधिदेव)!, जय—आप की जय हो।, लोकेश्वर—(इन्द्र आदि दस), श्रेणी—पंक्ति से (अर्थात् सब लोकपालों से), शिरः—(अपने) शिरों पर, विधृत—धारण की जाती है, शासन—आज्ञा जिस की, ऐसे (परमेश्वर)!, जय—आप की जय हो॥

ब्रह्मा इत्यादि प्रमुख देवताओं में भी (सृष्टि इत्यादि करने की) क्षमता का उत्पादन या विनाश करने वाले (सर्वशक्तिमान) आपकी जय हो, (इन्द्र इत्यादि) दस लोकपालों की पंक्ति के द्वारा अपने नत सिरों से आपकी आज्ञाओं का पालन किए जाने वाले (महादेव) आपकी जय-जयकार हो॥ ११॥

**जय सर्वजगन्न्यस्तस्वमुद्राव्यक्तवैभव।**
**जयात्मदानपर्यन्तविश्वेश्वरमहेश्वर॥ १२॥**

*अन्वयः*— सर्व जगत्न्यस्तस्वमुद्राव्यक्तवैभव जय आत्मदानपर्यन्तविश्वईश्वर महेश्वर जय।

सर्व—सारे, जगत्—जगत् में (अर्थात् जगत् की सभी वस्तुओं पर), न्यस्त—डाली हुई, स्वमुद्रा—अपनी (स्वरूप-प्रकाशनात्मक) छाप से, व्यक्त—प्रकट है, वैभव—वैभव (अर्थात् विश्वव्यापी प्रभुत्व) जिसका, ऐसे (सर्वव्यापक ईश्वर)!, जय—आप की जय हो।, आत्म—(अपने भक्तों को) अपनी आत्मा का, दानपर्यन्त—दान तक करने से, विश्व—जगत् के, ईश्वर— ईश्वर!, महेश्वर—तथा महान् ऐश्वर्य से युक्त, (जगत्प्रभु महेश्वर)!, जय—आप की जय हो॥

संसार के सारे पदार्थों पर निजी (चिन्मयभाव की) छाप लगाने से स्पष्टरूप में प्रमाणित होनेवाली विश्व की प्रभुता वाले (महेश्वर) आपकी जय हो, (प्रिय भक्तजनों को) अपना ईश्वरीय स्वरूप तक दान करने से विश्व की प्रभुताई को निभाने वाले (सर्वेश्वर) आपकी जय-जयकार हो॥ १२॥

**जय त्रैलोक्यसर्गेच्छावसरासद्द्वितीयक।**
**जयैश्वर्यभरोद्वाहदेवीमात्रसहायक॥ १३॥**

*अन्वयः*—त्रैलोक्य सर्गइच्छाअवसरअसत्द्वितीयक जय ऐश्वर्यभरउद्वाहदेवीमात्र-सहायक जय।

त्रैलोक्य–तीनों लोकों को, सर्ग–(एक साथ) उत्पन्न करने की, इच्छा–इच्छा के, अवसर–समय, असत्–नहीं होता है, द्वितीयक–दूसरा (अर्थात् साथी या सहायक) जिसका, ऐसे (सर्वशक्तिमान्)!, जय–आप की जय हो, ऐश्वर्य–ऐश्वर्य का, भर–भार (अर्थात् सारे जगत् का स्वामी होने का भार), उद्वाह–धारण करने में, देवीमात्र–केवल दुर्गा (अर्थात् पराशक्ति) ही, सहायक–सहायक है जिसकी, ऐसे (गौरीशङ्कर)!, जय–आप की जय हो॥

**तीनों भुवनों की सृष्टि करने की ओर उन्मुख बनने पर किसी दूसरे सहायक की अपेक्षा न रखने वाले (परमेश्वर) आपकी जय हो, विश्वभर की प्रभुता का भारी बोझ वहन करने में (अपनी ही अभिन्न) परा-शक्ति की सहायता पर निर्भर रहने वाले (गौरीशंकर) आपकी जय-जयकार हो॥ १३॥**

**जयाक्रमसमाक्रान्तसमस्तभुवनत्रय।**
**जयाविगीतमाबालगीयमानेश्वरध्वने॥ १४॥**

*अन्वयः*–अक्रमसमाक्रान्तसमस्तभुवनत्रय जय अविगीतम्आबालगीयमान-ईश्वरध्वने जय।

अक्रम–क्रम से नहीं (अर्थात् एक-एक करके नहीं, बल्कि एक साथ ही अर्थात् एक ही क्षण में), समाक्रान्त–पूर्ण रूप में व्याप्त किया है, समस्त–सम्पूर्ण, भुवनत्रय–त्रिभुवन (अर्थात् तीनों लोकों) को जिसने, ऐसे (सर्वात्मा)!, जय–आप की जय हो।, अविगीतम्–निर्विवाद रूप से, आबाल–मूर्खों अर्थात् अज्ञानियों तक से भी (अर्थात् केवल ज्ञानियों से ही नहीं, बल्कि अज्ञानियों से भी), गीयमान–सदा गाया जाता है, ईश्वर–'ईश्वर' नामक, ध्वने–शब्द (अर्थात् नादामर्श) जिस का, ऐसे (सर्वाशय प्रभु)!, जय–आप की जय हो॥

**'अक्रम से'-अर्थात् एक के पश्चात् दूसरे के क्रम को छोड़कर युगपत् ही तीनों (भव, अभव और अतिभव नाम वाले) लोकों में आत्मचेतना के रूप में व्याप्त होने वाले (परमात्मा) आपकी जय हो, जिसके 'ईश्वर' इस नाम का जयघोष, निर्विवाद रूप में, (ज्ञानी जनों से लेकर) अज्ञानी गंवार जनों तक सारे लोग करते रहते हैं, उसी आप (परमेश्वर) की**

जय-जयकार हो॥ १४॥

*संकेत*– इस मुक्तक पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी–

भावार्थ–हे भगवन्! वामन-अवतार-धारी विष्णु ने क्रम से अर्थात् एक एक करके तीनों लोकों को व्याप्त किया, अर्थात् पहले कदम से पृथिवी को, दूसरे से देवलोक को और उसके बाद तीसरे से पाताल को माप डाला अर्थात् व्याप्त किया। आपने तो एक साथ ही अर्थात् एक ही क्षण में भव (जाग्रत्-संबन्धी), अभव (स्वप्न-संबन्धी) और अतिभव (सुषुप्ति-संबन्धी) तीन लोकों को अर्थात् समस्त संसार मंडल को अपने चिदानन्दमय स्वरूप से व्याप्त किया है। तभी तो आपका नाम 'सर्वात्मा' सार्थक है।

**जयानुकम्पादिगुणानपेक्षसहजोन्नते।**
**जय भीष्ममहामृत्युघटनापूर्वभैरव॥ १५॥**

*अन्वयः*–अनुकम्पाआदिगुणअनपेक्षसहजउन्नते जय भीष्ममहामृत्युघटन- अपूर्व भैरव जय।

**अनुकम्पा**–दया, **आदि**–आदि, **गुण**–गुणों की, **अनपेक्ष**–अपेक्षा न करने वाली (अर्थात् गुणों पर आश्रित न होने वाली), **सहज**–(और इसीलिए) स्वाभाविक, **उन्नते**–महिमा है जिस की, ऐसे (महाप्रभु)!, **जय**–आप की जय हो।, **भीष्म**–भयंकर (अर्थात् समूचे जगत् को भयभीत कराने वाले), **महामृत्यु**–महाकाल का भी, **घटन**–संहार करने के लिए, **अपूर्व-भैरव**–अलौकिक भैरव, (अर्थात् डरावने यमराज के लिए भी डरावने मृत्युञ्जय)!, **जय**–आप की जय हो॥

जिसकी ईश्वरीय महिमा स्वभावसिद्ध है और दया इत्यादि करते रहने के जैसे साधारण गुणों पर निर्भर रहने वाली नहीं है, उसी आप (महिमा-शाली) की जय हो, सबों को भयभीत करने वाले यमराज को भी रौंदने में अत्यधिक प्रचंड शक्तिवाले (कालभक्ष) आपकी जय-जयकार हो॥ १५॥

*संकेत*– इस मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी–

भावार्थ–हे कालभक्ष! महाकाल भी आपसे डरता है क्योंकि आप उसका भी नाश करते हैं। आपके भक्तों को आपसे अभयदान मिलता है, अतः उन्हें मृत्यु का डर नहीं हो सकता।

**जय विश्वक्षयोच्चण्डक्रियानिष्परिपन्थिक।**
**जय श्रेयःशतगुणानुगनामानुकीर्तन॥ १६॥**

*अन्वयः*–विश्वक्षयउच्चण्डक्रियानिष्परिपन्थिक जय श्रेयः शत गुणअनुगनाम-अनुकीर्तन जय।

विश्व–जगत् के, क्षय–नाश का, उच्चण्ड–भयंकर, क्रिया–कार्य करने में, निष्परिपन्थिक–निष्कंटक (विश्वहर्ता)!, जय–आप की जय हो।, श्रेयः-शत-गुण–सैंकड़ों कल्याणकारक उत्तम गुण, अनुग–जिसके पीछे-पीछे चलते हैं, नाम–ऐसा जिस के नाम का, अनुकीर्तन–कीर्तन है (अर्थात् जिस के नाम का कीर्तन करने वाला भक्त सर्वगुण-सम्पन्न हो जाता है) ऐसे (विश्वबन्धु)!, जय–आप की जय हो॥

(इतने महान्) विश्व का संहार करने की प्रचंड क्रियाशीलता में किसी भी निरोधक से रहित (संहारकारी) आपकी जय हो, जिसके नाम का कीर्तन करने के पीछे सौगुना कल्याण अवश्य अनुसरण करता रहता है, उसी आप (कल्याणमय देव) की जय-जयकार हो॥ १६॥

**जय हेलावितीर्णैतदमृताकरसागर।**
**जय विश्वक्षयाक्षेपिक्षणकोपाशुशुक्षणे॥ १७॥**

*अन्वयः*– हेला वितीर्णएतत्अमृत आकरसागर जय विश्वक्षयआक्षेपिक्षण-आशुशुक्षणे जय।

हेला–सहज में ही, वितीर्ण–(उपमन्यु भक्त को) प्रदान किया है, एतत्–यह, अमृत-आकर–अमृत की खान, (अर्थात् अमृत से भरा हुआ), सागर–क्षीर-सागर जिसने, ऐसे (भूतभावन)!, जय–आप की जय हो।, विश्व–समस्त संसार का, क्षय–नाश करने की, आक्षेपि–शक्ति वाला है, क्षण–क्षण भर का, आशुशुक्षणे–क्रोधाग्नि जिसका, ऐसे (भीम विरूपाक्ष-नाथ)!, जय–आप की जय हो॥

(उपमन्यु नामक भक्तवर को) अमृत से लबालब भरे हुए क्षीरसागर को भी विनोद भरे खिलवाड़ में दान में देनेवाले (भगवान्) आपकी जय हो, जिसका पलभर तक ही टिकने वाला क्रोधाग्नि भी सारे विश्व का एकदम सर्वनाश करने के लिए सक्षम है उसी आप (महारुद्र) की

जय-जयकार हो॥ १७॥

**जय मोहान्धकारान्धजीवलोकैकदीपक।**
**जय प्रसुप्तजगतीजागरूकाधिपूरुष॥ १८॥**

*अन्वयः*—मोहअन्धकारअन्धजीवलोकएकदीपक जय प्रसुप्तजगतीजागरूक-अधिपुरुष जय।

मोह—अज्ञानरूपी, अन्धकार—अन्धकार से, अन्ध—अन्धे (अर्थात् अभेददृष्टिहीन) बने हुये, जीवलोक—प्राणि-जगत् (अर्थात् इस संसार के लोगों) को, एक—(ज्ञान-प्रकाश देने के लिये) अद्वितीय, दीपक—(परमार्थ-प्रकाशक) दीपक, (जगद्गुरु)!, जय—आपकी जय हो।, प्रसुप्त—(माया के प्रभाव से अज्ञान की) गहरी नींद में पड़े, जगती—इस संसार में, जागरूक—(सदा) जागरूक, जागने वाले (अर्थात् सदा प्रबुद्ध), अधिपुरुष— अधिष्ठातृ-स्वरूप महापुरुष!, जय—आप की जय हो।

अख्याति के अंधेरे में अंधा बने हुए जीवलोक को (ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करने वाले) एकले दीपक अर्थात् जगत्-गुरु आपकी जय हो, अज्ञान की गहरी नींद में बेसुध पड़े हुए संसार में हमेशा जागरुक रहने वाले (महापुरुष) आपकी जय-जयकार हो॥ १८॥

**जय देहाद्रिकुञ्जान्तर्निकूजज्जीवजीवक।**
**जय सन्मानस व्योम विलासि वर सारस॥ १९॥**

(*अन्वयः*—देहअद्रिकुञ्जअन्तर्निकूजत्जीवजीवक जय सत्मानसव्योम-विलासि वरसारस जय।)

देह—शरीर रूपी, अद्रि—पर्वत के, कुञ्ज—कुञ्ज अर्थात् गुफा के, अन्तर्—बीच में से, निकूजत्—बोलने वाले, जीव—जीवों के, जीवक—जीवनदाता अर्थात् जीवात्मा रूपी मधुर कूजन करने वाले चकोर!, जय—आपकी जय हो।, सत्—१ सत्पुरुषों अर्थात् भक्तों के, मानसव्योम—चित्तरूपी आकाश में, विलासि—आनन्द-पूर्वक विहार करने वाले, वर— सर्वश्रेष्ठ, सारस—(परमात्मा रूपी) राजहंस!, जय—आपकी जय हो।

कायारूपी पहाड़ के कुंज में बैठकर कूजन करते रहने वाले 'जीवजीवक'—अर्थात् प्राणियों को जीवन प्रदान करने वाले जीवात्मारूपी चकोर! आपकी जय हो, साधु स्वभाव वाले पुरुषों के चित्तरूपी नभोमंडल में विहार करने वाले राजहंस! आपकी जय-जयकार हो॥ १९॥

*संकेत*— श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

जीवजीवक=१—जीवों को जीवन देने वाला जीवात्मा,
२—चकोर नाम का पक्षी।

वरसारस=उत्तम हंस अर्थात् राजहंस।

**जय जाम्बूनदोदग्रधातूद्भवगिरीश्वर।**
**जय पापिषुनिन्दोल्कापातनोत्पात[1]चन्द्रमः॥ २०॥**

*अन्वयः*—जाम्बूनदउदग्रधातुउद्भवगिरीश्वर जय पापिषु निन्दाउल्कापातन-उत्पात-चन्द्रमः जय।

**जाम्बूनद**—सोने से, **उदग्र**—भरपूर, **धातु**—(तथा अन्य) धातुओं के, **उद्भव**—उत्पत्ति-स्थान, **गिरीश्वर**—गिरिराज, सुमेरु पर्वत के स्वामी, (सुमेरु, मेरु-धामा, गिरीन्द्र), **जय**—आपकी जय हो।, **पापिषु**—पापी लोगों पर, **निन्दा**—(आपकी) निन्दा रूपिणी, **उल्का**—उल्का के, **पातन**—गिरने पर, **उत्पात-चन्द्रमः**—(उनके लिये) उत्पात-चन्द्रमा अर्थात् अशुभसूचक चन्द्रमा (इन्दुशेखर)!, **जय**—आपकी जय हो॥

कंचन की बहुतात से चमचमाते हुए और दूसरे भी अतिरिक्त धातुओं का उत्पत्तिस्थान बने हुए (सुमेरु) पर्वत के स्वामी आपकी जय हो, आपकी निन्दा करने वाले पापियों पर (अवश्य) आ पड़ने वाले उल्कापात जैसे (दैवी) अनिष्टों की पूर्वसूचना देनेवाले उत्पात चन्द्रमा जैसे आप (चंद्रमौलि भगवान्) की जय-जयकार हो॥ २०॥

उल्कापात=तारा टूटना, आकाश से जलते हुए पिंडों का गिरना इत्यादि।
उत्पात=किसी भी प्रकार का दैवी उत्पात।
उत्पात चन्द्रमा=ज्यौतिषशास्त्र की परिभाषा में चन्द्रमाग्रह की विशेष स्थिति,

१. ख० पु० चन्द्रमाः—इति पाठः।

जो अवश्य काल पड़ने वाले दैवी उत्पात की पूर्वसूचिका होती हे, उत्पात चन्द्रमा कहलाती है।

*संकेत*— इस मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

(क)—(उत्तरार्ध भावार्थ—) हे चन्द्रमौलि! आप चन्द्रमा की तरह स्वभाव से ही आनन्द-स्वरूप अर्थात् सब को आह्लादित करने वाले हैं। किंतु जब कोई अज्ञान से प्रेरित होकर आपकी निन्दा करने लगता है, तो उसके लिये आप अशुभ-सूचक अर्थात् आपत्ति का कारण बनते हैं।

(ख) सुमेरु शिवजी का नाम है। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़े पर्वत का नाम है। इसको गिरिराज अर्थात् पर्वतों का राजा कहते हैं। यह सोने का कहा गया है। श्रीमद्भागवत में इसका सविस्तार वर्णन दिया गया है।

**जय कष्टतपःक्लिष्ट मुनिदेवदुरासद।**
**जय सर्वदशारूढभक्तिमल्लोकलोकित॥ २१॥**

*अन्वयः*— कष्टतपःक्लिष्टमुनिदेवदुरासद जय सर्वदशाआरूढभक्तिमत्लोक-लोकित जय।

**कष्ट**—कठिन (अर्थात् कष्ट-पूर्ण), **तपः**—तपस्या से, **क्लिष्ट**—दुःखी बने, **मुनि**—मुनियों, **देव**—तथा देवताओं के लिये, **दुरासद**—दुष्प्राप्य (अमायीय प्रभु)!, **जय**—आपकी जय हो।, **सर्व**—(जीवन की) सभी, **दशा**—दशाओं में, **आरूढ**—स्थिरता से, **भक्तिमत्**—(आपकी) भक्ति करने वाले, **लोक**—लोगों से, **लोकित**—देखे गये (अर्थात् अपने भक्तों को दर्शन देने वाले भक्तवत्सल)!, **जय**—आपकी जय हो॥

अतिकठिन तपस्या करने से कष्ट में पड़ जाने के कारण मुनियों और देवताओं के लिए दुष्प्राप्य बने हुए आपकी जय हो, हरेक अवस्था में आपकी (अनन्य) भक्ति करने वाले भक्तवरों को किसी आयास के बिना ही दर्शन देनेवाले आप (भक्तवत्सल) की जय-जयकार हो॥ २१॥

*संकेत*—

भगवान उत्पलदेव ने प्रस्तुत मुक्तक में अपनी पूर्वोक्त शैवमान्यता—

'न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥'

की ही दुबारा पुष्टि की है।

**जय स्वसम्पतप्रसरपात्रीकृतनिजाश्रित।**
**जय प्रपन्नजनतालालनैकप्रयोजन॥ २२॥**

*अन्वयः*—स्वसंपत्प्रसरपात्रीकृतनिजआश्रित जय प्रपन्नजनतालालनएकप्रयोजन जय।

**स्व**—(परमानन्दरूपी) अपनी, **संपत्**—संपत्ति के, **प्रसर**—प्रसर अर्थात् फैलाव (विकास) का, **पात्रीकृत**—पात्र बनाया है, **निज**—अपने, **आश्रित**—भक्तों को जिसने, (अर्थात् जो अपने भक्तों को परमानन्द का आस्वादन कराता है), ऐसे (भक्त-भावन)!, **जय**—आपकी जय हो।, **प्रपन्न**—(अपनी) शरण में आये हुए, **जनता**—लोगों के प्रति, **लालन**—अत्यन्त स्नेह का भाव रखना (ही), **एक**—एकमात्र, **प्रयोजन**—प्रयोजन (अर्थात् उद्देश्य) है जिसका, ऐसे (शरण्य)!, **जय**—आपकी जय हो॥

शरण में पड़े हुए भक्तजनों को अपनी ईश्वरीय विभूति (चिदानन्दभाव) के फैलाव का पात्र बनाने वाले (भक्तभावन) आपकी जय हो, शरणागत जनों का लालन करने के मात्र प्रयोजन वाले (ईश्वर) आपकी जय-जयकार हो॥ २२॥

**जय सर्गस्थितिध्वंसकारणैका[1]वदानक।**
**जय भक्तिमदालोललीलोत्पलमहोत्सव॥ २३॥**

*अन्वयः*— सर्गस्थितिध्वंसकारणएकअवदानक जय भक्तिमदआलोललीला-उत्पलमहोत्सव जय।

**सर्ग**—(संसार की) उत्पत्ति, **स्थिति**—स्थिति, **ध्वंस**—और संहार, **कारण**—करना ही, **एक**—एक, **अवदानक**—उज्ज्वल तथा उत्कृष्ट कार्य है जिसका, ऐसे (विश्वनाथ, विश्वात्मा)!, **जय**—आपकी जय हो।, **भक्ति**—(समावेश रूपिणी) भक्ति की, **मद**—मस्ती से, **आलोल**—स्पृहणीय, **लीला**—व्यवहार है जिसका, **उत्पल**—ऐसे उत्पल देव के, **महोत्सव**—महान् उत्सव (चिदानन्दघन प्रभु)!,

१. ग० पु० अपदानक–इति पाठः।

जय—आपकी जय हो॥

विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार—इन तीन (पारमेश्वर) कृत्यों को संपन्न करने के प्रशस्त स्वभाव वाले आपकी जय हो, भक्ति के मद से श्लाघनीय व्यवहार चलाने वाले उत्पल (देव) के महान् उत्सव जैसे (परमात्मा) आपकी जय-जयकार हो॥ २३॥

**जय जयभाजन जय जितजन्म-**
**जरामरण जय जगज्ज्येष्ठ।**
**जय जय जय जय जय जय जय**
**जय जय जय जय जय जय त्र्यक्ष॥ २४॥**

*अन्वयः*—जय-भाजन जय जित-जन्म-जरा-मरण जय जगत् ज्येष्ठ जय जय जय जय जय जय जय जय जय जय जय जय जय त्र्यक्ष जय।

जय-भाजन—(चिद्रूपता के कारण) जय-जयकार के (सर्वश्रेष्ठ) पात्र, (सर्वेश्वर)!, जय—आपकी जय हो।, जित-जन्म-जरा-मरण—जन्म, बुढ़ापा तथा मृत्यु को जीतने वाले, (मृत्युञ्जय)!, जय—आपकी जय हो।, जगत्—(अनादि होने के कारण जगत्) में, ज्येष्ठ—सबसे बड़े (अर्थात् सर्वश्रेष्ठ प्रभु)!, जय—आप की जय हो!, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो!, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो!, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो।, जय—आप की जय हो।, त्र्यक्ष—हे त्रिनेत्रधारी (विरूपाक्षनाथ)!, जय—आप की जय हो॥

(चित्-स्वरूप होने के कारण सर्वोच्च कोटि के) जयकार का पात्र बने हुए (परमदेव) आपकी जय हो, जन्म, बुढ़ापा और मरण—तीनों को जीतने वाले (पूर्णपुरुष) आपकी जय हो, सारे जगत् के ज्येष्ठ (सनातन पूर्वज) आपकी जय हो, हे त्रिनेत्रधारी (भगवान् सर्वमूर्ति)—

आप की जय हो। आप की जय हो।
आप की जय हो। आप की जय हो।
आप की जय हो। आप की जय हो।

आप की जय हो। आप की जय हो।
आप की जय हो। आप की जय हो।
आप की जय हो। आप की जय हो।
आप की जय हो॥ २४॥

जय विश्वेश्वरेशान जय भक्तगणप्रिय।
जय कालकलातीत जय नैष्ठिकसुन्दर॥

जय गौरीपते शम्भो भूतनाथ जगद्गुरो।
जय सर्वेश्वर शर्व जय त्र्यक्षसदाशिव॥

ॐ नमः शिवाय

चौदहवां स्तोत्र समाप्त

वीरभद्र प्रविकासय मध्यमां
वृत्तिमेव हृदये मम शाश्वतीम्।
लोकवृत्तिभुजगैः परिवेष्टितः
त्वामृते कमपरं मृगये प्रभुम्।।

# भक्तिविलास नामक पंद्रहवां स्तोत्र

प्रस्तुत स्तोत्र में समावेशमयी पराभक्ति के विविध प्रकारों का वर्णन होने के कारण इसका नाम भक्तिस्तोत्र रखा गया है।

**त्रिमलक्षालिनो [1]ग्रन्थाः सन्ति तत्पारगास्तथा।**
**योगिनः पण्डिताः स्वस्था स्त्वद्भक्ता एव तत्त्वतः।। १।।**

*अन्वयः*–(शम्भो) त्रिमलक्षालिनः ग्रन्थाः तथा तत् पारगाः योगिनः पण्डिताः (च) (बहवः) सन्ति (किन्तु) त्वद् भक्ताः एव तत्त्वतः स्वस्थाः (सन्ति)।

(शम्भो–हे महादेव!), त्रिमल–(आणव, मायीय और कार्म-इन) तीन मलों को, क्षालिनः–धो डालने वाले (अर्थात् दूर करने वाले), ग्रन्थाः–(अद्वैत-शास्त्र सम्बन्धी) ग्रन्थ, तथा–और, तत्–उन (शास्त्रों) के, पारगाः–पारंगत, योगिनः– योगी, पण्डिताः (च)–तथा ज्ञानी, (बहवः–इस संसार में तो बहुत), सन्ति– मिलते हैं, (किन्तु–किन्तु), त्वद्–(समावेश का आनन्द उठाने वाले) आपके, भक्ताः–भक्त, एव–ही, तत्त्वतः–वास्तव में, स्वस्थाः–सुखी, (सन्ति–होते हैं)।।

(हे कल्याणकारी परमदेव!) (आणव, मायीय और कार्म) तीनों मलों को धोने वाले अनेक शास्त्र और उनके मर्म को जानने वाले योगी और विद्वान् भी हैं, परन्तु, यथार्थ में, आपके भक्तजन ही उनके (शास्त्रों के) मर्मज्ञ पंडित हैं उनके लिए कोई मल नहीं है क्योंकि वे ही असली योगी, पंडित और स्वस्थ (समाहित) पुरुष हैं।। १।।

*संकेत*– इस मुक्तक की टिप्पणी में श्रीसद्गुरु महाराज ने तीन मलों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है–

आणवमल वह मल है जिससे जीव को अपने स्वरूप में अपूर्णता का आभास

१. ज्ञान, क्रिया, योग चर्या पद रूप चतुष्पाद शैव ग्रन्थ जो परमेश्वर ने बोले हैं।

होता है, मायीयमल से उसे भिन्नवेद्य प्रथा होती है और कार्ममल से उसको शुभवासना तथा अशुभवासनाओं का प्रादुर्भाव होता है।

**मायीयकालनियतिरागाद्याहारतर्पिताः।**
**[1]चरन्ति सुखिनो नाथ भक्तिमन्तो जगत्तटे॥ २॥**

*अन्वयः*—नाथ मायीयकालनियतिरागआदिआहार तर्पिताः भक्तिमन्तः जगत्तटे सुखिनः (सन्तः) *चरन्ति।

**नाथ**—हे प्रभु!, **मायीय**—माया सम्बन्धी, **काल**—काल, **नियति**—नियति, **राग**—और राग, **आदि**—आदि का, **आहार**—ग्रास करने से, **तर्पिताः**—तृप्त बने हुए, **भक्तिमन्तः**—(आपके) भक्त-जन, **जगत्**—(इस) जगत (रूपी समुद्र) के, **तटे**—तट पर, **सुखिनः**—सुखी, (**सन्तः**—होकर), **चरन्ति**—विहार करते हैं (अर्थात् उनको अपूर्णता का सर्वथा अभाव होने से पूर्णता-मय-स्थिति प्राप्त होती है)॥

**हे नाथ! माया-तत्त्व के ही विस्ताररूप काल-तत्त्व, नियति-तत्त्व और राग-तत्त्व इत्यादि का आहार करने से पूर्णतृप्त बने हुए आपके भक्तजन, सुखी बनकर, जगत्-रूपी (समुद्र) के किनारों पर ही रमते रहते हैं॥ २॥**

*संकेत*— इस मुक्तक पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

भावार्थ—हे नाथ! आपके भक्तजन भवसागर के बीच में नहीं, इसके किनारे पर रहते हैं, इसमें डूबना तो दूर की बात है। माया के प्रभाव से दबे हुए जो लोग इसमें डूबते हैं उनका तमाशा ये भक्तजन किनारे पर से देखकर अपना जी बहलाते हैं।

**रुदन्तो वा हसन्तो वा त्वामुच्चैः प्रलपन्त्यमी।**
**भक्ताः स्तुतिपदोच्चारोपचाराः पृथगेव ते॥ ३॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) अमी भक्ताः रुदन्तः वा हसन्तः वा त्वाम् उच्चैः प्रलपन्ति स्तुति-पद-उच्चारउपचाराः ते पृथक् एव (भवन्ति)।

(**प्रभो**—हे स्वामी!), **अमी**—वे, **भक्ताः**—(समावेश-शाली आपके) भक्त, **रुदन्तः वा**—चाहे रोते हों, **हसन्तः वा**—अथवा हँसते हों (अर्थात् दुःखी हों या सुखी हों, सभी अवस्थाओं में), **त्वाम्**—आपको, **उच्चैः**—जोर से,

१. ख० ग० पु० भवन्ति—इति पाठः।

प्रलपन्ति–पुकार कर प्रलाप करते हैं, (अर्थात् आपके स्वरूप का परामर्श करते हैं)।, स्तुति-पद-उच्चार–(आपकी) स्तुति के गीत गा गाकर, उपचाराः– (आपकी) सेवा करने वाले, ते–ऐसे (भक्त-जन), पृथक् एव–(लोगों से) भिन्न ही (अर्थात् निराले ही), (भवन्ति–होते हैं)॥

(हे जगत् के स्वामी!) वे आपके (समावेशशाली) भक्तजन चाहे रोते हों या हंसते हों (अर्थात् दुःख में या सुख में हों) वास्तव में आप के नाम की ही रट लगाए हुए (विमर्श करते हुए) होते हैं, स्तुति पदों के द्वारा आपको रिझाने वाले भक्तवर आम जनसमुदाय से बिल्कुल निराले होते हैं॥ ३॥

**न विरक्तो न चापीशो मोक्षाकाङ्क्षी त्वदर्चकः।**
**भवेयमपि तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः॥ ४॥**

*अन्वयः*–(भगवन्) (अहं) न विरक्तः, न च ईशः न अपि मोक्षआकांक्षी त्वद्-अर्चकः भवेयम् अपितु उद्रिक्तभक्तिआसवरसउन्मदः (भवेयम्)।

(भगवन्–हे स्वामी!), (अहं–मैं), न–न तो, विरक्तः,–(निवृत्ति-मार्ग में लगा हुआ) विरक्त, न च–न ही, ईशः–(प्रवृत्ति-मार्ग में लगा हुआ) ऐश्वर्य-शाली, न अपि–और न ही, मोक्ष–मुक्ति, आकांक्षी–चाहने वाला, त्वद्–आपका, अर्चकः–पूजक, भवेयम्–बनूँ, अपितु–बल्कि (मैं), उद्रिक्त–अगाध, भक्ति–भक्ति रूपिणी, आसव–मदिरा के, रस–रस से (अर्थात् समावेश के चमत्कार से), उन्मदः–मतवाला ही, (भवेयम्–बना रहूँ)॥

(हे भगवन्!) (मेरी कामना है कि–) मैं न कोई वैरागी, न कोई राजा, न मुक्ति का इच्छुक और न आपका पुजारी ही कहलाऊँ, मैं तो केवल (अंतस् में) उफनती हुई भक्तिरूपिणी मदिरा के रस का आस्वाद लेने में ही मस्त बना रहूँ॥ ४॥

**बाह्यं हृदय एवान्तर अभिहृत्यैव योऽर्चति।**
**त्वामीश भक्तिपीयूष रसपूरैर्नमामि तम्॥ ५॥**

*अन्वयः*–ईश यः बाह्यं हृदये अन्तर् एव अभिहृत्य भक्तिपीयूष-रसपूरैः त्वाम् एव अर्चति तम् (भक्ति-शालिनम्) नमामि।

ईश–हे प्रभु!, यः–जो (आपका भक्त), बाह्यं–बाहरी जगत (अर्थात्

बाहरी वस्तुओं) को, हृदये अन्तर्—(अपने) हृदय में, एव—ही, अभिहृत्य—प्रत्याहृत करके, भक्ति—(स्वरूप-समावेशात्मिका) भक्ति रूपी, पीयूष-रस—अमृत-रस की, पूरैः—धाराओं से, त्वाम्—आप (चिद्रूप प्रभु) की, एव—ही, अर्चति—पूजा करता है, तम्—उस, (भक्ति-शालिनम्)—भक्ति-शाली को, नमामि—मैं नमस्कार करता हूँ॥

हे जगत् के स्वामी! जो कोई भी (विरला भक्तवर) सारे बहिरंग प्रमेय जगत् के प्रपञ्च को अपने अन्तर्हृदय में ही समेटकर भक्तिरूपिणी मदिरा की धाराओं से आपकी अर्चना करता रहता है, मैं उसको प्रणाम करता हूं॥ ५॥

**धर्माधर्मात्मनोरन्तः क्रिययोर्ज्ञानयोस्तथा।**
**सुख दुःखात्मनोर्भक्ताः किमप्यास्वादयन्त्यहो॥ ६॥**

*अन्वयः*—(जगत्पितः) अहो भक्ताः धर्म-अधर्मात्मनोः क्रिययोः ज्ञानयोः तथा सुख-दुःखात्मनोः अन्तः (स्थिताः अपि) किमपि आस्वादयन्ति।

(जगत्पितः—हे जगदीश!), अहो—ओह!, भक्ताः—(आपके) भक्त, धर्म-अधर्मात्मनोः—धर्म-अधर्म, क्रिययोः—शुभ-अशुभ कार्यों, ज्ञानयोः—ज्ञान-अज्ञान, तथा—तथा, सुख-दुःखात्मनोः—सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वों) के, अन्तः—बीच में, (स्थिताः अपि—रहते हुए भी), किमपि—अलौकिक (परमानन्द की अवस्था) का, आस्वादयन्ति—आस्वादन अर्थात् अनुभव करते हैं॥

(हे जगत् के पिता!) आश्चर्य एवं आनन्द की बात है कि आपके भक्तजन धर्माचरण और अधर्माचरण, अच्छी एवं बुरी क्रियाओं, ज्ञान एवं अज्ञान और सुख एवं दुःख जैसे द्वन्द्वों के बीच में ही किसी लोकोत्तर आह्लाद का आस्वाद लेते रहते हैं—(शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार इन सारे द्वन्द्वों की संधियों में निर्मल चित्-शक्ति के स्पष्ट साक्षात्कार का रस अनुभव करते रहते हैं)॥ ६॥

**चराचरपितः! स्वामिन्! अप्यन्धा अपि कुष्ठिनः।**
**शोभन्ते परमुद्दामभवद्भक्तिविभूषणाः॥ ७॥**

*अन्वयः*—चराचरपितः! स्वामिन्! अन्धाः अपि कुष्ठिनः अपि उद्दामभवत्भक्ति-विभूषणाः (सन्तः) परम् शोभन्ते।

**चराचरपितः**—हे स्थावरजंगममय जगत् के पिता!, **स्वामिन्**—हे स्वामी!, **अन्धाः**—अन्धे, **अपि**—भी, **कुष्ठिनः अपि**—(तथा) कोढ़ी भी (अर्थात् अत्यन्त निन्दित लोग भी), **उद्दाम भवत् भक्ति**—आपकी असीम भक्ति से, **विभूषणाः**—सुसज्जित, (सन्तः—होकर), **परम्**—अत्यन्त, **शोभन्ते**—शोभायमान बन जाते हैं॥

हे जड़-चेतन-मय जगत् के पिता और प्रभु! अंधे और कोढ़ी (अर्थात् गर्हित समझे जाने वाले) व्यक्ति भी आपकी भक्ति के भूषणों की सजावट से अति रमणीक बन जाते हैं॥ ७॥

**शिलोञ्छ पिच्छ कशिपु विच्छायाङ्गाअपि प्रभो।**
**भवद्भक्तिमहोष्माणो राजराजमपीशते॥ ८॥**

*अन्वयः*— प्रभो शिलोञ्छपिच्छकशिपुविच्छायअङ्गाः अपि भवत्भक्तिमहा-ऊष्माणः (सन्तः) राजराजम् अपि ईशते*।

**प्रभो**—हे प्रभु!, **शिलोञ्छ**—शिलोञ्छ अर्थात् फसल के कट जाने पर बचे-खुचे अनाज के दानों, **पिच्छ**—(तथा) पक्षियों के परों रूपी, **कशिपु**—भोजन और वस्त्रों से, **विच्छाय**—पीले पड़ जाते हैं, **अङ्गाः**—अंग जिनके, (अर्थात् अत्यन्त दुर्बल होते हैं शरीर जिनके), ऐसे (लोग), **अपि**—भी, **भवत्**—आपकी, **भक्ति**—भक्ति (रूपिणी धन-संपत्ति) की, **महा**—बड़ी, **ऊष्माणः**—गर्मी से सम्पन्न, (सन्तः—होकर), **राजराजम्**—(देवताओं के कोषाध्यक्ष) कुबेर पर, **अपि**—भी, **ईशते***—शासन करते हैं (अर्थात् ऐश्वर्य में कुबेर को भी मात करते हैं)॥

हे प्रभु! खेतों में फसल की कटाई के उपरान्त भूमि पर पड़े हुए दानों को बटोरकर उन्हीं का आहार करने, और मोर इत्यादि पक्षियों के परों या पशुओं की पूंछों का पहरावा पहनने से कांतिहीन बने हुए अंगों वाले भी भक्तजन, आपकी भक्तिरूपिणी संपदा की ऊष्मा से भरित होने के कारण, कुबेर पर भी अपना शासन चलाते रहते हैं॥ ८॥

---

*भावार्थ—हे स्वामी! जिन लोगों को खाने-पीने तथा ढ़कने के लिए कुछ नहीं मिलता अर्थात् जो अत्यंत दरिद्र होते हैं, वे आपकी भक्तिरूपी धन को पाकर इतने ऐश्वर्यशाली हो जाते हैं कि वे कुबेर के नौ निधियों अर्थात् खज़ानों को भी कुछ नहीं समझते।

*संकेत*– इस मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी–

शिल-उञ्छ=फसल कट जाने पर खेत में गिरे पड़े अनाज के दाने चुनकर जीवन का निर्वाह करने की वृत्ति। अत्यन्त दरिद्रता अथवा तापसिक वृत्ति।

पिच्छ = (१) पशु की पूंछ, (२) पक्षी का पर।

कशिपु = भोजन तथा वस्त्र।

विच्छाय = कान्ति-हीन, निस्तेज, पीला पड़ा हुआ।

**सुधार्द्रायां [१]भवद्भक्तौ लुठताप्यारुरुक्षुणा।**
**चेतसैव विभोऽर्चन्ति केचित्त्वामभितः स्थिताः॥ ९॥**

*अन्वयः*–विभो त्वाम् अभितः स्थिताः केचित् सुधा आर्द्रायां भवत्भक्तौ लुठता अपि आरुरुक्षुणा चेतसा एव (त्वाम्) अर्चन्ति।

**विभो**–हे व्यापक परमात्मा!, **त्वाम्**–आप में, **अभितः**–पूर्ण रूप में (अर्थात् भीतर से तथा बाहर से), **स्थिताः**–लीन होने वाले, **केचित्**–कुछ (योगी-जन), **सुधा**–(परमानन्दरूपी) अमृत (के रस) से, **आर्द्रायां**–गीली अर्थात् सींची हुई, **भवत्**–आपकी, **भक्तौ**–(समावेश रूपिणी) भक्ति में, **लुठता**–लुढ़कते हुए, **अपि**–भी, **आरुरुक्षुणा**–(स्वात्म-योग में) आरूढ़ बनने की इच्छा वाले, **चेतसा एव**–(अपने) मन से ही, (**त्वाम्**–आपकी), **अर्चन्ति**–पूजा करते हैं॥

हे सर्वव्यापक परमात्मा! आपके स्वरूप का परामर्श करने में अन्तः-बहिः लीन रहने वाले कई योगीजन, चिदानन्दमय अमृतरस से भिगोई हुई भक्ति की भूमिका पर लुढ़कते हुए भी, (उस भूमिका पर) अवश्य संरूढ़ होने की पक्की साध वाले चित्त से ही आपकी अर्चना करने में लगे रहते हैं॥ ९॥

**रक्षणीयं वर्धनीयं बहुमान्यमिदं प्रभो।**
**संसार दुर्गतिहरं भवद्भक्तिमहाधनम्॥ १०॥**

*अन्वयः*– प्रभो भवत् भक्तिमहाधनम् संसारदुर्गतिहरम् (अस्ति) (अतः) इदम् रक्षणीयम् वर्धनीयम् (च) बहुमान्यम् (अस्ति)।

**प्रभो**–हे प्रभु!, **भवत्-भक्ति**–आपकी (समावेशात्मिका) भक्ति का,

१. घ० पु० भवद्भक्त्याम्–इति पाठः।

महाधनम्—बड़ा धन, संसार—संसार में होने वाली, दुर्गति—(भेद-प्रथात्मक) दुर्दशा को, हरम्—नष्ट करने वाला, (अस्ति—है), (अतः—अतः), इदम्—यह, रक्षणीयम्—सुरक्षित रखने योग्य, वर्धनीयम्—बढ़ाने योग्य, (च—और), बहुमान्यम्—(सर्वश्रेष्ठ होने के कारण) अत्यन्त आदरणीय, (अस्ति—है)।

हे स्वामी! आपकी (समावेशमयी) भक्ति के रूपवाली बड़ी विभूति संसारभाव की बुरी दशा को हर लेती है, अतः यह सुरक्षित रखने के योग्य, उत्तरोत्तर पुष्ट बनाने के योग्य और अति अभिलषणीय है॥ १०॥

**नाथ ते भक्तजनता यद्यपि त्वयि रागिणी।**
**तथापीर्ष्यां विहायास्या तुष्टास्तु स्वामिनी सदा॥ ११॥**

*अन्वयः*—नाथ ते भक्तजनता* यद्यपि त्वयि रागिणी (अस्ति) तथापि स्वामिनी ईर्ष्याम् विहाय अस्याः सदा तुष्टा अस्तु**।

नाथ—हे स्वामी!, ते—आपकी, भक्तजनता—भक्त-जनता (रूपिणी स्त्री), यद्यपि—यद्यपि, त्वयि—आपके प्रति, रागिणी—अनुरक्त, (अस्ति—है), तथापि—तो भी, स्वामिनी—(पराशक्ति रूपिणी) स्वामिनी अर्थात् पार्वती, ईर्ष्याम्—ईर्ष्या, विहाय—छोड़कर (अर्थात् इस भक्त-जनता को आपसे मिलने का अवकाश देकर), अस्याः—इस पर, सदा—सदा, तुष्टा—प्रसन्न, अस्तु—रहे॥

हे प्रभु! यद्यपि यह भक्तों की जनतारूपिणी नायिका आपके प्रति अनुरागिणी (प्रेम करने वाली, आसक्त) है, (नारीसुलभ) डाह को छोड़कर, हमेशा इस पर (भक्तजनता रूपिणी नायिका पर) प्रसन्न बनी रहे—अर्थात् इसको भी अपने प्रेमी के साथ मिलन का अवकाश प्रदान करती रहे॥ ११॥

**भवद्भावः पुरो भावी प्राप्ते त्वद्भक्तिसम्भवे।**
**लब्धे दुग्ध महाकुम्भे हता दधनि गृध्नुता॥ १२॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) त्वद्भक्तिसंभवे प्राप्ते भवत्भावः पुरः-भावी (यथा) दुग्धमहा-कुम्भे लब्धे (सति) दधनि गृध्नुता हता।

*शब्दार्थ—जनता=लोगों का समूह, अर्थात् लोग। यह एक स्त्रीवाचक शब्द है।

**भावार्थ—हे प्रभु! मेरी यही लालसा है कि मुझ जैसे जो लोग आपके अनन्य भक्त हैं, ये आपके शक्तिपातरूपी अनुग्रह के पात्र बन जायें।

(प्रभो–हे भगवान्!), त्वद्–आपकी, भक्ति–(समावेश रूपिणी) भक्ति का, संभवे–संयोग, प्राप्ते–प्राप्त होने पर, भवत्–आपके साथ, भावः–एकात्मता (अर्थात् आपके स्वरूप का लाभ), पुरः-भावी–अवश्य होता है;, (यथा–जैसे), दुग्ध–दूध का, महा–बड़ा, कुम्भे–घड़ा, लब्धे (सति)–प्राप्त होने पर, दधनि–दही की, गृध्नुता–इच्छा, हता–नहीं रहती॥

(हे भगवन्!) अंतस् में आपकी (समावेशात्मिका) भक्ति पूर्णरूप में उदित हो जाने पर, आपके साथ एकात्मता की अवस्था (अर्थात् स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान), अग्रगामिनी (अथवा अवश्यंभाविनी) बन जाती है, जिस प्रकार दूध से भरा हुआ बड़ा कलश मिल जाने पर दही की अभिलाषा अवश्य मिट जाती है॥ १२॥

**किमियं न सिद्धिरतुला**
**किं वा मुख्यं न सौख्यमास्रवति।**
**भक्तिरुपचीयमाना**
**येयं[1] शम्भोः सदातनी भवति॥ १३॥**

*अन्वयः*–शम्भोः इयम् भक्तिः या उपचीयमाना (सती) सदातनी भवति किम् इयम् अतुला सिद्धिः न (अस्ति) वा किम् (इयम्) मुख्यं सौख्यम् न आस्रवति।

शम्भोः–महादेवजी की, इयम्–यह, भक्तिः–(समावेश रूपिणी) भक्ति, या–जो, उपचीयमाना (सती)–बढ़ायी जाने पर (अर्थात् चरमसीमा पर पहुँचायी जाने पर), सदातनी–सदा रहने वाली, भवति–बन जाती है, किम्–क्या, इयम्–यह (भक्ति), अतुला–अनुपम, सिद्धिः–(स्वरूप- लाभात्मिका) सिद्धि, न (अस्ति)–नहीं है? (अर्थात् अवश्य है), वा किम् (इयम्)–क्या यह, मुख्यं सौख्यम्–(परमानन्दरूपी) सर्वश्रेष्ठ सुख (की धारा) को, न आस्रवति–पूर्णरूप में नहीं बहाती? अर्थात् अवश्य ऐसा करती है॥

यह जो भगवान् शंकर की भक्ति है वह उत्तरोत्तर पुष्ट बनाई जाती हुई (पराकाष्ठा पर पहुंचकर) अवश्य 'सदातनी'–अर्थात् शाश्वत परा-भक्ति बन जाती है, क्या यह अतिशयशालिनी सिद्धि की उपलब्धि नही है?

१. ख० पु० चेयम्–इति पाठः।

(अर्थात् अवश्य है), और क्या यह परम-आनन्द के स्रोत को प्रवाहित नहीं करती है? (अर्थात् अवश्य करती है)॥ १३॥

**मनसि मलिने मदीये**
**मग्ना त्वद्भक्तिमणिलता कष्टम्।**
**न निजानपि तनुते तान्**
**अपौरुषेयान् स्वसम्प[1]दुल्लासान्॥ १४॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) कष्टं त्वद्भक्तिमणिलता मदीये मलिने मनसि मग्ना (सती) निजान् तान् अपौरुषेयान् स्वसम्पद्उल्लासान् अपि न तनुते*।

(प्रभो—हे ईश्वर!), कष्टं—ओह!, त्वद्—आपकी, भक्ति—(समावेशात्मिका) भक्ति रूपिणी, मणिलता—रत्नलता, मदीये—मेरे, मलिने— मलिन (अर्थात् व्युत्थान की मैल से युक्त), मनसि—मन में, मग्ना (सती)—डूब कर (अर्थात् व्युत्थान से ढ़ककर), निजान्—अपनी (अर्थात् स्वाभाविक), तान्—उन (अर्थात् समावेश में देखी गई), अपौरुषेयान्—अलौकिक परमानन्द-मय, स्वसम्पद्—अपनी संपत्ति की, उल्लासान्—झलकों को, अपि—भी, न तनुते—नहीं दिखाती॥

(हे परमेश्वर!) कष्ट इस बात का है कि मेरे इस कलुषित मन में धंसी हुई यह आपकी भक्तिरूपिणी रत्नों की बेल 'उन'—अर्थात् समावेश की अवस्था में अनुभव किए जाने वाले, अपने लोकोत्तर आनन्द के बहुमुखी विकासों का विस्तार नहीं कर पा रही है॥ १४॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

भावार्थ—हे प्रभु! आपकी भक्ति एक रत्नलता है। यह समावेश में मुझे परमानन्द का अनुभव तो कराती है, पर व्युत्थान में उसकी झलक भी नहीं दिखाती। यह बड़े दुःख की बात है। क्या अच्छा होता यदि यह व्युत्थान में भी मुझे परमानन्दमग्न करती।

**भक्तिर्भगवति भवति**
**त्रिलोकनाथे ननूत्तमा सिद्धिः।**

१. ख० पु० स्वसंविदुल्लेखान्—इति पाठः।

**किन्त्वणिमादिक विरहात्**
**सैव न पूर्णेति चिन्ता मे।। १५।।**

*अन्वयः*– (भगवन्) त्रिलोकनाथे भवति भगवति भक्तिः ननु उत्तमा सिद्धिः (अस्ति) किन्तु अणिमाआदिकविरहात् सा एव पूर्णा न (अस्ति) इति मे चिन्ता।

(भगवन्–हे प्रभु!), त्रिलोक–तीनों लोकों के, नाथे–स्वामी, भवति–आप, भगवति–प्रभुदेव की, भक्तिः–(समावेश रूपिणी) भक्ति, ननु–निश्चित रूप से, उत्तमा–एक उत्कृष्ट, सिद्धिः–सिद्धि, (अस्ति–है,), किन्तु–किन्तु, अणिमा–(अभेदरूप) अणिमा, आदिक–आदि (आठ सिद्धियों) के, विरहात्–विना, सा एव–वही (अर्थात् ऐसी भक्ति), पूर्णा–परिपूर्ण, न (अस्ति)–नहीं है, इति–इसीलिए, मे–मुझे, चिन्ता–चिन्ता (है)।।

(हे परमेश्वर!) सभी दिव्य विभूतियों से परिपूर्ण और तीनों लोकों के पालनहार प्रभु की भक्ति ही अपने आपमें एक उत्कृष्ट सिद्धि है, मुझे तो केवल इस बात की चिन्ता है कि अणिमा इत्यादि (स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान की परिचायिका) दूसरी सिद्धियों के अभाव में यह (भक्तिसिद्धि) परिपूर्ण नहीं है।। १५।।

*तात्पर्य*–

उत्पलदेव के कथन का अभिप्राय यह है कि मैं अणिमा इत्यादि सारी सिद्धियों के समेत साङ्गोपाङ्ग भक्ति सिद्धि को प्राप्त करना चाहता हूँ।

**बाह्यतोऽन्तरपि चोत्कटोन्मिष-**
**त्र्यम्बकस्तवकसौरभाः शुभाः।**
**वासयन्त्यपि विरुद्धवासनान्**
**योगिनो निकटवासिनोऽखिलान्।। १६।।**

*अन्वयः*–बाह्यतः अन्तः अपि च उत्कट उन्मिषत् त्र्यम्बक स्तबक सौरभाः शुभाः योगिनः विरुद्धवासनान् अखिलान् निकटवासिनः (जनान्) अपि वासयन्ति।

बाह्यतः–बाहर से, अन्तः अपि च–तथा भीतर से भी, उत्कट-उन्मिषत्-त्र्यम्बक-स्तबक-सौरभाः–प्रफुल्लित (अर्थात् अत्यन्त प्रसन्न) महादेव जी की स्तुति रूपी खिले हुए फूलों के गुच्छे की बड़ी तेज़ सुगंधि है प्राप्त जिनको, ऐसे, शुभाः–सौभाग्यशाली, योगिनः–योगीजन, विरुद्धबुरी, वासनान्–

वासनाओं की दुर्गन्धि, अखिलान्—सभी, निकट—पास, वासिनः—रहने वाले (अर्थात् अपने संपर्क में आने वाले), (जनान्—लोगों को), अपि—भी, वासयन्ति—सुवासित (अर्थात् सुगंधित) करते हैं॥

ऐसे सौभाग्यशाली भक्तजन, जो अन्तः-बहिः भगवान् शंकर के स्तोत्ररूपी फूलों के गुच्छे के तेज़ सौरभ को बिखेर रहे हों, वे अपने संपर्क में आने वाले और बुरी वासनाओं के दुर्गंध से व्याप्त लोगों को भी, अपनी अच्छी वासनाओं के सौरभ से सुगंधित बना देते हैं॥ १६॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

(क) शब्दार्थ—उत्कट=तीव्र, बहुत तेज़।

उन्मिषत्=१. प्रफुल्लित, अत्यन्त प्रसन्न, २. विकसित, खिला हुआ।

त्र्यम्बक=त्रिनेत्रधारी शंकर

स्तवक=१. स्तुति, स्तोत्र, २. फूलों का गुच्छा।

सौरभ=सुगन्धि, चमत्कार।

विरुद्धवासनान्=१. बुरी वासनाओं वाले अर्थात् दुष्टों और नास्तिकों को, २. दुर्गन्धि से युक्त।

(ख) भावार्थ—हे शंकर! जो योगीजन आपकी समावेशात्मिका भक्ति की पारमार्थिक सुगंधि से भरे रहते हैं, वे उस सुगंधि का चुटकी भर अंश उन लोगों के चित्त में फूंक कर उनको भी अपने समान बनाते हैं, जो रजोगुण और तमोगुण से दबे रहते हैं। अर्थात् आपके भक्त अपने संपर्क से दुष्टों और नास्तिकों को भी परमानन्द का पात्र बनाते हैं। यही आपकी भक्ति का चमत्कार है॥

**ज्योतिरस्ति कलयापि न किंचि-**
**द्विश्वमप्यतिसुषुप्तमशेषम्।**
**यत्र नाथ शिवरात्रिपदेऽस्मिन्**
**नित्यमर्चयति भक्तजनस्त्वाम्॥ १७॥**

*अन्वयः*—नाथ यत्र ज्योतिः किंचित् कलया अपि न अस्ति (यत्र च) अशेषं विश्वम् अपि अतिसुषुप्तम् अस्मिन् शिवरात्रिपदे भक्तजनः नित्यं त्वाम् अर्चयति।

नाथ—हे प्रभु!, यत्र—जिस (रात) में, ज्योतिः—(बाहरी तथा भीतरी इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान रूपी) प्रकाश की, किंचित्—कोई, कलया अपि—संस्कार भी, न—नहीं, अस्ति—होती, (अर्थात् जिस में ज्ञाता और ज्ञेय का अन्तर बिल्कुल नहीं रहता), (यत्र च—और जिस में), अशेषं—(संपूर्ण भेद- प्रथा के

नष्ट होने के कारण) सारा, विश्वम्—जगत, अपि—भी, अति-सुषुप्तम्—सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में सोया रहता है, अस्मिन्—उसी, शिवरात्रिपदे— कल्याण-कारिणी रात में (अर्थात् शिव-समावेश-भूमि में), भक्त-जनः—भक्त-जन, नित्यं—सदैव, त्वाम्—आप की, अर्चयति—पूजा करते हैं॥

हे स्वामी! जिस (शिवसमावेश के रूपवाली) मंगलमयी रात में 'बाहरी ज्योति'—अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों और तीन अंतःकरणों से प्राप्त होने वाले बाहरी ज्ञान (=प्रकाश) की चर्चा तक का भी नामोनिशान नहीं होता है—(अर्थात् बाहरी ज्ञाता और ज्ञेय का अन्तर बिल्कुल मिटा होता है), और समूचा (बाहरी) जगत्भाव भी, संस्कारों के समेत, प्रगाढ सुषुप्ति की अवस्था में बेसुध पड़ा होता है, उसी शिवरात्रि के पद पर आपके भक्तजन हमेशा आपकी अर्चना करते रहते हैं॥ १७॥

*संकेत*—

शिवरात्रि की भूमिका पर समूची बाहरी कार्यरूपता भीतरी कर्तृता में ही परिपूर्ण रूप में लय हुई होती है।

सद्गुरु महराज ने 'कथयापि' के स्थान पर 'कलयापि' पाठ लिखवाया है जो सुसंगत है।

कथयापि=बात भी

कलयापि=संस्कार भी

**सत्त्वं सत्यगुणे शिवे भगवति स्फारीभवत्वर्चने**
**चुडायां विलसन्तु [१]शङ्करपद प्रोद्य[२]द्रजःसञ्चयाः।**
**रागादिस्मृतिवासनामपि समुच्छेत्तुं तमो जृम्भतां**
**शम्भो मे भवतात्त्वदात्मविलये [३]त्रैगुण्य वर्गोऽथवा॥१८॥**

*अन्वयः*—शम्भो सत्य गुणे भगवति शिवे अर्चने सत्त्वं स्फारी भवतु शङ्करपद-प्रोद्यत्रजः सञ्चयाः (मे) चूडायां विलसन्तु। रागआदिस्मृतिवासनाम् अपि समुच्छेत्तुं तमः जृम्भताम् अथवा मे त्रैगुण्य-वर्गः त्वदात्मविलये भवतात्।

शम्भो—हे महादेव!, सत्यगुणे—सच्चे (अर्थात् सर्वज्ञता आदि पारमार्थिक)

१. ख० पु० शम्भुचरण—इति पाठः।

२. ख० पु० प्रोञ्च्छद्रजःसंचयाः—इति पाठः।

३. घ० पु० त्रैलोक्यवर्गोऽथवा—इति पाठः।

गुण हैं जिसमें, ऐसे, भगवति–भगवान्, शिवे–शिव की, अर्चने–(मुझ से की गई) पूजा में, सत्त्वं–सत्त्व-गुण (अर्थात् पारमार्थिक प्रकाश), स्फारी-भवतु–विकास को प्राप्त करे।, शङ्कर–(मेरे प्रणाम करने पर) शङ्कर के, पद–चरणों पर से, प्रोद्यत्–उठी हुई, रजः–धूलि का, सञ्चयाः–समूह रूपी रजोगुण, (मे–मेरी), चूडायां–सिर पर, विलसन्तु–चमक उठे।, राग–राग, (द्वेष), आदि–आदि की, स्मृति–स्मृति संबन्धिनी, वासनाम्–वासना को, अपि–भी, समुच्छेत्तुं–पूर्ण रूप में नष्ट करने के लिए, तमः–तमोगुण, जृम्भताम्–विकसित हो जाय।, अथवा–और (इसी प्रकार), मे–मेरे लिए, त्रैगुण्य-वर्गः–त्रि-गुण-वर्ग (अर्थात् त्रिगुणात्मक समस्त जगत), त्वदात्म–आप के स्वरूप में, विलये भवतात्–लय को प्राप्त करे (अर्थात् आप में लीन हो जाय)॥

हे भगवान् शंकर! (सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता इत्यादि) पारमेश्वर स्वभावों से परिपूर्ण आप शिवजी की, मेरे द्वारा की जाने वाले अर्चना में, सात्त्विकता (ईश्वरीय प्रकाश) का अभ्युदय हो जाए, आप शंकर महाराज के चरण-कमलों से छलकती हुई धूलि का अंबार (रजोगुण) मेरे मस्तक का अलंकार बने, राग इत्यादि मायीय आकर्षणों का स्मरण करते रहने की वासना को समूल जड से उखाड़ फेंकने के लिए मुझ में तमोगुण उभरता रहे, अथवा मुझमें विद्यमान (सत्त्व, रजस् और तमस्) तीनों गुणों का समूह अर्थात् सारा त्रिगुणमय जगत्, आपके स्वरूप में ही, संस्कारों के समेत, लय हो जाए॥ १८॥

**संसाराध्वा सुदूरः खरतरविविधव्याधि[१]दग्धाङ्गयष्टिः**
**[२]भोगा नैवोपभुक्ता यदपि सुखमभूज्जातु तन्नो चिराय।**
**इत्थं व्यर्थोऽस्मि जातः शशिधरचरणाक्रान्ति कान्तोत्तमाङ्ग-**
**स्त्वद्भक्तश्चेति तन्मे कुरु सपदि महासम्पदो दीर्घदीर्घाः॥ १९॥**

*अन्वयः*–(संसारेसारथे) संसारअध्वा सुदूरः (अस्ति) (च) खर तर विविध-व्याधि दग्ध अङ्ग यष्टिः भोगाः नैव उपभुक्ताः (मे) यत् अपि सुखं जातु अभूत् तत् नो चिराय इत्थम् (अहं) व्यर्थः जातः अस्मि शशि धरचरणआक्रान्तिकान्त उत्तम अङ्गः (अहं) च

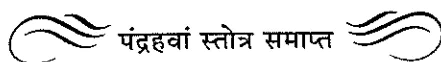
१. ख० पु० दष्टांगयष्टिः–इति पाठः।
२. ख० पु० भोगानेवोपभुक्त्वा–इति पाठः।

त्वद्भक्तः (अस्मि) इति तद् दीर्घ-दीर्घाः महासंपदः मे सपदि कुरु।

(संसारेसारथे—हे संसारसारथि!), संसार—जीवन-यात्रा का, अध्वा—मार्ग, सुदूरः—अत्यन्त दूर (अर्थात् अपार), (अस्ति—है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र का कोई अन्त नहीं), (च—और), खरतरविविध-व्याधि-दग्ध- अङ्ग-यष्टिः—अनेक प्रकार के अत्यन्त भयंकर रोगों (तथा आपत्तियों) से इसके कोमल (अर्थात् दुर्बल) अंग जलते रहते हैं।, भोगाः नैव उपभुक्ताः—(पारमार्थिक चिदानन्दमय) भोगों का आस्वादन (तो मैंने) किया नहीं, (मे—और मुझे), यत् अपि—जो कुछ भी, सुखं—सुख, जातु—कभी, अभूत्—प्राप्त हुआ, तत्—वह, नो चिराय—चिरस्थायी न रहा।, इत्थम्—इस प्रकार, (अहं—मैं, इस संसार में), व्यर्थः जातः अस्मि—व्यर्थ ही उत्पन्न हुआ हूँ, (अर्थात् मेरा जीवन निष्फल ही रहा है)।, शशिधर—चन्द्रकलाधारी शंकर के, चरण—(अपने) चरणों के, आक्रान्ति—(इस पर) रखने से, कान्त-उत्तम-अङ्गः (अहं)—मेरा सिर अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है, (अर्थात् शंकर के शक्तिपात से मेरा स्वरूप अत्यन्त उज्ज्वल-संवित्-प्रधान हो गया है), च—और (फिर भी मैं), त्वद्—आपका ही, भक्तः—भक्त, (अस्मि—बना रहा हूँ।), इति तद्—इसलिए, दीर्घ-दीर्घाः—सदा रहने वाली, महा—सर्वश्रेष्ठ, संपदः—(अद्वयानन्द रूपिणी), संपत्ति, मे—मुझे, सपदि—तुरन्त, कुरु—प्रदान कीजिए (और इस प्रकार मेरा बेड़ा पार लगाइए॥

(हे संसार के नियामक!) आवागमन का रास्ता बहुत दूर अर्थात् अनन्त है, भिन्न-भिन्न प्रकार की जानलेवा बीमारियों के प्रकोप से सारे अंग जलते रहते हैं, दिव्य भोगों का उपयोग करना तो कभी नसीब ही नहीं हुआ है, अगर कभी-कभार सुख मिला भी है वह तो चिरस्थायी नहीं रहा, इस प्रकार व्यर्थ ही मैंने जन्म लिया है, चंद्रचूड के चरणकमल का स्पर्श प्राप्त होने से (अर्थात् आकस्मिक शक्तिपात होने से) मेरा मस्तक 'कान्त'—अर्थात् संवित्-प्रकाशमय बन गया है, मैं हमेशा आपकी भक्ति करता आया हूँ, अतः (हे स्वामी!) मुझे उत्कृष्ट एवं अनन्तकालस्थायिनी 'विभूति'—अर्थात् अद्वैत-आनन्दमयी विभूति प्रदान कीजिए॥ १९॥

प्रार्थयामि नमोवाकं भगवन् भक्तवत्सल।
वरदोऽसि वरां भक्तिं देहि दुर्गतिहारिणीम्॥



ॐ नमः शिवाय

नन्दि भृङ्गिरिटि देवगणार्चित!
देव कर्तय व्यथां परमां प्रभो!
अन्ध-तामस दशामपनोदय
शर्व दर्शय निजं मुखमण्डलम्।।

# भक्तिविलास नामक सोलहवां स्तोत्र।

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'पाशानुद्भेद' है। 'पाश' से मायीय अज्ञान का, 'अन्' से निषेध का और 'उद्भेद' से अंकुरित होने का अभिप्राय द्योतित होता है। फलतः जिस अवस्था में मायीय पाश अंकुरित ही न होने पाएँ उसका 'पाशानुद्भेद = पाश + अन् + उद्भेद' यह नाम औचित्यपूर्ण है।

**न किञ्चिदेव लोकानां भवदावरणं प्रति।**
**न किञ्चिदेव भक्तानां भवदावरणं प्रति।। १।।**

*अन्वयः*—(प्रभो) लोकानां भवत् आवरणं प्रति किंचित् एव न (अस्ति) भक्तानां भवत् आवरणं प्रति किञ्चित् एव न (अस्ति)।

(प्रभो—हे प्रभु!), लोकानां—संसारी जनों के लिए, भवत्-आवरणं प्रति—आप (चित्-स्वरूप) को ढकने अर्थात् छुपा रखने वाला, किंचित्—क्या कुछ, एव न (अस्ति)—भी नहीं (है)? (अर्थात् उनके लिए तो सारा संसार भेद-प्रथात्मक ही है)।, भक्तानां—(इसके प्रत्युत आपके स्वरूप-समावेश-संपन्न) भक्त-जनों के लिए, भवत्-आवरणं प्रति—आप के स्वरूप को छुपा रखने वाला, किञ्चित्—कुछ, एव—भी, न—नहीं, (अस्ति—है)॥

(हे भगवान्!) संसार के अज्ञानी पशुजनों के लिए, आपके स्वरूप पर आवरण डालने के लिए अर्थात् आपके अस्तित्व को ही झुठलाने के लिए क्या कुछ नहीं है? जब कि आपके भक्तजनों के लिए आपके स्वरूप को ढांप सकने वाला कोई भी पदार्थ नहीं है॥ १॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणीः-

भावार्थ - हे प्रभु! संसारी जनों के लिए संसार की सभी चीज़ें तथा बातें आपके

स्वरूप को छुपाये रखने में ही योग देती हैं, किन्तु भक्तजनों के लिए वही सभी चीज़ें तथा बातें आपके स्वरूप को प्रकट करने में ही योग देती हैं। यही आपकी भक्ति का चमत्कार है।

**अप्युपायक्रमप्राप्यः सङ्कुलोऽपि विशेषणैः।**
**भक्तिभाजां भवानात्मा सकृच्छुद्धोऽवभासते॥ २॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) भवान् आत्मा उपायक्रमप्राप्यः अपि (च) विशेषणैः संकुलः अपि (अस्ति) (तथापि) (भवान्) भक्ति भाजां सकृत् शुद्धः अवभासते।

(**प्रभो**—हे स्वामी!), **भवान्**—आप, **आत्मा**—चिद्रूप, **उपाय**—(शास्त्रों में कहे गए), **क्रम**—क्रम से, **प्राप्यः**—प्राप्त किए जाने वाले, **अपि**—भी (हैं), (**च**—और), **विशेषणैः**—(सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् आदि) विशेषणों से, **संकुलः**—संकीर्ण, **अपि**—भी, (**अस्ति**—हैं), (**तथापि**—तो भी), (**भवान्**—आप), **भक्ति-भाजां**—भक्त-जनों को, **सकृत्**—(समावेश में) सदा, **शुद्धः**—शुद्ध (अर्थात् स्वाभाविक चिदानन्दघन) रूप में, **अवभासते**—भासमान होते हैं अर्थात् दिखाई देते हैं॥

**(हे परमेश्वर!) (सारे जड-चेतन पदार्थों के) एक ही आत्मा बने हुए आप (शास्त्रोक्त) उपायों के क्रम से प्राप्य होते हुए और (सर्वज्ञ, सर्वकर्ता इत्यादि) विकारी धर्मों वाले होते हुए भी, (समावेशात्मिका) भक्ति की अवस्था पर पहुंचे हुए भक्तों को, एकदम स्वच्छाति-स्वच्छ आत्मा के रूप में ही भासमान होते रहते हैं॥ २॥**

**जयन्तोऽपि हसन्त्येते जिता अपि हसन्ति च।**
**भवद्भक्तिसुधापानमत्ताः केऽप्येव ये [1]प्रभो॥ ३॥**

*अन्वयः*—प्रभो ये भवत्भक्तिसुधापानमत्ताः (भवन्ति) (ते) जयन्तः अपि हसन्ति च जिताः अपि हसन्ति एते केऽपि एव (सन्ति)।

**प्रभो**—हे प्रभु!, **ये**—जो (भक्तजन), **भवत्**—आप की, **भक्ति**—(समावेशात्मिका) भक्ति रूपी, **सुधा**—अमृत को, **पान**—पी कर, **मत्ताः**—मतवाले (अर्थात् मस्त), (**भवन्ति**—बने रहते हैं), (**ते**—वे), **जयन्तः अपि**—जीतने पर भी

१. ख० पु० विभो—इति पाठः।

(अर्थात् समावेश का आनन्द उठाने पर भी), हसन्ति–हंसते हैं (अर्थात् प्रफुल्लित या प्रसन्नचित्त होते हैं), च–तथा, जिताः अपि–जीते जाने पर भी (अर्थात् व्युत्थान में उस आनन्द से वंचित होने पर भी), हसन्ति–हंसते हैं।, एते–ऐसे भक्त तो, केऽपि–अलौकिक, इव–ही (अर्थात् विरले ही), (सन्ति)–होते हैं॥

हे प्रभु! आपकी (समावेशात्मिका) भक्ति के अमृत का छक कर पान करने से मस्त बने हुए कई इने-गिने ही भक्त ऐसे हैं जो 'जीत में'- अर्थात् समावेश दशा में आपका साक्षात्कार करने और 'पराजय में' - अर्थात् व्युत्थान में आप से विलगने में - दोनों अवस्थाओं में हंसते ही रहते हैं॥ ३॥

*संकेत*– इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिपपणी –

भावार्थ- जिस प्रकार मदिरापान से मतवाले बने लोग सदा हंसते ही रहते हैं, चाहे उनकी जीत हो या हार, उसी प्रकार जो भक्तजन सदैव प्रफुल्लित रहते हैं, चाहे लौकिक व्यवहार में उनकी जीत हो या हार, वे विरले ही होते हैं।

**शुष्ककं मैव सिद्ध्येय मैव [1]मुच्येय वापि तु।**
**स्वादिष्ठपरकाष्ठाप्तत्वद्भक्तिरसनिर्भरः॥ ४॥**

*अन्वयः*–(परमात्मन्) (अहं) शुष्ककं मा एव सिद्ध्येय वा मा एव मुच्येय अपि तु स्वादिष्ठ परकाष्ठा आप्त त्वद् भक्ति रस निर्भरः (भवेयम्)।

(परमात्मन्–हे परमेश्वर!), (अहं–मैं), शुष्ककं–सूखे या नीरस रूप में (अर्थात् आपकी समावेशात्मिका भक्ति के रस के विना), मा एव सिद्ध्येय– भोग-सिद्धि को प्राप्त न करूँ, वा–और, मा एव मुच्येय–मुक्ति को प्राप्त न करूँ (अर्थात् भक्ति के विना भोग और मोक्ष, दोनों मुझे नहीं भाते), अपि तु–बल्कि (मैं), स्वादिष्ठ-परकाष्ठा-आप्त-त्वद्-भक्ति-रस-निर्भरः–पराकाष्ठा अर्थात् चरम सीमा को पहुँची हुई आप की (समावेश रूपिणी) भक्ति के अत्यन्त मधुर रस से भरा हुआ, (भवेयम्–बना रहूँ)॥

(हे रस के सागर शिव!) 'सूखेपन में'- अर्थात् आपकी समावेशमयी

१. ख० पु० मुच्येऽथवापितु–इति पाठः।

भक्ति के अमृत का पान करने के बिना, न तो मुझे भोगसिद्धि ही चाहिए और न मोक्षसिद्धि ही, मेरी तो यह लालसा है कि 'पराकाष्ठा'- अर्थात् मधुरतम पराभाव पर पहुँची हुई आपकी अलौकिक आस्वादवाली भक्ति (पराभक्ति) के रस से पूर्णतया सराबोर बना रहूँ॥ ४॥

**यथैवाज्ञातपूर्वोऽयं भवद्भक्तिरसो मम।**
**घटितस्तद्वदीशान स एव परिपुष्यतु॥ ५॥**

*अन्वयः*—ईशान अज्ञातपूर्वः अयं भवत्भक्तिरसः यथा एव मम घटितः तद्वत् एव स परिपुष्यतु।

ईशान—हे स्वतंत्र प्रभु!, अज्ञात-पूर्वः—जिस की पहले (कभी) जानकारी नहीं थी, ऐसा, अयं—यह, भवत्—आप की, भक्ति—(समावेश रूपिणी) भक्ति का, रसः—रस, यथा एव—जैसे ही (अर्थात् जिस तरह अनजान में ही), मम—मुझे, घटितः—प्राप्त हुआ, तद्वत् एव—वैसे ही (अर्थात् उसी तरह अनजान में ही), स—वह, परिपुष्यतु—बढ़ता ही जाय॥

हे ईशानदेव! जिस प्रकार से पहले कभी न जाना पहचाना आपकी भक्ति (समावेशमयी भक्ति) का रस मुझे बिल्कुल अनाशङ्कित रूप में पीने को मिला, उसी प्रकार केवल वही अब उत्तरोत्तर पुष्टि को प्राप्त करता रहे॥ ५॥

**सत्येन भगवन्नान्यः प्रार्थनाप्रसरोऽस्ति मे।**
**केवलं स तथा कोऽपि भक्त्यावेशोऽस्तु मे सदा॥ ६॥**

*अन्वयः*—भगवन् सत्येन मे अन्यः प्रार्थनाप्रसरः न अस्ति केवलं स तथा कोऽपि भक्तिआवेशः मे सदा अस्तु।

भगवन्—हे भगवान्!, सत्येन—सचमुच, मे—मेरी, अन्यः—(किसी) दूसरी, प्रार्थना—प्रार्थना के लिए, प्रसरः—अवकाश (अर्थात् गुंजाइश) ही, न—नहीं, अस्ति—है (अर्थात् मैं आप से कोई दूसरी प्रार्थना कर ही नहीं सकता)।, केवलं—केवल (यही लालसा है कि), स तथा—वह, अवर्णनीय और, कोऽपि—अलौकिक, भक्ति—(समावेश रूपिणी) भक्ति का, आवेशः—आवेश, मे—मुझे, सदा—सदा, अस्तु—प्राप्त होता रहे॥

हे भगवान्! सच मानिए तो मेरे लिए आपकी भक्ति की याच्ञा को

छोड़कर और कोई दूसरी याञ्चा करने का कोई अवकाश ही नहीं है, मेरी केवल यही कामना है कि मुझे कोई 'वैसा'-अर्थात् वाणी एवं मन दोनों से अतीत अलौकिक भक्ति-समावेश नित्य बना रहे॥ ६॥

**भक्तिक्षीवोऽपि कुप्येयं भवायानुशयीय च।**
**तथा हसेयं रुद्यां च रटेयं च शिवेत्यलम्॥ ७॥**

*अन्वयः*—(जगत्-प्रभो)(अहं) भक्तिक्षीवः अपि भवाय कुप्येयं च अनुशयीय तथा हसेयं च रुद्यां च अलं शिव इति रटेयम्।

(जगत्-प्रभो—हे जगत् के स्वामी!), (अहं—मैं), भक्ति—(समावेश रूपिणी) भक्ति से, क्षीवः अपि—मस्त हो कर ही, भवाय—(इस अज्ञान-ग्रस्त) संसार के प्रति, कुप्येयं—क्रोध करूँ, (अर्थात् संसार को गंवारों का भवन समझूँ), च—और, अनुशयीय—(इस बात पर) पश्चात्ताप करूँ (कि मैं इतने समय तक मोह में पड़ा रहा), तथा—तथा, हसेयं—आनन्द से हंसता रहूँ, (अर्थात् सदा प्रफुल्लित रहूँ), च—और, रुद्यां—रोता रहूँ, च—और, अलं—ज़ोर से, शिव-इति—'शिव' 'शिव' की, रटेयम्—रट लगाता रहूँ॥

(हे परमेश्वर!) भक्ति के आवेश में विभोर होकर संसार पर क्रोध करता रहूँ, (अपनी दशा पर) पश्चात्ताप करता रहूँ, और हंसता रहूँ, एवं रोता रहूँ, और शिव, शिव इस नाम की बार-बार ऊँचे स्वर में रट लगाता रहूँ॥ ७॥

*संकेत*—

स्तोत्रकार के मुख से यह पद्य क्षीवता की दशा में निकल पड़ा है। परमानन्दविभोर होने से अपने आपको भूल जाने की जैसी अवस्था को क्षीव होना कहते हैं। क्षीवत्व स्वसंवेदन-वेद्य अनुभूति है। यह अवस्था पढ़ा-लिखी से अनुभव में नहीं आती है। संस्कृत भाषा में इस अवस्था का द्योतक शायद एक यही 'क्षीव' शब्द है क्योंकि इसका कोई पर्याय भी सरलता से उपलब्ध नहीं हो सकता है। हाँ केवल कश्मीरी भाषा में इस शब्द के लिए 'छिव्योमुत' यह अतिसंगत पर्याय है। क्षीव मनुष्य के मन में ही नाना प्रकार की वृत्तियों का एक साथ ही उदय होता रहता है जैसा कि इस पद्य में देखने को मिलता है।

**विषमस्थोऽपि स्वस्थोऽपि रुदन्नपि हसन्नपि।**
**गम्भीरोऽपि विचित्तोऽपि भवेयं भक्तितः प्रभो॥ ८॥**

*अन्वयः*– प्रभो (भवत्) भक्तितः (अहं) विषमस्थः अपि स्वस्थः अपि (भवेयं) रुदन् अपि हसन् अपि (भवेयं) (तथा) गंभीरः अपि विचित्तः अपि भवेयम्।

**प्रभो**–हे स्वामी!, (भवत्–आप की), **भक्तितः**–भक्ति (के चमत्कार) से, (अहं–मैं), **विषमस्थः**–(सांसारिक) विपत्तियों में फँसे रहने पर, **अपि**–भी, **स्वस्थः**–(चिदानन्द में मग्न होने के कारण) शान्त, **अपि**–ही, (भवेयं–बना रहूँ;), **रुदन्**–(संबन्धियों की मृत्यु आदि की दशा में) रोते हुए, **अपि**–भी, **हसन् अपि**–(भीतर से चिद्विकास के लाभ के कारण) हंसता ही (अर्थात् प्रसन्न ही), (भवेयं–रहूँ), (तथा–और), **गंभीरः अपि**–(लौकिक व्यवहार में) गंभीर होते हुए भी, **विचित्तः**–(प्रकट रूप में) विमूढ सा, **अपि**–ही, **भवेयम्**–बना रहूँ॥

**हे प्रभु! आपकी भक्ति के चमत्कार से मैं सांसारिक कठिनाइयों में पड़ा हुआ होने पर भी (अंदर से) स्वस्थ ही बना रहूँ, (किसी सांसारिक दुर्घटना इत्यादि के कारण बाहर से) रोता हुआ होने पर भी (अंदर से) प्रफुल्लित ही बना रहूँ, (सांसारिक आमोद-प्रमोदों के प्रति बाहर से हंसता हुआ होने पर भी (अंदर से) रोता ही रहूँ, (सांसारिक व्यवहारों के प्रति बाहर से) गंभीर मनवाला बना हुआ होने पर भी (अंदर से) अचेत ही रहूँ॥ ८॥**

*संकेत*– इस मुक्तक पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी -

दूसरे प्रकार से अर्थ– हे स्वामी! आपकी भक्ति की महिमा से मैं सुखी होते हुए भी संकट में पड़ा हुआ सा ही बना रहूँ अर्थात् सांसारिक सुख को दुःख ही समझूँ–लौकिक दृष्टि से सुख भोगने पर भी अपने को सूइयों की नोकों की सेज पर पडा हुआ ही समझूँ, हंसते हुए भी अर्थात् प्रसन्न होते हुए भी रोता ही रहूँ अर्थात् लौकिक दृष्टि से हर्ष के कारण हंसते हुए भी अपनी दशा और अपने हर्ष के विषय को शोचनीय समझकर हृदय से रोता रहूँ, कभी-कभी सन्निपात आदि रोगों में ग्रस्त होने के कारण विमूढ अर्थात् ज्ञानहीन या स्मृतिहीन होने पर भी गंभीर ही अर्थात् चिदानन्द स्वरूप में मग्न ही बना रहूँ॥

**भक्तानां नास्ति संवेद्यं त्वदन्तर्यदि वा बहिः।**
**चिद्धर्मा यत्र न भवान्निर्विकल्पः [1]स्थितः स्वयम्॥ ९॥**

१. घ० पु० स्थितिः–इति पाठः।

*अन्वयः*–(नाथ) भक्तानां त्वद्अन्तर् यदि वा बहिः संवेद्यं (किंचिदपि) नास्ति यत्र निर्विकल्पः (च) चित् धर्मा भवान् स्वयं स्थितः न (अस्ति)।

(नाथ–हे प्रभु!), भक्तानां–भक्त-जनों के लिए, त्वद्–आप (चिद्रूप) के, अन्तर्–भीतर, यदि वा–अथवा, बहिः–बाहिर, संवेद्यं–अनुभव करने योग्य, (किंचिदपि–कोई भी ऐसी बात), नास्ति–नहीं होती, यत्र–जिसमें, निर्विकल्पः–निर्विकल्प, (च–तथा), चित्-धर्मा–चित्स्वभाव (अर्थात् चित्- स्वरूप), भवान्–आप, स्वयं–प्रत्यक्ष रूप में, स्थितः–विद्यमान, न–नहीं, (अस्ति–होते)

(हे भगवान्!) पहुँचे हुए भक्तजनों के लिए आप चित्-प्रकाशमय परमेश्वर के भीतर या बाहर ऐसा कोई भी संवेदन का विषय बन जाने के योग्य पदार्थ नहीं होता है जिसमें आप विकल्पों से रहित और चित्प्रकाशमय रूप में स्वयं प्रकाशमान न हों॥ ९॥

**भक्ता निन्दानुकारेऽपि तवामृतकणैरिव।**
**हृष्यन्त्येवान्तराविद्धास्तीक्ष्णरोमाञ्चसूचिभिः॥ १०॥**

*अन्वयः*–(देवेश) भक्ताः (दुष्टसभायां) तव निन्दाअनुकारे अपि इव अमृतकणैः (प्लाविताः सन्तः) हृष्यन्त्येव (किन्तु) अन्तर् तीक्ष्णरोमांचसूचिभिः आविद्धाः।

(देवेश–हे देवाधिदेव!), भक्ताः–आपके भक्तजन, (दुष्टसभायां–दुष्ट लोगों की सभा में), तव–आप की, निन्दा–अप्रशंसा का, अनुकारे–अनुकरण करने पर, अपि–भी, इव–(बाहर से अर्थात् लोगों की दृष्टि में) मानो, अमृत–अमृत की, कणैः–बूंदों से, (प्लाविताः सन्तः–प्लावित होकर), हृष्यन्त्येव– प्रसन्न ही हो जाते हैं, (किन्तु–किन्तु), अन्तर्–भीतर से (अर्थात् हृदय में), तीक्ष्ण–अत्यन्त तेज़, रोमांच–लोम-हर्ष रूपिणी, सूचिभिः–सूइयों से, आविद्धाः–पूर्ण रूप में छिद जाते हैं॥

(हे परमदेव!) आपके भक्तजन (निंदकों के द्वारा प्रतिसमय की जानेवाली आपकी) निन्दा का अनुकरण करते हुए भी ऊपर से देखने में इतने प्रसन्न लगते हैं कि मानो अमृत से सींचे जा रहे हों, परन्तु वास्तव में, उनके अंतर्हृदय भीतर से तेज़ और रोमांचित करने वाली सूइयों की चुभन से जैसे छलनी होते रहते हैं॥ १०॥

**दुःखापि वेदना भक्तिमतां भोगाय कल्पते।**
**येषां सुधार्द्रा सर्वैव संवित्त्वच्चन्द्रिकामयी।। ११।।**

*अन्वयः*—(महादेव) वेदना दुःखा अपि (तेषां) भक्तिमतां भोगाय (एव) कल्पते येषां सर्वा एव संवित् सुधाआर्द्रा (च) त्वत्‌चन्द्रिकामयी (भवति)।

(**महादेव**—हे परमेश्वर!), **वेदना**—संवित्, **दुःखा**—दुःख-कारिणी होते हुए, **अपि**—भी, (**तेषां**—उन), **भक्तिमतां**—भक्तजनों को, **भोगाय**—(स्वात्मानन्द का) अनुभव कराने में, (**एव**—ही), **कल्पते**—योग देती है, **येषां**—जिनकी, **सर्वा एव**—सारी की सारी, **संवित्**—संवित् (अर्थात् चित् शक्ति), **सुधा**—(परमानन्द रूपी) अमृत से, **आर्द्रा**—प्लावित, (**च**—तथा), **त्वत्**—आप की, **चन्द्रिका-मयी**—चंद्रिका (अर्थात् पराशक्ति) से सम्पन्न, (**भवति**—होती है)।।

(हे परमेश्वर!) जिनकी सारी चेतनाशक्ति चिदानन्द भाव के अमृत से सराबोर और आपकी 'चांदनी' - अर्थात् पराशक्ति की व्यापकता से युक्त हो, ऐसे भक्तिशालियों का संवेदन, दुःख से आक्रान्त होने की दशा में भी, उनको स्वरूप आनन्द का ही अनुभव करवाता रहता है।। ११।।

*तात्पर्य*-

सुख दुःख इत्यादि सारे भाव ईश्वरीय आनन्दमयता का ही बहिर्मुखीन विकास हैं, अतः अनुभवी व्यक्तियों को दुःख में भी आनन्द की ही अनुभूति होती रहती है। किन्ही परिस्थितियों में प्रायः देखा जाता है कि प्राणी स्वेच्छा से दुःख को भी अपना लेता है क्योंकि उसको उस परिस्थिति में उसी से सुख मिलता है। भगवान् सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि नामक प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में- "दुःखेऽपि प्रविकासेन दुःखार्थे धृतिसंगमात्" इस वाक्य में इसी तथ्य का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। भौंरा कांटों वाले फूलों पर बैठकर आनन्द मग्न अवस्था में रसपान करता रहता है। उसका सारा शरीर कांटों से छलनी हो जाता है परन्तु वह कांटों में ही और अंदर-अंदर घुसने से विमुख नहीं होता है। यही इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि दुःख से भी सुख का विकास अवश्य हो जाता है।

**यत्र तत्रोपरुद्धानां भक्तानां बहिरन्तरे।**
**निर्व्याजं [१]त्वद्वपुः स्पर्शरसास्वादसुखं समम्।। १२।।**

१. ख० ग० पु० तद्वपुः—इति पाठः।

*अन्वयः*—(प्रभो) यत्र तत्र उपरुद्धानां (भवत्) भक्तानां त्वद्वपुःस्पर्शरस आस्वाद सुखं बहिः (च) अन्तरे निर्व्याजं (तथा) समं।

(प्रभो—हे स्वामी!), यत्र तत्र—जहाँ तहाँ (अर्थात् सुख, दुःख आदि सभी अवस्थाओं में), उपरुद्धानां—पड़े हुए, (भवत्—आप के), भक्तानां—भक्तों के लिए, त्वद्—आप (चिन्मय) के, वपुः—स्वरूप के, स्पर्श—स्पर्श की, रस-आस्वाद—(चमत्कारमय) अनुभूति का, सुखं—सुख, बहिः—बाहिर, (च—और), अन्तरे—भीतर (अर्थात् व्युत्थान और समाधि दोनों में), निर्व्याजं—शुद्ध (अर्थात् वासनाओं की मैल से रहित), (तथा—तथा), समं—एक जैसा होता है (अर्थात् समाधि और व्युत्थान में कोई भेद नहीं रहता)॥

(हे जगत् के स्वामी!) जहां कहीं भी (अर्थात् अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में भी) फंसे हुए आपके भक्तों को, आपके अकृत्रिम चिन्मय स्वरूप का साक्षात्कार करते रहने की आनन्दमयता की अनुभूति, व्युत्थान एवं समावेश दोनों दशाओं में समान रूप से होती रहती है॥ १२॥

**तवेश भक्तेरर्चायां दैन्यांशं द्वयसंश्रयम्।**
**विलुप्यास्वादयन्त्येके वपुरच्छं सुधामयम्॥ १३॥**

*अन्वयः*—ईश तव अर्चायां भक्तेः द्वय संश्रयं दैन्यांशम् (अपि) विलुप्य एके (तव) अच्छं (च) सुधामयं वपुः आस्वादयन्ति।

ईश—हे प्रभु!, तव—आप की, अर्चायां—पूजा के संबन्ध में, भक्तेः—(जो आप की) भक्ति (अर्थात् सेवा है, उसकी), द्वय-संश्रयं—द्वैत पर आश्रित (अर्थात् भेद-प्रथा के कारण होने वाली), दैन्यांशम्—ज़रा सी दीनता को, (अपि—भी), विलुप्य—नष्ट करके, एके—कई (अद्वैत-भक्ति-शाली जन), (तव—आपके), अच्छं—निर्मल, (च—तथा), सुधामयं—(आनन्द-रस रूपी) अमृत से भरे हुए, वपुः—स्वरूप का, आस्वादयन्ति—चमत्कार अर्थात् साक्षात्कार करते हैं॥

हे जगत् के ईश्वर! अद्वैत-भक्ति के मार्ग पर चलने वाले कई विरले भक्तजन आपकी अर्चना प्रक्रिया में द्वैतभाव के रूपवाली दीनता के छोटे-से-छोटे अंश को भी मिटाकर, आपके निर्मल एवं अमृतमय स्वरूप का, स्पष्ट रूप में, साक्षात्कार करते रहते हैं॥ १३॥

*संकेत*—प्रस्तुत मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी-

भावार्थ– हे प्रभुः! द्वैतभक्त और अद्वैतभक्त इन दोनों को आपकी प्राप्ति होती ही है, किंतु अद्वैत भक्त को समावेश द्वारा तुरन्त आपके स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है। द्वैत भक्त तो ऐसा कर ही नहीं सकता अतः उसे कुछ समय तक शिवता अर्थात् आपके साथ एकात्मता की लालसा ही बनी रहती है अर्थात् उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है और इसीलिए वह दीन बना रहता है।

**भ्रान्तास्तीर्थदृशो भिन्ना भ्रान्तेरेव हि भिन्नता।**
**निष्प्रतिद्वन्द्वि वस्त्वेकं भक्तानां त्वं तु राजसे।। १४।।**

*अन्वयः*–(गिरिजापते) तीर्थदृशः भ्रान्ताः (अतः ते त्वत्तः) भिन्नाः (भवन्ति) हि भिन्नता भ्रान्तेः एव भक्तानां तु त्वं निष्प्रतिद्वन्द्वि एकं वस्तु राजसे।

(गिरिजापते–हे पार्वतीनाथ!), तीर्थदृशः–(भिन्न-भिन्न) दर्शन-शास्त्रों के जानकार, भ्रान्ताः–भ्रान्त हो जाते हैं अर्थात् भ्रम में पड़ते हैं, (अतः ते त्वत्तः–और इसीलिए वे आप से), भिन्नाः–भिन्न अर्थात् दूर, (भवन्ति–रहते हैं,)), हि–क्योंकि, भिन्नता–भिन्नता (अर्थात् आप का वियोग), भ्रान्तेः एव–भ्रान्ति से ही (होती है), भक्तानां तु–परन्तु भक्तजनों के लिए तो, त्वं–आप, निष्प्रतिद्वन्द्वि–प्रतिद्वन्द्वी से रहित, एकं वस्तु–और अद्वितीय तत्त्व (अर्थात् चिद्घन) के रूप में, राजसे–सदा देदीप्यमान् होते हैं।।

(हे पार्वतीनाथ!) अलग-अलग शास्त्रों से ज्ञान का चयन करनेवाले मनीषी बुद्धिभ्रम में पड़ जाने के कारण आप से बिछुड़ जाते हैं क्योंकि भ्रान्ति से ही भेदभाव उत्पन्न हो जाता है, इसके प्रतिकूल अपने भक्तजनों के लिए तो आप किसी प्रतिद्वन्द्वी के बिना केवल एक ही चित्-धन परमेश्वर के रूप में प्रकाशमान रहते हैं।। १४।।

**मानावमानरागादिनिष्पाकविमलं मनः।**
**यस्यासौ भक्तिमां[१]ल्लोकतुल्यशीलः कथं भवेत्।। १५।।**

*अन्वयः*–(प्रभो) यस्य मनः मानअवमान रागआदिनिष्पाकविमलं (भवति) असौ भक्तिमान् लोकतुल्यशीलः कथं भवेत्।

(प्रभो–हे प्रभु!), यस्य–जिसका, मनः–मन, मान–आदर, अवमान–

१. ख० पु० लोकस्तुल्यशीलः–इति पाठः।

अनादर, **राग**—तथा राग, **आदि**—(द्वेष) आदि द्वन्द्वों के, **निष्पाक**—परिपक्क होने से (अर्थात् समाप्त होने से), **विमलं**—निर्मल, (**भवति**—हो जाता है,), **असौ**—वह, **भक्तिमान्**—(समावेश रूपिणी भक्ति से संपन्न) भक्त, **लोक**— सामान्य लोगों के, **तुल्य**—समान, **शीलः**—चरित्र वाला, **कथं**—कैसे, **भवेत्**— हो सकता है? (अर्थात् उसका चरित्र लोगों से बढ़ चढ़ कर अलौकिक होता है।)॥

(हे भगवान्!) जिस भक्तशिरोमणि का मन आदर-अनादर, राग-द्वेष इत्यादि द्वन्द्वों का परिपाक हो जाने से निर्मल बन चुका हो, वह सर्वसाधारण जन समुदाय के ही समान आचरण करने वाला कैसे हो सकता है? (तात्पर्य यह कि उसका आचरण अवश्य लोकोत्तर ही होता है)॥ १५॥

**रागद्वेषान्धकारोऽपि येषां भक्तित्विषा जितः।**
**तेषां महीयसामग्रे कतमे ज्ञानशालिनः॥ १६॥**

*अन्वयः*—(नाथ) येषां भक्तित्विषा रागद्वेषअन्धकारः अपि जितः तेषां महीयसाम् अग्रे ज्ञान-शालिनः कतमे।

(**नाथ**—हे नाथ!), **येषां**—जिन्होंने, **भक्ति**—भक्ति के, **त्विषा**—तेज से, **राग**—राग-, **द्वेष**—द्वेष रूपी, **अन्धकारः**—अन्धकार को, **अपि**—भी, **जितः**—जीत लिया हो (अर्थात् नष्ट किया हो), **तेषां**—उन, **महीयसाम्**—महान् पुरुषों के, **अग्रे**—सामने, **ज्ञान-शालिनः**—ज्ञानी-जन, **कतमे**—कौन हैं (अर्थात् किस गिनती में है?)*॥

(हे जगत् के स्वामी!) जिन्होंने अपने अंतस् में आपकी भक्ति के आलोक से राग-द्वेष इत्यादि द्वन्द्वों के अंधेरे को परास्त कर दिया हो, उन महापुरुषों की तुलना में ज्ञानी लोग किस गिनती में हैं?॥ १६॥

**यस्य भक्तिसुधास्नानपानादिविधिसाधनम्।**
**तस्य [1]प्रारब्धमध्यान्त[2]दशासूच्चैः सुखासिका॥ १७॥**

*सारांश यह है कि भक्त ज्ञानी से बड़ा है।

१. ख० पु० प्रारब्धि—इति पाठः।

२. ख० पु० अन्तर—इति पाठः।

*अन्वयः*–(प्रभो) यस्य भक्तिसुधास्नानपानआदिविधिसाधनं तस्य प्रारब्धमध्य-अन्तदशासु उच्चैः सुखासिका (भवति)।

(प्रभो–हे प्रभु!), यस्य–जिसके लिए, भक्ति–भक्ति रूपी, सुधा–अमृत ही, स्नान–नहाने, पान–पीने, आदि–आदि, विधि–(सभी) कार्यों के करने का, साधनं–साधन होता है, (अर्थात् जो अपने सभी कार्य भक्ति रूपी अमृत से ही करता है), तस्य–उस (के सभी कार्यों) की, प्रारब्ध–आदि, मध्य–मध्य, अन्त–तथा अन्तिम, दशासु–दशाओं में, उच्चैः–(परमानन्द रूपी) सर्वोत्कृष्ट, सुखासिका (भवति)–सुख होता है, (अर्थात् उसका सारा जीवन परमानन्द में मग्न रहता है)॥

(हे वरद भगवान्!) जिस भक्तवर ने आपकी भक्ति के रूप वाले अमृतप्रवाह को ही नहाने, पीने इत्यादि अपनी अर्थक्रियाओं का साधन बनाया हो, उसको हरेक सांसारिक आदान-प्रदान के आदि, मध्य और अन्त दशाओं पर सर्वोत्कृष्ट चिदानन्द की उपलब्धि होती रहती है॥ १७॥

**कीर्त्यश्चिन्तापदं मृग्यः पूज्यो येन त्वमेव तत्।**
**भवद्भक्तिमतां श्लाघ्या लोकयात्रा भवन्मयी॥ १८॥**

*अन्वय*–(जगत्प्रभो) येन त्वम् एव भवत्भक्तिमतां कीर्त्यः मृग्यः पूज्यः (च) चिन्ता पदम् (असि) तद् (तेषां) लोक-यात्रा भवत् मयी (अतः) श्लाघ्या (भवति)।

(जगत्प्रभो–हे जगत् के स्वामी!), येन–चूंकि, त्वम्–(केवल) आप, एव–ही, भवत्–अपने, भक्तिमतां–भक्त-जनों के लिए, कीर्त्यः–कीर्तन करने योग्य, मृग्यः–ढूँढ़ने योग्य, पूज्यः–पूजनीय, (च–और), चिन्तापदम्–चिन्तन (अर्थात् ध्यान या स्मरण) का विषय, (असि–होते हैं), तद्–इसलिए, (तेषां–उनकी), लोकयात्रा–जीवनयात्रा (अर्थात् सारा सांसारिक व्यवहार), भवत्मयी–आपके स्वरूप से अभिन्न, (अतः–और इसीलिए), श्लाघ्या–प्रशंसनीय, (भवति–होती है)॥

(हे जगत् के पालक!) अपने भक्तों के लिए केवल आप अकेले ही कीर्तन करने, मनन करने, ढूँढ़ने और अर्चना करने के विषय हैं, इसलिए उन आपके भक्तों का सारा जीवन-व्यवहार आपके स्वरूप से भरित होने के कारण अत्यन्त प्रशंसनीय बना होता है॥ १८॥

**मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो।**
**तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः।। १९।।**

*अन्वयः*—प्रभो विपक्वायाः त्वयि भक्तेः एव मुक्ति संज्ञा (अस्ति) वयं तस्याम् आद्य दशाआरूढाः ततः मुक्त कल्पाः (स्मः)।

**प्रभो**—हे ईश्वर!, **विपक्वायाः**—परिपक्व अवस्था (अर्थात् पूर्णता) को पहुँची हुई, **त्वयि**—आपकी, **भक्तेः**—भक्ति का, **एव**—ही, **मुक्ति-संज्ञा (अस्ति)**—नाम मुक्ति है, (अर्थात् उसे ही मुक्ति कहते हैं)।, **वयं**—हम तो, **तस्याम्**—उस भक्ति की, **आद्य-दशा**—पहली दशा (अर्थात् प्रथम भूमिका) में, **आरूढाः**—पहुँच गये हैं, **ततः**—इसलिए, **मुक्तकल्पाः (स्मः)**—मानो मुक्त ही हो गए हैं, (अर्थात् हमें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होगा)॥

हे जगत् के स्वामी! परिपाक की चरम सीमा पर पहुँची हुई आपकी भक्ति को ही मुक्ति का नाम दिया जाता है, इसलिए उसी (आपकी भक्तिरूपिणी मुक्ति) के पहले चरण पर आरूढ बने हुए हम लोग भी 'मुक्त कल्प' - अर्थात् पूर्ण मुक्त होने के बिल्कुल समीप पहुँच गए हैं॥ १९॥

**दुःखागमोऽपि भूयान्मे त्वद्भक्तिभरितात्मनः।**
**[1]त्वत्पराची विभो मा भूदपि सौख्यपरम्परा।। २०।।**

*अन्वयः*—विभो त्वद् भक्ति भरित आत्मनः मे दुःख आगमः अपि भूयात् (किन्तु) त्वत्पराची सौख्यपरम्परा अपि (मे) मा भूत्।

**विभो**—हे व्यापक भगवान्!, **त्वद् भक्ति भरित-आत्मनः**—यदि मेरी आत्मा आप की (समावेशात्मिका) भक्ति से भरपूर बनी रहे, तो, **मे**—मुझ पर, **दुःख आगमः अपि भूयात्**—दुःख भी आ पड़ें।, **(किन्तु**—किन्तु), **त्वत्**— आप (के स्वरूप) से, **पराची**—विमुख (अर्थात् भिन्न) होने वाली, **सौख्य**— सुखों की, **परम्परा**—परम्परा (अर्थात् लगातार लाभ), **अपि**—भी, **(मे**—मुझे), **मा भूत्**—प्राप्त न हो॥

हे सर्वव्यापक भगवान्! मेरे आत्मा में आपकी भक्ति कूट कर भरी होने की अवस्था में चाहे मुझ पर कष्ट ही आते रहें, परन्तु जो सुखों की

---

१. ख० पु० तत्पराची—इति पाठः।

परंपरा आप से विमुख बनाने वाली हो वह भी मेरे पास फटकने न पाए॥ २०॥

**त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः प्रीते त्वयि च नाथ यत्।**
**तदन्योन्याश्रयं युक्तं यथा वेत्थ त्वमेव तत्॥ २१॥**

*अन्वयः*—नाथ यत् त्वं भक्त्या प्रीयसे च त्वयि प्रीते (सति) भक्तिः (भवति) तद् (एतत्) अन्योन्याश्रयं यथा युक्तं (भवति) तत् त्वम् एव वेत्थ।

**नाथ**—हे प्रभु!, **यत्**—चूँकि, **त्वं**—आप, **भक्त्या**—(समावेश रूपिणी) भक्ति से, **प्रीयसे**—प्रसन्न होते हैं, **च**—और, **त्वयि**—आपके, **प्रीते (सति)**—प्रसन्न होने पर ही, **भक्तिः**—भक्ति, (**भवति**—होती है,), **तद्**—इसलिए, (**एतत्**—यह), **अन्योन्याश्रयं**—एक दूसरे के सहारे की बात (अन्योन्याश्रय दोष कथा), **यथा**—कैसे, **युक्तं**—ठीक रूप में बनी रहती, (**भवति**—है), **तत्**—वह तो, **त्वम्**—आप, **एव**—ही, **वेत्थ**—जानते हैं, (अर्थात् ये दोनों बातें एक साथ ही केवल आपकी कृपा से होती हैं)॥

हे स्वामी! आप (समावेशात्मिका) भक्ति (पराभक्ति) से प्रसन्न होते हैं, परन्तु वह भक्ति आपके संतुष्ट हो जाने पर ही विकसित हो जाती है, इस प्रकार का यह इतरेतराश्रयता (एक दूसरे पर निर्भर होने का) दोष किस प्रकार संगत बन सकता है यह आप स्वयं ही जानते हैं॥ २१॥

*संकेत*—इस मुक्तकर पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी–

भावार्थ— हे प्रभु! जब तक आप प्रसन्न नहीं होते, तब तक भक्ति नहीं होती, और जब तक समावेशमयी भक्ति नहीं होती तब तक आप प्रसन्न नहीं होते, अर्थात् तब तक आप अपने भक्त को अपना चिदानन्दमय स्वरूप नहीं दिखाते। एक दूसरे पर आश्रित होने वाली यह बात कैसे सिद्ध हो सकती है? यह तो आप ही जानते हैं। आप ही इन दोनों बातों को सिद्ध करते हैं। मनुष्य की शक्ति कुछ नहीं कर सकती॥

**[1]साकारो वा [2]निराकारो वान्तर्वा बहिरेव वा।**
**भक्तिमत्तात्मनां नाथ सर्वथासि सुधामयः॥ २२॥**

१. ख० ग० पु० साकारे—इति पाठः।

२. ख० ग० पु० निराकारे—इति पाठः।

*अन्वयः*— नाथ साकारः वा निराकारः वा अन्तर् वा बहिः एव वा (त्वं) भक्ति-मत्तआत्मनां सर्वथा सुधामयः असि।

**नाथ**—हे स्वामी!, **साकारः**—साकार (रूप में), **वा**—या, **निराकारः**—निराकार (रूप में), **वा अन्तर्**—भीतर (समाधि में), **वा बहिः एव वा**—या बाहर (व्युत्थान में), अर्थात् सभी दशाओं में, (त्वं—आप), **भक्ति**—(समावेश रूपिणी) भक्ति से, **मत्त**—मस्त, **आत्मनां**—हृदय वाले (भक्तों) के लिए, **सर्वथा**—हर प्रकार से, **सुधा-मयः**—अमृत-मय ही, **असि**—होते हैं॥

हे मेरे स्वामी! आप चाहे आकार-प्रकार वाले रूप में या आकार रहित रूप में प्रकाशमान हैं और आप चाहे समावेश की अवस्था में लभ्य हैं या साधारण व्युत्थान की अवस्था में लभ्य हैं, परन्तु आपकी भक्ति में मस्त आत्मा वाले भक्तजनों के लिए हरेक अवस्था में केवल अमृतमय हैं॥ २२॥

**अस्मिन्नेव जगत्यन्तर्भवद्भक्तिमतः प्रति।**
**हर्षप्रकाशनफलमन्यदेव जगत्स्थितम्॥ २३॥**

*अन्वयः*— (भक्तवत्सल) अस्मिन्नेव जगति अन्तर् भवत्भक्तिमतः प्रति हर्ष-प्रकाशनफलम् अन्यत् एव जगत् स्थितम्।

(**भक्तवत्सल**—हे भक्तों पर कृपा करने वाले!), **अस्मिन्नेव**—इसी, **जगति**—(दुःखमय) जगत् के, **अन्तर्**—बीच में, **भवत्**—आपके, **भक्तिमतः**—भक्तों के, **प्रति**—लिए, **हर्ष**—(चिदानन्दरूपी) हर्ष का, **प्रकाशन**—प्रकटीकरण है, **फलम्**—फल जिसका, ऐसा, **अन्यत्**—(प्रकाश आनन्द घनरूपी) एक दूसरा, **एव**—ही, **जगत्**—जगत, **स्थितम्**—होता है॥

(हे भक्तप्रिय शंकर!) इसी दुःख भरे जगत् के उदर में एक और (चिदानन्द रूपी) अनोखा जगत् भी अवस्थित है, जिसका फल आपके भक्तों के द्वारा अपने हर्ष को प्रकाशित करना है॥ २३॥

*संकेत*— इस मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी-

भावार्थ— हे प्रभु! यह संसार भयंकर दुःखों का घर है। आपके भक्त इसमें रहते हुए भी इसमें नहीं रहते। वास्तव में वे आप प्रकाशानन्द रूपी दूसरे ही जगत्

में रहते हैं जो परमानन्द का घर है। वे संसार की किसी चीज़ के साथ संबन्ध नहीं रखते, अतः वे इसके दुःखों से प्रभावित नहीं होते हैं॥

**गुह्ये भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्विश्वमहेश्वरे।**
**त्वयि [1]शम्भौ शिवे [2]देव भक्तिर्नाम किमप्यहो॥ २४॥**

*अन्वयः*—देव अहो त्वयि गुह्ये भक्तिः, परे भक्तिः विश्वमहेश्वरे भक्ति शम्भौ शिवे भक्तिः नाम किमपि (अस्तु)।

**देव**—हे ज्योतिःस्वरूप प्रभु!, **अहो**—अहो!, **त्वयि**—आप, **गुह्ये**—'गुह्य' की, **भक्तिः**,—भक्ति, **परे**—(आप) 'पर' की, **भक्तिः**—भक्ति, **विश्वमहेश्वरे**—(आप) 'विश्वमहेश्वर' की, **भक्ति**—भक्ति, **शम्भौ**—(और आप) कल्याणस्वरूप, **शिवे**—'शिव' की, **भक्तिः**—भक्ति, **नाम**—निस्सन्देह, **किमपि**—एक अलौकिक वस्तु, (अस्तु—है)॥

(हे लीलामय प्रभु!) आप अति रहस्य पूर्ण स्वरूप वाले की भक्ति, आप सर्वथा परिपूर्ण पुरुष की भक्ति, आप समूचे विश्वप्रपञ्च पुरुष की भक्ति, आप समूचे विश्वप्रपञ्च के महान् संचालक की भक्ति, और सारे कल्याणों के उत्पत्तिस्थान आप शम्भू की भक्ति एक असाधारण एवं विस्मयकारी पदार्थ है॥ २४॥

*संकेत*— प्रस्तुत मुक्तक पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी–

(क) नोट-शम्भू, गुह्य, पर, विश्वमहे्श्वर, शिव - ये सब भगवान् शंकर के नाम हैं।

(ख) शब्दार्थ—शम्भू = कल्याणों के उत्पत्ति स्थान, गुह्य = रहस्यपूर्ण स्वरूप वाला, पर=सब से बड़ा अथवा परिपूर्ण, विश्वमहेश्वर = संसार के स्वामी, जगदीश, शिव-कल्याणकारी, भक्तिः=समावेशरूपिणी।

**भक्तिर्भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्नाम समुत्कटा।**
**तारं विरौमि यत्तीव्रा भक्तिर्मेऽस्तु परं त्वयि॥ २५॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) (अहं) तारं विरौमि यत् मे त्वयि परे समुत्कटा भक्तिः अस्तु

१. ग० पु० शम्भो—इति पाठः।

२. ग० पु० देवे—इति पाठः।

परं तीव्रा भक्तिः (अस्तु) भक्तिः भक्तिः नाम भक्तिः।

**(प्रभो**—हे प्रभु!), (**अहं**—मैं), **तारं**—ज़ोर से (अर्थात् ऊँची आवाज़ में), **विरौमि**—चिल्ला-चिल्ला कर कहता हूँ, **यत्**—कि, **मे**—मुझे, **त्वयि**—आप, **परे**—परिपूर्ण (प्रभु) के प्रति, **समुत्कटा**—अत्यन्त प्रबल, **भक्तिः**—(समावेश रूपिणी) भक्ति, **अस्तु**—हो, **परं**—अत्यन्त, **तीव्रा**—धारावाही (अर्थात् कभी न रुकने वाली), **भक्तिः**—भक्ति, (**अस्तु**—हो), **भक्तिः**—भक्ति, **भक्तिः**—भक्ति, **नाम**—सचमुच, **भक्तिः**—(केवल) भक्ति हो॥

**(हे प्रभु!) मैं गला फाड़-फाड़ कर विनती कर रहा हूँ कि मुझे आप परिपूर्ण परमेश्वर की भक्ति का वरदान चाहिए, मुझे पूर्णरूप से धार पर चढ़ी हुई (समावेशमयी) भक्ति चाहिए, निश्चय से मुझे आपकी भक्ति, केवला भक्ति और निष्काम भक्ति का वरदान चाहिए॥ २५॥**

**यतोऽसि सर्वशोभानां प्रसवावनिरीश तत्।**
**त्वयि लग्नमनर्घं स्याद्रत्नं वा यदि वा तृणम्॥ २६॥**

*अन्वयः*—ईश यतः (त्वं) सर्वशोभानां प्रसव अवनिः असि तद् रत्नं वा यदि वा तृणं त्वयि लग्नं अनर्घं स्यात्। यदि वा ईश यतः (त्वं) सर्वशोभानां प्रसव अवनिः असि तद् रत्नं वा यदि वा तृणं त्वयि लग्नं अनर्घं स्यात्।

(क) **शब्दार्थ**—**ईश**—हे स्वतन्त्र ईश्वर!, **यतः**—चूँकि, (**त्वं**—आप), **सर्व**—सारी, **शोभानां**—शोभाओं की, **प्रसव अवनिः**—जन्मभूमि (अर्थात् उत्पत्ति का स्थान), **असि**—हैं, **तद्**—इसलिये, **रत्नं वा**—(प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह) रत्न (जैसा उत्कृष्ट) हो, **यदि वा**—अथवा, **तृणं**—तिनका (जैसा निकृष्ट) हो, **त्वयि**—आपके साथ, **लग्नं**—लगने पर (अर्थात् स्पर्श पाने पर), **अनर्घं**—अमूल्य, **स्यात्**—बन जाता है। (ख) **भावार्थ**— **ईश**—हे स्वतन्त्र ईश्वर!, **यतः**—चूँकि, (**त्वं**—आप), **सर्व**—सम्पूर्ण, **शोभानां**—चित्-प्रकाश की, **प्रसवअवनिः**— जन्म-भूमि (अर्थात् उत्पत्ति का स्थान), **असि**—हैं, **तद्**—इसलिये (आपका प्रत्येक भक्त), **रत्नं वा**—चाहे वह) जाति से रत्न के समान उत्कृष्ट (अर्थात् उत्तम चरित्र वाला) हो, **यदि वा**—अथवा, **तृणं**—तिनके के समान निकृष्ट (अर्थात् नीच, तुच्छ चरित्र वाला) हो, **त्वयि**—आप चित्स्वरूप के साथ, **लग्नं**—लगने पर (अर्थात् समावेश का सम्बन्ध प्राप्त करने पर), **अनर्घं**—अमूल्य

(अर्थात् अलौकिक), स्यात्—बन जाता है॥

(हे स्वतन्त्र ईश्वर!) चूंकि आप चित्प्रकाशमय सर्वोत्कृष्ट शोभा के उत्पत्तिस्थान हैं, अतः (लोकदृष्टि में) यदि कोई व्यक्ति उत्कृष्ट जाति के रत्न के समान उत्कृष्ट, अथवा निःसार घास के तिनके के समान निकृष्ट, समझा जाता हो वह भी आपका स्पर्श पाने पर (अर्थात् समावेश की दशा में प्रवेश पाने पर) अमूल्य बन जाता है॥ २६॥

**आवेदकादाच वेद्याद्येषां संवेदनाध्वनि।**
**भवता न वियोगोऽस्ति ते जयन्ति भवज्जुषः॥ २७॥**

*अन्वयः*—(ईशान) संवेदनअध्वनि आ वेदकात् आ च वेद्यात् येषां भवता वियोगः न अस्ति ते भवत्जुषः जयन्ति।

(ईशान—हे स्वामी!), संवेदन—संविद् (अर्थात् ज्ञान) के, अध्वनि—मार्ग में, आ वेदकात्—ज्ञाता (की अवस्था) से लेकर, आ च वेद्यात्—ज्ञेय (की अवस्था) तक (अर्थात् इस सारी यात्रा में), येषां—जिनको, भवता—आप (आनन्द-स्वरूप) से, वियोगः—(कभी) वियोग, न—नहीं, अस्ति—होता (अर्थात् जो कभी आप से भिन्न नहीं रहते), ते—उन, भवत्—आपके, जुषः—प्रेमी सेवकों (अर्थात् भक्तों) की, जयन्ति—जय हो॥

(हे महान् ईश्वर!) इस संवेदन के मार्ग में चेतन प्रमाताओं से लेकर ज्ञेय विषयों तक के विस्तार वाले विश्वप्रपञ्च में जो भक्तजन आप से कभी बिछुड़ नहीं जाते वे ही आपके सच्चे अनुरागी हैं अतः उनकी जय-जयकार हो॥ २७॥

**संसारसदसो बाह्ये कैश्चित्त्वं परिरभ्यसे।**
**स्वामिन्परैस्तु तत्रैव ताम्यद्भिस्त्यक्तयन्त्रणैः॥ २८॥**

*अन्वयः*—स्वामिन् कैःचित् संसारसदसः बाह्ये त्वं परिरभ्यसे तु परैः ताम्यद्भिः त्यक्त यन्त्रणैः तत्र एव।

स्वामिन्—हे भगवान्!, कैःचित्—कई (अर्थात् निमीलनसमाधिनिष्ठ योगी), संसार—संसार रूपी, सदसः—सभा के, बाह्ये—बाहर (अर्थात् जाग्रत्,

स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं को छोड़कर तुरीय अवस्था में आँखें बन्द करके), त्वं–आपका, **परिरभ्यसे**–आलिङ्गन करते हैं, तु–किन्तु, **परैः**–दूसरे (अर्थात् उन्मीलन-समाधि-निष्ठ योगी), **ताम्यद्भिः**–(आपके गाढ़ अनुराग से) विवश होकर, **त्यक्त-यन्त्रणैः**–और (ध्यान आदि सभी नियमों के) कष्ट को छोड़कर, तत्र एव–वहीं (अर्थात् संसार रूपी सभा के बीच में) ही (प्रकट रूप में संसार के व्यवहार में लगे हुये और बिना आँखें बन्द किये आप में लय होते हैं)॥

**(हे स्वामी!) 'कई' - अर्थात् निमीलन-समाधि के अभ्यासी योगीजन संसार की सभा से बाहर रहते हुए (अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं पर चलती रहने वाली हुड़दंग से दूर रहते हुए) किसी नियत द्वादशान्त इत्यादि योगभूमिका पर आपके स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं, परन्तु 'दूसरे'-अर्थात् उन्मीलन-समाधि के अभ्यासी योगीजन आपके प्रगाढ़ अनुराग की झोंक में सारी ध्यान, धारणा इत्यादि यंत्रणाओं को उस संसार की सभा में ही छोडकर आपके स्वरूप में तल्लीन हो जाते हैं॥ २८॥**

*संकेत*— इस पद्य पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी -

निमीलन-समाधि = वह समाधि जिसमें योगी आंखें बन्द करके सभी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके आत्मसुख का अनुभव करता है।

उन्मीलन-समाधि = वह समाधि जिसमें आंखें बन्द करने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

**पानाशनप्रसाधन-**
**सम्भुक्तसमस्तविश्वया शिवया।**
**प्रलयोत्सवसरभसया**
**दृढमुपगूढं शिवं वन्दे॥ २९॥**

*अन्वयः*—पानअशनप्रसाधनसम्भुक्त समस्त विश्वया (एवं) प्रलय-उत्सवसरभसया शिवया दृढम् उपगूढं शिवं वन्दे। अथवा पानअशनप्रसाधन-सम्भुक्त-समस्त-विश्वया (एवं) प्रलयउत्सवसरभसया शिवया दृढम् उपगूढं शिवं वन्दे।

(क) शब्दार्थ— पान—पीने (अर्थात् संसार की स्थिति करने), **अशन**—खाने (अर्थात् संहार करने), **प्रसाधन**—तथा सजाने (अर्थात् सृष्टि करने) से,

सम्भुक्त-समस्त-विश्वया—सारे जगत् का पालन और भोग करने वाली, (एवं—और), प्रलय—प्रलय के, उत्सव—उत्सव से, सरभसया—विकसित बनी हुई, शिवया—(परा शक्ति रूपिणी) पार्वती से, दृढम्—ज़ोर से, उपगूढं—आलिंगित, शिवं—चिद्भैरवनाथ को, वन्दे—मैं प्रणाम करता हूँ। (ख) भावार्थ—पान—(रक्त आदि के) पीने, अशन—(मांस आदि के) खाने, प्रसाधन—तथा (हड्डियों आदि के) सजाने (अर्थात् आभूषण के काम में लाने) से, सम्भुक्त-समस्त-विश्वया—(छत्तीस तत्त्वों से युक्त) सारे जगत् को भोगने तथा अपने में लय करने वाली, (एवं—और), प्रलय-उत्सव—प्रलय के उत्सव पर (संहारकर्त्री की पदवी पर बैठकर सारे जगत् को अपने में करने की क्रीडा में), सरभसया—उत्सुकता से लगी हुई, शिवया—(पराशक्ति रूपिणी) पार्वती से, दृढम्—ज़ोर से, उपगूढं—आलिंगित, शिवं—शिव को, वन्दे—मैं प्रणाम करता हूँ (अर्थात् उसमें समावेश करता हूँ)॥

'पान'- अर्थात् स्थिति प्रदान करना, 'अशन' - अर्थात् स्वरूप में ही समेटना और 'प्रसाधन' - अर्थात् सृष्टि करके बाहरी अस्तित्व में लाना- इन तीन ईश्वरीय कृत्यों के द्वारा विश्व का पालन या उपभोग करनेवाली और 'प्रलय' अर्थात् स्वरूप से अलगाए हुए विश्व को प्रलय की वेला पर स्वरूप में ही समेटने के उत्सव को मनाने की ज़ोरदार स्फुरणा से भरी हुई 'शिवा'- अर्थात् पराशक्तिरूपिणी पार्वती जी के द्वारा प्रगाढ़ता से आलिंगित 'शिव' - अर्थात् चित्-प्रकाशमय भैरवनाथ को मेरा नमन हो- अर्थात् मैं उसी अवर्णनीय लोकोत्तर स्वरूप में समा जावूँ॥ २९॥

**परमेश्वरता जयत्यपूर्वा**
**तव [१]विश्वेश यदीशितव्यशून्या।**
**अपरापि तथैव ते ययेदं**
**जगदाभाति यथा तथा न भाति॥ ३०॥**

*अन्वयः*— विश्वेश तव परमेश्वरता अपूर्वा जयति, यद् (इयम्) ईशितव्यशून्या (अस्ति) तथैव ते अपरा (ईश्वरता) अपि (अपूर्वा जयति) यया इदं जगत् यथा आभाति तथा न भाति।

१. ख० पु० सर्वेश—इति पाठः।

विश्वेश—हे जगत्-प्रभु!, तव—आप की, परमेश्वरता—(परम-शिव रूपिणी) बड़ी ईश्वरता, अपूर्वा—अनूठी, जयति,—जय-जय-कार के योग्य है, यद्—क्योंकि, (इयम्—यह), ईशितव्य—किसी के अधीन, शून्या—न रहने वाली, (अस्ति—है), तथैव—उसी प्रकार, ते—आप की, अपरा—(सदाशिव-ईश्वर रूपिणी) दूसरी, (ईश्वरता—ईश्वरता), अपि—भी, (अपूर्वा जयति—अनूठी और जय-जय-कार के योग्य है,), यया—जिस (के प्रभाव) से, इदं—यह, जगत्—जगत्, यथा—(सामान्य रूप में भेद-प्रथा के कारण लोगों को) जैसा (अर्थात् आप से भिन्न), आभाति—दिखाई देता है, तथा—वैसा (आप के भक्तों को), न भाति—दिखाई नहीं देता, (अर्थात् आप के भक्त-जन इस जगत् को स्वरूप से अभिन्न ही देखते हैं)॥

हे विश्व के ईश्वर! आपकी सदा नवीन परमेश्वरता, जो कि किसी दूसरे के द्वारा शासनीय नहीं है अथवा सर्वथा आकांक्षाओं से रहित है, की जय-जयकार हो और साथ ही आप की 'अपरा परमेश्वरता' - अर्थात् सदाशिवभूमिका पर चलता रहने वाला परमेश्वरभाव, जिसमें भेदप्रथा में पड़े हुए पशु समुदाय को यह जगत् जैसा आपसे भिन्न दिखाई दे रहा है वैसा आपके भक्तजनों को भासमान नहीं होता है।— (तात्पर्य यह कि उनको यह भेदभाव से परिपूर्ण अवर स्तर का जगत्-भाव भी आप से अभिन्न ही दिखाई दे रहा है)— इन दोनों परमेश्वरता के रूपों की जय-जयकार हो॥ ३०॥

विश्व का कल्याण हो

जडानां चेतनानाञ्च भावानां हृदयस्थितम्।
निर्द्वन्द्वं निष्कलं नित्यं वन्दे तत्त्वमनुत्तरम्॥

सोलहवां स्तोत्र समाप्त

उों नमः शिवाय

वीरभद्र प्रविकासय मध्यमां
वृत्तिमत्र हृदये मम शाश्वतीम्।
लोकवृत्तिभुजगैः परिवेष्ठितः
त्वामृते कमपरं मृगये प्रभुम्।।

# भक्तिविलास नामक सत्रहवां स्तोत्र।

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'दिव्यक्रीडाबहुमान' भी है। इस पद के तीन खंड हैं–दिव्य–क्रीडा-बहुमान। समूचे समस्तपद से परशिवमयी पराभूमिका पर निर्विराम एवं स्वाभाविक स्वतन्त्र रूप में चलती रहने वाली ईश्वरीयलीला के प्रति प्रह्वताभाव की अभिव्यंजना का अभिप्राय द्योतित हो रहा है।

**अहो कोऽपि जयत्येष स्वादुः पूजामहोत्सवः।**
**यतोऽमृतरसास्वादमश्रूण्यपि ददत्यलम्।। १।।**

*अन्वयः*–अहो एषः कोऽपि (च) स्वादुः पूजामहोत्सवः जयति यतः अस्रूणि अपि अमृत रसआस्वादम् अलं ददति।

अहो–अहो!, एषः–इस (अर्थात् अनुभवसिद्ध), कोऽपि–अलौकिक, (च–तथा), स्वादुः–आनन्दमय, पूजा–(समावेशात्मक) पूजा के, महोत्सवः–महान् उत्सव की, जयति–जय हो, यतः–जिस (उत्सव के प्रभाव) से, अश्रूणि–(बहे हुए) आँसू, अपि–भी, अमृत-रस–(परमानन्द रूपी) अमृत-रस के, आस्वादम्–चमत्कार को, अलं–पूर्ण रूप में, ददति–प्रदान करते हैं।।

(हे भगवान् शंकर!) आपके सच्चे भक्तजनों को ही अनुभव में आने वाले, अति आह्लाददायक एवं स्वादिष्ठ (आपकी) परापूजा के महान् उत्सव की जय-जयकार हो, जिसके दिव्य प्रभाव से आंखों से बहते हुए आंसू भी चिदानन्द के परम आस्वाद को प्रदान करते हैं।। १।।

**व्यापाराः सिद्धिदाः सर्वे ये त्वत्पूजापुरःसराः।**
**भक्तानां त्वन्मयाः सर्वे स्वयं सिद्धय एव ते।। २।।**

*अन्वयः*–(भगवन्) त्वत्पूजापुरः सराः ये व्यापाराः (लोकेन क्रियन्ते) (ते) सर्वे

सिद्धिदाः (भवन्ति) (किन्तु) भक्तानां ते सर्वे त्वत् मयाः (अतः) स्वयम् एव सिद्धयः (भवन्ति)।

(भगवन्–हे परमेश्वर!), त्वत्–आप की, पूजा–पूजा के, पुरः सराः–सम्बन्ध में, ये–जो, व्यापाराः–कर्म, (लोकेन क्रियन्ते–लोगों से किए जाते हैं), (ते–वे), सर्वे–सभी, सिद्धिदाः–सिद्धि-दायक, (भवन्ति–होते हैं।), (किन्तु– किन्तु), भक्तानां–(समावेशात्मक भक्ति वाले भक्त-जनों के लिए, ते– वे, सर्वे–सभी (पूजा के कर्म), त्वत्-मयाः–आप से अभिन्न, (अतः–और इसी लिए), स्वयम् एव–आप ही, सिद्धयः (भवन्ति)–सिद्धियाँ होते हैं (अर्थात् भक्तों के लिए पूजा के साधन और साध्य, दोनों में कोई अन्तर नहीं होता)॥

(हे मेरे स्वामी!) आपकी अर्चना को अच्छिद्र रूप में संपन्न करने की दिशा में जितने भी अपेक्षित साधन जुटाये जाते हैं वे सारे (अलग अलग) सिद्धियों को प्रदान करने वाले होते हैं, परन्तु भक्तजनों के परिप्रेक्ष्य में वे सारे साधन, आपसे अभिन्न होने के कारण, (साधन न रहकर) स्वयं सिद्धियां ही बन जाते हैं॥ २॥

*संकेत–*

श्री सद्गुरु महाराज के उपदेश के अनुसार भक्तों के लिए पूजा के साधन एवं साध्य-दोनों में कोई भी अन्तर नहीं होता है।

**सर्वदा सर्वभावेषु युगपत्सर्वरूपिणम्।**
**[१]त्वामर्चयन्त्यविश्रान्तं ये ममैतेऽधिदेवताः॥ ३॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) ये सर्वदा सर्वभावेषु अविश्रान्तं युगपत् सर्वरूपिणं त्वाम् अर्चयन्ति एते मम अधिदेवताः (सन्ति)।

(प्रभो–हे ईश्वर!), ये–जो (भक्तजन), सर्वदा–सदा, सर्वभावेषु–सभी दशाओं में, अविश्रान्तं–लगातार, युगपत्–एक साथ, सर्व–सभी, रूपिणं–रूपों में रहने वाले, त्वाम्–आप की, अर्चयन्ति–पूजा करते हैं, एते–वे, मम–मेरे, अधिदेवताः–इष्ट-देव, (सन्ति–हैं।–अर्थात् मैं आप के भक्तों का दास हूँ)॥

१. ख० ग० पु० अर्चन्ति त्वामविश्रान्तम्–इति पाठः।

(हे प्रभु!) जो (पहुंचे हुए) भक्तजन युगपत् ही सारे रूपों में रममाण रहने वाले आपकी (समावेशमयी) पूजा, हमेशा और सारी दशाओं में निरन्तर रूप में करते रहते हैं, वे मेरे अधिदेव हैं–(अर्थात् मैं उनके दासों का भी दास हूँ)॥ ३॥

**ध्यानायासतिरस्कारसिद्धस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः।**
**पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदास्तु मे॥ ४॥**

*अन्वयः*– (भगवन्) ध्यानआयासतिरस्कारसिद्धः (यः) त्वत्स्पर्शनउत्सवः (अस्ति) (सः एव) भक्तानां पूजा विधिः इति ख्यातः सः मे सदा अस्तु।

(भगवन्–हे भगवान्!), ध्यान–ध्यान (आदि बाहरी साधनों) के, आयास–प्रयास को, तिरस्कार–छोड़ कर ही (अर्थात् उस के बिना ही), सिद्धः–सिद्ध होने वाला, (यः–जो), त्वत्–आप (चित्स्वरूप) के, स्पर्शन–स्पर्श का, उत्सवः–उत्सव (अर्थात् समावेश), (अस्ति–है,) (सः एव–वही), भक्तानां–भक्त-जनों के लिए, पूजा-विधिः–'पूजा की विधि', इति–इस नाम से, ख्यातः–प्रसिद्ध है।, सः–वही, मे–मुझे, सदा–सदा, अस्तु–प्राप्त होता रहे॥

(हे परमेश्वर!) ध्यान, धारणा इत्यादि के आयास का बहिष्कार करके ही जो आप चिन्मय देवता को स्पर्श करने का उत्सव–अर्थात् समावेश के रूपवाला उत्सव–सिद्ध हो जाता है, भक्तजन उसी को पूजा की विधि मानते हैं, मुझे वही पूजा-विधि सदा सिद्ध होती रहे॥ ४॥

**भक्तानां समतासारविषुवत्समयः सदा।**
**त्वद्भावरसपीयूषरसेनेषां [1]तदर्चनम्॥ ५॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) भक्तानां समतासार विषुवत् समयः सदा (अस्ति) एषां त्वद्-भावरसपीयूष रसेन तद् अर्चनं (भवति)।

(प्रभो–हे स्वामी!), भक्तानां–भक्त-जनों के लिये, समता–(दिन और रात की) समता है, सार–सार जिसका, ऐसा, विषुवत्–विषुवत् नामक, समयः–समय, सदा–सदा (ही), (अस्ति–बना रहता है), एषां–और इन भक्तों को, त्वद्–आपकी, भाव–(समावेशात्मक) भक्ति के, रस–रस रूपी,

१. सदार्चनम् इति दानन्तरं

पीयूषरसेन—अमृत-रस से, तत्—वह या, सदा—सदैव, अर्चनं—(वह विषुवत्-कालीन) पूजा, (भवति—हुआ करती है)॥

हे प्रभु! सच्चे भक्तजनों के परिप्रेक्ष्य में (दिन एवं रात की) समता के सारवाला विषुवत् ही हमेशा वर्तमान होता है, और आपकी (समावेशमयी) भक्ति के रसरूपी अमृत-निर्झर से ही इनकी वह विषुवत्-कालीन पूजा या सदा संपन्न होती रहती है॥ ५॥

*संकेत*—इस पद्य पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी इस प्रकार हैः—

ज्यौतिष-शास्त्र के अनुसार जब सूर्य विषुवत् रेखा पर पहुंचता है तो दिन और रात दोनों बराबर होते हैं। उसी समय को विषुवत्-काल कहते हैं। ऐसा समय वर्ष में दो बार आता है, अर्थात् ६ चेत और ६ असूज को। शास्त्रों में कहा गया है कि वह समय बड़ा पवित्र होता है और उस समय अवश्य विशेष पूजा करनी चाहिए॥

भावार्थ—हे भगवान्! आपकी समावेशात्मक भक्ति करने वाले भक्त तो हर समय आपकी विशेष पूजा में लगे रहते हैं, अतः उनके लिए तो प्रत्येक समय ही विषुवत् होता है। उनके लिए पूजा का कोई विशेष समय निश्चित नहीं किया जा सकता॥

**यस्यानारम्भपर्यन्तौ न च कालक्रमः प्रभो।**
**पूजात्मासौ क्रिया तस्याः कर्तारस्त्वज्जुषः परम्॥ ६॥**

*अन्वयः*—प्रभो यस्य अनारम्भ पर्यन्तौ च (मध्येऽपि) कालक्रमः न (अस्ति) असौ पूजात्मा क्रिया त्वद् जुषः तस्याः परं कर्तारः (भवन्ति)।

**प्रभो**—हे प्रभु!, **यस्य**—जिसके, **अनारम्भपर्यन्तौ**—आदि तथा अन्त नहीं होते, **च**—और, (**मध्येऽपि**—बीच में भी), **काल-क्रमः**—समय का क्रम, **न** (**अस्ति**)—नहीं होता, **असौ**—वही, **पूजात्मा**—(समावेशात्मक) पूजा की, **क्रिया**—क्रिया (है)।, **त्वद्-जुषः**—(स्वरूप-समोवश के तत्त्व को जानने वाले) आपके भक्त ही, **तस्याः**—उस क्रिया को, **परं**—पूर्ण रूप में, **कर्तारः**—करने वाले, (**भवन्ति**—होते हैं)॥

हे प्रभु! जिसका न कहीं आरंभ और न कहीं अंत होता है, और न कोई समय की निश्चित क्रमरूपता होती है वही समावेशमयी अर्चनक्रिया कहलाती है और केवल आपके भक्तजन ही उस अर्चनक्रिया को संपन्न

करने में सक्षम होते हैं॥ ६॥

**ब्रह्मादीनामपीशास्ते ते च सौभाग्यभागिनः।**
**येषां स्वप्नेऽपि मोहेऽपि स्थितस्त्वत्पूजनोत्सवः॥ ७॥**

*अन्वयः*—(भगवन्) ते ब्रह्मआदीनाम् अपि ईशाः (भवन्ति) च ते सौभाग्य भागिनः (भवन्ति) येषां स्वप्नेऽपि मोहे अपि त्वत्पूजनउत्सवः स्थितः।

(भगवन्—हे भगवान्!), ते—वे (भक्त-जन), ब्रह्म—ब्रह्मा, आदीनाम्—आदि देवताओं के, अपि—भी, ईशाः—स्वामी, (भवन्ति—होते हैं), च—और, ते—वे, सौभाग्य-भागिनः—(परमानन्द के रस से भरे रहने के कारण) सौभाग्य-शाली, (भवन्ति—होते हैं,), येषां—जिनके लिये, स्वप्नेऽपि—स्वप्न में भी, मोहे अपि—और मोह में भी (अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति-सभी अवस्थाओं में), त्वत्—आपकी, पूजन—(समावेशात्मक) पूजा का, उत्सवः—उत्सव, स्थितः—बना रहता है॥

हे भगवान् शंकर! जिन भक्तजनों को 'स्वप्न एवं मोह'—अर्थात् जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में आपकी (समावेशमयी) परा-पूजा का पर्व बना रहता है, वे ही ब्रह्मा इत्यादि बड़े-बड़े देवताओं के भी स्वामी और अत्यंत सौभाग्यशाली व्यक्ति होते हैं॥ ७॥

**जपतां [1]जुह्वतां स्नातां ध्यायतां न च केवलम्।**
**भक्तानां भवदभ्यर्चामहो यावद्यदा तदा॥ ८॥**

*अन्वयः*—(स्वामिन्) (अहो) भक्तानां भवत्अभ्यर्चामहः न केवलं जपतां जुह्वतां स्नातां च ध्यायताम् (एव) (भवति) यावत् यदा तदा (भवति)।

(स्वामिन्—हे स्वामी!), (अहो—अहो!), भक्तानां—भक्त-जनों के लिये, भवत्—आपकी, अभ्यर्चा- —पूजा का, महः—उत्सव, न केवलं—न केवल, जपतां—जप, जुह्वतां—हवन, स्नातां—स्नान, च—और, ध्यायताम्—ध्यान के समय, (एव—ही), (भवति—होता है), यावत्—बल्कि, यदा तदा—जब देखो तब (अर्थात् सदैव), (भवति—होता रहता है)॥

(हे परमेश्वर!) आपके भक्तों को केवल जप, हवन, स्नान या ध्यान

१. क० पु० जाग्रताम्—इति पाठः।

करने की नियमित वेलाओं पर ही आपकी अर्चना करने का पर्व नहीं होता है, प्रत्युत जब देखो तब वे आपकी पूजा के उत्सव को मनाते रहते हैं॥ ८॥

**भवत्पूजासुधास्वादसम्भोगसुखिनः सदा।**
**[1]इन्द्रादीनामथ ब्रह्ममुख्यानामस्ति कः समः॥ ९॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) सदा भवत्पूजासुधाआस्वादसम्भोगसुखिनः समः इन्द्र आदीनाम् अथ ब्रह्ममुख्यानां कः अस्ति।

(प्रभो—हे ईश्वर!), सदा—(जो भक्त) सदा, भवत्—आपकी, पूजा—(समावेशात्मक) पूजा रूपी, सुधा—अमृत के, आस्वाद—आस्वाद के, सम्भोग—चमत्कार से, सुखिनः—सुखी बना रहता है, उसके, समः—समान, इन्द्र-आदीनाम्—इन्द्र आदि देवताओं में से, अथ—और, ब्रह्म—ब्रह्मा आदि, मुख्यानां—मुख्य देवताओं में से, कः—कौन, अस्ति—है? (अर्थात् ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं में से भी कोई उस भक्त की बराबरी नहीं कर सकता)॥

(हे कल्याणमय!) हमेशा आपकी पूजा के रूपवाले अमृत का आस्वाद लेते रहने के चमत्कार से नित्यसुखी बने हुए व्यक्तियों की समता, इन्द्र इत्यादि अथवा ब्रह्मा इत्यादि प्रधान देवताओं में से भी कौन सा देवता कर सकता है? (अर्थात् कोई नहीं कर सकता है)॥ ९॥

**जगत्क्षोभैकजनके भवत्पूजामहोत्सवे।**
**यत्प्राप्यं प्राप्यते किंचिद्भक्ता एव विदन्ति तत्॥ १०॥**

*अन्वयः*—(पार्वतीप्रिय) जगत्क्षोभएकजनके भवत्पूजामहा उत्सवे यत्किंचित् प्राप्यं प्राप्यते तत् भक्ताः एव विदन्ति।

(पार्वतीप्रिय—हे गौरीपति!), जगत्—(भेद प्रथात्मक) जगत के, क्षोभ—संहार का, एक—एक-मात्र, जनके—कारण है, ऐसे, भवत्—आपकी, पूजा—(स्वरूप-विमर्शात्मक) पूजा रूपी, महा-उत्सवे—बड़े उत्सव पर, यत्किंचित्—जो कुछ, प्राप्यं—प्राप्त करने योग्य (परमानन्दात्मक अलौकिक वस्तु), प्राप्यते—प्राप्त की जाती है, तत्—उसे तो, भक्ताः—(समावेश शाली) भक्तजन, एव—ही, विदन्ति—जानते हैं, (अन्य लोग उसे जान नहीं सकते)॥

१. ख० पु० ब्रह्मादीनामथ—इति पाठः।

(हे सर्वज्ञ परमात्मा!) भेदभाव से कलुषित जगत्‌भाव को क्षुब्ध करने का एकमात्र हेतु बने हुए आपकी अर्चना के उत्सव में, जो भी कोई प्राप्त करने के लायक वस्तु प्राप्त होती है उसकी सही जानकारी केवल भक्तों को ही होती है॥ १०॥

**त्वद्धाम्नि चिन्मये स्थित्वा षट्त्रिंशत्तत्त्वकर्मभिः।**
**कायवाक्चित्तचेष्टाद्यैरर्चये त्वां सदा विभो॥ ११॥**

*अन्वयः*— विभो (अहं) चिन्मये त्वद्‌धाम्नि स्थित्वा कायवाक्‌चित्तचेष्टाआद्यैः षट्त्रिंशत्‌तत्त्वकर्मभिः सदा त्वाम् अर्चये।

विभो—हे व्यापक परमात्मा!, (अहं—मैं), चिन्मये—चित् रूपी, त्वद्—आपके, धाम्नि—प्रकाश-स्वरूप में, स्थित्वा—बैठकर (अर्थात् विश्राम लेकर), काय—शरीर, वाक्—वाणी, चित्त—तथा मन की, चेष्टा-आद्यैः—चेष्टाओं आदि रूपी, षट्त्रिंशत्—छत्तीस, तत्त्व—तत्त्वों के, कर्मभिः—कर्मों से, सदा—सदा, त्वाम्—आपको, अर्चये—पूजता रहूँ॥

(हे स्वामी!) (काश मैं) आपके चित्-प्रकाशमय तेजोमंडल में अपना स्थायी निवास बनाकर, शरीर, वाणी चित्त एवं चेष्टा इत्यादि रूपों वाले, छत्तीसों तत्त्वों के साथ सम्बन्धित क्रिया-कलापों के द्वारा सदा आपकी ही अर्चना करने में ही व्यस्त रहूँ॥ ११॥

**भवत्पूजामयासङ्गसम्भोगसुखिनो मम।**
**प्रयातु कालः सकलोऽप्यनन्तोऽपीयदर्थये॥ १२॥**

*अन्वयः*— (भगवन्) भवत्‌पूजामयआसंगसंभोगसुखिनः मम सकलः अपि अनन्तः अपि कालः प्रयातु इयत् (एव) (अहम्) अर्थये।

(भगवन्—हे भगवान्!), भवत्—(मैं) आपकी, पूजामय—पूजा में, आसंग—लगे रहने के, संभोग—चमत्कार से, सुखिनः—(सदा) सुखी बना रहूँ, मम—(और फिर ऐसे ही) मेरा, सकलः अपि अनन्तः अपि कालः—सारा समय, चाहे वह असीम भी क्यों न हो, प्रयातु—बीत जाय;, इयत् (एव)—बस इतनी ही, (अहम्—मेरी), अर्थये—विनती है॥

(हे रसवत्ता के सागर!) मैं तो केवल इतनी सी प्रार्थना कर रहा हूँ

कि मैं आसक्तिपूर्वक केवल आपकी अर्चना करने में सर्वभाव से व्यस्त रहकर सुखी बना रहूँ, और उसी अवस्था में मेरा सारा समय यहां तक कि अनन्त समय भी बीतता रहे॥ १२॥

**भवत्पूजामृतरसाभोगलम्पटता[१] विभो।**
**विवर्धतामनुदिनं सदा च फलतां मम॥ १३॥**

*अन्वयः*—विभो मम भवत् पूजा अमृत रस आभोग लम्पटता अनुदिनं विवर्धतां च सदा फलताम्।

**विभो**—हे व्यापक प्रभु!, **मम भवत्-पूजा-अमृत-रस-आभोग-लम्पटता**—आपकी (समावेशात्मक) पूजा रूपी अमृत-रस के उपभोग के लिये मेरी तीव्र लालसा, **अनुदिनं**—दिन प्रतिदिन, **विवर्धतां**—(उत्तरोत्तर) बढ़ती ही जाय, **च**— और, **सदा**—(चरम सीमा को पहुँचकर) सदा, **फलताम्**—फलती-फूलती रहे॥

(हे जगत् के स्वामी!) (मेरी अभिलाषा यह है कि) मैं आपकी समावेशमयी अर्चना करने के अमृतरस का जितना जितना उपभोग करता रहूँ, उतनी उतनी इसके प्रति मेरी टेव दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती एवं फलित होती रहे॥ १३॥

**जगद्विलयसञ्जातसुधैकरसनिर्भरे।**
**त्वदब्धौ त्वां महात्मानमर्चन्नासीय सर्वदा॥ १४॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) (अहं) जगत्विलयसञ्जातसुधाएक रसनिर्भरे त्वद्अब्धौ सर्वदा त्वां महात्मानम् अर्चन् आसीय।

(**प्रभो**—हे स्वामी!), (**अहं**—मैं), **जगत्**—(भेदप्रथात्मक) जगत् के, **विलय**—संहार के, **सञ्जात**—उत्पन्न हुये, **सुधा**—अमृत मय, **एकरस**—(आत्मानन्द रूपी) अद्वैत रस से, **निर्भरे**—भरे हुये, **त्वद्**- —आप, **अब्धौ**— (चिदानन्द-) सागर में, **सर्वदा**—सदा, **त्वां**—आप, **महात्मानम्**—महात्मा (अर्थात् विश्व-व्यापक प्रभु) की, **अर्चन्**—(विमर्शरूपिणी) पूजा, **आसीय**—करता हुआ ही रहूँ॥

१. ख० ग० पु० लुम्पटता—इति पाठः।

(हे परमेश्वर!) सारी जागतिक विषमताओं का विलय हो जाने से प्रादुर्भाव में आए हुए मात्र अमृतरस से परिपूर्ण आप चिन्मयता के सागर में मैं आप ही महान् आत्मा की (समावेशमयी) अर्चना प्रतिसमय करता रहूँ॥ १४॥

**अशेषवासनाग्रन्थिविच्छेदसरलं सदा।**
**मनो निवेद्यते भक्तैः स्वादु पूजाविधौ तव॥ १५॥**

*अन्वयः*– (परमात्मन्) तव पूजाविधौ भक्तैः अशेषवासनाग्रन्थिविच्छेदसरलं स्वादु मनः सदा निवेद्यते।

(परमात्मन्–हे परमात्मा!), तव–आपकी, पूजा–पूजा, विधौ–करते करते, भक्तैः–(आपके) भक्त-जन, अशेष–सारी, वासना–वासनाओं रूपी, ग्रन्थि–गाँठों के, विच्छेद–कट जाने अर्थात् नष्ट होने से, सरलं–निष्कपट (अर्थात् निर्मल) बना हुआ, स्वादु–(और इसीलिये) सुन्दर, मनः–मन, सदा–सदा, निवेद्यते–(आपको) अर्पण करते हैं॥

(हे देव!) आपके भक्तजन आपकी (असाधारण) अर्चनाविधि में सारी वासनाओं की कुंठाओं के गल जाने से निर्मल बने हुए अपने मन को प्रतिसमय आपको ही अर्पण करते रहते हैं॥ १५॥

**अधिष्ठायैव विषयानिमाः[१] करणवृत्तयः।**
**भक्तानां प्रेषयन्ति त्वत्पूजार्थममृतासवम्॥ १६॥**

*अन्वयः*– (शिव) भक्तानाम् इमाः करणवृत्तयः विषयान् अधिष्ठाय एव त्वत्-पूजार्थम् अमृत आसवं प्रेषयन्ति।

(शिव–हे कल्याण-स्वरूप प्रभु!), भक्तानाम्–भक्त-जनों की, इमाः–ये, करणवृत्तयः–(आँख आदि) इन्द्रियों की वृत्तियाँ अर्थात् अधिष्ठातृ-देवियाँ, विषयान्–(रूप आदि) विषयों का, अधिष्ठाय–सेवन करते, एव–ही, त्वत्–आप की, पूजार्थम्–पूजा के लिये, अमृतआसवं–(भीतर अर्थात् चित्- धाम में) अमृतमय मधु, प्रेषयन्ति–भेजती हैं॥

---

१. ग० घ० पु० विषयानिमान्–इति पाठः।

(हे कल्याणस्वरूप!) आपके भक्तजनों की सारी इन्द्रियवृत्तियां अपने अपने (शब्द, स्पर्श आदि) विषयों का उपभोग करते रहने में ही, चित्–धाम में आपकी अर्चना को पूर्ण बनाने के अभिप्राय से, अमृतमय मधु का उपहार भेजती रहती हैं॥ १६॥

*संकेत*— प्रस्तुत पद्य पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

भावार्थ—हे प्रभु! इन्द्रियों द्वारा किया गया व्यवहार सामान्य लोगों की दशा में अध्यात्म-मार्ग में बड़ी बाधा डालता है, किन्तु आपके भक्तों की दशा में वह परमानन्द प्राप्त करने में योग देता है। जो बाधा औरों के लिए बाधक बनती है वही आपके भक्तों के लिए साधक बनती है। यही आपकी भक्ति के चमत्कार की विलक्षणता है॥

**भक्तानां भक्तिसंवेगमहोष्मविवशात्मनाम्।**
**कोऽन्यो निर्वाणहेतुः स्यात्त्वत्पूजामृतमज्जनात्॥ १७॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) भक्तिसंवेगमहाउष्मविवशआत्मनां भक्तानां निर्वाणहेतुः त्वत्-पूजाअमृतमज्जनात् कः अन्यः स्यात्।

(**प्रभो**—हे स्वामी!), **भक्ति**—भक्ति की, **संवेग**—अत्यन्त तेजी रूपी, **महा**—बड़ी, **उष्म**—गर्मी से, **विवश**—विवश (अर्थात् तप्त) बनी रहती है, **आत्मनां**—आत्मा जिनकी, ऐसे, **भक्तानां**—भक्त-जनों के, **निर्वाण**—(उस आत्मिक ताप को) बुझाने अर्थात् शान्त करने का, **हेतुः**—कारण, **त्वत्**—आपकी, **पूजा**—पूजा रूपी, **अमृत**—अमृत में, **मज्जनात्**—नहाने के सिवा, **कः अन्यः**—और क्या, **स्यात्**—हो सकता है?॥

(हे स्मरहर प्रभु!) भक्ति की तीव्रता के रूपवाली असह्य ऊष्मा से संतप्त आत्मा वाले आपके भक्तों को, आपकी ही अर्चना के अमृत-सागर में डुबकी लगाने से बढ़कर और कौन सा शान्तिदायक हेतु उपलब्ध हो सकता है?॥ १७॥

*संकेत*— इस पद्य पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है—

(क) शब्दार्थ— विवश=व्याकुल अर्थात् जलता हुआ।

निर्वाण=(१) बुझना (२) शान्त होना।

अमृत=(१) सुधा (२) जल।

मज्जन=स्नान, नहाना, डूबना।

(ख) हे प्रभु! जो चीज़ आग से जल रही हो, उसको जल में डुबो कर ही बुझाया जाता है। इसी प्रकार जिसका मन भक्ति की आग से जलता रहता हो, उसकी जलन आपके पूजामृत रूपी जल में डुबकी लगाने से ही बुझ सकती है, और किसी उपाय से नहीं। अर्थात् जिस भक्त का हृदय आपके दर्शन के लिए तड़प रहा हो, उसकी वह तड़प समावेश में आपका साक्षात्कार करने पर ही मिट जाती है॥

**[१]सततं त्वत्पदाभ्यर्चासुधापानमहोत्सवः।**
**त्वत्प्रसादैकसम्प्राप्तिहेतुर्मे नाथ [२]कल्पताम्॥ १८॥**

*अन्वयः*—नाथ (यः) त्वत् प्रसादएक सम्प्राप्ति हेतुः (सः) त्वत्पदअभ्यर्चासुधा-पानमहाउत्सवः मे सततं कल्पताम्।

**नाथ**—हे स्वामी!, (**यः**—जो), **त्वत्**—आप (के स्वरूप) की, **प्रसाद**—निर्मलता (अर्थात् चिदानन्द) की प्राप्ति का, **एक-सम्प्राप्ति-हेतुः**—एक मात्र कारण अर्थात् उपाय है, (**सः**—वही), **त्वत्**—आपके, **पद**—चरणों की, **अभ्यर्चा**—पूजा रूपी, **सुधा-पान**—अमृत पान का, **महा**—बड़ा, **उत्सवः**—उत्सव, **मे**—मुझे, **सततं**—निरन्तर, **कल्पताम्**—प्राप्त होता रहे।

हे नाथ! आपके चरणकमलों की अर्चना करने के अमृत-रस को पीने का महान् उत्सव मेरे लिए हमेशा आपके चित्-स्वरूप की ही जैसी निर्मलता प्राप्त करने का एकमात्र हेतु बना रहे॥ १८॥

**अनुभूयासमीशान प्रतिकर्म क्षणात्क्षणम्।**
**भवत्पूजामृतापान[३]मदास्वादमहामुदम्॥ १९॥**

*अन्वयः*— ईशान (अहं) भवत्पूजाअमृत आपानमदआस्वादमहामुदं प्रतिकर्म क्षणात् क्षणम् अनुभूयासम्।

**ईशान**—हे स्वतन्त्र ईश्वर!, (**अहं**—मैं), **भवत्**—आप की, **पूजा**—पूजा रूपी, **अमृत आपान**—अमृत-पान की, **मद**—मस्ती से युक्त, **आस्वाद**—आस्वाद अर्थात् चमत्कार से प्राप्त होने वाले, **महामुदं**—परम-आनन्द का, **प्रतिकर्म**—

१. क० पु० सन्ततम्—इति पाठः।

१. घ० पु० कल्प्यताम्—इति पाठः।

१. ख० पु० महास्वाद—इति पाठः।

(अपने) प्रत्येक कार्य में, क्षणात्-क्षणम्—प्रतिक्षण (अर्थात् लगातार), अनुभूयासम्—अनुभव करता रहूँ॥

हे ईशानदेव! (मैं) अपने हरेक क्रिया-कलाप में प्रतिपल आपकी अर्चना के रूपवाले अमृतपेय की मस्ती की चमत्कारिता से, विकास में लाए गए, महान् आन्तरिक आह्लाद का अनुभव करता रहूँ॥ १९॥

**दृष्टार्थ एव भक्तानां भवत्पूजामहोद्यमः।**
**तदैव यदसम्भाव्यं सुखमास्वादयन्ति ते॥ २०॥**

*अन्वयः*—(भगवन्) भक्तानां भवत्पूजामहाउद्यमः दृष्ट अर्थः एव (भवति) यत् ते तदा एव असंभाव्यं सुखम् आस्वादयन्ति।

(भगवन्—हे भगवान्!), भक्तानां—भक्त-जनों के लिये, भवत्—आपकी, पूजा—(परा) पूजा का, महा—बड़ा, उद्यमः—उद्योग, दृष्ट अर्थः—तुरन्त तथा प्रत्यक्ष रूप में फल दिखाने वाला, एव—ही, (भवति—होता है), यत्—क्योंकि, ते—वे, तदा एव—उसी वक्त (अर्थात् पूजा करते करते ही), असंभाव्यं—असम्भव (अर्थात् अलौकिक), सुखम्—(परमानन्द रूपी) सुख का, आस्वादयन्ति—अनुभव करते हैं॥

(हे परमेश्वर!) आपके भक्तों के लिए, निरन्तर आपकी अर्चना करते रहने का महान् उद्यम अवश्य 'दृष्टार्थ'—अर्थात् वैसा उद्योग करने के तत्काल ही वाञ्छित फलसंपत्ति को वितरण करने वाला है, यही कारण है कि वे लोग अर्चना करने के तत्काल ही ऐसे आत्मिक-आह्लाद का अनुभव कर लेते हैं जो लोकभूमिका पर बिल्कुल असंभव होता है॥ २०॥

**यावन्न लब्धस्त्वत्पूजासुधास्वादमहोत्सवः।**
**तावन्नास्वादितो मन्ये लवोऽपि सुखसम्पदः॥ २१॥**

*अन्वयः*—(वरद) यावत् त्वत्पूजासुधाआस्वादमहाउत्सवः न लब्धः तावत् सुख सम्पदः लवः अपि न आस्वादितः (इति) मन्ये।

(वरद—हे वर-दाता प्रभु!), यावत्—जब तक, त्वत्—आपकी, पूजा—(परा) पूजा रूपी, सुधा—अमृत के, आस्वाद—चमत्कार का, महा—बड़ा, उत्सवः—उत्सव, न लब्धः—प्राप्त न किया जाय, तावत्—तब तक, सुख-सम्पदः—(सच्ची अर्थात् समावेश रूपी पारमार्थिक) सुख-सम्पत्ति का, लवः—

लेश मात्र, अपि—भी, न आस्वादितः—अनुभव नहीं होता, (इति) मन्ये—मेरा तो यही विचार है॥

(हे वरद स्वामी!) मेरी मान्यता यह है कि जब तक आपकी (समावेशमयी) अर्चना के अमृत का आस्वाद कराने वाले महान् पर्व को मनाने का अवसर अधिगत न हुआ हो तब तक तात्त्विक सुखसंपदा के बहुत छोटे से अंश के रसास्वादन करने का अवसर भी उपलब्ध नहीं होने पाता है॥ २१॥

*संकेत*—इस पद्य पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

सार—हे प्रभु! संसार के सुख वास्तव में सुख नहीं दुःख ही हैं। समावेश का आनन्द ही सच्चा सुख है। जब तक उसकी प्राप्ति न हो जाये तब तक सांसारिक सुखों के भोगने से कोई लाभ नहीं॥

**भक्तानां विषयान्वेषाभासायासाद्विनैव सा।**
**अयत्नसिद्धं त्वद्धामस्थितिः पूजासु जायते॥ २२॥**

*अन्वयः*—(स्वयं-श्रेष्ठ) भक्तानां पूजासु अयत्नसिद्धं सा त्वद् धाम स्थितिः विषय-अन्वेषआभासआयासात्विना एव जायते।

(स्वयं-श्रेष्ठ—हे स्वयं-श्रेष्ठ!), भक्तानां—(आपके) भक्तों को, पूजासु—(समावेश रूपी) पूजा के अवसरों पर, अयत्न—(ध्यान आदि रूपी) यत्न के बिना ही, सिद्धं—सिद्ध होने वाली (अर्थात् चमक उठने वाली), सा त्वद्-धाम-स्थितिः—आपके (चित् रूपी) भवन में वह अलौकिक स्वात्म-स्थिति, विषय—(फूल, धूप आदि पूजा की) सामग्रियों के, अन्वेष—ढूँढ़ने के, आभास—विचार का, आयासात्—कष्ट उठाये, विना एव—बिना ही (अर्थात् आप ही आप), जायते—प्राप्त होती है॥

(हे सर्वशुद्ध ईश्वर!) भक्तजनों को पूजा करने की वेलाओं पर, (गंध, पुष्प, धूप, दीप इत्यादि पूजा के उपकरणों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करने के बिना, आपके चिन्मय धाम में स्थिति स्वयं ही सिद्ध हो जाती है॥ २२॥

**न प्राप्यमस्ति भक्तानां नाप्येषामस्ति दुर्लभम्।**
**केवलं विचरन्त्येते भवत्पूजामदोन्मदाः॥ २३॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) भक्तानां न (किंचित्) प्राप्यम् अस्ति नापि एषां (किंचित्)

दुर्लभम् अस्ति एते भवत्पूजामदउन्मदाः (सन्तः) केवलं विचरन्ति।

(प्रभो—हे स्वामी!), भक्तानां—(आपके) भक्तों के लिये, न—न तो, (किंचित्—कुछ), प्राप्यम्—प्राप्त करने योग्य, अस्ति—होता है, नापि—और न ही, एषां—इनके लिये, (किंचित्—कुछ), दुर्लभम्—दुर्लभ, अस्ति—होता है।, एते—ये तो, भवत्—आप की, पूजा—(समावेशात्मक) पूजा के, मद—मद से, उन्मदाः—मतवाले (अर्थात् मस्त), (सन्तः—होकर), केवलं—केवल (अर्थात् यों ही बिना किसी इच्छा के), विचरन्ति—विहार करते हैं॥

(हे भक्तों के प्रिय!) आपके भक्तों को न तो कोई वस्तु प्राप्त करनी होती है, और न उसके लिए कोई भी पदार्थ दुर्लभ होता है। ये तो केवल आपकी अर्चना करने की मस्ती में झूमते हुए रमते रहते हैं॥ २३॥

**अहो भक्तिभरोदारचेतसां वरद त्वयि।**
**श्लाघ्यः पूजाविधिः कोऽपि यो न याच्ञाकलंकितः॥२४॥**

*अन्वयः*—वरद अहो भक्तिभरउदारचेतसां (भक्तानां) त्वयि पूजाविधिः कोऽपि श्लाघ्यः (अस्ति) यः याच्ञा- कलंकितः न (भवति)।

वरद—हे वरदाता प्रभु!, अहो—अहो!, भक्ति—भक्ति की, भर— अधिकता से, उदार—उदार, चेतसां—चित्त वाले, (भक्तानां—भक्त-जनों से की गई), त्वयि—आप की, पूजा—पूजा की, विधिः—रीति, कोऽपि—अलौकिक, श्लाघ्यः—(तथा) प्रशंसनीय, (अस्ति—है), यः—क्योंकि यह, याच्ञा—माँगने (के दोष) से, कलंकितः—दूषित, न (भवति)—नहीं होती, (अर्थात् आपके भक्त इतने उदार होते हैं कि वे आप वरदाता से भी कुछ नहीं माँगते)॥

हे वरद प्रभु! हर्ष का विषय यह है कि आपकी भक्ति के अतिशय से उदार बने हुए मानसिक संकल्पों वाले भक्तजनों की कोई निराली अर्चना की विधि अत्यन्त श्लाघनीय है, क्योंकि यह मांगें मनवाने से कलङ्कित नहीं बनी होती है॥ २४॥

**का न शोभा न को ह्लादः का समृद्धिर्न वापरा।**
**को वा न मोक्षः कोऽप्येष महादेवो यदर्च्यते॥ २५॥**

*अन्वयः*—यद् एषः कः अपि महादेवः अर्च्यते (तद्) का शोभा न (भवति) कः ह्लादः न (भवति) वा का परा समृद्धिः न (भवति) वा कः मोक्षः न (भवति)।

यद्–जहाँ, एषः–इस, कः अपि–अलौकिक, महादेवः–(चिदात्मा) महादेव की, अर्च्यते–पूजा की जाती है, (तद्–वहाँ), का–कौन सी, शोभा–शोभा, न–नहीं, (भवति–होती), कः–कौन सा, ह्लादः–आनन्द, न (भवति)–नहीं होता, वा–तथा, का–कौन सी, परा–उत्कृष्ट (अर्थात् पारमार्थिक), समृद्धिः–सुख-सम्पत्ति, न (भवति)–नहीं होती, वा–और, कः–कौन सा, मोक्षः–मोक्ष, न (भवति)–नहीं होता (अर्थात् उसी दशा में परम-अद्वय-रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है)॥

(हे जगत् के स्वामी!) आप महान् देवाधिदेव की जो यह (समावेशमयी परा-पूजा) की जाती है उसमें कौन सी रमणीयता, कौन सा आत्मिक आह्लाद, कौन सा (सांसारिक) सुखसम्भार अथवा कौन सी मुक्ति अंतर्निहित नही है?॥ २५॥

**अन्तरुल्लसदच्छाच्छभक्तिपीयूषपोषितम्।**
**भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे॥ २६॥**

*अन्वयः*–(शंकर) अन्तर् उल्लसत् अच्छ-अच्छ भक्ति पीयूष पोषितम् इदं मे शरीरं भवत्पूजाउपयोगाय अस्तु।

(शंकर–हे शंकर!), अन्तर्–भीतर (अर्थात् संवित्-पद में), उल्लसत्–चमकते हुये, अच्छ-अच्छ–अत्यन्त निर्मल, भक्ति-पीयूष–भक्ति-अमृत (अर्थात् समावेशामृत) से, पोषितम्–पाला पोसा गया, इदं–यह, मे–मेरा, शरीरं–शरीर, भवत्–आपकी, पूजा–पूजा के, उपयोगाय–काम, अस्तु– आ जाये, (अर्थात् आप चिदानन्द-घन में ही विलीन हो जाय)॥

(हे भगवान् शितिकंठ!) संवित्-धाम में विकसित होती हुई निर्मलतम भक्ति के अमृतरस से पुष्ट बना हुआ यह मेरा शरीर आपकी अर्चना के ही काम आए-(तात्पर्य यह कि चित्-प्रकाश में ही विलीन हो जाए॥२६॥

**त्वत्पादपूजासम्भोगपरतन्त्रः सदा विभो।**
**भूयासं [1]जगतामीश एकः स्वच्छन्दचेष्टितः॥ २७॥**

*अन्वयः*–विभो जगताम् ईश (अहम्) एकः स्वच्छन्दचेष्टितः (सन् अपि) सदा

---

१. घ० पु० जगदीशान–इति पाठः।

त्वत्पादपूजासंभोगपरतन्त्रः भूयासम्।

**विभो**—हे व्यापक प्रभु!, **जगताम्-ईश**—हे तीनों लोकों के स्वामी!, (अहम्—मैं), **एकः**—एक ही (अर्थात् अद्वितीय रूप में), **स्वच्छन्द**—स्वतन्त्र, **चेष्टितः**—व्यवहार वाला (अर्थात् पूर्ण रूप में स्वतन्त्र), (सन् अपि—होते हुये भी), **सदा**—सदा, **त्वत्**—आपके, **पाद**—चरणों की, **पूजा**—पूजा का, **संभोग**—आनन्द उठाने में, **परतन्त्रः**—परतन्त्र ही, **भूयासम्**—बना रहूँ॥

हे विश्व के स्वामी! (मेरी अभिलाषा यह है कि) मैं हमेशा आपके चरणों की अर्चना के आनन्द का भागी बनने में परतन्त्र बना रहता हुआ भी (समूचे विश्व में) केवल एक ही सर्वस्वतन्त्र चेष्टाओं वाला व्यक्ति बनूँ॥ २७॥

**त्वद्ध्यानदर्शनस्पर्शतृषि केषामपि प्रभो।**
**जायते शीतलस्वादु भवत्पूजामहासरः॥ २८॥**

*अन्वयः*—प्रभो त्वद्ध्यानदर्शनस्पर्शतृषि (सत्यां) केषाम् अपि शीतलस्वादु भवत्पूजामहासरः जायते।

**प्रभो**—हे स्वामी!, **त्वद्**—आपके, **ध्यान**—ध्यान में, **दर्शन**—(आप चिदानन्द-घन के) दर्शन, **स्पर्श**—और स्पर्श की, **तृषि**—लालसा, (सत्यां—होने पर), **केषाम् अपि**—कई (आपके कृपा-पात्र भक्त-जनों) के लिये, **शीतल**—(संताप-हारक होने के कारण) शीतल, **स्वादु**—और (परमानन्द-प्रद होने से) अत्यन्त मधुर, **भवत्**—आपकी, **पूजा**—(समावेशमयी) पूजा रूपी, **महा**—बड़ा, **सरः**—सरोवर, **जायते**—उत्पन्न होता है, (जिसमें डुबकी लगाने पर उन भक्तों की प्यास मिट जाती है)॥

हे प्रभु! 'कई विरले'—आपके तीव्र शक्तिपात के अधिकारी बने हुए भक्तवरों के लिए, आप (चिन्मय परमात्मदेव) का ध्यान, दर्शन या स्पर्श करने की प्यास असह्य होने की दशा में, आपकी अर्चना का शान्तिदायक एवं स्वादिष्ठ महान् सरोवर स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है॥ २८॥

**यथा त्वमेव जगतः पूजासम्भोगभाजनम्।**
**तथेश[1] भक्तिमानेव पूजासम्भोगभाजनम्॥ २९॥**

१. क० पु० तथैव—इति पाठः।

*अन्वयः*—ईश यथा जगतः त्वम् एव पूजासंभोगभाजनम् (असि) तथैव भक्तिमान् एव पूजासम्भोगभाजनं (भवति)।

**ईश**—हे स्वामी!, **यथा**—जैसे, **जगतः**—(इस सारे) जगत् में, **त्वम्**—(केवल) आप, **एव**—ही, **पूजा**—(समावेश-मयी) पूजा के, **संभोग**—आनन्द के, **भाजनम्**—पात्र (अर्थात् आश्रय), (**असि**—हैं), **तथैव**—वैसे ही, **भक्तिमान्**—(केवल समावेशशाली) भक्त, **एव**—ही, **पूजा**—(ऐसी) पूजा के, **सम्भोग**—आनन्द का, **भाजनं**—पात्र (अर्थात् अधिकारी), (**भवति**—होता है)॥

**(हे परमेश्वर!) जिस प्रकार केवल आप परमात्मदेव ही, सारे विश्व के लिए, अर्चना किए जाने के सुखभोग के आश्रय बने हुए हैं, उसी प्रकार केवल आपका ही (समावेशशाली) भक्त ऐसी (परा) पूजा के सुफल अर्थात् आपका समावेशमय साक्षात्कार करने के आनन्द का भागी बना होता है, और कोई नहीं॥ २९॥**

*संकेत*— प्रस्तुत पद्य पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

भावार्थ—हे प्रभु! जैसे समावेशमयी पूजा केवल आपकी होती है, किसी और की नहीं हो सकती है, वैसे ही केवल आपका भक्त ही ऐसी पूजा के सुफल, अर्थात् समावेश में साक्षात्कार, का आनन्द उठाता है, कोई और नहीं।

**कोऽप्यसौ जयति स्वामिन्भवत्पूजामहोत्सवः।**
**षट्त्रिंशतोऽपि तत्त्वानां क्षोभो यत्रोल्लसन्त्यलम्॥ ३०॥**

*अन्वयः*—स्वामिन् असौ कोऽपि भवत् पूजा महा उत्सवः जयति यत्र षट्त्रिंशतः तत्त्वानाम् अपि क्षोभः अलम् उल्लसन्ति।

**स्वामिन्**—हे प्रभु!, **असौ कोऽपि भवत्-पूजा-महा-उत्सवः**—आपकी (समावेशमयी) पूजा के उस अलौकिक बड़े उत्सव की, **जयति**—जय हो, **यत्र**—जिसमें, **षट्त्रिंशतः**—छत्तीस, **तत्त्वानाम्**—तत्त्वों का, **अपि**—भी, **क्षोभः**—(संविद्रूपी आग से जल कर भस्म होने का) आवेग, **अलम्**—पूर्ण रूप में, **उल्लसन्ति**—चमक उठता है॥

हे स्वामी! इस जगत् में आपकी अर्चना करने का वह अवर्णनीय एवं महान् पर्व जय-जयकार किए जाने के योग्य है, क्योंकि केवल उसी में छत्तीसों तत्त्वों का 'क्षोभ'—अर्थात् संवित्-भाव में ही गल जाने की

प्रक्रिया, भी उत्पन्न हो जाती है॥ ३०॥

**नमस्तेभ्यो विभो येषां भक्तिपीयूषवारिणा।**
**पूज्यान्येव भवन्ति त्वत्पूजोपकरणान्यपि॥ ३१॥**

*अन्वयः*—विभो येषां त्वत्पूजाउपकरणानि अपि भक्ति पीयूषवारिणा पूज्यानि एव भवन्ति तेभ्यः नमः।

**विभो**—हे व्यापक प्रभु!, **येषां**—जिनके लिये, **त्वत्**—आपकी, **पूजा**— पूजा की, **उपकरणानि**—(फूल आदि) सामग्रियाँ, **अपि**—भी, **भक्ति-पीयूष**— भक्ति-अमृत-रूपी, **वारिणा**—जल से (अर्थात् समावेशामृत के रस से), **पूज्यानि एव भवन्ति**—(आप्लावित होकर आप चिदानन्दघन को प्रकट करने में योग देती हैं और इसीलिये) पूजनीय ही बन जाती हैं, **तेभ्यः**—उन (भक्तजनों) को, **नमः**—नमस्कार हो॥

**हे सर्वव्यापक देव! उन वरिष्ठ भक्तों को हमारा नमन हो जिनके लिए आपकी अर्चना के लिए अपेक्षित (गंध, पुष्प इत्यादि) उपकरण भी भक्ति के अमृत-प्रवाह से सिक्त हो जाने पर स्वयं पूजनीय विषय ही बन जाते हैं॥ ३१॥**

*संकेत*—

कहने का तात्पर्य यह कि भगवान् शंकर के भक्तों की समावेशमयी अर्चना के प्रभाव से पूजा में काम आने वाले हरेक उपकरण से शिवभाव की अभिव्यक्ति होने लगती है, अतः वे सारे पदार्थ स्वयं ही पूजा किये जाने के विषय अर्थात् पूजनीय देवता ही बन जाते हैं॥

**पूजारम्भे विभो ध्यात्वा मन्त्राधेयां त्वदात्मताम्।**
**स्वात्मन्येव परे भक्ता मान्ति हर्षेण न क्वचित्॥ ३२॥**

*अन्वयः*—विभो पूजाआरम्भे मन्त्रआधेयां त्वद्आत्मतां ध्यात्वा भक्ताः हर्षेण परे स्वात्मनि एव क्वचित् न मान्ति।

**विभो**—हे व्यापक प्रभु!, **पूजा**—पूजा, **आरम्भे**—करते समय, **मन्त्र**—(मनन-त्राण-धर्म) मन्त्र से, **आधेयां**—सिद्ध होने वाले (अर्थात् प्राप्त होने वाले), **त्वद्**—आपके, **आत्मतां**—चिन्मय स्वरूप का, **ध्यात्वा**—ध्यान करके (और इस प्रकार शिव-रूप होकर), **भक्ताः**—(समावेश-शाली) भक्त-जन, **हर्षेण**—हर्ष

से, परे स्वात्मनि एव—अपने ही परिपूर्ण स्वरूप में, क्वचित्—कभी, न मान्ति—नहीं समाते, (अर्थात् शिव-रूपता को प्राप्त करके फूले नहीं समाते)॥

हे सर्वव्यापी देव! आपके समावेशशाली भक्तजन आपकी अर्चना करने की आरम्भवेला पर, मंत्रोच्चार के द्वारा सिद्ध होने वाली आप चिन्मय स्वरूप के साथ एकाकारता का ध्यान करते ही हर्षोल्लसित होकर, अपने ही सर्व-भावनिर्भर स्वरूप में समाने नहीं लगते हैं। (तात्पर्य यह कि समावेश के बल से शिवमय ही बन जाते हैं)॥ ३२॥

**राज्यलाभादिवोत्फुल्लैः कैश्चित्पूजामहोत्सवे।**
**सुधासवेन सकला जगती संविभज्यते॥ ३३॥**

*अन्वयः*—प्रभो उत्फुल्लैः कैश्चित् पूजामहाउत्सवे सकला जगती सुधाआसवेन संविभज्यते इव राज्यलाभात् उत्फुल्लैः नृपैः महोत्सवे सकला जगती आसवेन संविभज्यते।

**प्रभो**—हे प्रभु!, **उत्फुल्लैः**—(महाविकास की युक्ति से श्री भैरवीय मुद्रा में बैठे हुये और इसीलिये) अत्यन्त प्रफुल्लित, **कैश्चित्**—कुछ (भक्त-जन), **पूजा**—(आपकी समावेश-मयी), **महा**—बड़े, **उत्सवे**—उत्सव पर, **सकला**—सारे, **जगती**—(भेदात्मक) जगत् को, **सुधा**—(चिदानन्द-मय) अमृत रूपी, **आसवेन**—मधु (के पान) का, **संविभज्यते**—भागी बनाते हैं, (अर्थात् उसे स्वानन्द-पूर्ण बनाते हैं), **इव**—जिस प्रकार, **राज्य**—राज्य को, **लाभात्**—पाकर, **उत्फुल्लैः** (**नृपैः**)—प्रफुल्लित बने हुये (राजा), **महोत्सवे**—(राज्य-तिलक के) बड़े उत्सव पर, **सकला**—सारे, **जगती**—जगत् को, **आसवेन**—मधु-पान का, **संविभज्यते**—भागी बनाते हैं, (अर्थात् सभी लोगों को मधु-पान से तृप्त करते हैं)॥

(हे नित्यतृप्त परमेश्वर!) जिस प्रकार राज्य मिल जाने से हर्षित बने हुए शासक लोग राज्यतिलक के महान् उत्सव में सारी पृथिवी को मधुपान से तृप्त कर देते हैं, उसी प्रकार कई 'उत्फुल्ल'—अर्थात् महाविकास नाम वाली युक्ति से भैरवीय-मुद्रा में अनुप्रविष्ट भक्तवर आपकी अर्चना के रूपवाले महान् पर्वकाल पर सारे भेदग्रस्त जगत् को अभेद-अमृत (चित्-अमृत) के आसव का पान कराने से तृप्त कर देते हैं॥ ३३॥

**पूजामृतापानमयो येषां भोगः प्रतिक्षणम्।**
**किं देवा उत मुक्तास्ते किं वा केऽप्येव ते जनाः॥ ३४॥**

*अन्वयः*—(स्वामिन्) येषां (भक्तानां) पूजाअमृत आपान मयः भोगः प्रतिक्षणं (भवति) ते जनाः किं देवाः (सन्ति) उत मुक्ताः किं वा ते के अपि एव (सन्ति)।

(स्वामिन्—हे स्वामी!), येषां—जिन, (भक्तानां—भक्त-जनों को), पूजा—(आपकी समावेशमयी) पूजा रूपी, अमृत-आपान-मयः—अमृत-पान का, भोगः—चमत्कार-पूर्ण आनन्द, प्रतिक्षणं—हर वक्त, (भवति—प्राप्त होता है), ते जनाः—वे लोग, किं—क्या, देवाः—देवता, (सन्ति—होते हैं), उत—या, मुक्ताः—मुक्त होते हैं, किं वा—अथवा क्या, ते—वे, के-अपि—(बिल्कुल) अलौकिक, एव—ही, (सन्ति—होते हैं?)॥

(हे देवाधिदेव!) जो आपके भक्तजन प्रतिपल आपकी समावेशमयी पूजा के अमृतमय रसपान का उपभोग करते रहते हैं, वे लोग क्या देवता हैं?, मुक्तपुरुष हैं? अथवा किसी अनजाने लोक के वासी हैं?॥ ३४॥

*संकेत*— इस पद्य पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी—

भावार्थ—हे प्रभु! जो लोग निरंतर आपकी समावेशमयी अर्चना करने में लगे रहते हैं वे परम सौभाग्यशाली जन होते हैं। उनकी महिमा का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाये, कम है॥

**पूजोपकरणीभूतविश्वावेशेन गौरवम्।**
**अहो किमपि भक्तानां [1]किमप्येव च लाघवम्॥ ३५॥**

*अन्वयः*—अहो भक्तानां पूजाउपकरणीभूतविश्वआवेशेन किमपि गौरवम् (भवति) च (समस्त द्वैतविगलनात्) किमपि एव लाघवं (भवति)।

अहो—अहो!, भक्तानां—(समावेश-शाली) भक्तजनों को, पूजा—(प्रभु की) पूजा की, उपकरणी—सामग्री का रूप, भूत—बने हुए, विश्व—(इस) जगत् के, आवेशेन—(अपनी चिद्भूमि में) समा जाने से, किमपि—असामान्य, गौरवम्—गुरुता (अर्थात् भारीपन), (भवति—प्राप्त होती है), च—और, (समस्त-द्वैतविगलनात्—सारी भेद-प्रथा के नष्ट होने से), किमपि—असामान्य, एव—ही, लाघवं—लघुता (अर्थात् हलकापन), (भवति—प्राप्त होती है)॥

१. क० पु० किमप्येवं च – इति पाठः।

(हे बोधमय परमदेव!) आश्चर्य है कि आपके भक्तों को, अर्चना का उपकरण बनाए हुए विश्व का आवेश हो जाने से अर्थात् चित्-भूमिका में प्रवेश करने से कोई अवर्णनीय 'गौरव'-अर्थात् भारीपन, अथवा गरिमासिद्धि, और तत्काल ही (मायीय भेदभाव के हट जाने से 'लाघव'-अर्थात् १. हल्कापन अथवा २. लघिमा सिद्धि (स्वतः सिद्ध रूप में) विकसित हो जाते हैं॥ ३५॥

*संकेत*–

तात्पर्य यह कि उन सिद्धजनों को सारी गरिमा आदि योगसिद्धियों की विभूति अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

**पूजामयाक्ष[1]विक्षेपक्षोभादेवामृतोद्गमः।**
**भक्तानां क्षीरजलधि[2]क्षोभादिव दिवौकसाम्।। ३६।।**

*अन्वयः*–(नाथ) भक्तानां पूजामयअक्षविक्षेपक्षोभात् एव अमृतउद्गमः (भवति) इव दिवौकसां क्षीरजलधि(पूजामय-) (अक्ष-) (विक्षेप-) क्षोभात् एव अमृत- उद्गमः (अभवत्)।

(नाथ–हे नाथ!), भक्तानां–भक्त-जनों के लिए, पूजामय–(आप की) परा पूजा में लगी हुई, अक्ष–(आँख आदि) इन्द्रियों के, विक्षेप–इधर- उधर हिलाने (अर्थात् अपने-अपने विषय के ग्रहण करने में लगे रहने) के, क्षोभात्–क्षोभ (अर्थात् व्याकुलता से), एव–ही, अमृत–(परमानन्द रूपी) अमृत की, उद्गमः–उत्पत्ति, (भवति–होती है); इव–जिस प्रकार, दिवौकसां–देवताओं के लिए, क्षीरजलधि–क्षीर-समुद्र को मथने के समय, (पूजामय–पूजनीय नागराज वासुकि रूपी), (अक्ष–आंख के), (विक्षेप–इधर-उधर हिलाने के), क्षोभात् एव–क्षोभ से ही, अमृत–अमृत की, उद्गमः–उत्पत्ति, (अभवत्–हुई थी)*॥

(हे देवाधिदेव!) आपके भक्तों के लिए, आपकी परापूजा में व्यस्त रहने वाले उनके अपने इन्द्रियवर्ग के अपने अपने विषय का ग्रहण करते रहने के क्षोभ से ही अमृत रस का उद्गम हो जाता है, जिस प्रकार (पूर्वकाल

१. घ० पु० पूजामयापविक्षेप–इति पाठः।
२. ख. पु. शोभादेव–इति पाठः

में) देवताओं के लिए, क्षीरसागर का मंथन करने की वेला पर पूजनीय वासुकि नागराज की काया को दोनों ओर से खींची जाने के क्षोभ से ही अमृत का प्रादुर्भाव हुआ था॥ ३६॥

*संकेत*— प्रस्तुत पद्य पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणीः—

(क) शब्दार्थ—पूजामय=१. पूजा में लगी हुई, २. पूजनीय।

अक्ष=१. सभी इन्द्रियां, २. आंख।

(ख) भावार्थ—हे प्रभु! आपके भक्तों की इन्द्रियां प्रकट रूप में अपने अपने विषयों के ग्रहण करने में लगी रहती हैं, पर वस्तुतः ऐसा करती हुई भी वे हर समय आपकी पूजा में ही लगी रहती हैं और परमानन्द को उपलब्ध कराने में योग देती हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का जो व्यवहार सामान्य लोगों की दशा में बाधक होता है वही भक्तों की दशा में साधक सिद्ध होता है। यह तो आपकी भक्ति का ही चमत्कार है॥

**पूजां केचन मन्यन्ते धेनुं कामदुघामिव।**
**सुधाधाराधिकरसां धयन्त्यन्तर्मुखाः परे॥ ३७॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) केचन पूजां कामदुघां इव मन्यते (परन्तु) परे अन्तर्मुखाः (सन्तः) सुधाधाराअधिकरसां (तां पूजामेव कामधेनुं) धयन्ति।

(प्रभो—हे स्वामी!), केचन—कई (भक्त-जन), पूजां—(समावेश-मयी) पूजा को, काम—(सारे) मनोरथों को, दुघां—पूर्ण करने वाली काम-धेनु के, इव—समान, मन्यते—मानते हैं, (परन्तु—परन्तु), परे—अन्य भक्त, अन्तर्मुखाः—अन्तर्मुख, (सन्तः—होकर), सुधा—अमृत की, धारा—धारा से, अधिक—बढ़-चढ़ कर, रसां—रस से भरी हुई, (तां पूजामेव कामधेनुं—उस पूजा रूपिणी कामधेनु का), धयन्ति—दूध पीते हैं, (अर्थात् वह पूजा करते-करते ही परमानन्द का अनुभव करते हैं)॥

(हे निरपेक्ष शंकर!) 'कई'—अर्थात् सकाम भक्ति पर ही टिके रहने वाले कई भक्तजन, आपकी समावेशमयी भक्ति को, मनोरथों को पूरा करने वाली कामधेनु के समान मानते हैं, परन्तु 'दूसरे'-अर्थात् फल की लालसा से रहित दूसरे भक्तजन, अन्तर्मुख अवस्था में, (उसी भक्तिरूपिणी कामधेनु से) अमृतधारा की अधिकाधिक रसवत्ता को तत्काल दुह कर पीते रहते हैं॥ ३७॥

*संकेत*– प्रस्तुत पद्य पर श्रीसद्गुरु महाराज की टिप्पणी–

भावार्थ–सकाम भक्तों को पूजा का फल तो मिलता है और उनका मनोरथ पूरा होता है पर कुछ काल की प्रतीक्षा के बाद। किंतु निष्काम तथा अन्तर्मुख भक्त पूजा करते करते ही उसका परमानन्द रूपी फल प्राप्त करते हैं। उन्हें निमेषमात्र की प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती॥

**भक्तानामक्षविक्षेपोऽप्येष संसारसंमतः।**
**उपनीय किमप्यन्तः पुष्णात्यर्चामहोत्सवम्॥ ३८॥**

*अन्वयः*– (स्वामिन्) संसारसम्मतः एषः अक्षविक्षेपः अपि भक्तानाम् अन्तः किमपि अर्चामहाउत्सवम् उपनीय (तमुत्सवं) पुष्णाति।

(स्वामिन्–हे स्वामी!), संसार–संसार रूपता से, सम्मतः–समझा गया, एषः–यह, अक्ष–इन्द्रियों का, विक्षेपः–व्यवहार, अपि–भी, भक्तानाम्–(समावेश-शाली) भक्तजनों के लिए, अन्तः–भीतर (अर्थात् हृदय में), किमपि–अलौकिक, अर्चा–पूजा के, महा–बड़े, उत्सवम्–उत्सव को, उपनीय–प्राप्त कराकर, (तमुत्सवं–उस उत्सव अर्थात् परमानन्द की), पुष्णाति–पुष्टि करता है, (अर्थात् उसे बढ़ाता है–उस को स्थायी बनाता है)॥

(हे परबोधमय शिव!) संसारभाव समझा जाने वाला यह इन्द्रियों का व्यवहार भी (समावेशशाली) भक्तजनों के अंतस् में किसी अवर्णनीय आनन्दात्मकता की अनुभूति करवाकर उनके उस परा-पूजा रूपी महान् उत्सव को परिपुष्ट बना देता है॥ ३८॥

**भक्तिक्षोभवशादीश स्वात्मभूतेऽर्चनं त्वयि।**
**चित्रं दैन्याय नो यावद्दीनतायाः परं फलम्॥ ३९॥**

*अन्वयः*–ईश चित्रं भक्तिक्षोभवशात् त्वयि स्वात्मभूते अर्चनं दैन्याय नो (भवति) (न केवलमेवं) यावत् दीनतायाः परं फलं (ददाति)।

ईश–हे स्वतंत्र प्रभु!, चित्रं–आश्चर्य है कि, भक्ति–(समावेश रूपिणी) भक्ति के, क्षोभ–(प्रसरात्मक) क्षोभ की, वशात्–विवशता से, त्वयि–आप, स्वात्मभूते–स्वात्म-देवता की, अर्चनं–(विमर्श रूपिणी) पूजा, दैन्याय–दीनता के लिए, नो–नहीं, (भवति–होती, अर्थात् किसी प्रकार की दीनता उत्पन्न नहीं करती।), (न केवलमेवं–केवल इतना ही नहीं), यावत्–बल्कि (वह

पूजा), दीनतायाः—दीनता अर्थात् इच्छा का, परं—परिपूर्ण तथा अन्तिम, फलं—परमानन्द रूप फल, (ददाति—प्रदान करती है)॥

(हे परमेश्वर!) विचित्र बात तो यह है कि, 'भक्ति के क्षोभ'—अर्थात् समावेश के प्रसारमय क्षोभ की विवशता से भी की जाने वाली आप आत्ममहेश्वर देव की अर्चना, किसी प्रकार की दीनता को नहीं उपजाती है, प्रत्युत दीनता के पार्यन्तिक फल अर्थात् परम-आनन्द की अनुभूति का फल प्रदान करती है॥ ३९॥

**उपचारपदं पूजा केषांचित्त्वत्पदाप्तये।**
**भक्तानां [1]भवदैकात्म्यनिर्वृत्तिप्रसरस्तु सः॥ ४०॥**

*अन्वयः*— (जगदीश) केषांचित् पूजा त्वत्पदआप्तये उपचार पदं (भवति) तु भक्तानां सः भवत्ऐकात्म्यनिर्वृत्तिप्रसरः।

(जगदीश—हे जगत् के स्वामी!), **केषांचित्**—कुछ (अर्थात् भेदनिष्ठ भक्तों) के लिए, **पूजा**—(आप की) पूजा, **त्वत्**—आप के, **पद**—स्थान की, **आप्तये**—प्राप्ति के लिए, **उपचार-पदं**—(केवल) एक उपाय, (भवति—होती है), **तु**—पर, **भक्तानां**—(समावेश-शाली) भक्तजनों के लिए, **सः***—वह (पूजन), **भवत्**—आप के साथ, **ऐकात्म्य**—एकात्मता रूपी, **निर्वृत्ति**—आनन्द का, **प्रसरः**—विकास (ही होता है)॥

(हे वीरेश!) सांसारिक भेदभाव पर ही टिके रहने वाले कई भक्तजनों के संदर्भ में, आपकी पदवी प्राप्त करने के लिए आपकी पूजा करना, केवल एक औपचारिकता होती है, परन्तु सच्चे समावेशशाली भक्तों के लिए वही अर्चना आपकी एकात्मता के रूपवाली आत्मविश्रान्ति का प्रसार ही होती है॥ ४०॥

**अप्यसम्बद्धरूपार्चा भक्त्युन्मादनिरर्गलैः।**
**वितन्यमाना लभते प्रतिष्ठां त्वयि कामपि॥ ४१॥**

अन्वयः— (परमात्मन्) भक्तिउन्मादनिरर्गलैः (भक्तैः) वितन्यमाना (त्वद्) अर्चा असंबद्ध रूपा अपि (सती) त्वयि कामपि प्रतिष्ठां लभते।

---

१. ग० पु० भवदात्मैक्य—इति पाठः।

*नोट—'सः' शब्द का सम्बन्ध प्रसर के साथ है, पूजा के साथ नहीं; अतः यह पुंल्लिंग है।

(परमात्मन्–हे परमात्मा!), भक्ति–(समावेश रूपिणी) भक्ति की, उन्माद–मस्ती से, निरर्गलैः–निरंकुश बने हुए (अर्थात् नियमों का पालन न करने वाले), (भक्तैः–भक्त-जनों से), वितन्यमाना–की जाने वाली, (त्वद्–आप की), अर्चा–पूजा, असंबद्ध-रूपा–असंबद्ध रूप वाली (अर्थात् आवाहन, विसर्जन आदि नियमों से रहित), अपि (सती)–होते हुए भी, त्वयि–आप के स्वरूप में, कामपि–असामान्य, प्रतिष्ठां–स्थिति (अर्थात् परमानन्द) को, लभते–प्राप्त होती है॥

(हे उमापति!) भक्ति की (असामान्य) मस्ती के प्रभाव से सारी पूजा-संबन्धी (शास्त्रीय) इतिकर्तव्यताओं को भूलने वाले भक्तों के द्वारा की जाने वाली 'असंबद्ध'–अर्थात् शास्त्रीय दृष्टि में बेमेल समझी जाने वाली अर्चना भी आपके स्वरूप में किसी असाधारण प्रतिष्ठा का पात्र बन जाती है॥४१॥

**स्वादुभक्तिरसास्वादस्तब्धीभूतमनश्च्युताम्।**
**शम्भो त्वमेव ललितः पूजानां किल भाजनम्॥ ४२॥**

*अन्वयः*–शम्भो स्वादुभक्तिरसआस्वादस्तब्धीभूतमनः च्युतां (समस्तानां) पूजानां भाजनं किल त्वं ललितः (चिदात्मा) एव।

शम्भो–हे कल्याण-स्वरूप शङ्कर!, स्वादु–(स्वात्मानन्द-मय होने के कारण) मधुर, भक्तिरस–भक्ति-रस के, आस्वाद–चमत्कार से, स्तब्धी–एकाग्र, भूत–बने हुए, मनः-च्युतां–मन से की गई, (समस्तानां–सभी), पूजानां–पूजा (की क्रियाओं) के, भाजनं–पात्र (अर्थात् आश्रय) तो, किल–सचमुच, त्वं–आप, ललितः–मनोहर, (चिदात्मा–चिदात्मा), एव–ही हैं॥

(हे परमेश्वर!) स्वादिष्ट भक्तिरस का आस्वाद लेने से चंचलताओं से रहित बने हुए मन से संपन्न की जाने वाली अर्चनाओं के आप कल्याणकारी शंकर महाराज ही एकले आश्रय हैं॥ ४२॥

**परिपूर्णानि शुद्धानि भक्तिमन्ति स्थिराणि च।**
**भवत्पूजाविधौ नाथ साधनानि भवन्तु मे॥ ४३॥**

*अन्वयः*–नाथ भवत्पूजाविधौ मे साधनानि परिपूर्णानि शुद्धानि भक्तिमन्ति च स्थिराणि भवन्तु।

नाथ–हे स्वामी!, भवत्–आप की, पूजा–(परा) पूजा, विधौ–करने के

समय, मे—मेरी, साधनानि—(आंख आदि) इन्द्रियां, परिपूर्णानि—(सृष्टि आदि देवी-चक्र का उल्लास करने से) परिपूर्ण, शुद्धानि—(चिन्मरीचि-मय होने से) शुद्ध, भक्तिमन्ति—(समावेश-मयी) भक्ति से युक्त, च—तथा, स्थिराणि—(पाशव-वासना-शून्य होने से) दृढ़ (अर्थात् एकाग्र), भवन्तु—बन जायें॥

(हे मेरे नाथ!) आप चिन्मय भगवान् की अर्चना विधि में मेरे काम आने वाले सारे पूजा के उपकरण वास्तविक चित्-भाव की किरणें बन जाने के रूप में परिपूर्ण, शुद्ध, भक्तिभाव से गर्भित एवं 'स्थिर'—अर्थात् पशुवासनाओं का बहिष्कार करने से अनन्तकाल पर्यवसायी बन जाएं॥ ४३॥

**अशेषपूजासत्कोशे त्वत्पूजाकर्मणि प्रभो।**
**अहो करणवृन्दस्य कापि लक्ष्मीर्विजृम्भते॥ ४४॥**

*अन्वयः*—प्रभो अहो त्वत्पूजाकर्मणि अशेष पूजा सत् कोशे करण वृन्दस्य कापि लक्ष्मीः विजृम्भते।

प्रभो—हे प्रभु!, अहो—अहो!, त्वत्—आप की, पूजा—(समावेश-मयी) पूजा का, कर्मणि—अनुष्ठान, अशेष—समस्त, पूजा—पूजा (की क्रियाओं) का, सत्—अत्यन्त उत्कृष्ट, कोशे—कोश अर्थात् खज़ाना (है);, करण—(इसमें चित्प्रकाश की) किरणों की, वृन्दस्य—माला की, कापि—अलौकिक, लक्ष्मीः—छटा, विजृम्भते—चमक उठती है॥

हे प्रभु! आपकी समावेशमयी अर्चना का विधान दूसरे सारे पूजामय अनुष्ठानों का एक अति उत्कृष्ट निधि है, और हर्ष का विषय यह है कि इसमें 'करण देवियों'—अर्थात् चित्-किरणमाला के रूपवाली दिव्य शक्तियों के वर्ग की कोई अनुपम रमणीयता चमकने लगती है॥ ४४॥

**[१]एषा पेशलिमा नाथ तवैव किल दृश्यते।**
**विश्वेश्वरोऽपि [२]भृत्यैर्यदर्च्यसे यश्च लभ्यसे॥ ४५॥**

*अन्वय*—नाथ एषा पेशलिमा तव एव किल दृश्यते यत् (त्वं) विश्व-ईश्वरः अपि (सन्) भृत्यैः अर्च्यसे च लभ्यसे।

१. ग० पु० एष—इति पाठः।
२. ग. पु० मर्त्यैः—इति पाठः।

नाथ–हे स्वामी!, एषा–यह, पेशलिमा–(स्वभाव की) कोमलता (तो), तव–आप में, एव–ही, किल–सचमुच, दृश्यते–देखी जाती है, यत्–कि, (त्वं–आप), विश्व–समस्त संसार के, ईश्वरः–स्वामी, अपि (सन्)–होते हुए भी, भृत्यैः–(मुझ जैसे सामान्य) सेवकों से, अर्च्यसे–पूजे जाते हैं, च–और, लभ्यसे–प्राप्त किये जाते हैं॥

हे नाथ! निश्चय से केवल आप ही में इतनी स्नेहमयी कोमलता दृष्टिगोचर होती है कि आप विश्वभर के (एकल) अधिपति होते हुए भी (मुझ जैसे सामान्य स्तर के) कर्मचारियों के द्वारा पूजे जाते हैं, और बेरोकटोक, अपनाए भी जाते हैं॥ ४५॥

**सदा मूर्त्तादमूर्त्ताद्वा भावाद्यद्वाप्यभावतः।**
**उत्थेयान्मे प्रशस्तस्य भवत्पूजामहोत्सवः॥ ४६॥**

*अन्वयः*–(प्रभो) भवत्पूजामहाउत्सवः प्रशस्तस्य मे मूर्त्तात् वा अमूर्त्तात् भावात् यद्वा अभावतः अपि सदा उत्थेयात्।

(प्रभो–हे प्रभु!), भवत्–आप की, पूजा–(समावेश रूपिणी) पूजा का, महा–बड़ा, उत्सवः–उत्सव, प्रशस्तस्य–(आप की भक्ति से), मे–मुझ को, मूर्त्तात्–(सभी) साकार, वा–तथा, अमूर्त्तात्–निराकार, भावात्–(और) सत्ता-युक्त, यद्वा–तथा, अभावतः–सत्ता-हीन (वस्तुओं) से, अपि–भी, सदा–सदा, *उत्थेयात्–उठता रहे (अर्थात् उपलब्ध होता रहे)॥

(हे कृपानिधान!) (भक्तों में कुछ कुछ) नामवाला बने हुए मुझ को सारे (घट इत्यादि) साकार और (सुख-दुःख) इत्यादि आकारहीन पदार्थों अथवा भावरूप या अभावरूप पदार्थों से हमेशा केवल आपकी अर्चना के महान् उत्सव की मनावन का ही साक्षात्कार होता रहे॥ ४६॥

**कामक्रोधाभिमानैस्त्वामुपहारीकृतैः सदा।**
**येऽर्चयन्ति नमस्तेभ्यस्तेषां तुष्टोऽसि तत्त्वतः॥ ४७॥**

*अन्वयः*–(दयासिन्धो) उपहारीकृतैः कामक्रोधअभिमानैः ये त्वां सदा अर्चयन्ति तेभ्यः नमः (यतः) तत्त्वतः (त्वं) तेषाम् (एव) तुष्टः असि।

---

*भावार्थ–संसार की प्रत्येक वस्तु मुझे आपकी पूजा का आनन्द दिलाने में ही योग देती रहे।

(दयासिन्धो—हे दयासागर!), उपहारीकृतैः—उपहार के रूप में अर्पित किए गए, काम—काम, क्रोध—क्रोध, अभिमानैः—और अभिमान (रूपी उपचारों) से, ये—जो (भक्त-जन), त्वां—आप को, सदा—सदैव, अर्चयन्ति—पूजते हैं, तेभ्यः—उनको, नमः—(मेरा) प्रणाम हो, (यतः—क्योंकि), तत्त्वतः—तत्त्व-दृष्टि से तो, (त्वं—आप), तेषाम् (एव)—उन्हीं पर, तुष्टः—प्रसन्न, असि—होते हैं॥

(हे भगवान् आशुतोष!) जो भक्तजन काम, क्रोध और अभिमान जैसी विपरीत चित्तवृत्तियों को ही आप को उपहार के रूप में अर्पण करके आपकी अर्चना को संपन्न करते हैं, उनको हमारा नमन हो, तत्त्वतः आप उन्हीं भक्तों पर तुष्ट रहते हैं॥ ४७॥

**जयत्येष भवद्भक्तिभाजां पूजाविधिः परः।**
**यस्तृणैः क्रियमाणोऽपि रत्नैरेवोपकल्पते॥ ४८॥**

*अन्वयः*— (सन्तापहारिन्) भवत्भक्तिएषः परः पूजाविधिः जयति यः तृणैः क्रियमाणः अपि रत्नैः एव उपकल्पते।

(सन्तापहारिन्—हे दुःखहारी प्रभु!), भवत्—आप के, भक्ति—(समावेश-शाली) भक्तजनों की, एषः—इस, परः—अत्यन्त उत्कृष्ट, पूजा—पूजा की, विधिः—रीति की, जयति—जय हो, यः—जो, तृणैः—(पत्र, पुष्प आदि) तृणों से, क्रियमाणः—की जाने पर, अपि—भी, रत्नैः—(बहुमूल्य मुक्ति-स्वरूप) रत्नों से, एव—ही, उपकल्पते—पूर्ण हो जाती है (अर्थात् पूर्ण रूप से सफल हो जाती है)॥

(हे दुःखहर्ता परमेश्वर!) आपके भक्तवरों की इस अतिप्रशंसनीय परा-पूजा की विधि की जय-जयकार हो जो कि साधारण पुष्प, दूर्वादल इत्यादि से ही संपन्न हो जाती हुई भी 'रत्नों की संपदा'—अर्थात् परिपूर्ण स्वरूप-विश्रान्ति में ही पूरी हो जाती है॥ ४८॥

विश्व का कल्याण हो

अधिकार्यहं नास्मिन्भावत्के परशासने।
तथापि धृष्टतां स्वामिन्मदीयां क्षम्यतां प्रभो॥

सत्रहवां स्तोत्र समाप्त

ॐ नमः शिवाय

यदि कल्याणकारित्वं स्वभावोऽस्ति तव प्रभो।
भृत्यानामर्तिहरणे ताटस्थ्यं कीदृशं पुनः।।

# भक्तिविलास नामक अठारहवां स्तोत्र।

प्रस्तुत स्तोत्र का दूसरा नाम 'आविष्कार' भी है। यह शब्द किसी पदार्थ के प्रकटीभाव की अवस्था का द्योतक है। प्रस्तुत स्तोत्र में शायद स्तोत्रकार के अंतर्हृदय में दिव्य विभूतियों के प्रकटीभाव की ओर संकेत होने के कारण इसका नाम आविष्कार रखा गया है।

**जगतोऽन्तरतो भवन्तमाप्त्वा**
**पुनरेतद्भवतोऽन्तराल्लभन्ते।**
**जगदीश [1]तवैव भक्तिभाजो**
**न हि तेषामिह दूरतोऽस्ति किञ्चित्।। १।।**

*अन्वयः*—जगदीश तव भक्ति भाजः एव जगतः अन्तरतः भवन्तम् आप्त्वा पुनः एतत् भवतः अन्तरात् लभन्ते हि तेषाम् इह किंचित् दूरतः न अस्ति।

**जगदीश**—हे जगत् के प्रभु!, **तव**—आप (चिद्रूप) के, **भक्तिभाजः**—भक्त-जन, **एव**—ही, **जगतः**—(इस भेद-प्रथारूप) जगत् के, **अन्तरतः**—बीच में से, **भवन्तम्**—आप को, **आप्त्वा**—प्राप्त कर के, **पुनः**—फिर, **एतत्**—इस (जगत्) को, **भवतः**—आप (चिद्रूप) के, **अन्तरात्**—बीच में से, **लभन्ते**—प्राप्त करते हैं (अर्थात् देखते हैं), **हि**—क्योंकि, **तेषाम्**—उन (भक्तों) के लिए, **इह**—इस जगत् में, **किंचित्**—कुछ भी, **दूरतः**—दूर, **न अस्ति**—नहीं है।।

हे जगत् के ईश्वर! केवल 'आप'—अर्थात् चित्-प्रकाशमय परमात्मदेव, के भक्तजन ही इस भेदग्रस्त जगत् में से आप जगत् का साक्षात्कार कर लेते हैं, क्योंकि उनके लिए इस विश्व में कुछ भी दूर नहीं होता है।। १।।

*तात्पर्य*—

परमात्मा के भक्तजनों को अपने विश्वात्मक स्वरूप की पूर्ण-प्रत्यभिज्ञा हुई

१. क० पु० तथैव—इति पाठः।

होती है। उनको सारा विश्व अपना अंग जैसा ही भासमान होता है। अतः उनकी दृष्टि में न कुछ दूर और न कुछ समीप ही होता है।

**क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी**
**सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना।**
**परमार्थपदे तु नैव देव्या**
**भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः।। २।।**

*अन्वयः*—(ईश) क्वचित् भवान् एव (प्रधानः भवति) क्वचित् सकलअर्थक्रम-गर्भिणी भवानी प्रधाना (भवति) तु परमार्थ पदे नैव देव्याः नापि जगत्त्रयस्य भवतः भेदः।

(ईश—हे परमेश्वर!), क्वचित्—कभी (अर्थात् किसी विश्वोत्तीर्ण दशा में), भवान्—आप शिव, एव—ही, (प्रधानः भवति—प्रधान होते हैं), क्वचित्—और कभी (अर्थात् किसी विश्व-मय दशा में), सकल—सभी, अर्थ—(घट, पट आदि) पदार्थों के, क्रम—क्रम से, गर्भिणी—भरी हुई, भवानी—शक्ति भगवती (ही), प्रधाना—प्रधान, (भवति—होती है—अर्थात् आप की प्रधानता कभी 'शिव' के रूप में देखी जाती है और कभी 'परा-शक्ति' के रूप में),) तु—परन्तु, परमार्थ-पदे—परमार्थ की दृष्टि से (अर्थात् वास्तव में), नैव—न तो, देव्याः—शक्ति, नापि—और न ही, जगत्त्रयस्य—(इस) त्रिलोकी, भवतः—तथा आप (के स्वरूप) में, भेदः—कोई भेद है॥

(हे भगवान् शंकर!) 'कहीं'—अर्थात् विश्वोत्तीर्ण मुक्ति-दशा में 'आप'—अर्थात् प्रकाशमय शिव की प्रधानता, और 'कहीं'—अर्थात् विश्वमय भुक्तिदशा में सारे कला-तत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व तक प्रमेय-प्रपञ्च की क्रमरूपता को स्वरूप में निहित रखने वाली (विमर्शमयी) शक्तिदेवी की प्रधानता होती है, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर भगवती शक्ति, तीनों भुवन और आप महादेव में कोई भी भिन्नता नहीं है॥ २॥

**नो जानते सुभगमप्यवलेपवन्तो**
**लोकाः प्रयत्नसुभगा निखिला हि भावाः।**
**चेतः पुनर्यदिदमुद्यतमप्यवैति**
**नैवात्मरूपमिह हा तदहो हतोऽस्मि।। ३।।**

*अन्वयः*– इह लोकाः अवलेपवन्तः (सन्तः) (भावानां) सुभगम् अपि रूपं नो जानते हि निखिलाः भावाः प्रयत्न सुभगाः (भवन्ति) (एतत् आस्ताम्) अहो यत् पुनः उद्यतम् अपि इदं चेतः आत्मरूपं नैव अवैति तद् हा हतः अस्मि।

**इह**–इस संसार में, **लोकाः**–(सामान्य) लोग, **अवलेपवन्तः**–(विषयों में आसक्त होने के कारण) घमंडी, (**सन्तः**–होकर), (**भावानां**–सभी वस्तुओं के), **सुभगम्-अपि**–सौभाग्य-पूर्ण (अर्थात् पारमार्थिक चिदानन्दमय), **रूपं**–स्वरूप को, **नो**–नहीं, **जानते**–जानते हैं, **हि**–क्योंकि, **निखिलाः**–(ये) सभी, **भावाः**–वस्तुएं, **प्रयत्न**–प्रयत्न से (अर्थात् ध्यान से विचार करने पर), **सुभगाः**– अत्यन्त उत्कृष्ट (चिदानन्दपूर्ण ही), (**भवन्ति**–मालूम होती हैं।), (**एतत् आस्ताम्**–यह बात तो रहे, अर्थात् ऐसा प्रायः होता ही है।), **अहो**–अहो!, **यत् पुनः**–अब यदि, **उद्यतम् अपि**–उद्यत बना हुआ भी (अर्थात् जानने के लिए उतावला), **इदं**–यह, **चेतः**–(मेरा) हृदय, **आत्मरूपं**–अपने स्वरूप को, **नैव**–नहीं, **अवैति**–जान पाता, **तद्**–तो, **हा**–हाय!, **हतः अस्मि**–(मैं) मारा गया (अर्थात् फिर मुझे निराशा का मुख ही देखना पड़ेगा)॥

**(हे परदेव!) सर्वसाधारण लोग झूठी ठसक में इठलाते हुए सारे (जड़चेतन) भावों के मौलिक चिदानन्दमय रूप को ताड़ नहीं सकते हैं, बारीकी से विचार करने पर ये सारे भाव, निश्चित रूप से, अतिसुन्दर (चित्-प्रकाशमय) ही हैं, ऐसे में अगर यह मेरा चित्त, इच्छुक होते हुए भी, अपने मौलिक (चिन्मय) रूप को जान नहीं पाता है, तो खेद है कि मेरा सर्वनाश हो रहा है॥ ३॥**

**भवन्मयस्वात्मनिवासलब्ध-**
**सम्पद्भराभ्यर्चितयुष्मदङ्घ्रिः।**
**न भोजनाच्छादनमप्यजस्र-**
**मपेक्षते यस्तमहं [1]नतोऽस्मि॥ ४॥**

*अन्वयः*–(महेश्वर) भवत्मयस्वात्मनिवासलब्धसंपद् भरअभ्यर्चित युष्मद्अंघ्रिः यः अजस्रं भोजनआच्छादनम् अपि न अपेक्षते तम् अहं नतोऽस्मि।

---

१. क० पु० नमामि–इति पाठः।

(महेश्वर—हे परमेश्वर!), भवत्—आप (के चिदानन्द-स्वरूप) से, मय—परिपूर्ण, स्वात्म—अपनी आत्मा में, निवास—निवास करने से, लब्ध— प्राप्त किए गए, संपद्-भर—(परमानन्द रूपी) ऐश्वर्य की अधिकता से, अभ्यर्चित-युष्मद्-अंघ्रिः—आप के चरणों की पूजा करने वाला, यः—जो भक्त, अजस्रं—लगातार, भोजन—भोजन, आच्छादनम्—तथा वस्त्र (आदि) की, अपि—भी, न अपेक्षते—इच्छा नहीं रखता, तम्—उस को, तम्—उस को, अहं—मैं, नतोऽस्मि—प्रणाम करता हूँ॥

(हे परमेश्वर!) उस भक्तशिरोमणि को मेरा नमन हो जो आपकी ही प्रकाशमानता से परिपूर्ण आत्मभाव में टिके रहने से पाई हुई भक्ति की संपदा से आपके चरणों की अर्चना करने में प्रतिसमय तल्लीन बनकर भोजन एवं आच्छादन (वस्त्र आदि) तक को भूल जाता है॥ ४॥

**सदा भवद्देहनिवासस्वस्थो-**
**ऽप्यन्तः परं दह्यत एष लोकः।**
**तवेच्छया तत्कुरु मे यथात्र**
**त्वदर्चनानन्दमयो भवेयम्॥ ५॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) एषः लोकः सदा भवत्देहनिवासस्वस्थः अपि तव इच्छया अन्तः परं दह्यते (तस्मात्) (तवेच्छया) अत्र (त्वं मे) (भक्तस्य) तत् कुरु यथा (अहं) त्वद्अर्चना आनन्द मयः भवेयम्।

(प्रभो—हे स्वामी!), एषः—ये, लोकः—(संसारी) लोग, सदा—सदा, भवत्—आप के, देह—(पारमार्थिक) स्वरूप में, निवास—निवास करने से, स्वस्थः—वास्तव में स्वस्थ (अर्थात् सुखी) होते हुए, अपि—भी, तव—आप की, इच्छया—(अप्रतिहता स्वरूपगोपनात्मक) इच्छा-शक्ति से, अन्तः—हृदय में, परं—बहुत अधिक, दह्यते—जलते रहते हैं, (अर्थात् दुःखों और आपत्तियों से सदा व्याकुल बने रहते हैं।), (तस्मात्—इसलिए), (तवेच्छया—अपनी—अप्रतिहता स्वरूप-प्रथनात्मक—इच्छा से), अत्र—इस विषय में, (त्वं मे—आप मुझ), (भक्तस्य—भक्त के लिए), तत्—ऐसा, कुरु—कीजिए, यथा—कि, (अहं—मैं), त्वद्—आप की, अर्चना—पूजा के, आनन्द-मयः—आनन्द से भरपूर, भवेयम्—बना रहूँ॥

(हे भगवान् शिव!) ये संसार के लोग यद्यपि आपके (शान्तिप्रद) स्वरूप में रहते हुए वास्तव में स्वस्थ ही हैं, परन्तु तो भी आपकी ही इच्छा से, अंदर अंदर ही बुरी तरह घुटते रहते हैं, अतः आप अपनी स्वरूप प्रथनात्मक इच्छा से मेरे लिए वैसा कुछ करें जिससे मैं आपकी अर्चना करने के आनन्द में सदा तल्लीन बना रहूँ॥ ५॥

*संकेत*—

"तवेच्छया" को श्लोक के दोनों अर्ध पादों के साथ लगाकर प्रथम अर्ध पाद में इसका तात्पर्य प्रभु की स्वरूपगोपनात्मक इच्छा और दूसरे अर्धपाद में इसका तात्पर्य स्वरूपप्रथनात्मक प्रभु की इच्छा।

**स्वरसोदितयुष्मदङ्घ्रिपद्म-**
**द्वयपूजामृतपानसक्तचित्तः[1]।**
**सकलार्थचयेष्वहं भवेयम्**
**सुखसंस्पर्शनमात्रलोकयात्रः॥ ६॥**

*अन्वयः*—(देवेश) स्वरसउदितयुष्मद्अंघ्रि पद्मद्वयपूजाअमृतपानसक्तचित्तः अहं सकलअर्थ चयेषु सुख संस्पर्शन मात्र लोक यात्रः भवेयम्।

(देवेश)—हे देवाधिदेव!, स्वरस—स्वाभाविक रूप से, उदित—होने वाली, युष्मद्—आपके, अंघ्रि-पद्म—चरण-कमलों के, द्वय—जोड़े की, पूजा—पूजा (अर्थात् स्वरूप-समावेश-संपत्ति) रूपी, अमृत—अमृत के, पान—पीने में, सक्त—लगे हुए, चित्तः—हृदय वाला, अहं—मैं, सकल—सभी, अर्थ-चयेषु—(हेय तथा उपादेय आदि) व्यवहारों के संबन्ध में, सुख- संस्पर्शन-मात्र-लोक-यात्रः भवेयम्—ऐसा बना रहूं कि लौकिक व्यवहार से (मुझे) केवल (चिदानन्द रूपी) सुख की ही प्राप्ति हो॥

(हे परभैरव!) स्वरसता से ही उच्छलित होने वाली आपके चरणकमलों की जोड़ी की 'अर्चना'—अर्थात् परिपूर्ण स्वरूप-समावेश की अवस्था, के अमृतरस का पान करने पर तत्पर बना हुआ मैं, सारे सांसारिक व्यवहारों में स्वरूप-आनन्द के चमत्कार से ही भरी हुई लोकयात्रा को चलाता रहूँ॥ ६॥

---

१. ख० पु० मुक्तचित्तः—इति पाठः।

**सकलव्यवहारगोचरे**
**स्फुटमन्तः स्फुरति त्वयि प्रभो।**
**उपयान्त्यपयान्ति चानिशम्**
**मम वस्तूनि विभान्तु सर्वदा॥ ७॥**

*अन्वयः*—प्रभो सकलव्यवहारगोचरे अन्तः त्वयि स्फुटं स्फुरति (सर्वाणि) वस्तूनि उपयान्ति च अपयान्ति सर्वदा अनिशं मम विभान्तु।

**प्रभो**—हे स्वामी!, **सकल**—सभी, **व्यवहार**—व्यावहारिक, **गोचरे**—विषयों, **अन्तः**—में, **त्वयि**—आप के, **स्फुटं**—स्पष्ट रूप में, **स्फुरति**—चमक उठने पर, (**सर्वाणि**—सारी), **वस्तूनि**—वस्तुएं, **उपयान्ति**—उत्पन्न होती हुई, **च**—और, **अपयान्ति**—नष्ट होती हुई, **सर्वदा**—सदा, **अनिशं**—निरन्तर, **मम**—मुझे, **विभान्तु**—दिखाई दें, (अर्थात् आप के समावेश को प्राप्त करके मैं सदा सभी सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति और नाश के क्रम को देखता रहूं)॥

हे प्रभु! सारे सांसारिक व्यवहारों की उथल-पुथल में ही मेरे अन्तस् में आप (चित्-देव) के स्पष्ट रूप में स्पन्दायमान रहते हुए मुझे, सदा सारे पदार्थ उत्पन्न एवं नष्ट होते हुए दिखते रहें। (कहने का तात्पर्य यह है कि समावेश की अवस्था में मैं विश्वभर में लगातार चलते रहने वाले सृष्टि-संहारों को देखता रहूँ)॥ ७॥

**सततमेव तवैव पुरेऽथवा-**
**प्यरहितो विचरेयमहं त्वया।**
**क्षणलवोऽप्यथमा[१] स्म भवेत् स मे**
**न विजये ननु यत्र भवन्मयः॥ ८॥**

*अन्वयः*—(शम्भो) अहं सततम् एव तव पुरे एव विचरेयम् अथवा त्वया अरहितः अपि (विचरेयम्) अथ यत्र (अहं) भवत् मयः न विजये सः क्षणलवः अपि ननु मे मा भवेत् स्म।

(**शम्भो**—हे शम्भु!), **अहं**—मैं, **सततम् एव**—सदैव, **तव**—आप की, **पुरे**—पुरी में, **एव**—ही (अर्थात् आप के शाक्तमार्ग पर ही), **विचरेयम्**—विराजमान

१. ख० पु० मा स भवेत् स्म मे—इति पाठः।

रहूँ, (अर्थात् शाक्तसमावेश-शाली ही बना रहूँ), अथवा—या, त्वया—आप से, अरहितः—अभिन्न होकर, अपि—ही, (विचरेयम्—विराजमान रहूं अर्थात् शाम्भवसमावेश-शाली ही बना रहूँ)। अथ यत्र—पर जहां (अर्थात् जब), (अहं—मैं), भवत् मयः—आप से अभिन्न (हो कर), न विजये—गौरववान न बन जाऊं, सः—ऐसा, क्षणलवः—क्षण-मात्र, अपि—भी, ननु—निश्चित रूप से, मे—मुझे, मा भवेत् स्म—(कभी) प्राप्त न हो॥

(हे परमेश्वर!) मैं (हमेशा 'आपकी नगरी'—अर्थात् शाक्तमार्ग पर ही रमता रहूँ—(अर्थात् शाक्तसमावेश का पात्र बनूँ), अथवा आपके संग में ही रहकर विचरण करता रहूँ (अर्थात् शाम्भव समावेश का अधिकारी बनूँ) परन्तु मेरे लिए वैसा आधा पल भी कभी न आने पाए, जिसमें मैं आपसे अभिन्न रहकर गौरवशाली न बना रहूँ॥ ८॥

**भवदङ्गपरिस्रवत्सुशीता-**
**मृतपूरैर्भरिते समन्ततोऽपि।**
**भवदर्चनसम्पदेह भक्ता-**
**स्तव संसारसरोऽन्तरे चरन्ति॥ ९॥**

*अन्वयः*—(भगवन्) भवत्अर्चनसंपदा तव भक्ताः भवत्अङ्गपरिस्रवत् सुशीत-अमृतपूरैः समन्ततः अपि भरिते इह संसारसरोऽन्तरे चरन्ति।

(भगवन्—हे भगवान्), भवत्—आप की, अर्चन—पूजा रूपिणी, संपदा—संपत्ति से (सुशोभित), तव—आप के, भक्ताः—भक्त-जन, भवत्—आप के, अङ्ग—(परा शक्ति रूपी) अंग से, परिस्रवत्—बहती हुई, सुशीत—अत्यन्त शीतल (अर्थात् संताप-हारी-दुःख रूपी अग्नि की गरमी को दूर करने वाली), अमृत—(आनन्द-रूपी) अमृत की, पूरैः—धाराओं से, समन्ततः अपि—सब ओर से, भरिते—परिपूर्ण बने हुए, इह—इस, संसार—संसार रूपी, सरोऽन्तरे—सरोवर के बीच में, चरन्ति—विहार करते हैं (अर्थात् विराजमान होते हैं)॥

(हे दया के सागर!) उच्चकोटि के भक्तजन आपके पराशक्तिमय अंग से, चारों ओर से, छलकते हुए शान्तिदायक अमृत के प्रवाहों से परिपूर्ण इस संसाररूपी सरोवर में, आपकी ही अर्चना की विभूति से संतुष्ट बनकर

विचरण करते रहते हैं॥ ९॥

**महामन्त्रतरुच्छायाशीतले त्वन्महावने।**
**निजात्मनि सदा नाथ वसेयं तव पूजकः॥ १०॥**

(*अन्वयः*—नाथ (अहं) महामंत्रतरुछायाशीतले निजात्मनि त्वद्महावने सदा तव पूजकः (सन्) वसेयम्।)

नाथ—हे प्रभु!, (अहं—मैं), महामंत्र—अहं परामर्श रूपी, तरु—(उत्तम) वृक्ष की, छाया—छाया से, शीतले—शीतल (अर्थात् भेद-प्रथात्मक सन्ताप को दूर करने वाले), निजात्मनि—स्वात्म रूपी, त्वद्—आप (चित्स्वरूप) के, महा—विशाल, वने—वन में (अर्थात् विश्रांति स्थान में), सदा—सदा, तव—आप की, पूजकः—पूजा में, (सन्—लगा हुआ), वसेयम्—रहा करूं।

हे स्वामी! (मेरी यह लालसा है कि) मैं 'महान् मंत्रराज'—अर्थात् विशुद्ध ईश्वरीय अहं विमर्श के रूपवाले वृक्षराज की छाया में अति शान्तिदायक और अपने ही आत्मरूप आप चित्-देव के रूपवाले अनन्त वन में हमेशा आपका पुजारी बनकर निवास करता रहूँ॥ १०॥

**प्रतिवस्तु समस्तजीवतः**
**प्रतिभासि प्रतिभामयो यथा।**
**मम नाथ तथा पुरः प्रथां**
**व्रज नेत्रत्रयशूलशोभितः॥ ११॥**

(*अन्वयः*—नाथ यथा समस्तजीवतः प्रतिवस्तु (त्वं) प्रतिभामयः प्रतिभासि तथा मम (दासस्य) पुरः (त्वं) नेत्रत्रयशूलशोभितः (सन्) प्रथां व्रज।)

नाथ—हे स्वामी!, यथा—जिस प्रकार, समस्त—सभी, जीवतः—प्राणियों को, प्रतिवस्तु—प्रत्येक वस्तु में, (त्वं—आप), प्रतिभामयः—चित्-स्वरूप के रूप में, प्रतिभासि—दिखाई देते हैं, (अर्थात् न पहचाने जाते हुए भी वास्तव में विराजमान होते हैं), तथा—उसी प्रकार, मम—मुझ, (दासस्य—दास के), पुरः—सामने, (त्वं—सामने), नेत्रत्रय—तीनों नेत्रों, शूल—तथा त्रिशूल से, शोभितः (सन्)—सुशोभित होकर (अर्थात् असाधारण अभिज्ञान से पूर्णरूप में पहचाने जाते हुए), प्रथां व्रज—प्रकट हो जायें।

हे स्वामी! जिस प्रकार आप सारे जीवधारियों के लिए हरेक पदार्थ

में सवित्-रूप में प्रकाशमान रहते हैं, उसी प्रकार तीन नयन और त्रिशूल इन दो प्रत्यभिज्ञानों से शोभायमान बनकर मुझ दासजन के सामने प्रकट हो जाएँ। ११॥

*संकेत*— (क) प्रत्यभिज्ञान किसी ऐसे चिह्न को कहते हैं जिससे किसी पदार्थ की यथार्थ प्रत्यभिज्ञा (पहचान) उत्पन्न हो जाए।

(ख) संवित्रूप में प्रकाशमान रहने का तात्पर्य यह है कि जीवधारी आपको देखते भी रहते हैं परन्तु कोई स्पष्ट प्रत्यभिज्ञान न होने के कारण आपको पहचान नहीं पाते हैं।

(ग) स्तोत्रकार इस अपरिचय की परिस्थिति से बचने के लिए अपने प्रिय आराध्यदेव को त्रिनेत्र एवं त्रिशूल जैसे निश्चित प्रत्यभिज्ञानों को साथ लेकर प्रकट होने का अनुरोध करते हैं।

**अभिमानचरूपहारतो**
**[1]ममताभक्तिभरेण कल्पितात्।**
**परितोषगतः कदा भवान्**
**मम सर्वत्र भवेद् दृशः पदम्॥ १२॥**

(*अन्वयः*— (परमेश्वर) ममताभक्ति भरेण कल्पितात् अभिमानचरुउपहारतः परितोष गतः भवान् कदा सर्वत्र मम दृशः पदं भवेत्।)

(**परमेश्वर**—हे परमात्मा!), **ममता**—('भगवान् शंकर ही मेरे स्वामी हैं', ऐसी) ममता से, **भक्ति-भरेण**—भरे हुए भक्ति-रस से, **कल्पितात्**—किए गए, **अभिमान**—(देह आदि के) अहंकार रूपी, **चरु**—हव्यान्न के, **उपहारतः**—उपहार से (अर्थात् मेरे पराहंभाव-ग्रहण से), **परितोष**—प्रसन्न, **गतः**—बने हुए, **भवान्**—आप, **कदा**—भला कब, **सर्वत्र**—सभी अवस्थाओं में, **मम**—मेरी, **दृशः**—दृष्टि का, **पदं**—विषय (अर्थात् विश्रांतिस्थान), **भवेत्**—बनेंगे! (अर्थात् देह आदि के अभिमान के नष्ट होने पर मैं कब आप की विश्वात्मता का साक्षात्कार करूंगा!)।

(हे वृषभध्वज!) कब वह समय आएगा जब—'भगवान् शंकर ही मेरे स्वामी हैं'—इस प्रकार के ममताभरे भक्तिभाव से निजी अभिमान

१. घ० पु० समताभक्ति—इति पाठः।

(देहाभिमान इत्यादि)-को-चरु के रूप में आपको ही अर्पण करने के फलस्वरूप आप मुझ पर संतुष्ट होकर प्रतिसमय और प्रत्येक अवस्था में मेरी दृष्टि में रहेंगे॥ १२॥

*संकेत*—भगवान् को अभिमान का चरु (हव्यान्न) अर्पण करने से स्तोत्रकार का तात्पर्य यह है कि मैं अपने थोथे सांसारिक अहंकार को भूलकर परअहंभाव को अपनाने का प्रयत्न करता रहूँगा ताकि परमेश्वर मुझ पर सदा प्रसन्न बने रहें॥

**निवसन्परमामृताब्धिमध्ये**
**भवदर्चाविधिमात्रमग्नचित्तः।**
**सकलं जनवृत्तमाचरेयं**
**रसयन्सर्वत एव किञ्चनापि॥ १३॥**

*अन्वयः*—(भगवन्) (अहं) भवत्-अर्चा विधिमात्र मग्न चित्तः (सन्) परमामृत-अब्धिमध्ये निवसन् (अतः) सर्वतः एव किंचन अपि रसयन् सकलं जन वृत्तम् आचरेयम्।

(भगवन्—हे भगवान्!), (अहं—मैं), भवत्-अर्चा-विधिमात्र-मग्न- चित्तः—केवल आपकी पूजा करने में लगे हुए चित्त वाला, (सन्—होकर), परमामृत—चिदानन्द रूपी, अब्धि—समुद्र के, मध्ये—बीच में, निवसन्—रहते हुए, (अतः—और इसीलिए), सर्वतः एव—सभी (वस्तुओं) के बीच में से, किंचन अपि—(अभीष्ट) अलौकिक (आनन्द-स्वरूप), रसयन्—के चमत्कार का अनुभव करते हुए, सकलं—सभी, जन-वृत्तम्—लौकिक व्यवहारों को, आचरेयम्—करता रहूँ। (बस मेरे जीवन की साध तो यही है)॥

(हे परमेश्वर!) केवल आपकी पूजा करने में तल्लीन चित्तवाला बना हुआ मैं, सर्वोत्कृष्ट अमृतसागर (चिदानन्दरूपी अमृतसागर में रहता हुआ, और सारे पदार्थों से किसी लोकोत्तर रसवत्ता को बटोरता हुआ, सारे लोकव्यवहारों को चलाता रहूँ॥ १३॥

**भवदीयमिहास्तु वस्तु तत्त्वं**
**विवरीतुं क इवात्र पात्रमर्थे।**
**इदमेव हि नामरूपचेष्टा-**
**द्यसमं ते हरते हरोऽसि यस्मात्॥ १४॥**

*अन्वयः*–(महेश्वर) इह (यत्किंचित्) वस्तु (अस्ति) (तत् सर्वं) भवदीयं (रूपमस्ति)। अस्तु अत्र अर्थे तत्त्वं विवरीतुं कः इव पात्रम् (अस्ति) हि इदम् एव ते असमं नामरूप चेष्टा-आदि हरते (युक्तं चैतत्) यस्मात् हरः असि।

(महेश्वर–हे ईश्वर!), इह–इस संसार में, (यत्किंचित्–जो कुछ), वस्तु–वस्तु, (अस्ति–है), (तत् सर्वं–वह सब कुछ), भवदीयं–आप का ही, (रूपमस्ति–स्वरूप है।), अस्तु–अस्तु।, अत्र–इस, अर्थे–विषय में, तत्त्वं–वास्तविक स्थिति (अर्थात् यथार्थता) का, विवरीतुं–निश्चय करने के लिए, कः इव–भला कौन सा (भक्त), पात्रम्–योग्य, (अस्ति–हो सकता है?), हि–क्योंकि, इदम् एव–यही, ते–आप के, असमं–असाधारण प्रभाव वाले, नाम–('महेश्वर आदि') नाम, रूप–('चिदानन्द') रूप, चेष्टा-आदि–और (जगत् की सृष्टिसंहार) आदि चेष्टा, हरते–(हमारे हृदय को) हर लेते हैं, (अर्थात् समावेश की विवशता उत्पन्न करके हमें ऐसा बना देते हैं कि हमें अपने व्यवहार की सुधबुध ही नहीं रहती।), (युक्तं चैतत्–और यह बात तो ठीक ही है,), यस्मात्–क्योंकि (आप), हरः–'हर' (अर्थात् हरने वाले), असि–ही तो ठहरे॥

(हे महादेव!) इस संसार में जो कुछ 'वस्तु'–अर्थात् वास्तविक निचोड़ है वह आपका ही स्वरूप हो, क्योंकि इस परिप्रेक्ष्य में कौन पुरुष 'तत्त्व'–अर्थात् यथार्थ परिस्थिति का ब्यौरा प्रस्तुत करने का पात्र बन सकता है?, चूंकि आप 'हर=हरण करने वाले प्रभु हैं अतः आपका नाम (हर), रूप (चित्-धन) और चेष्टा (विश्व के सृष्टि-संहार) इत्यादि ईश्वरीय स्वभाव ही हमारे हृदय को हर लेता है–(अर्थात् हमें समावेश की अवस्था में डालकर और सारी बातों को सोंचने से विमुख बना देता है॥ १४॥

**शान्तये न सुखलिप्सुता मना-**
**ग्भक्तिसम्भृतमदेषु तैः [१]प्रभोः।**
**मोक्षमार्गणफलापि नार्थना**
**स्मर्यते हृदयहारिणः पुरः॥ १५॥**

*अन्वयः*– (प्रभो) भक्तिसम्भृतमदेषु शान्तये मनाक् (अपि) सुखलिप्सुता न

१. क० पु० प्रभो!–इति पाठः।

(भवति) (च) तैः हृदयहारिणः प्रभोः पुरः मोक्षमार्गणफला अर्थना अपि न स्मर्यते।

(प्रभो—हे प्रभु-देव!), भक्ति—भक्ति से, सम्भृत—प्राप्त की गई, मदेषु—मस्ती वाले (अर्थात् भक्ति से मस्त बने हुए आप के भक्तों) में, शान्तये—शांति के लिए (अर्थात् दुःखों से छुटकारा पाने के लिए), मनाक्—तनिक, (अपि—भी), सुख—सुख की, लिप्सुता—इच्छा, न—नहीं, (भवति—होती।), (च—और), तैः—उनको, हृदयहारिणः—(समावेश में आपका साक्षात्कार होने पर) मनो-मुग्धकारी, प्रभोः—आप प्रभु के, पुरः—सामने, मोक्ष—मुक्ति की, मार्गण—खोज रूपी, फला—फल वाली, अर्थना—प्रार्थना, अपि—भी, न स्मर्यते—याद नहीं रहती॥

(हे स्वामी!) भक्ति में मस्त रहने वाले भक्तशिरोमणियों को, शान्ति प्राप्त करने के लिए रंचमात्र भी (सांसारिक) सुखभोग करने की लोलुपता नहीं होती है, उन्हें तो हृदय को हरने वाले प्रभु से मुक्ति को प्राप्त करने के फलवाली प्रार्थना करना भी याद नहीं रहता है। (कहने का तात्पर्य यह कि वैसे पहुंचे हुए भक्तजनों को साक्षात् परमेश्वर स्वरूप का साक्षात्कार ही हुआ होता है अतः उनको उससे बढ़कर और क्या चाहिए?)॥ १५॥

**जागरेतरदशाथवा परा**
**यापि काचन मनागवस्थितेः।**
**भक्तिभाजनजनस्य साखिला**
**त्वत्सनाथमनसो महोत्सवः॥ १६॥**

*अन्वयः*—(लोकेश्वर) अवस्थितेः या काचन (दशा) जागरइतरदशा अथवा परा मनाक् अपि (भवेत्) सा अखिला त्वद्सनाथमनसः भक्तिभाजनजनस्य महोत्सवः।

(लोकेश्वर—हे लोकनाथ!), अवस्थितेः—जगत्-व्यवस्था संबन्धी (अर्थात् जगत् के नियम के अनुसार), या—जो, काचन—कोई, (दशा—दशा-), जागर—जागृति, इतर—दूसरी, दशा—दशा (अर्थात् स्वप्न), अथवा—या, परा—सुषुप्ति, मनाक्-अपि—जरा सी भी (अर्थात् थोड़े समय के लिए भी), (भवेत्—हो,), सा—वे, अखिला—सभी (अवस्थायें), त्वद्—आप के साथ, सनाथ—एकात्मता को प्राप्त हुये, मनसः—मन वाले, भक्ति—(स्वरूप-समावेश रूपी) भक्ति के,

भाजन—पात्र बने हुये, जनस्य—मनुष्य के लिये, महोत्सवः—(परमानन्द-पूर्ण) बड़ा उत्सव ही होती हैं।

(हे शान्तिदायक देव!) जागतिक व्यवस्था के अनुसार जो कोई भी जाग्रत्, स्वप्न या सुषुप्ति की अवस्था, चाहे अल्पकाल के लिए ही चलती हो; समावेशमयी भक्ति का पात्र बने हुए और आपके द्वारा आश्रित मनवाले भक्तजन के लिए वे सारी अवस्थाएँ (समान रूप से) 'महान् उत्सव'—अर्थात् परमानन्दविश्रान्ति की दशाएँ ही होती हैं॥ १६॥

**आमनोऽक्षवलयस्य वृत्तयः**
**[1]सर्वतः शिथिलवृत्तयोऽपि ताः।**
**त्वामवाप्य दृढदीर्घसंविदो**
**नाथ भक्तिधनसोष्मणां कथम्॥ १७॥**

*अन्वयः*— नाथ ! आमनः अक्ष वलयस्य वृत्तयः सर्वतः शिथिल वृत्तयः (सन्ति) ताः अपि त्वाम् अवाप्य भक्ति धनसोष्मणां कथं दृढदीर्घसंविदः (भवन्ति)।

नाथ—हे नाथ!, आमनः—मन सहित, अक्ष-वलयस्य—सभी इन्द्रियों की, वृत्तयः—वृत्तियां, सर्वतः—पूर्ण रूप में, शिथिल-वृत्तयः—चञ्चल स्वभाववाली, (सन्ति—होती हैं।), ताः—वे, अपि—भी, त्वाम्—आप (चिद्रूप) को, अवाप्य—प्राप्त करने पर (अर्थात् आप से अभिन्न हो जाने पर), भक्ति-धन—(समावेश-मयी) भक्ति रूपी धन (के तेज) से, सोष्मणां—देदीप्यमान भक्तों के लिये, कथं—कैसे, दृढ—निश्चल, दीर्घ—और स्थायी, संविदः—ज्ञान स्वरूप, (भवन्ति—बन जाती हैं? यह तो आश्चर्य है)॥

हे स्वामी! मन के समेत समूचे इन्द्रियवर्ग की वृत्तियां, चारों ओर से, 'शिथिल'—अर्थात् स्वभाव से ही चंचल हुआ करती हैं, परन्तु हैरानी यह है कि (समावेशात्मिका) भक्ति की ऊष्मा से भरे हुए भक्तजनों की वही (चंचल) इन्द्रिय वृत्तियां, आप चिन्मय देव को पाकर कैसे एकदम निश्चल, स्थायी और संविन्मयी बन जाती हैं?॥ १७॥

*संकेत*— इस पद्य पर सद्गुरु महाराज की टिप्पणी इस प्रकार हैः—

१. ख० पु० सर्वथा—इति पाठः।

(क) शब्दार्थ—अक्षवलयः=इन्द्रियों का समूह। वृत्तिः=(१) व्यवहार, काम (२) स्वभाव।

(ख) भावार्थ—हे नाथ! इन्द्रियों का व्यवहार स्वभाव से ही सदा चञ्चल होता है। किन्तु आपके भक्तजन जब समावेश के आनन्द को प्राप्त करते हैं, तो उन के लिए वही इन्द्रियों का व्यवहार आपके समान ही अचञ्चल और ज्ञानस्वरूप बन जाता है। ऐसा कैसे होता है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

**न च विभिन्नमसृज्यत किञ्चिद-**
**स्त्यथ सुखेतरदत्र न निर्मितम्।**
**अथ च दुःखि च भेदि च सर्वथा-**
**प्यसमविस्मयधाम नमोऽस्तु ते॥ १८॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) (सर्गादौ) (त्वया) (स्वतः) विभिन्नं किञ्चित् न च असृजत वस्तुतः त्वत्तः भिन्नं किंचित् अस्ति अथ अत्र (त्वया) सुख इतरत् न निर्मितम् अथ च (सर्वं) दुःखि च भेदि च असम विस्मय धाम ते नमः अस्तु।

(प्रभो—हे प्रभु!), (सर्गादौ—सृष्टि के आरम्भ में), (त्वया—आपने), (स्वतः—अपने स्वरूप से), विभिन्नं—भिन्न, किञ्चित्—कुछ भी, न च—नहीं, असृजत—बनाया, वस्तुतः त्वत्तः भिन्नं किंचित् अपि न—वास्तव में आप से भिन्न कुछ भी नहीं, अस्ति—है।, अथ—और, अत्र—इस संसार में, (त्वया)—आपने (कुछ भी), सुख-इतरत्—दुःखमय, न—नहीं, निर्मितम्—बनाया है।, अथ च—किन्तु फिर भी।, (सर्वं—सब कुछ), दुःखि च—(आपकी एकात्मता की पहचान न होने के कारण) पूर्ण रूप में दुःखमय, भेदि च—और भेदमय ही (दिखाई देता) है। (ऐसे), असम-विस्मय-धाम—असाधारण आश्चर्य के स्थान! (हे प्रभु!), ते—आप को, नमः अस्तु—नमस्कार हो॥

हे विस्मयकारी परमदेव! (सृष्टि के आदिकाल पर) आपने निजस्वरूप से भिन्न किसी (अधिक या अतिरिक्त) पदार्थ की सृष्टि नहीं की है, और न इस जगत् में कुछ भी दुःखमय बनाया है, ऐसा होते हुए भी यदि यह सारा जगत्-प्रपञ्च दुःखमय और भेदभाव से भरित ही दिखाई दे रहा है तो असाधारण विस्मय का धाम बने हुए आपको केवल हमारा प्रणाम हो॥ १८॥

**खरनिषेधखदामृतपूरणो-**
**च्छलितधौतविकल्पमलस्य मे।**
**दलितदुर्जयसंशयवैरिण-**
**स्त्वदवलोकनमस्तु निरन्तरम्॥ १९॥**

*अन्वयः*–(शम्भो) खर निषेध खदा अमृत पूरण उच्छलित धौतविकल्पमलस्य दलितदुर्जयसंशयवैरिणः मे त्वद्‌अवलोकनं निरन्तरम् अस्तु।

(शम्भो–हे महादेव!), खर-निषेध-खदा-अमृत-पूरण-उच्छलित-धौत–(आप के स्वरूप को) छुपा रखने वाली (भेद-प्रथा रूपी) भयानक खाई को (परमानन्द-रूपी) अमृत से लबालब भर देने से धो डाला गया हो (अर्थात् नष्ट किया गया हो), विकल्प–विकल्प रूपी, मलस्य–मल जिस का, दलित–तथा पीसा गया हो (अर्थात् नष्ट किया गया हो), दुर्जय–अजेय, संशय–शंका रूपी, वैरिणः–शत्रु जिस का, ऐसे, मे–मुझ को, त्वद्–आप का, अवलोकनं–दर्शन (अर्थात् आप चित्स्वरूप का साक्षात्कार), निरन्तरम्–लगातार (अर्थात् समाधि और व्युत्थान, दोनों अवस्थाओं में), अस्तु–प्राप्त होता रहे॥

(हे परब्रह्मस्वरूप परमात्मा!) आपकी अख्याति ही अति कठिन खाई है, उसको (आपके अद्वैतभाव के रूपवाले) अमृत से पाटने की प्रक्रिया में उछलने वाले अमृत-प्रवाह से धुले हुए विकल्पों के मलवाले, और कुचले हुए अति अजेय संशयरूपी शत्रु वाले मुझको निरन्तर आपका दर्शन मिलता रहे॥ १९॥

**स्फुटमाविश मामथाविशेयं**
**सततं नाथ भवन्तमस्मि यस्मात्।**
**रभसेन वपुस्तवैव साक्षा-**
**त्परमासत्तिगतः समर्चयेयम्॥ २०॥**

*अन्वयः*–नाथ (त्वं तावत्) स्फुटं माम् आविश अथ (अहम् अपि) भवन्तं सततम् आविशेयम् यस्मात् (अहं) परम् आसत्तिगतः रभसेन तव एव साक्षात् वपुः सम् अर्चयेयम्।

नाथ–हे स्वामी!, (त्वं तावत्–आप पहले), स्फुटं–(गुप्त रूप में नहीं, वरन् प्रकट रूप में, माम्–मुझ में, आविश–समावेश कीजिए।, अथ–उस के

बाद (अर्थात् जब आप ऐसा करेंगे और मैं आप चित्स्वरूप के रंग में रंगा जाऊंगा, तो), (अहम् अपि—मैं भी), भवन्तं—आप के स्वरूप में, सततम्—सदा, आविशेयम्—समावेश किया करूंगा।, यस्मात्—फलतः, (अहं—मैं), परम्—(आप के) अत्यन्त, आसत्ति—निकट, गतः—पहुँच कर, रभसेन—उत्सुकता से, तव—आप के, एव—ही, साक्षात्—प्रत्यक्ष, वपुः—स्वरूप की (अर्थात् आपके तात्त्विक स्वरूप की), सम्—भलीभाँति, अर्चयेयम्—पूजा करूंगा, (अर्थात् आप चित्स्वरूप में पूर्ण रूप में समावेश किये रहूँगा॥

**हे स्वामी! आप पहले स्पष्ट रूप में मुझ में समावेश कीजिए ताकि उससे बल पाकर मैं भी बाद में आपमें समावेश करूँ, इस प्रकार साक्षात् आपके बहुत निकट पहुंच कर आपके असली स्वरूप की भलीभांति अर्चना कर पावूँ॥ २०॥**

While in ecstacy Svāmi ji said

"oh lord! please enter in myself otherwise I will enter in yourself. But you hurriedly enter into myself and I will also hurriedly enter in yourself. Then we will be together and will worship each other, because I can not remain without you and you can not remain without me"

**त्वयि न स्तुतिशक्तिरस्ति कस्या-**
**प्यथवास्त्येव यतोऽतिसुन्दरोऽसि।**
**सततं पुनरर्थितं ममैत-**
**द्यदविश्रान्ति विलोकयेयमीशम्॥ २१॥**

अन्वयः—(परभैरवात्मन्) कस्यापि त्वयि स्तुति शक्तिः न अस्ति अथवा (कस्यापि) अस्ति एव यतः (त्वम्) अति सुन्दरः असि मम पुनः सततम् एतत् अर्थितम् यद् (अहम्) अविश्रान्ति (त्वाम्) ईशं विलोकयेयम्।

(परभैरवात्मन्—हे पर-भैरव स्वरूप!), कस्यापि—(आप चिद्रूप को न पहचानने के कारण) किसी (ब्रह्मा-आदि देवता) को भी, त्वयि—आप की, स्तुति—स्तुति करने का, शक्तिः—सामर्थ्य, न—नहीं, अस्ति—होता।, अथवा—अथवा, (कस्यापि)—(जो आप चित्-स्वरूप को पहचानता है,) उस असामान्य

(पुरुष में), अस्ति एव–(आप की स्तुति करने की शक्ति) होती ही है, यतः–क्योंकि, (त्वम्–आप), अति-सुन्दरः–(चिदानन्द-घन होने के कारण) अत्यन्त ही रमणीय, असि–हैं।, मम–मेरी, पुनः–तो, सततम्–सदा, एतत्–यही, अर्थितम्–लालसा है, यद्–कि, (अहम्–मैं), अविश्रान्ति–लगातार (अर्थात् आठों पहर),(त्वाम्–आप), ईशं–परमेश्वर को, विलोकयेयम्–देखता रहूँ, (अर्थात् समावेश में आप का साक्षात्कार करता रहूँ)॥

**(हे परम अर्चनीय देव!) किसी भी पुरुष में (आपकी प्रत्यभिज्ञा न होने की दशा में) आपकी स्तुति करने की शक्ति नहीं होती है अथवा किसी (विरले) पुरुष में (जिसको स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा हुई हो) वह शक्ति अवश्य होती है, चूँकि आप चिन्मय परमेश्वर होने के नाते अतिसुन्दर हैं, मुझे तो केवल इतनी अभिलाषा है कि मैं लगातार आपको देखता रहूँ॥ २१॥**

*संकेत*– प्रस्तुत पद्य पर श्री सद्गुरु महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है–

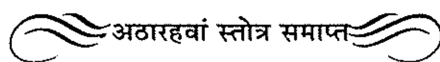
भावार्थ–हे भैरवनाथ! ब्रह्मा जैसे बड़े बड़े देवता भी आपका गुणगान नहीं कर-सकते। फिर भला मैं कैसे कर सकूँ? अतः मुझे ऐसा करने की अभिलाषा नहीं है। मेरी तो बस यही लालसा है कि मैं सदा आपके स्वरूप का साक्षात्कार करता रहूँ।

In May, 1990, while in ecstacy, Svāmijī Mahārāja explained this verse in English also and said -

Who can be able to worship you? No one is able to adore you. But you being very beautiful so something comes out of you. Therefore I want to look at you pauselessly, otherwise who can dare to adore you.

जगत् का कल्याण हो

अकिञ्चनोऽहमस्मीति नास्ति कापि विडम्बना।
मदीयां कृपया नावं समुत्तारय शंकर॥



उों नमः शिवाय

पञ्चकृत्यकरं भवतापहरं
त्रैरूप्यधरमतिसौख्यप्रदम्।
देशकालक्रमस्यकरं वरदं
प्रणमामि शिवमक्रमं सक्रमम्।।

पूर्णस्य स्वात्मने नास्ति
क्वाप्यभासन संस्थितिः।
दिशादेशक्रमाभासः
बोधाब्धेः रूपमव्ययम्।।

# भक्तिविलास नामक उन्नीसवां स्तोत्र

**प्रार्थनाभूमिकातीतविचित्रफलदायकः।**
**जयत्यपूर्ववृत्तान्तः शिवः सत्कल्पपादपः।। १ ।।**

*अन्वयः*—प्रार्थनाभूमिकाअतीतविचित्रफलदायकः अपूर्ववृत्तान्तः शिवः सत्-कल्पपादपः जयति।

प्रार्थना—प्रार्थना की, भूमिका—अवस्था से, अतीत—परे (अर्थात् बढ़ चढ़ क़र), विचित्र—तथा अनूठे, फल—फल को, दायकः—देने वाले, अपूर्व—और अलौकिक, वृत्तान्तः—व्यवहार वाले, शिवः—भगवान् शंकर रूपी, सत्—अत्यन्त उत्कृष्ट, कल्प-पादपः—कल्प-वृक्ष की, जयति—जय हो* ॥

भगवान् शंकररूपी उस सर्वश्रेष्ठ कल्पवृक्ष की जय हो, जो असाधारण व्यवहार वाला है, जो विचित्र प्रकार के फल को देने वाला है और जो प्रार्थना की अवस्था से परे है॥ १॥

*संकेत*–

कल्पवृक्ष केवल स्वर्गलोक में पाया जाता है। इस वृक्ष से स्वर्गलोकवासी देव या गन्धर्व जो कुछ मांगते हैं या जिस किसी वस्तु की कामना करते हैं वह कभी अन्यथा नही होती हैं। संसार के दुर्लभ सुखों की प्राप्ति सहज होती है पर भगवान् शंकर रूपी कल्पवृक्ष तो इससे भी विचित्र है। वह परमानन्दरुपी वह वस्तु भी देता है जिसकी न तो कोई कामना की जा सकती है और न

जिसके लिए कोई प्रार्थना ही की जा सकती है। यही उसके व्यवहार का वैचित्र्य (अनूठापन) है।

सन् १८०३ में प्रकाशित प्राचीन शिवस्तोत्रावली की प्रति में "सत्कल्पपादपः" के स्थान पर "संकल्प पादपः" पाठान्तर है। अर्थात् भगवान् शंकर वह सर्वश्रेष्ठ वृक्ष है जो संकल्पमात्र से ही परम फल प्रदान करता है।

भावार्थ—कल्प-वृक्ष तो केवल वही चीज़ प्रदान करता है जिस की इच्छा की जा सकती है और जिस के लिए प्रार्थना की जा सकती है अर्थात् संसार का सुख। भगवान् शंकर तो परमानन्द रूपी वह चीज भी प्रदान करता है जिस की न तो इच्छा की जा सकती है और न जिसके लिए प्रार्थना ही की जा सकती है। यही उस के व्यवहार का अनूठापन है और इसी लिए वह स्वर्ग-लोक के कल्प-वृक्ष से बढ़-चढ़ कर है।

**सर्ववस्तुनिचयैकनिधाना-**
**त्स्वात्मनस्त्वदखिलं किल लभ्यम्।**
**अस्य मे पुनरसौ निज आत्मा**
**न त्वमेव घटसे परमास्ताम्॥ २॥**

*अन्वयः*—(त्रिलोकनाथ) सर्ववस्तु निचयएकनिधानात् त्वत्स्वात्मनः अखिलं लभ्यम् किल पुनः अस्य मे त्वम् एव निजः आत्मा न घटसे परम् आस्ताम्।

(**त्रिलोकनाथ**—हे तीनों लोकों के स्वामी!), **सर्व**—सभी, **वस्तु-निचय**—(जड़ तथा चेतन) वस्तुओं के, **एक**—एकमात्र, **निधानात्**—आश्रय होने वाले, **त्वत्**—आप, **स्वात्मनः**—स्वात्म-देव से, **अखिलं**—सब कुछ, **लभ्यम्**—प्राप्त हो सकता है, **किल**—इस में तनिक भी सन्देह नहीं है।, **पुनः**—किन्तु, **अस्य मे त्वम् एव निजः आत्मा**—(सदा स्वरूप-परामर्श करने में लगे हुए) मुझ को आप, अपने स्वात्म-स्वरूप ही, **न घटसे**—प्रकट नहीं होते, (अर्थात् व्युत्थान में आप का साक्षात्कार मुझे नहीं होता), **परम्**—अन्य सिद्धियों की बात तो, **आस्ताम्**—दूर रही॥

(हे स्वामी!) इसमें थोड़ा भी संशय नहीं है कि जड़ तथा चेतन सभी वस्तुओं के एकमात्र आश्रय आप स्वात्मदेव से सब कुछ पाया जा सकता है। परन्तु निरन्तर स्वात्म परामर्श में लीन मुझको आप अपने स्वात्मस्वरूप ही प्रकट नहीं होते। दूसरी सिद्धियों की बात ही क्या? कहने का तात्पर्य

यह है कि व्युत्थान में भी आपका साक्षात्कार मुझे नहीं होता॥ २॥

*संकेत-*

भक्तप्रवर आचार्य उत्पलदेव की यह प्रबल कामना है कि समाधि अवस्था की तरह व्युत्थान में भी वह स्वात्मस्वरूप का परामर्श कर सके।

'अखिलं लभ्यम्' का तात्पर्य यह है कि सारा संसार अर्थात् संसार में पाने योग्य सारा वस्तु समूह प्राप्त हो सकता है।

**ज्ञानकर्ममयचिद्वपुरात्मा**
**सर्वथैष परमेश्वर एव।**
**स्याद्वपुस्तु निखिलेषु पदार्थे-**
**ष्वेषु नाम न भवेत्किमुतान्यत्॥ ३॥**

*अन्वयः*—निखिलेषु पदार्थेषु एषः ज्ञानकर्ममयचिद्वपुः परमेश्वरः एव आत्मा (अस्ति) (स एव) सर्वथा वपुः स्यात् (अन्यथा) तु एषु नाम (एव) न भवेत् अन्यत् उत किम्।

निखिलेषु—(संसार की) सभी, पदार्थेषु—वस्तुओं में, एषः—यह, ज्ञान—ज्ञान, कर्म—तथा क्रिया शक्ति से, मय—सम्पन्न, चिद्वपुः—चित्-स्वरूप, परमेश्वरः—परमेश्वर, एव—ही, आत्मा—आत्मा, (अस्ति—है), (स एव—और वही), सर्वथा—सब प्रकार से, वपुः—(उन का वास्तविक) स्वरूप, स्यात्—हो सकता है।, (अन्यथा—यदि ऐसा न होता), तु—तो, एषु—इन वस्तुओं में, नाम—(सत्ता का) नाम, (एव—भी), न भवेत्—न होता, अन्यत्—और बातों की, उत किम्—बात ही नहीं॥

विश्व के सभी पदार्थों में, चैतन्य स्वरूप परमेश्वर ही, जो ज्ञान व क्रिया शक्ति से परिपूर्ण है, आत्मा है और वही प्रत्येक रूप में उनका यथार्थ स्वरूप हो सकता है यदि यह बात न होती तो इन पदार्थों में सत्ता का नाममात्र भी न होता अन्य बातों की बात ही क्या?॥ ३॥

**विषमार्तिमुषानेन फलेन त्वद्दृगात्मना।**
**अभिलीय पथा नाथ ममास्तु त्वन्मयी गतिः॥ ४॥**

*अन्वयः*—नाथ विषमआर्तिमुषा त्वद्दृक्आत्मना अनेन पथा अभिलीय फलेन मम त्वन्मयी गतिः अस्तु।

नाथ–हे प्रभु!, विषम–(संसार के) भयंकर, आर्ति–दुःखों को, मुषा–दूर करने वाले, त्वद्–आप के, दृक्–साक्षात्कार, आत्मना–रूपी, अनेन–इस, पथा–मार्ग से, अभिलीय–(मैं आप में) लीन हो जाऊं, फलेन–(और) फल-स्वरूप, मम–मुझे, त्वन्मयी–आप से अभिन्न रूप वाली, गतिः–अवस्था, अस्तु–प्राप्त हो जाय॥

हे नाथ! मैं आपके इस साक्षात्कार रुपी रास्ते से, जो समस्त विश्व के भीषण कष्टों से मुक्ति दिलाने वाला है, (कब) आपमें लीन हो जाऊँ। जिसके परिणामस्वरूप मुझे आपसे अभिन्नरूपवाली अवस्था प्राप्त हो जाय॥ ४॥

**भवदमलचरणचिन्तारत्नलता-**
**लंकृता कदा सिद्धिः।**
**सिद्धजनमानसानां विस्मयजननी**
**घटेत मम भवतः॥ ५॥**

*अन्वयः*–(भक्तवत्सल) भवत्अमलचरण चिन्तारत्नलताअलंकृता (एवं) सिद्ध जन-मानसानां विस्मयजननी सिद्धिः मम कदा भवतः घटेत।

(भक्तवत्सल–हे भक्त-प्रिय प्रभु!), भवत्–आप के, अमल–(ज्ञान-क्रिया रूपी), चरण–चरणों की, *चिन्ता–ध्यान रूपिणी, रत्न–रत्नों की, लता–लता से, अलंकृता–सुशोभित, (एवं–तथा), सिद्ध-जन–सिद्ध योगियों के, मानसानां–हृदय में, विस्मय–आश्चर्य, जननी–उत्पन्न करने वाली, सिद्धिः– (मुक्ति रूपिणी) सिद्धि, मम–मुझे, कदा–भला कब, भवतः–आप से, घटेत–प्राप्त हो जायेगी॥

(हे भक्तवत्सल!) आपके (प्रकाशविमर्शरूपी) अथवा ज्ञान क्रियारुपी) निर्मल चरणों की स्मरण रूपिणी रत्नों की लता से शोभित अर्थात् आवेश

---

*शब्दार्थ–चिन्ता=ध्यान, स्मरण।

चिन्तारत्न=चिन्तामणि। यह एक विशेष रत्न है। कहा जाता है कि यह रत्न सब इच्छाओं को पूर्ण कर देता है।

सिद्धजन=जिस ने योग या तप में सिद्धि प्राप्त की हो, ऐसा पहुँचा हुआ साधक।

शोभा से अलंकृत बनी हुई तथा योगियों के मन में आश्चर्य पैदा करने वाली मुक्तिरूपिणी सिद्धि भला कब मुझे आपसे प्राप्त हो जायेगी॥ ५॥

*संकेत*-

'चिन्तारत्न' का तात्पर्य चिन्तामणि भी हो सकता है। चिन्तामणि यह एक ऐसा रत्न है जो सभी अभिलाषाओं को संपूर्ण कर देता है। कहा भी है ''मणिमन्त्रमहौषधीनामचिन्त्यः प्रभावः'' अर्थात् रत्नों, मन्त्रों और महान् औषधियों का प्रभाव अचूक होता है।

**कर्हि नाथ विमलं मुखबिम्बं**
**तावकं समवलोकयितास्मि।**
**यत्स्रवत्यमृतपूरमपूर्वं**
**यो निमज्जयति विश्वमशेषम्॥ ६॥**

*अन्वयः*— नाथ (अहं) तावकं विमलं मुख बिम्बं कर्हि समवलोकयितास्मि यत् अपूर्वं अमृतपूरं स्रवति यः अशेषं विश्वं निमज्जयति।

नाथ—हे नाथ!, (अहं—मैं), तावकं—आप के (उस), विमलं—निर्मल, मुख बिम्बं—मुख-मण्डल का (अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट शाक्त-स्वरूप का), कर्हि—भला कब, समवलोकयितास्मि—साक्षात्कार करूंगा, यत्—जो, अपूर्वं—अलौकिक, अमृत—(चिदानन्द रूपी) अमृत की, पूरं—धारा, स्रवति—बहाता है, यः—जो (धारा), अशेषं—इस सारे, विश्वं—(भेदप्रथा-पूर्ण) जगत् को, निमज्जयति—डुबा देती है॥

हे अभिलषित स्वामी! आपके उस निर्मल मुखमण्डल का कब भला मैं साक्षात्कार करुँगा जो इस भेदप्रथा पूर्ण संसार को डुबो देने वाला अर्थात् द्वैतभाव से मुक्ति दिलाने वाला है और विचित्र चिदानन्दरूपी अमृत की धारा को बहाता है॥ ६॥

शैवीमुखं इहोच्यते—
इस कथन के अनुसार शैवशास्त्र में मुख का तात्पर्य शक्ति से है। मुखमण्डल से तात्पर्य परम शाक्तस्वरूप से है। विश्वं—जगत् अर्थात् द्रष्टा और दृश्य रूप संपूर्ण जगत्। उपरोक्त श्लोक व्युत्थानावस्था में अवस्थित भक्तप्रवर आचार्य उत्पलदेव का भावुक उद्गार है॥

**ध्यातमात्रमुदितं तव रूपं**
**कर्हि नाथ परमामृतपूरैः।**
**पूरयेत्त्वदविभेदविमोक्षा-**
**ख्यातिदूरविवराणि सदा मे।। ७।।**

*अन्वयः*– नाथ मे ध्यात मात्रम् उदितं तव रूपं परम अमृतपूरैः त्वद्अविभेद-विमोक्षअख्यातिदूरविवराणि कर्हि सदा पूरयेत्।

नाथ–हे स्वामी!, मे–मेरे, ध्यातमात्रम्–ध्यान करते ही, उदितं–(शाक्तोपाय-क्रम से) प्रकट बना हुआ, तव–आप का, रूपं–स्वरूप, परम–(अपने चिदानन्द रूपी) उत्कृष्ट, अमृत–अमृत की, पूरैः–धाराओं से, त्वद्–आप के, अविभेद–अद्वयानन्द रूपी, विमोक्ष–मोक्ष के, अख्याति–अप्रथनात्मक, दूर–गहरे, विवराणि–रन्ध्रों को (अर्थात् अद्वय-आनन्द को छुपा रखने वाली अन्य सांसारिक इच्छाओं को), कर्हि–कब, सदा–सदा के लिए, पूरयेत्–आप्लावित करेगा (अर्थात् डुबो देगा)!।।

**(हे प्रभु!) आपके साथ अभेदभाव ही भेदबन्धन का कट जाना है। उस अभेदभाव की अप्रतीति ही गहरे गड्ढे (अद्वैत आनन्द को भुला देने वाली जागतिक आकांक्षायें) हैं। (शांभवोपाय क्रम से) मेरे ध्यान करने के समनन्तर ही प्रकट बना हुआ आपका स्वरूप, उत्कृष्ट अमृत की धाराओं से उन गहरे विवरों (गड्ढों) को हमेशा के लिए कब आप्लावित करेगा अर्थात् कब उनका समूल उन्मूलन करेगा।। ७।।**

'विवरं' गर्त या गड्ढे या 'रन्ध्र' का ही दूसरा नाम है। स्वरूप लाभ से दूर रखने वाली सांसारिक इच्छायें ही यहां विवरों से अभिप्रेत हैं। ये जागतिक लालसायें ही हृदय पर आक्रमण करके साधक को स्वरूप लाभ से वंचित रखती है।
अविभेद–जहां द्वैतभाव का अस्तित्व न हो।
अख्याति–अज्ञान, अविद्या या स्वरूप साक्षात्कार की अप्रतीति।

*सारांश*– हे प्रभु! सांसारिक इच्छाएँ मेरे हृदय पर अधिकार जमा कर इसे अद्वयानन्द से वंचित रखती हैं। अतः मेरी लालसा है कि ध्यान करते ही मुझे आप का स्वरूप चमक उठे और आनन्द-अमृत की धारा से उन सांसारिक इच्छाओं को प्रवाहित करे, अर्थात् उन को समूल तहस नहस कर डाले।।

**त्वदीयानुत्तररसासङ्गसन्त्यक्तचापलम्।**
**नाद्यापि मे मनो नाथ कर्हि स्यादस्तु शीघ्रतः॥ ८॥**

*अन्वयः*— नाथ मे मनः अद्यापि त्वदीयअनुत्तररसआसंगसन्त्यक्त चापलं न (भवति) कर्हि स्यात् शीघ्रतः अस्तु।

**नाथ**—हे प्रभु!, **मे**—मेरा, **मनः**—मन, **अद्यापि**—अभी भी (अर्थात् बार-बार समावेश का आनन्द लूटने पर भी), **त्वदीय**—आप के, **अनुत्तर**— अलौकिक, **रस**—(चिदानन्द) रस के, **आसंग**—सम्पर्क से भी, **सन्त्यक्त-चापलं न (भवति)**—पूर्ण रूप में अपनी चंचलता नहीं छोड़ पाता, **कर्हि**—भला कब, **स्यात्**—(ऐसा) हो सकता है? (अर्थात् कब मेरा मन चञ्चलता को छोड़ सकेगा!), **शीघ्रतः**—काश, (ऐसा) तुरन्त, **अस्तु**—होता! (अर्थात् काश, मेरा मन सदा के लिए व्युत्थान से अपना पिंड छुड़ा सकता!)॥

**हे प्रभु! मेरा मन कब भला अपनी चपलता को पूरी तरह से छोड़ देगा। क्योंकि यह आपके असाधारण चिदानन्द रस के सम्पर्क से बार बार समावेश का आनन्द लूटने पर भी अपने स्वभाव को नहीं त्यागता। काश शीघ्रता से यह मेरा मन हमेशा के लिए व्युत्थान की कृत्रिम (कच्ची) चमक से अनजाना रहता॥ ८॥**

सन्त्यक्तचापलं—व्युत्थानावस्था में समावेशपूर्ण रहना ही मानसिक चंचलता को त्यागना है।
अद्यापि—समावेश सुख का बार बार अनुभव करने पर भी।

**मा शुष्ककटुकान्येव परं सर्वाणि सर्वदा।**
**तवोपहृत्य लब्धानि द्वन्द्वान्यप्यापतन्तु मे॥ ९॥**

*अन्वयः*— (भगवन्) सर्वाणि द्वन्द्वानि त्वद् अद्वयामृत रस रहितत्वेन शुष्क-कटुकानि एव (सन्ति) (अतः एतानि) मे मा आपतन्तु परं तव उपहृत्य लब्धानि (एतानि सर्वाणि) अपि सर्वदा (आपतन्तु)।)

(**भगवन्**—हे भगवान्!), **सर्वाणि**—सभी, **द्वन्द्वानि**—(सरदी-गरमी आदि) जोड़े, **त्वद्-अद्वयामृत-रस-रहितत्वेन**—आप के अद्वय-अमृत-रस से रहित होने के कारण, **शुष्क**—नीरस, **कटुकानि**—और कड़वे, **एव**—ही, (**सन्ति**—हैं,), (**अतः एतानि**—अतः ये), **मे**—मेरे पास, **मा**—(कभी) न, **आपतन्तु**—आ जाएं।,

परं–किन्तु (यदि ये जोड़े), तव–आप के, उपहृत्य–(चिदानन्द के सम्पर्क को) पाकर, लब्धानि–प्राप्त हो जाएं, (एतानि सर्वाणि–तो ये सभी), अपि–ही, सर्वदा–(मेरे पास) सदा, (आपतन्तु–आते रहें)॥

हे प्रभु! आपके चिदानन्द रस के सम्पर्क को प्राप्त करके सरदी, गरमी, सुख, दुःख आदि सभी जोड़े यदि मेरे समीप उपस्थित होवें तो वे सदा आते रहें पर आपके अद्वैतानन्द रस से विहीन होकर कड़वे और रूखे सूखे प्रतीत होने वाले ये सभी द्वन्द्व (सुखदुःखादि जोड़े) कभी मेरे समीप न आ जायें॥ ९॥

**नाथ साम्मुख्यमायान्तु विशुद्धास्तव रश्मयः।**
**यावत्कायमनस्तापतमोभिः परिलुप्यताम्॥ १०॥**

*अन्वयः*–नाथ तव विशुद्धाः रश्मयः (तावत्) साम्मुख्यम् आयान्तु यावत् काय-मनःतापतमोभिः परिलुप्यताम्।

नाथ–हे स्वामी!, तव–आप की, विशुद्धाः–निर्मल (अर्थात् अनुग्रह-स्वरूपिणी), रश्मयः–(अघोर-रूप) शक्तियां, (तावत्–तब तक), साम्मुख्यम्–मेरे सामने, आयान्तु–आ जाएं, (अर्थात् साक्षात्कार के मार्ग पर देदीप्यमान बनी रहें), यावत्–जब तक कि, काय–(भूख, प्यास आदि) शारीरिक, मनः–तथा (काम, क्रोध आदि), ताप–दुःख रूपी, तमोभिः–अन्धकार, परि–पूर्ण रूप में, लुप्यताम्–नष्ट हो जाए॥

हे नाथ! जब तक कि मेरा दैहिक (भूख, प्यास, सरदी गरमी आदि) व मानसिक (काम, क्रोध, लोभ आदि) सन्तापरूपी अन्धेरा पूरी तरह से मिट न जाये तब तक अनुग्रह परक शक्तियां मेरे सामने सदा प्रकट होवें॥ १०॥

रश्मयः–शक्तियां। श्रीतिमिरोद्घाट् शास्त्र में कहा है–

करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिकाः।
पीठेश्वर्यो महाघोराः मोहयन्ति मुहुर्मुहुः॥

इस कथन के आधार पर अघोरी शक्ति, घोर शक्ति और महाघोर शक्ति अथवा घोरतरी शक्तियों में केवल अघोरी शक्ति ही अनुग्रह परक है जो परमार्थ पथ को प्रकाशित करती है। अन्य शक्तियां साधकों को परमार्थ पथ से विचलित

करती हैं। इसी तरह अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री और वामा रश्मिशक्र में से भी केवल ज्येष्ठा शक्ति ही साधक की पूर्ण रूप से सहायिका है अन्य शक्तियां नहीं॥

**देव प्रसीद यावन्मे त्वन्मार्ग[1]परिपन्थिकाः।**
**परमार्थमुषो वश्या [2]भूयासुर्गुणतस्कराः॥ ११॥**

*अन्वयः*—देव त्वद्मार्गपरिपन्थिकाः (एवं) परमार्थमुषः गुणतस्कराः यावत् मे वश्याः भूयासुः (तावत्) (त्वं) प्रसीद।

देव—हे प्रकाश-स्वरूप!, त्वद्—आप के, मार्ग—(पारमार्थिक) मार्ग को, परिपन्थिकाः—रोके रखने वाले (अर्थात् शाक्त-भूमि में प्रवेश करने से रोकने वाले), (एवं—और इसीलिए), परमार्थ—परमार्थ अर्थात् चिदेकता को, मुषः—छीनने वाले (अर्थात् उसे बेकार बनाने वाले), गुण—(सत्त्व आदि तीन) गुण रूपी अथवा इन्द्रिय रूपी, तस्कराः—चोर, यावत्—जब तक, मे—मेरे, वश्याः—वश में, भूयासुः—हो जायें, (तावत्—तब तक), (त्वं—आप), प्रसीद—(मुझ पर) प्रसन्न रहिए, (अर्थात् मुझ पर दया करते रहें)॥

हे क्रीड़ाशील प्रभु! गुण (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) तथा इन्द्रिय रूपी चोर मेरे महान् शत्रु हैं। जब मैं परमार्थ मार्ग पर कदम रखता हूँ तो ये लुटेरों की तरह मुझे आगे बढ़ने नहीं देते हैं और कठिनता से अर्जित मेरे इस पारमार्थिक धन का अपहरण करके मुझे इससे वंचित रखते हैं। अतः हे नाथ! आप तब तक मुझ पर प्रसन्न रहिये जब तक ये इन्द्रिय रूपी लुटेरे मेरे वश में न होवे। इन लुटेरों का मेरी दृष्टि से दूर रहना ही आपकी कृपा वर्षा का बरसना है॥ ११॥

मार्गपरिपन्थिकाः—शाक्तभूमि की ओर प्रवेश करने से रोकने वाले।
इस संसार में भी जैसे राजा के सर्तक रहने पर चोर लुटेरे डाकू आदि अपना आतंक फैलाने में असमर्थ रहते है, इसी प्रकार से भगवान् शंकर की कृपा प्राप्ति पर आन्तरिक जगत् को लूटने वाले इन्द्रियरूपी चोर भी सदा के लिए बेकार बनते हैं।
भावार्थ — हे प्रभु! ये मेरी इन्द्रियाँ और सत्त्व आदि गुण मेरे बड़े शत्रु हैं। जब मैं आप के मार्ग पर चलने लगता हूँ, तो ये बटमारों की तरह मुझे रोकते हैं

१. क० पु० परिपन्थकाः—इति पाठः।
२. ख० पु० भवेयुरिति—इति पाठः।

और मेरे परमार्थ-धन को छीन कर मेझे इससे वञ्चित रखते हैं। जरा मुझ पर प्रसन्न रहने की कृपा तो कीजिए, ताकि मैं इन बटमारों को वश में कर सकूँ और इन्हें मनमानी न करने दूँ। जब ऐसा होगा तो आप की कृपा आप से आप ही मुझे प्राप्त होगी और फिर मुझे आप के सामने गिड़गिड़ाना नहीं पड़ेगा।

**त्वद्भक्तिसुधासारै-**
**र्मानसमापूर्यतां ममाशु विभो।**
**यावदिमा उड्डयन्तां**
**निःशेषासारवासनाः प्लुत्वा॥ १२॥**

*अन्वयः*—विभो मम मानसं (तावत्) त्वद्भक्तिसुधाआसारैः आशु आपूर्यतां यावत् इमाः निःशेषअसारवासनाः प्लुत्वा उड्डयन्ताम्।

**विभो**—हे व्यापक प्रभु!, **मम**—मेरा, **मानसं**—मन रूपी मानसरोवर, (तावत्—तब तक), **त्वद्**—आप की, **भक्ति**—भक्ति रूपी, **सुधा**—अमृत की, **आसारैः**—धाराओं से, **आशु**—तुरन्त, **आपूर्यतां**—भर दिया जाय, **यावत्**—जब तक, **इमाः**—ये, **निःशेष**—सभी, **असार**—तुच्छ, **वासनाः**—(संकल्प-विकल्प-मय) वासनायें (रूपी पक्षी) **प्लुत्वा**—एकदम उठाकर **उड्डयन्तां** उड़जायें॥

**हे सर्वव्यापक प्रभु! जब तक ये सभी वासनारूपी तुच्छ परिन्दें सहसा उठकर उड़ जायें तब तक ही आपकी भक्तिरूपी अमृतधाराओं से मेरा मनरूपी मानसरोवर शीघ्र भर जाय।**

मानस—कैलाश पर स्थित मानसरोवर में राजहंस निवास करते हैं। राजहंस में यह विशेषता होती है कि वह दूध में से केवल दूध को पीकर पानी को एक ओर छोड़ता है इस श्लोक में राजहंस भगवान् शंकर का प्रतीक है और मानसरोवर प्रतीक है साधक के मन का। राजहंस मानसरोवर की ओर वर्षा ऋतु में जब प्रस्थान करते हैं तो वहां पर रहने वाले दूसरे परिन्दें भागने की तैयारी करते हैं क्योंकि मानसरोवर हंसों के आते ही अमृत जल से सरोबार होता है। यहां परिन्दें सकल्प विकल्पात्मक वासनाओं के प्रतीक हैं। हंसों के आगमन से जैसे अन्य परिन्दें मानसरोवर से दूर उड़ते हैं इसी तरह से संवित् प्रकाश के उदित होते ही वासनायें भी छितराती हैं। अर्थात् भक्तिरूपी अमृत से मन के भर आने पर शिवरूपी हंस का साक्षात्कार परमानन्द का कारण बनता है जिसके परिणामस्वरूप तुच्छ वासनाओं के लिए वहां कोई स्थान नहीं रहता है॥

**मोक्षदशायां भक्ति-**
**स्त्वयि कुत इव मर्त्यधर्मिणोऽपि न सा।**
**राजति ततोऽनुरूपा-**
**मारोपय [1]सिद्धिभूमिकामज माम्॥ १३॥**

*अन्वयः*—अज मर्त्य धर्मिणः मोक्षदशायां त्वयि भक्तिः कुतः इव (भवति) सा (तत्र) न राजति (अतः त्वं) ततः अनुरूपां सिद्धि भूमिकां माम् आरोपय।

अज—हे स्वयंभू महादेव!, **मर्त्यधर्मिणः**—मरना है स्वभाव जिस का, ऐसे मनुष्य को, **मोक्ष**—मोक्ष की, **दशायां**—दशा को पहुँचने के लिए, **त्वयि**—आप की, **भक्तिः**—भक्ति, **कुतः इव**—भला कैसे, (**भवति**—हो सकती है!), **सा**—वह (भक्ति), (**तत्र**—वहां, अर्थात् उस के हृदय में), **न राजति**—चमक नहीं उठती।, (**अतः त्वं**—अतः आप), **ततः**—उस (समावेश रूपिणी) भक्ति के, **अनुरूपां**—योग्य (अर्थात् समावेशमयी), **सिद्धि-भूमिकां**—परम-सिद्धि-भूमि पर (अर्थात् परम-शिव-पदवी पर), **माम्**—मुझे, **आरोपय**—पहुँचायें॥

हे अजन्मा प्रभु! आत्मस्वरूप के न पहचानने से, जन्ममरणात्मक स्वभाव वाले मनुष्यों को परमशिवता दशा प्राप्ति के लिए भला कैसे आपकी भक्ति हो सकती है क्योंकि वह भक्ति ऐसे मनुष्यों के हृदय में चमक नहीं उठती। अतः हे प्रभु! आप मुझे उस रुद्रशक्तिसमावेशात्मिका भक्ति के योग्य परम शिव पदवी पर पहुंचावे॥ १३॥

मोक्षदशायां—भक्ति का ही नाम मुक्ति है, क्योंकि कहा है कि परिपक्व अवस्था को पहुंची हुई प्रभु की भक्ति का ही नाम मुक्ति है। भक्ति की प्रथम दशा में पहुंचा हुआ भक्त मानो मुक्त ही हो गया है॥

**सिद्धिलवलाभलुब्धं**
**मामवलेपेन मा विभो संस्थाः।**
**क्षामस्त्वद्भक्तिमुखे**
**प्रोल्लसदणिमादिपक्षतो मोक्षः॥ १४॥**

*अन्वयः*— विभो (त्वं) माम् अवलेपेन सिद्धि लवलाभलुब्धं मा संस्थाः (यतः) प्रोल्लसत्अणिमा आदिपक्षतः मोक्षः त्वद् भक्ति मुखे क्षामः (भवति)।

१. क० पु० सिद्धभूमिकाम्—इति पाठः।

विभो–हे व्यापक प्रभु!, (त्वं–आप), माम्–मुझे, अवलेपेन–अभिमान के साथ, सिद्धि-लव–(भेद-मय अणिमा आदि) आंशिक सिद्धियों के, लाभ–लाभ के लिए, लुब्धं–लालायित, मा–कभी न, संस्थाः–बनाइये, (यतः–क्योंकि), प्रोल्लसत्–अत्यन्त चमकीली-भड़कीली (अर्थात् लुभाने वाली), अणिमा-आदि–अणिमा आदि (आठ सिद्धियों) के, पक्षतः–आधार पर (प्राप्त किया गया), मोक्षः–मोक्ष, त्वद्-भक्ति-मुखे–आप की भक्ति के सामने (अर्थात् आप के समावेश के आनन्द के सामने), क्षामः–क्षीण अर्थात् अपूर्ण, (भवति–होता है)॥

**हे सर्वव्यापक प्रभु! आप मुझे समावेशात्मक पूर्ण सिद्धियों की अपेक्षा भेदमयी अणिमा आदि आंशिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए कभी लालायित न बनाइये, क्योंकि इन चमकीली और लुभावनी अणिमा आदि आठ सिद्धियों के आधार पर अर्जित किया गया मोक्ष आपके चिदानन्द रस के सामने तुच्छ है॥ १४॥**

"भुक्त्वा भोगान् शिवं व्रजेत्" इस शास्त्र कथन के अनुसार पारमार्थिक मार्ग में साधक लोग सिद्धियों की प्राप्ति के पश्चात् सुख भोगों का उपभोग करके शिवता को ही प्राप्त करते हैं। पर इन सिद्धियों के आधार पर प्राप्त की गई शिवता शिवसमावेश के आनन्द के सामने कम महत्त्व की है।

**दासस्य मे प्रसीदतु**
**भगवानेतावदेव ननु याचे।**
**[1]दाता त्रिभुवननाथो**
**यस्य न तन्मादृशां दृशो विषयः॥ १५॥**

*अन्वयः*–(नाथ) (अहं तु) ननु एतावत् एव याचे भगवान् मे दासस्य प्रसीदतु यस्य (फलस्य) दाता त्रिभुवननाथः तत् मादृशां दृशः विषयः न (अस्ति)।

(नाथ–हे स्वामी!), (अहं तु–मैं तो), ननु–सचमुच, एतावत्–इतनी, एव–ही, याचे–प्रार्थना करता हूँ कि, भगवान्–(आप) प्रभु-देव, मे–मुझ, दासस्य–दास पर, प्रसीदतु–प्रसन्न रहें।, यस्य–जिस, (फलस्य–फल का), दाता–दाता (अर्थात् जिस मोक्ष रूपी असामान्य फल का दाता), त्रिभुवन–

१. क० पु० धाता–इति पाठः।

तीनों लोकों के, नाथः—स्वामी (आप हैं), तत्—वह (मोक्षात्मक फल), मादृशां—मुझ जैसे (लोगों) की, दृशः—बुद्धि का, विषयः—विषय, न (अस्ति)—नहीं है, (अर्थात् वह मुझ जैसे लोगों की समझ से बाहिर है)॥

हे स्वामी! आप मुझ दास पर प्रसन्न रहें मैं तो सचमुच इतनी ही प्रार्थना करता हूँ। जिस असाधारण मोक्षरूपी फल को देने वाले आप तीनों लोकों के स्वामी हैं वह मोक्षरूपी फल मुझ जैसे लोगों की बुद्धि का विषय नहीं है॥ १५॥

'एतावत्' कहने का तात्पर्य यह है कि 'इतनीही' अर्थात् अणिमा लघिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना नहीं करता हूँ अपितु केवल इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि मुझ दास पर प्रसन्न रहिये।
'यस्य' का तात्पर्य है कि जिस असंभाव्य फल का देने वाला।

**त्वद्वपुःस्मृतिसुधारसपूर्णे**
**मानसे तव पदाम्बुजयुग्मम्।**
**मामके विकसदस्तु सदैव**
**प्रस्त्रवन्मधु किमप्यतिलोकम्॥ १६॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) त्वद्वपुःस्मृतिसुधारसपूर्णे मामके मानसे तव पद अम्बुजयुग्मं किमपि अतिलोकं मधु प्रस्त्रवत् सदैव विकसत् अस्तु।

(**प्रभो**—हे प्रभु!), **त्वद्**—आप के, **वपुः**—स्वरूप के, **स्मृति**—चिन्तन रूपी, सुधा—अमृत के, रस—रस से, **पूर्णे**—भरे हुए, **मामके**—मेरे, **मानसे**—मन में, तव—आप के, पद-अम्बुज—चरण-कमलों का, युग्मं—जोड़ा, **किमपि**—अवर्णनीय, **अतिलोकं**—तथा अलौकिक, **मधु**—(परमानन्द रूपी) अमृत को, **प्रस्त्रवत्**—बहाते हुए, **सदैव**—सदैव, **विकसत्**—खिला, **अस्तु**—रहे, (अर्थात् भेद रूपी संकोच को दूर करता रहे)॥

हे स्वामी! मेरा मन आपके स्वरूप के स्मरण रूपी अमृत रस से परिपूर्ण है। ऐसे मेरे मन में असाधारण और अनिर्वचनीय चिदानन्द रस को बहाता हुआ आपका ज्ञान क्रियारूपी चरण कमलों का जोड़ा हमेशा ही विकसित रहे अर्थात् मेरी भेदप्रथात्मक संकोचावस्था शान्त होवे॥ १६॥

पादाम्बुजं—ज्ञानक्रिया रूपी चरण कमलों का जोड़ा। रसपूर्णे मानसे—जलपूर्ण सरोवर में, अम्बुजं—कमल, विकसत्—खिला हुआ, मधु—शहद को, प्रस्रवत्—बहाता है।

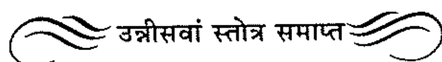
**[१]अस्ति मे प्रभुरसौ जनकोऽथ**
**त्र्यम्बकोऽथ जननी च भवानी।**
**न द्वितीय इह कोऽपि ममास्ती-**
**त्येव निर्वृततमो विचरेयम्॥ १७॥**

*अन्वयः*—अथ असौ त्र्यम्बकः प्रभुः मे जनकः अस्ति अथ च भवानी (मे) जननी इह द्वितीयः कोऽपि मम न अस्ति इत्येव निर्वृततमः (सन्) (अहं) विचरेयम्।

अथ—अब, असौ—यह, त्र्यम्बकः—त्र्यम्बक नाथ (अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपिणी तीन शक्तियों का स्वामी), प्रभुः—प्रभु, शंकर, मे—मेरा, जनकः—पिता, अस्ति—है, अथ च—और, भवानी—पार्वती जी (परा-शक्ति), (मे—मेरी), जननी—माता (है)।, इह—इस संसार में, द्वितीयः—दूसरा, कोऽपि—कोई भी, मम—मेरा, न—नहीं, अस्ति—है।, इत्येव—इतने में ही, निर्वृततमः—अत्यन्त आनन्दित, (सन्—होकर), (अहं—मैं), विचरेयम्—विहार करूँ॥

इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपिणी तीन शक्तियों का स्वामी यह भगवान् शंकर मेरा पालक पिता है और पराशक्ति भवानी मेरी माँ है। क्योंकि मैं इस प्रकार के महेश्वर स्वरूप से परिचित बना हुआ हूँ अतः मेरा इस भेदप्रथात्मक संसार में कोई दूसरा नहीं है। इतने में ही मैं अत्यन्त आनन्दित होकर विहार करूँ॥ १७॥

असौ—यह चिदानन्दघन
प्रभुः—अनुग्रह करने वाला
जनकः—प्रमातृता का उल्लासक।
विश्व का कल्याण हो
पराभट्टारिका देवी यस्य गौरी प्रिया परा।
हस्तु स हरः वृत्तिभेदजां मम सर्वशः॥




१. ख० पु० अस्तु—इति पाठः।

ओं नमः शिवाय।

भावानां भासनमस्तु
त्वन्मयत्वेन मे भव।
न सृष्टिर्नचसंहारः
न स्थितिर्भवतोऽन्यथा॥

# भक्तिविलास नामक बीसवां स्तोत्र

इस स्तोत्र का दूसरा नाम चर्वण स्तोत्र भी है। क्योंकि इसमें पिछले उन्नीस स्तोत्रों के अवर्णनीय रस का चर्वण-आस्वादन किया गया है।

**नाथं त्रिभुवननाथं भूतिसितं त्रिनयनं त्रिशूलधरम्।**
**उपवीतीकृतभोगिनमिन्दुकलाशेखरं वन्दे॥ १॥**

*अन्वयः*—(अहं) त्रिभुवननाथं भूतिसितं त्रिनयनं त्रिशूलधरम् उपवीतीकृतभोगिनम् इन्दुकलाशेखरं नाथं वन्दे।

(अहं—मैं), त्रिभुवन—तीनों लोकों के, नाथं—स्वामी, भूति—भस्म (के लेप) से, सितं—गोरे रंग वाले, त्रिनयनं—त्रिनेत्र-धारी, त्रिशूल—त्रिशूल को, धरम्—धारण करने वाले, उपवीती-कृत-भोगिनम्—(वासुकि आदि) सर्पों को यज्ञोपवीत के रूप में गले में धारण करने वाले, इन्दुकला—तथा चन्द्रकला को, शेखरं—माथे पर धारण करने वाले, नाथं—अपने स्वामी को, वन्दे—प्रणाम करता हूँ॥

मैं उस अपने स्वामी को प्रणाम करता हूँ जो तीनों लोकों के स्वामी है, भस्म मलने से जिनका वर्ण गौरा हो गया है, जो तीन नेत्रों तथा त्रिशूल से शोभित हैं, जो सांपों को जनेऊ के रूप में गले में और अमाकला को माथे पर धारण करने वाले हैं॥ १॥

बाह्य अर्थ तो स्पष्ट हुआ। आन्तरिक अर्थ तो इस प्रकार है—

नाथं—जो सबों के अभिलषित हैं।

त्रिभुवननाथं—भूः भवः और स्वः इन तीन भुवनों के अथवा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप जगत् के अथवा जो भव, अभव और अतिभव के स्वामी हैं।भव से जाग्रत लोक का, अभव से स्वप्न लोक का अतिभव से सुषुप्ति लोक का

सम्बन्ध है।

**भूतिसितं**—विश्वमयी विभूति से सम्बन्ध है।

**त्रिनयनं**—इच्छा ज्ञान और क्रियारूपी तीन नेत्रों से सुशोभित हैं।

**त्रिशूलधरं**—भेद प्रथा को दूर करने के लिए प्रकाशमान ज्ञान रूपी त्रिशूल को धारण करने वाले हैं। कहा भी है—तन्मध्ये तु परादेवी दक्षिणे च परापरा। अपरा वामशृङ्गेतु मध्यशृङ्गोर्ध्वतः श्रुणु॥ यासा संकर्षिणी देवी परातीता व्यवस्थिता।

**उपवीतीकृतभोगिनं**—विशेष रूप से अनुगृहीत किये गये पूजा में लगे हुए सभी स्वस्थ प्राणियों को आभासन से कान्तिमान् बनाकर उनके इच्छा प्रसर को जिसने समेटा है।

**इन्दुकला**—चन्द्रमा की पन्द्रह कलाओं में पन्द्रहवी कला ही ऐसी है जिसका न क्षय होता है न वृद्धि होती है। इसी का नाम अमा कला है। इसी अमा कला को अपने माथे पर शशि-शेखर ने धारण किया है क्योंकि ऐसी कला को अपनाने योग्य तो एकमात्र यही हैं। अतः **इन्दुकलाशेखरं**—विश्व को अनुप्राणित करने वाली चिति शक्ति ही जिसका मुख्य रूप हैं।

**नाथं वन्दे**—उस योगीन्द्र में मैं समावेश करता हूँ।

**नौमि निजतनुविनिस्सरदंशुकपरिवेषधवलपरिधानम्।**
**विलसत्कपालमालाकल्पितनृत्तोत्सवाकल्पम्॥ २॥**

*अन्वयः*— निजतनुविनिःसरत्अंशुक परिवेष धवलपरिधानं (तथा) विलसत्-कपाल माला कल्पित नृत्त उत्सव आकल्पं (ताण्डव-प्रियम्) (अहं) नौमि।

**निज**—जो अपने, **तनु**—(चिन्मय) स्वरूप से, **विनिःसरत्**—चमक उठने वाले, **अंशुक-परिवेष**—किरण-मंडल रूपी, **धवल**—शुभ्र (अर्थात् सफेद रंग के), **परिधानं**—वस्त्र को धारण करता है, (तथा—तथा), **विलसत्-कपाल-माला-कल्पित-नृत्त-उत्सव-आकल्पं**—जो (तांडव नामक) नृत्य रूपी उत्सव के समय चमकती हुई मुण्ड-माला से (अपने को) सुशोभित करता है, (ताण्डव-प्रियम्—ऐसे ताण्डव-प्रिय, भगवान् शंकर को), (अहं—मैं), **नौमि**—प्रणाम करता हूँ॥

ताण्डव नृत्यरूपी उत्सव के समय प्रकाशनशील कपालमाला से अपने को शोभायमान बनाने वाले, तथा अपने चिन्मय रूप से प्रकाशित होने वाले, किरणमण्डलरूपी सफेद रंग के वस्त्रों को धारण करने वाले

भगवान् शंकर को मैं प्रणाम करता हूँ॥ २॥

'अंशुक परिवेष.धवल परिधानं' से तात्पर्य यह है कि जो प्रभु अपने चमकीले शक्तिचक्र से निरन्तर समावृत है।

'कपालमाला' से तात्पर्य है कि सदाशिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तक सारा प्रमातृवर्ग।

'नृत्तोत्सव' से तात्पर्य है स्वातन्त्र्य विकास का अभ्युदय।

**वन्दे तान् दैवतं येषां हरश्चेष्टा हरोचिताः।**
**हरैकप्रवणाः प्राणाः सदा सौभाग्यसद्मनाम्॥ ३॥**

*अन्वयः*—(अहं) तान् (भक्तान्) सदा वन्दे, येषां सौभाग्य सद्मनां (भक्तानां) दैवतं हरः (येषां) चेष्टाः हरउचिताः (भवन्ति) (एवं) (येषां) प्राणाः हरएकप्रवणाः भवन्ति।

(अहं—मैं), तान्—उन, (भक्तान्—भक्त-जनों को), सदा—सदा, वन्दे,—प्रणाम करता हूँ, येषां—जिन, सौभाग्य-सद्मनां—(परमानन्द-पूर्ण होने के कारण) सौभाग्य-शाली, (भक्तानां—भक्तों का), दैवतं—देवता (इष्ट-देव), हरः—महादेव है, (येषां—जिन की), चेष्टाः—सभी चेष्टाएँ, हर—महादेव (की प्राप्ति) के, उचिताः—अनुकूल, (भवन्ति—होती हैं), (एवं—और), (येषां) प्राणाः—जिन का सारा जीवन, हर- एक—केवल महादेव की, प्रवणाः—भक्ति में ही लीन, भवन्ति—बना रहता है॥

जिन सौभाग्यशाली भक्तजनों का देवता भगवान् शंकर है, जिन सौभाग्यशाली भक्तजनों की सारी चेष्टायें भगवत् प्राप्ति के अनुकूल होती है और जिन भक्तजनों का जीवन केवल महादेव की भक्ति में ही लीन रहता है, उन भक्तजनों को मैं सदा प्रणाम करता हूँ॥ ३॥

'हरैकप्रवणा' अर्थात् जो सदा महादेव के समावेश के रसिक हैं।

**क्रीडितं तव महेश्वरतायाः पृष्ठतोऽन्यदिदमेव यथैतत्।**
**इष्टमात्रघटिते[1]ष्ववदानेष्वात्मना परमुपायमुपैमि॥ ४॥**

*अन्वयः*—(प्रभो) तव महेश्वरतायाः पृष्ठतः एव इदम् अन्यत् क्रीडितं (दृश्यते)

१. क० पु० ष्वपदानेषु—इति पाठः।

यथा एतत् (अहम्) इष्टमात्र घटितेषु अवदानेषु आत्मना परम् उपायम् उपैमि।

(प्रभो–हे प्रभु!), तव–आप की, महेश्वरतायाः–महेश्वरता (अर्थात् विश्व-प्रभुता) के, पृष्ठतः एव–साथ ही, इदम्–(आप की) यह, अन्यत्–दूसरी, क्रीडितं–लीला, (दृश्यते–देखने में आती है।), यथा एतत्–वह यह है कि, (अहम्–मैं), इष्टमात्र–केवल इच्छा से ही, घटितेषु–सिद्ध बने हुए, अवदानेषु–(आप के पांच प्रकार के कार्य रूपी) अद्भुत कर्मों के करने में, आत्मना–स्वयं ही, परम्–परिपूर्ण, उपायम्–उपाय, उपैमि–प्राप्त करता हूँ। (अर्थात् आप के समावेश से मैं भी आप की तरह अनायास ही पंच-विध- कृत्य-कारी बन जाता हूँ और यही आप की दूसरी लीला है।)॥

हे प्रभु! आपकी विश्वप्रभुता के साथ ही यह दूसरी लीला आपकी देखने में आती है कि मैं इच्छामात्र से ही सिद्ध बने हुए आपके विचित्र पंच कृत्यों के करने में स्वयं ही परिपूर्ण उपाय प्राप्त करता हूँ अर्थात् आपके समावेश से मैं भी आपकी तरह स्वतः ही पांच प्रकार के कर्मों का करने वाला बन जाता हूँ यही आपकी दूसरी लीला है॥ ४॥

अवदानेषु–विचित्र कार्यों के करने में

**त्वद्धाम्नि विश्ववन्द्येऽस्मिन्नियति क्रीडने सति।**
**तव नाथ कियान् भूयान्नानन्दरससम्भवः॥ ५॥**

*अन्वयः*– नाथ विश्ववन्द्ये त्वद्धाम्नि इयति अस्मिन् क्रीडने सति (ततः) तव आनन्द रससम्भवः कियान् भूयान् (भवेत्)।

नाथ–हे स्वामी!, विश्व–सारे जगत् से, वन्द्ये–पूजे जाने योग्य, त्वद्–आप के, धाम्नि–प्रकाश-स्वरूप परम धाम में, इयति–जब इतनी (अर्थात् इस समस्त ब्रह्माण्ड की रचना रूपिणी), अस्मिन्–यह, क्रीडने–क्रीडा (अर्थात् लीला), सति–है, (ततः–तो भला), तव–आप (के संपूर्ण स्वरूप) के, आनन्दरस–आनन्द-रस की, सम्भवः–उत्पत्ति, कियान्–कितनी, भूयान्–बड़ी (या अधिक), (भवेत्–होगी!)॥

हे प्रभु! सारे संसार से अर्चनीय आपके प्रकाशस्वरूप परमधाम में, जब इस सारे जगत् की रचना रूपिणी इतनी यह लीला है तो आपके

संपूर्ण स्वरूप के आनन्द रस की उत्पत्ति कितनी विचित्र होगी कहने का तात्पर्य यह है कि सारे ब्रह्माण्ड की रचना जिसके प्रकाशस्वरूप अनुत्तर धाम में एक क्रीडा है तो संपूर्ण स्वरूप से आविर्भूत अद्वैतानन्दरस का चमत्कार कितना ही अवर्णनीय होगा॥ ५॥

धाम्नि–संवित् स्वरूप में

**कथं स सुभगो मा भूद्यो गौर्या वल्लभो हरः।**
**हरोऽपि मा भूदथ किं गौर्याः परमवल्लभः॥ ६॥**

*अन्वयः*–यः हरः गौर्याः वल्लभः (अस्ति) सः कथं सुभगः मा भूत् अथ हरः अपि गौर्याः परम वल्लभः किं मा भूत्।

यः–जो, हरः–(आनन्द-घन) महादेव, गौर्याः–गौरी (अर्थात् परा शक्ति) का, वल्लभः–प्रिय, (अस्ति–है,) सः–वह, कथं–क्यों, सुभगः–सुन्दर (अथवा सौभाग्यशाली और इसीलिए सब के लिए स्पृहणीय), मा भूत्–न हो!, अथ–और, हरः–(समावेश के चमत्कार के कारण मनोमुग्धकारी तथा चिदानन्द-घन,) शंकर, अपि–भी, गौर्याः–गौरी (अर्थात् परा शक्ति) का, परम- वल्लभः–अत्यन्त प्रिय, किं–क्यों, मा भूत्–न हो!॥

जो भगवान् शंकर पराभट्टारिका पार्वती का प्रिय है वह सबों से अभिलषणीय क्यों न हो? समावेश के चमत्कार के कारण सबों के हृदय को हरण करने वाले तथा द्वैतभाव को नष्ट करने वाले महादेव भी पराभट्टारिका पार्वती के परमप्रिय क्यों न हो?॥ ६॥

**ध्यानामृतमयं यस्य स्वात्ममूलमनश्वरम्।**
**संविल्लतास्तथारूपास्तस्य कस्यापि सत्तरोः॥ ७॥**

*अन्वयः*–यस्य सत् तरोः स्वात्ममूलं ध्यानअमृतमयम् (एवम्) अनश्वरम् तस्य कस्यापि (सत्-तरोः) संवित्लताः (अपि) तथारूपाः (सन्ति)।

यस्य–जिस, सत्-तरोः–(समावेश-शाली) भक्त का, स्वात्म–अपनी आत्मा का, मूलं–कारण (अर्थात् जन्मदाता) रूपी जड़, ध्यान–ईश्वर-ध्यान रूपी, अमृत–अमृत से, मयम्–परिपूर्ण, (एवम्–और), अनश्वरम्–अविनाशी

हो, तस्य—उस, कस्यापि—अलौकिक, (सत्-तरोः—भक्तरूपी उत्तम पेड़ की), संवित्—विषय ज्ञान रूपी, लताः—शाखायें, (अपि—भी), तथारूपाः—वैसी ही ध्यानामृतमय और परिपूर्ण, (सन्ति—होती हैं)॥

जिस साधकरूपी श्रेष्ठ वृक्ष की कारण रूपी जड़ प्रभुध्यान रूपी अमृत से पूर्ण और अविनाशी हो, उस असाधारण साधक रूपी सन्तापहारी श्रेष्ठ वृक्ष की विषयज्ञानरूपी शाखायें भी वैसी ही ध्यानामृत पूर्ण और अविनाशी होती हैं॥

ध्यान—स्वरूप अख्याति को हटाने में तत्पर चिदानन्द रस उत्पत्ति से परभट्टारक के स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान।
अनश्वर—जो परभट्टारक चिद्रूप होने के कारण नित्य है।
'संवित् लता' से तात्पर्य है "नील हर्षादिभेदेन यत् बाह्याभ्यन्तरं जगत्"।
अहमित्यामृशन् पूर्णो।
'तथारूप' से तात्पर्य है प्रभु ध्यान रूपी अमृत से सरोबार और अविनाशी।

**भक्तिकण्डूसमुल्लासावसरे परमेश्वर।**
**महानिकषपाषाणस्थूणा पूजैव जायते॥ ८॥**

*अन्वयः*— परमेश्वर भक्तिकण्डूसमुल्लासअवसरे पूजा एव महा निकष पाषाण स्थूणा जायते।

**परमेश्वर**—हे परमात्मा!, **भक्ति**—भक्ति (की तीव्रता) रूपिणी, **कण्डू**—खुजली के, **समुल्लास**—चमक उठने के, अवसरे—समय पर, **पूजा एव**—(समावेशमयी) पूजा रूपी, महा-निकष-पाषाण-स्थूणा—कसौटी के पत्थरों का बड़ा खंभा, जायते—उत्पन्न होता है, (और वह खंभा अपनी रगड़ से उस खुजली को शान्त करता है)॥

हे प्रभु! आपका गाढ़ अनुराग ही विवशता लाने के कारण खुजली है। उस खुजली के तीव्र होने के पश्चात् (समावेश मयी) पूजारूपी कसौटी के पत्थरों का बड़ा खंभा पैदा होता है और अपनी रगड़ से (अर्थात् उस खंभे के साथ अपने आपको रगड़ने से) यह खंभा उस खुजली को शान्त करता है॥ ८॥

तात्पर्य यह है कि किसी खंभे आदि के साथ रगड़ने से खुजली की अधिकता जैसे कम होती जाती है वैसे ही भक्ति की तीव्रता रूपी खुजली के आने पर भक्त परमानन्द लाभ प्राप्ति से शान्त होता है॥

**सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने।**
**सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय [1]स्वामिने नमः॥ ९॥**

*अन्वयः*— सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थिति सुखआसिने (एवं) सदा त्रिभुवन-आहार तृप्ताय स्वामिने नमः।

सदा—जो सदा, सृष्टि—(इस जगत् की) सृष्टि, विनोदाय—(अपने) विनोद (अर्थात् जी बहलाने) के लिए करता है, सदा—जो सदा, स्थिति—(इस की) रक्षा कर के, सुख—सुख से, आसिने—बैठा रहता है, (एवं—तथा), सदा—जो सदा, त्रिभुवन—(स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल—इन) तीनों लोकों का, आहार—(संहार रूपी) आहार करके, तृप्ताय—तृप्त बना रहता है, स्वामिने—ऐसे प्रभु-देव (भगवान् शंकर) को, नमः—(मेरा) प्रणाम हो॥

जो भगवान् शंकर अपने मन बहलाने के लिए इस संसार की रचना करता है फिर इस निर्मित संसार की सदा रक्षा करके बड़े चैन से बैठता है और तीनों लोकों का विनाशरूपी आहार करके सदा तृप्त बना रहता है, उस भगवान् शंकर के लिए मेरा नमस्कार हो॥ ९॥

**न क्वापि गत्वा हित्वापि न किंचिदिदमेव ये।**
**भव्यं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः॥ १०॥**

*अन्वयः*— (प्रभो) ये भव्याः क्वापि न गत्वा (एवं) किंचित् अपि न हित्वा इदम् एव भव्यं त्वद् धाम पश्यन्ति तेभ्यः नमो नमः।

(प्रभो—हे स्वामी!), ये—जो, भव्याः—भाग्यशाली (भक्त-जन), क्वापि—किसी (विशेष द्वादशान्त आदि) स्थान को, न—न, गत्वा—जा कर ही, (एवं—तथा), किंचित् अपि—(हान-आदान आदि) किसी कर्म को, न—नहीं, हित्वा—त्याग कर ही, इदम् एव—इसी (दुःख-पूर्ण) संसार को ही, भव्यं त्वद्-धाम—आपका मोक्ष संपदाप्रद स्वरूप, पश्यन्ति—समझते हैं, तेभ्यः—उन को, नमो नमः—बार-

१. ग०.पु० भवते—इति पाठः।

बार (मेरा) नमस्कार हो॥

हे प्रभु! जो भाग्यशाली भक्त विशेष द्वादशान्त आदि स्थान की ओर न जाकर, त्याज्य या ग्राह्य कर्मों की ओर भी ध्यान न देकर इस आधिव्याधिमय जगत् को ही मोक्षधामदायक आपका स्वरूप समझ बैठते हैं उन भाग्यशाली भक्तों को मेरा नमस्कार हो॥ १०॥

अप्रबुद्ध योगी इस संसार को छोड़कर वनवास करते हैं और वहां भगवत् अनुसन्धान में लीन होते हैं, पर फिर भी वे सफलता के दामन को नहीं छूते हैं इसके विरुद्ध समावेशशाली भक्तजन इस दुःखमय संसार को प्रभु का जीवन्त और प्रकाशमान स्वरूप समझते है और इसी में लौकिक कार्यों को करते करते वे स्वरूप साक्षात्कार का आनन्द लेते हैं।

**भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।**
**[1]एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्॥ ११॥**

*अन्वयः*—भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां अन्यत् किम् उपयाचितम् एतया वा दरिद्राणाम् अन्यत् किम् उपयाचितम्।

भक्ति- —(स्वरूप-समावेश-मयी) भक्ति रूपिणी, लक्ष्मी—लक्ष्मी से, समृद्धानां—संपन्न (भक्तों) के लिए, अन्यत्—और, किम्—क्या, उपयाचितम्—मांगने योग्य है? (अर्थात् और किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती।), एतया वा दरिद्राणाम्—और जो इस संपत्ति से रहित हों, (अर्थात् जिन को ऐसी भक्ति रूपिणी संपत्ति प्राप्त न हो), उनके लिए, अन्यत्—(ऐसी भक्ति के सिवा) और, किम्—क्या, उपयाचितम्—मांगने योग्य है? (अर्थात् वे इसी को चाहते हैं)॥

समावेशमयी भक्तिरूपिणी लक्ष्मी से समृद्ध बने हुए भक्तों के लिए किसी वस्तु को मांगने की अभिलाषा नहीं रहती। अथवा जो इस भक्तिरूपिणी लक्ष्मी से वंचित है उनके लिए भी ऐसी भक्ति को छोड़कर और क्या मांगने योग्य है अर्थात् वे भी ऐसी ही भक्ति की कामना करते हैं॥ ११॥

---

१. क० पु० एनया—इति पाठः।

प्रथम श्लोकार्ध में आये अन्यदुपयाचितं से तात्पर्य है कि प्राप्तव्य के प्राप्त होने से शेष क्या मांगने के योग्य है।

दूसरे श्लोकार्ध के अन्त पर आये 'किमन्यदुपयाचितं' से तात्पर्य है कि परमार्थ तत्त्व की अप्राप्ति से अन्य असार प्राय वस्तुजात से क्या प्रयोजन है?॥

**दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।**
**मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः॥ १२॥**

*अन्वयः*—यत्र दुःखानि अपि सुखायन्ते विषम् अपि अमृतायते च संसारः मोक्षायते सः शांकरः मार्गः (अस्ति)।

यत्र—जहाँ (अर्थात् जिस मार्ग पर चलने से), दुःखानि—दुःख, अपि—भी, सुखायन्ते—सुख बन जाते हैं, विषम्—विष, अपि—भी, अमृतायते—अमृत बन जाता है, च—और, संसारः—यह संसार (भी), मोक्षायते—मोक्ष (की प्राप्ति) का साधन बन जाता है, सः—वह, शांकरः—भगवान् शंकर का, मार्गः—मार्ग (अर्थात् परम शाक्तपद), (अस्ति—है)॥

जिस मार्ग पर चलने से दुःख भी सुख बन जाते हैं जहर भी अमृत बन जाता है और यह (भीषण) संसार भी मोक्ष प्राप्ति का साधन बन जाता है वही मार्ग भगवान् शंकर का मार्ग है। मार्ग से यहां तात्पर्य है कि भगवान् शंकर का परमशाक्त पद॥ १२॥

**मूले मध्येऽवसाने च नास्ति दुःखं भवज्जुषाम्।**
**तथापि वयमीशान सीदामः कथमुच्यताम्॥ १३॥**

*अन्वयः*—ईशान भवत्जुषां मूले मध्ये च अवसाने दुःखं नास्ति तथापि वयं सीदामः कथम् (एतत्) (इति) उच्यताम्।

ईशान—हे स्वतंत्र प्रभु!, भवत्—आप के, जुषां—भक्तों को, मूले—आरम्भ, मध्ये—मध्य, च—और, अवसाने—अन्त में (अर्थात् संवित् के उदय, प्रसर तथा विश्रांति में), दुःखं—(कोई) दुःख, नास्ति—नहीं होता, तथापि—तो भी, वयं—हम, सीदामः—कष्ट उठाते हैं, कथम् (एतत्)—यह क्या बात है।, (इति) उच्यताम्—ज़रा कहिए तो!॥

हे ईशान अर्थात् स्वतन्त्र प्रभु! आपके जो भक्त होते हैं उन्हें सवित्

के उदय में, प्रसर में तथा विश्रान्ति में कोई दुःख नहीं होता है। पर यह क्या बात है कि आपके स्पृहणीय (चहेते) होते हुए भी हम कष्टों का सामना करते हैं। यह जरा बताइये॥ १३॥

मूल, मध्य और अवसान से यहां तात्पर्य, संवित् के उदय, प्रसर और विश्रान्ति से है। अर्थात् मूल से स्वरूप प्रवेश, मध्य से स्वरूप प्रसर, और अवसान से स्वरूप विश्रान्ति अभिप्रेत है।

'सीदामः' का तात्पर्य है कि हम समावेश अवस्था से निकलकर व्युत्थान में क्यों दुःखाभिभूत होते हैं?॥

**ज्ञानयोगादिनान्येषा[1]मप्यपेक्षितुमर्हति।**
**प्रकाशः स्वैरिणामेव भवान् भक्तिमतां [2]प्रभो॥ १४॥**

*अन्वयः*—प्रभो अन्येषां भवान् ज्ञानयोगआदिना अपि अपेक्षितुम् अर्हति (परं) स्वैरिणां भक्तिमतां (भवान्) (सदा) प्रकाशः एव भवति।

**प्रभो**—हे प्रभु!, **अन्येषां**—कुछ लोगों के लिए, **भवान्**—आप, **ज्ञान**— ज्ञान, **योग**—योग, **आदिना अपि**—(तथा क्रिया) आदि (उपायों) की भी, **अपेक्षितुम्**—अपेक्षा करने के, **अर्हति**—योग्य होते हैं।, (**परं**—किन्तु), **स्वैरिणां**—(समावेशशाली और इसी लिए) स्वेच्छाचारी, **भक्तिमतां**—भक्त-जनों के लिए, (**भवान्**—आप का स्वरूप), (**सदा**—सदा), **प्रकाशः**—प्रकट, **एव**—ही, **भवति**— होता है॥

हे स्वामी! साधारण भक्तों को ज्ञान क्रिया तथा योग आदि बहुत से उपायों का सहारा लेना पड़ता है और इस तरह अत्यन्त परिश्रम और दुःखों का सामना करने के पश्चात् ही कहीं आपके स्वरूप लाभ से वे लाभान्वित होते हैं, परन्तु आपके समावेशशाली भक्तों को कोई ऐसा कष्ट उठाना नहीं पड़ता है। उपायों के झमेले में फंसने के विना ही वे अपने व्यवहार में स्वतन्त्र होते हैं॥ १४॥

**भक्तानां नार्तयो नाप्यस्त्याध्यानं स्वात्मनस्तव।**
**तथाप्यस्ति शिवेत्येतत्किमप्येषां बहिर्मुखे॥ १५॥**

१. क० पु० इवापेक्षितुमर्हति—इति पाठः।

२. ग० पु० विभो इति पाठः।

*अन्वयः*– (परमात्मन्) भक्तानां न आर्तयः न अपि तव स्वात्मनः आध्यानम् अस्ति तथापि किमपि शिव इत्येतत् बहिः एषां मुखे अस्ति।

(**परमात्मन्**–हे परमेश्वर!), **भक्तानां**–(आप के समावेशशाली) भक्तों को, **न**–न तो, **आर्तयः**–दुःख ही, **न अपि**–और न, **तव**–आप, **स्वात्मनः**–स्वात्म- स्वरूप की, **आध्यानम्**–(प्राप्ति की अभिलाषा के कारण) चिन्ता ही, **अस्ति**–होती है, **तथापि**–तो भी, **किमपि**–(परमानन्द से अभिन्नता को सूचित करने वाला), अलौकिक, **शिव**–'हे शिव', **इत्येतत्**–ऐसा शब्द, **बहिः**–बाहर से (अर्थात् व्युत्थानदशा में), **एषां**–इन भक्तों के, **मुखे**–मुख में, **अस्ति**–रहता है, (अर्थात् यह शब्द इन के मुख से आप से आप ही उच्चरित होता रहता है)॥

हे भगवान् शंकर! आपके समावेशशाली साधकों को न तो क्लेशों का सामना करना पड़ता है और न आपकी प्राप्ति की इच्छा के कारण उन्हें चिन्ता ही होती है। तो भी परमानन्द को प्रकट करने वाला 'हे शिव' ऐसा असाधारण शब्द व्युत्थानावस्था में भी इन भक्तों के मुख से स्वयं ही उच्चरित होता है॥ १५॥

**सर्वाभासावभासो यो विमर्शवलितोऽखिलम्[१]।**
**अहमेतदिति स्तौमि तां क्रियाशक्तिमीश ते॥ १६॥**

*अन्वयः*– ईश अहम् एतत् अखिलम् इति यः सर्वआभासअवभासः विमर्श-वलितः (अस्ति) तां ते क्रिया शक्तिम् (अहं) स्तौमि।

**ईश**–हे विश्वेश्वर!, **अहम्**–'मैं ही, **एतत्**–यह, **अखिलम्**–समस्त जगत् हूँ', **इति**–ऐसा, **यः**–जो, **सर्व**–सभी, **आभास**–प्रकाशों का, **अवभासः**–प्रकाश, **विमर्श**–स्वात्म-परामर्श से (अर्थात् परमानन्द के चमत्कार से), **वलितः**–परिपूर्ण बना हुआ, (**अस्ति**–है), **तां**–उसी, **ते**–आप की, **क्रिया-शक्तिम्**–(अहं-परामर्शरूपिणी) क्रिया-शक्ति की, (अहं–मैं), **स्तौमि**–स्तुति करता हूँ, (अर्थात् उसी में समावेश करता हूँ)॥

हे परमेश्वर! "मैं ही यह सारा संसार" हूँ ऐसा स्वात्मपरामर्श से

१. ख० पु० अपि सन्–इति पाठः।

परिपूर्ण बना हुआ जो सारे प्रकाशों का प्रकाश है उसी आपकी अहं–परामर्शरूपिणी क्रिया शक्ति की मैं स्तुति करता हूँ॥ १६॥

**वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः।**
**[1]ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम्॥ १७॥**

*अन्वयः*—देव (जगति) अशेषाः जन्तवः (एवं) ब्रह्माइन्द्रविष्णवः अपि ग्रसमानाः वर्तन्ते ततः भवत् मयं विश्वं वन्दे।

**देव**—हे प्रभु!, (**जगति**—इस संसार में), **अशेषाः**—(क्षेत्रज्ञ नाम से प्रसिद्ध सभी), **जन्तवः**—जीव, (**एवं**—तथा), **ब्रह्मा**—(सृष्टि-कर्ता) ब्रह्मा, **इन्द्र**—(शासन-कर्ता) इन्द्र, **विष्णवः**—और (स्थिति-कर्ता) विष्णु, **अपि**—भी, **ग्रसमानाः**—ग्रसमान अर्थात् सदैव अपने-अपने विषयों का आहार करने में लगे हुए ही, **वर्तन्ते**—दिखाई देते हैं, **ततः**—इसलिए (मैं), **भवत्-मयं विश्वं**—आप (सर्वाहरणशाली) से अभिन्न बने हुए जगत् को, **वन्दे**—प्रणाम करता हूँ॥

हे क्रीडाशील परमेश्वर! इस संसार में सारे जीव यहां तक कि सृष्टि करने वाला ब्रह्मा, शासन करने वाला इन्द्र तथा पालन करने वाला विष्णु भी सदा अपने अपने (रूपादि) विषयों का आहार करने में लगे हुए दिखाई देते हैं। अतः मैं आपसे एक बने हुए संसार को प्रणाम करता हूँ अर्थात् सारा संसार आप सर्वाहरणशाली का स्वरूप धारण करके ही ठहरा है॥ १७॥

ग्रसमानाः—अपने अपने रूप रस आदि विषयों का आहार करने में तत्पर।
वन्दे—प्रणाम करता हूँ अर्थात् आप में समावेश करता हूँ।
देह प्राण सुखादीना न्यऽभावात् भक्त संहतेः।
या चिदात्मनि विश्रान्तिर्नमः शब्देन सोच्यते॥ अर्थात्

**सतो विनाशसम्बन्धान्मत्परं निखिलं मृषा।**
**[2]एवमेवोद्यते नाथ त्वया संहारलीलया॥ १८॥**

*अन्वयः*—नाथ संहारलीलया त्वया एवमेव उद्यते सतः विनाशसंबन्धात् मत् परं

१. घ० पु० ग्रस्यमानाः—इति पाठः।
२. क० पु० एवमावेद्यते - इति पाठः।

निखिलं मृषा (अस्ति)।

नाथ—हे स्वामी!, संहार—(इस जगत् के) संहार की, लीलया—लीला से (अर्थात् इस खेल के द्वारा), त्वया—आप से (हमें), एवमेव—यही, उद्यते—बतलाया जाता है, (अर्थात् आप इसी बात की सूचना देते हैं),—, सतः—'(संसार में) होने वाले (सभी पदार्थों तथा जीवों) का, विनाश—नाश होने के, संबन्धात्—कारण, मत्-परं—मुझ चित्-स्वरूप से भिन्न (अर्थात् मेरे सिवा), निखिलं—सब कुछ, मृषा—असत्य (अर्थात् असत् या सत्ता-हीन), (अस्ति—है)'॥

हे प्रभु! अपनी इस संसार क्रीड़ा के द्वारा आप इस संसार को यह बताते हो कि मुझ चित् स्वरूप से भिन्न सब कुछ असत्य है अर्थात् आपसे भिन्न जो कुछ जड़ चेतन है वह अन्त में आपमें ही लीन होता है अतः उस जड़-चेतन की निजी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि उन सभी का अन्त विनाशशील होता है॥ १८॥

**ध्यातमात्रमुपतिष्ठत एव**
**त्वद्वपुर्वरद भक्तिधनानाम्।**
**अप्यचिन्त्यमखिलाद्भुतचिन्ता-**
**कर्तृतां प्रति च ते विजयन्ते॥ १९॥**

*अन्वयः*—वरद (मित-योगिभिः) अचिन्त्यम् अपि त्वद्वपुः भक्तिधनानां ध्यात मात्रम् एव उपतिष्ठते (अतः) च ते अखिलअद्भुतचिन्ताकर्तृतां प्रति विजयन्ते।

वरद—हे वरदाता भगवान्!, (मित-योगिभिः—परिमित सिद्धिवाले योगियों के), अचिन्त्यम्—ध्यान में न आ सकने वाला, अपि—होते हुए भी, त्वद्—आप का, वपुः—चिन्मय-स्वरूप, भक्ति—धनी भक्तों को, धनानां, ध्यात मात्रम् एव—ध्यान लगाते ही, उपतिष्ठते—तत्क्षण उपलब्ध होता है।, (अतः) च—और इसीलिए, ते—वे भक्त-जन, अखिल—ध्यान संबन्धी सभी, अद्भुत—आश्चर्यजनक, चिन्ता—कार्यों के—, कर्तृतां प्रति—करने में, विजयन्ते—(अन्य सभी लोगों से) बढ़-चढ़ कर होते हैं॥

हे वरदेने वाले प्रभु! साधारण योगी आपके चिन्मय स्वरूप का ध्यान

भी नहीं कर सकते, पर अपरिमित सिद्धि वाले भक्तों को आपका साक्षात्कार ध्यान लगाते ही होता है और इसीलिए वे भक्तजन सभी चमत्कार पूर्ण कार्यों के करने में अन्य सभी लोगों से बढ़ चढ़ कर होते हैं। यही आपकी भक्ति की महिमा तथा विलक्षणता है॥ १९॥

**तावकभक्तिरसासव-**
**सेकादिव सुखितमर्ममण्डलस्फुरितैः।**
**नृत्यति वीरजनो निशि**
**वेतालकुलैः कृतोत्साहः॥ २०॥**

*अन्वयः*– (महेश्वर) तावकभक्ति रसआसवसेकात् इव सुखितमर्म मण्डल-स्फुरितैः वेतालकुलैः कृत उत्साहः वीर जनः निशि नृत्यति।

(महेश्वर–हे परमेश्वर!), तावक–आप की, भक्ति-रस–(समावेश मयी) भक्ति के रस रूपी, आसव–मधु के, सेकात्–सेचन से, इव–मानो, सुखित–आनन्दित बने हुए, मर्म-मण्डल–(भेद-प्रथा रूपी) पाश-समूहों के कारण, स्फुरितैः–चमकते हुए, वेताल–(इन्द्रिय रूपी) वेतालों के, कुलैः–समूहों से, कृत-उत्साहः–उत्साहित होकर (अर्थात् चिद्विकास-संपन्न होकर), वीर-जनः–(संसार रूपी बड़े पशु को मारने वाले) शूरवीर लोग (अर्थात् भक्त-जन), निशि–(माया रूपिणी) रात में ही, नृत्यति–(चित्-विकास से) नाच उठते हैं॥

हे स्वामी! आपके समावेशरूपी अमृत के सेचन से मानो आनन्दित बने हुए तथा भेद प्रथा रूपी पाश समूहों के कारण प्रकाशमान बने हुए इन्द्रियरूपी वेतालों के समूहों से चिद्विकास पूर्ण होके वीर प्राणी, जिन्होंने संसाररूपी महान् पशु को मार डाला हो, मायारूपिणी रात में ही चित् विकास से नाच उठते हैं॥ २०॥

'वीरजन' से तात्पर्य उन समावेश शाली साधकों से हैं जिन्होंने इस जगत् रूपी महापशु को मार डाला हो।

'निशि' से तात्पर्य रात है। रात अन्धकार पूर्ण होती है माया भी अन्धकारमय होती है अतः निशा माया का रूपान्तर है॥

परमशिवः उपासितः कल्पते परमशिवाय।

सर्वातीतो निराभासो निष्प्रपञ्चो परात्परः।
स्वात्मन्यवस्थितो ज्ञेयः शुद्धो बहुमतो हरः॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्य विरचिता भाषाटीकोपेता शिवस्तोत्रावली समाप्ता॥

*जय गुरुदेव*

बीसवां स्तोत्र समाप्त

श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता

# श्रीशिवस्तोत्रावली

श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादपद्मोपजीवि-

## श्रीक्षेमराजाचार्यविरचितविवृतिसमेता

ॐ तत् सत्

श्री विघ्नहर्त्रे नमः।

श्री गुरवे शिवाय नमः।

(श्रीक्षेमराजाचार्यटीका)

ॐ उद्धरत्यन्धतमसाद्विश्वमानन्द[१]वर्षिणी।
परिपूर्णा जयत्येका देवी चिच्चन्द्रचन्द्रिका॥
[२]अभ्यर्थितोऽस्मि बहुभिर्बहुशो भक्तिशालिभिः।
व्याकरोमि मनाक् श्रीमत्प्रत्यभिज्ञाकृतः स्तुतीः॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारो वन्द्याभिधानः श्रीमदुत्पलदेवाचार्योऽस्मत्परमेष्ठी सततसाक्षात्कृतस्वात्ममहेश्वरः स्वं रूपं तथात्वेन परामष्टुमर्थिजनानुजिघृक्षया संग्रहस्तोत्रजयस्तोत्रभक्तिस्तोत्राण्याह्निकस्तुतिसूक्तानि च कानिचि[३]न्मुक्तकान्येव बबन्ध। अथ कदाचित्तानि एव तद्व्यामिश्राणि लब्ध्वा [४]श्रीराम आदित्यराजश्च पृथक् पृथक् स्तोत्रशय्यायां न्यवेशयत्। श्रीविश्वावर्त्तस्तु विंशत्या स्तोत्रैः स्वात्मोत्प्रेक्षितनामभिर्व्यवस्थापितवानिति किल श्रूयते। तदेतानि संग्रहादिस्तोत्राणि सूक्तान्येव प्रसिद्धवार्तिकशय्योपारूढानि स्पष्टं व्याकुर्मः।

मोक्षलक्ष्मीसमाश्लेषरसास्वादमयस्य परमेश्वरसमावेशस्यैव

---

१. ग० पु०—आनन्दकारिणी—इति पाठः।

२. का० पु०—'अत्यर्थितोऽस्मि'—इति पाठः।

३. एकस्मिन्नेव श्लोके यत्र समन्वयो लगति तन्मुक्तकम्।

४. ग० पु०—श्रीरामराजः—इति पाठः।

परमोपादेयतां दर्शयितुं परमेशस्वरूपाविभिन्नतत्समाविष्टभक्तजनस्तुतिक्रमेण स्तोत्रमाह—

न ध्यायतो · · · · · · · · · · · भक्तिशालिनम्॥१॥

यस्य एवमेव—मायीयोपायं विना, शिवाभासः—शिवरूपस्वात्मप्रथा स्यात्, तं, भक्त्यैव—समावेशमय्या शालिनं—श्लाघमानं न तु तदतिरिक्त-फलाकांक्षाकलङ्कितं भक्तजनं, नुमः—भक्तिचमत्कारवशप्रथितशिव-भट्टारकाभेदभक्तिमन्नतिमुखेन तदभिन्नशिवावेशमया भवाम इति यावत्। 'एवमेव'—इत्यनेन सूचितमलौकिकक्रमं दर्शयति—'न ध्यायत'— इत्यादिना। सर्वस्य हि ध्यानजपप्रमुखं ध्येयजप्यस्वरूपं नियताकारमेव प्रथते, भक्तिशालिनस्तु अनुपायमेव निराकारं सर्वाकारं चिदानन्दघनं शिवात्मस्वरूपं सर्वदा स्फुरति। अत एवाह—'अविधिपूर्वकम्'—इति। विधीयत इति विधिरिज्य[१]ध्यानादि [२]पूर्वं कारणं यत्र, तथा कृत्वा सर्वविधीनां संकुचि-तत्वादसंकुचितस्वरूपं प्रत्युपायत्वाभावात् [३]तत्त्वसमावेशधनैरेव प्रतिभाप्रसादनप्रमुखमवाप्यते[४]। यथोक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

"[५]न चात्र विहितं किञ्चित्.........।" मा० वि०, अ० १८, श्लो० ७७।

इत्यादि

"आकिंचिच्चिन्तकस्य..........।" मा० वि०, अ० २, श्लो० २३।

इत्यादि। गीतास्वपि—

"मय्यावेशमनो ये मां..........।" अ० १२, श्लो० २।

इत्यादिकम्। ध्यानजपाभ्यां प्रकाशविमर्शस्वरूपाभ्यां पूजनहवनादि सर्वं संगृहीतमिति प्राधान्यात्तावेवेहोक्तौ॥ १॥

आत्मा · · · · · · · · · · · · · धूसरः॥२॥

हे महेश्वर! मम आत्मा—जीवो भवद्भक्तिसुधापानेन युवा—समुत्तेजित-

१. ग० पु०—इज्याध्ययनादिः-इति पाठः। ख० पु०—इज्यध्यानादिपूर्वः-इति पाठः।

२. ग० पु०—पूर्वः-इति पाठः।

३. ख० पु०—तत्तत्समावेशधनैः-इति पाठः। ग० पु०—तत्तु समावेशधनैः-इति पाठः।

४. ख० पु०—आप्यते-इति पाठः।

५. श्रीपूर्वशास्त्रे—'नास्मिन्विधीयते किंचित्'-इति पाठः।

सहजौजःप्रकर्षोऽपि सन्, लोकयात्रयैव रजसा–लोकव्यवहारधूल्या कृतो यो रागः–उपरागस्ततो हेतोर्यानि पलितानि–जराप्रकारास्तैः धूसरः–विच्छाय इव, न तु वस्तुवृत्तेन, भक्तिसुधापानेन नित्यतरुणीकृतत्वात्। यथा च तरुणस्य धूलिधूसरतया [1]सञ्जातपलितमिव दृश्यमानं नान्तर्म्लानिं मनागप्यादधाति, अपि तु विनोदहासरसचमत्कारमेव पुष्णाति तथा लोकव्यवहारो ममेति रूपकोपमया ध्वनति। पूर्वश्लोके आमन्त्रण-पदाभावाद्भवद्भक्तीति न सङ्गतमेव, इति कथमियं स्तोत्रशय्या? इति श्रीविश्वावर्त एव प्रष्टव्यः, वयं तु सूक्तव्याख्यानोद्यताः॥ २॥

**लब्धत्वत्संपदां · · · · · · · विजृम्भया॥३॥**

ये समावेशमयप्रशस्तभक्तियुक्ताः, अत एव लब्धत्वत्संपदः त्वत्पुरे–विश्वपूरके त्वत्स्वरूपे [2]वसन्ति, तच्छीलाः, तेषां लोकमार्गे अपि यः सञ्चारः–व्यवहारः, स तयैव–समावेशरसानन्दमय्या, विजृम्भया–विकस्वर-तया, स्यात्–भवत्येव। अथ च ये लब्धलौकिकश्रियः [3]त्वद्भक्ताः [4]त्वन्मण्डलवासिनः, ते सर्वे स्पृहणीयत्वात् सदा विभूतिमुदिताः, इति समासोक्त्या गमयति॥ ३॥

**साक्षाद्भवन्मये · · · · · · · · · · · सिद्ध्यति॥४॥**

भक्तिमतां–व्याख्यातरूपभक्तिशालिनां सर्वत्र भुवनविषये किं न क्षेत्रं–परसिद्धिसमुदयस्थानम्, क्व च एषां मननत्राणधर्मो मन्त्रो न सिद्ध्यति। यतः साक्षादिति समावेशदृष्ट्या न कथामात्रेण भवन्मयमेव सर्वं भुवनमेषाम्॥ ४॥

**जयन्ति · · · · · · · · · · · · · अपि प्रभो॥५॥**

भक्तिपीयूषरस एव आसववरः–उत्कृष्टं पानं, तेन उद्गतहर्षाः ये ते जयन्ति–सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। कीदृशाः? अद्वितीयाः–असाधारणस्वरूपा अपि त्वद्द्वितीयाः–त्वमेव द्वितीयस्तुल्यरूपो येषाम्। अथ च त्वद्द्वितीया अपि–भक्तिसमावेशेनात्यन्तमभेदासाधनत्वात् त्वमेव द्वितीयः–प्रभुत्वेन

---

१. ग० पु०–सञ्जातमिव पलितम्-इति पाठः।

२. ग० पु०–वसन्ति इति तच्छीलाः-इति पाठः।

३. क्वचित् तद्भक्ताः-इति पाठः। औचित्यात् 'त्वद्भक्त' इत्येव पाठोऽत्र गृहीतः!

४. क्वचित् तन्मण्डलवासिनः-इति पाठः। 'त्वन्मण्डल'-इत्येव पाठो ज्यायान्।

परिशीलितो येषां, तथाभूता अपि अद्वितीयाः—विश्वाभेदिनः। अद्वितीयाश्च कथं त्वद्द्वितीयाः, त्वद्द्वितीयाश्च कथमद्वितीयाः?-इति विरोधच्छाया॥५॥

**अनन्तानन्दसिन्धोस्ते · · · · · · · · · आप्लुताः॥६॥**

भक्त्यानन्दरसः—[१]समावेशानन्दप्रसरस्तेन [२]आप्लुताः—आर्द्राशयाः। अत एव तादृशा इति-अपरिमितानन्दरससमुद्रत्वात् त्वद्रूपसरूपाः तव तत्त्वं जानन्ति। यो हि यत्र विद्वान् स हि तद्वेत्त्येव॥ ६॥

**त्वमेवात्मेश · · · · · · · · · · · जानञ्जयेज्जनः॥७॥**

सर्वस्तावदात्मने स्पृहयालुः। [३]वस्तुतस्तु त्वमेव चिद्रूपोऽ[४]स्यात्मा इति। अतस्त्वय्यात्मनि स्वतःसिद्धा भक्तिः, केवलं [५]समावेशयुक्त्या [६]यदि तां जानाति तज्जयेत्—सर्वोत्कर्षेण वर्तत एव। नियोगे लिङ्॥ ७॥

**नाथ वेद्यक्षये · · · · · · · · · · · सुदर्शनः॥८॥**

अन्त[७]र्मुखावस्थायां सर्ववेद्योपशमे कस्य नाम स्वात्मरूपस्त्वं केवलो न स्फुरसि। भक्तैः पुनः [८]संसारसंपातेऽपि वेद्यवेदकसंक्षोभे असि—त्वं सुदर्शनः—सुखेन दृश्यसे। समावेशकाष्ठाधिवासितैर्हि सततमेतैः—

"भोक्तैव [९]भोग्यरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः॥" स्पं० नि० ३, श्लो० २।

इति [१०]स्पन्दशास्त्रोक्तनीत्या शिवमयमेव विश्वमीक्ष्यते। वेद्यविलापन-प्रयासव्युदासाय सुशब्दः। तदुक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

"मोक्षोपायमनाया[११]सलभ्यम्" ॥ ८॥

**अनन्तानन्दसरसी · · · · · · · त्वद्भक्तिरस्तु मे॥९॥**

उपमाश्लेषोक्त्या परमेश्वरसाम्यमाशास्ते। भक्तिपक्षे देवी—द्योतमाना [१२]एकैव फलाकांक्षाविरहिता, अपरत्र क्रीडादिशीला परैव शक्तिः। अहं

---

१. ख० पु०—समावेशाह्लादप्रसरः-इति पाठः। ग० पु०—समावेशानन्दरसप्रसरः-इति पाठः।, २. ख० पु०—प्लुताः-इति पाठः।, ३. ख० पु०—वस्तुतत्वमेव-इति पाठः।, ४. सर्वस्य-इत्यर्थः।, ५. ख० पु०—समावेशशक्त्या-इति पाठः।, ६. का० पु०—'यदि'-इति नास्ति।, ७. ख० पु०—अन्तर्मुखत्वावस्थायाम्-इति पाठः। ८. ख० पु०—संसारपातेऽपि-इति पाठः।, ९. ख० पु०—भोग्यभावेन-इति पाठः।, १०. का० पु०—'स्पन्दशास्त्रोक्त'-इति पदं नास्ति।, ११. ख० पु०—अनायासम्-इति पाठः। १२. का० पु०—'एका'-इति पाठः।

भक्त्या अवियुक्तः स्याम्—इति वक्तव्ये, मम अवियुक्तास्तु—इति भक्तिं प्रति प्रेमप्रसरः प्रकाशितः॥ ९॥

सर्व एव · · · · · · · · · · · · · · · स्थितः॥१०॥

व्याख्यातप्रकृष्टभक्तिशालिनाम् अयमाह्लाददुःखमोहैरुपलक्षितो लोके यः संविन्मार्गः—नीलपीतादिबोधरूपः पन्थाः स्थितः, स सर्व एव त्वत्प्राप्तिहेतुः— वेद्यसोपाननिमज्जनक्रमेण परमवेदकभूमिलाभात्॥ १०॥

भवद्भक्त्य० · · · · · · · · · · · · · · शुक्तता॥११॥

हे स्वामिन् त्वच्छक्तिपातसमावेशमयभक्त्यानन्दास्वादमनासाद्य बोधस्य परा—देहपातप्राप्या प्रकृष्टा अपि या शान्तशिवपदात्मा दशा स्यात्—कैश्चित् सम्भाव्यते सा तैः सम्भाव्यमाना मां प्रति आसवस्य यथा शुक्तता—पर्युषितता तथा भातीति यावत्। यतस्तैर्भक्त्यमृतमनास्वाद्यैव शुक्तीकृतम्। यैः पुनरास्वाद्यते तैः स्वचमत्कारानन्दविश्रान्तीकृतत्वात् का शुक्ततासम्भावना। आस्वादादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। अथवा त्वद्भक्त्यमृतास्वादादपि परा—मोक्षरूपा या काचिद्दशा अस्तीति—सम्भाव्यते सा मह्यं न रोचते—भक्त्यमृतास्वादस्यैव निरतिशयचमत्कारवत्त्वात्, इत्येवं परमेतत्॥ ११॥

भवद्भक्ति० · · · · · · · · · · · · · तत्त्ववेदिनः॥१२॥

विद्याविद्योभयस्यापि-इति विद्याविद्यालक्षणस्योभयस्य। तत्र शिवमन्त्र-महेश्वरमन्त्रेश्वरमन्त्रात्मनो विद्यारूपस्य, विज्ञानाकलप्रलयाकल- सकल-तद्वेद्यात्मनश्च अविद्यारूपस्य उभयस्यापि ते तत्त्वं विदन्ति, येषां त्वद्भक्तिरेव महाविद्या प्रकर्षं प्राप्ता। महत्पदेन शब्दविद्यातोऽपि भक्तेरुत्कर्षः[1]तत्तत्त्व-वेदकत्वम्॥ १२॥

आमूलाद्वाग्लता · · · · · · · · · · ०फलास्तु मे॥१३॥

मूलं—परा भूमिः। क्रमविस्फारित्वं—पश्यन्त्यादिप्रसरः। तद्रसो—भक्त्या-नन्दरस[2] एव आढ्यं—स्फीतं त्वदात्म्यैक्यापत्तिलक्षणं फलं यस्याः॥ १३॥

शिवो भूत्वा · · · · · · · · · · · · ०शोधितम्॥१४॥

१. ख० पु०—तत्तद्वेदकत्वम्-इति पाठः।

२. ख० पु०—भक्त्यानन्दरसः, स एव-इति पाठः।

"शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।"

इति यदाम्नायेषूच्यते, तत्र देहपात एव शिवता—इति ये मन्यन्ते, तेषां सति देहे शिवीभावाभावाद्यजमानतानुपपत्तेः स्वस्वरूपशिवसमावेशभक्ति-शाली एव यजनं जानातीति तात्पर्यम्। अनेनैवाशयेनाह-त्वमेव यतः सारम्—उत्कृष्टं वपुः—स्वरूपम् अद्वयेन-भेदशङ्काशङ्कुशतशातिना शोधितं—निर्मलीकृतं भक्तैरिति॥ १४॥

**भक्तानां · · · · · · · · · · · · · नावरणानि वा॥१५॥**

व्याख्यातानां भक्तानां भवदद्वयसाधनाय का न युक्तयः, यतो मूढैरुदीर्यमाणान्यपि शिवाद्वयदूषणानि [1]दूषयितृस्वभावचिद्रूपशिवस्वरूप-सिद्धिं विना न कानिचित्स्युरिति युक्त्या भक्तानां साधनान्येव पर्यवस्यन्ति। निकृष्टानां तु—भेदमयानां तदसिद्ध्यै—शिवाद्वयसाधनाभावाय कानि नावरणानि—तीक्ष्णतमयुक्त्यस्त्राण्यपि समावेशरसविप्रुषोऽपि, अनभिज्ञत्वा-दसञ्चेत्यमानानि [2]महान्धकारपातयितृण्येव॥ १५॥

**कदाचित्क्वापि · · · · · · · · भक्तिमतां कथम्॥१६॥**

कदाचित्—कस्यांचित् समाधिदशायां, क्वापि—हृदयचक्रादौ, योगेन—चित्तवृत्तिनिरोधेन, ईश—स्वामिन्, असि—त्वं लभ्यः, इत्येषा वञ्चना, अन्यथा समाधिव्युत्थानाद्यभिमतासु कक्ष्यासु कथं भक्तिमतां प्रकाशसे॥१६॥

**प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो · · · · · · · · · · समाहिताः॥१७॥**

विषयेभ्य इन्द्रियाणां प्रत्यावृत्य नियमनं प्रत्याहारः। आदिशब्दाद्ध्यान-धारणादयः, तैरसंस्पृष्टः—अकदर्थितः, तन्निष्ठेभ्यो योगिभ्यो महान्—असामान्यः, विशेषः—अतिशयो भक्तिभाजामस्ति यदेते योग्यपेक्षया व्युत्थानाभिमतेऽपि समये समाहिताः—

"मय्यावेश्य मनो ये माम्.......।" अ० १२, श्लो० २।

इति श्रीगीतोक्तनीत्या नित्ययुक्ताः॥ १७॥

**न योगो · · · · · · · · · · भक्तिरेका प्रशस्यते॥१८॥**

---

१. ख० पु०—दूषयत्स्वभाव-इति पाठः।

२. ख० पु०—मोहान्धकार-इति पाठः।

शिवमार्गे—परे शाक्ते पदे। अस्मिन्निति—निरतिशये स्वानुभवैकसाक्षिके मायीयनियतयोगाद्युपायपरिपाटी न काचिदुपदिश्यते। तस्याः मायामयत्वेन [1]अन्धतमसप्रख्यायास्तत्र शुद्धविद्याप्रकाशातिशायिनि उपायत्वाभावात् भक्तिरेव—प्रतिभाप्रसादनात्मा उक्तचरी प्रशस्यते—उपायत्वेनोच्यते॥ १८॥

**सर्वतो · · · · · · · · चिन्तानामापि नश्यतु॥१९॥**

[2]अन्तर्बहिश्च विलसता जृम्भमाणेन भक्तितेजसा—समावेशप्रकाशेन ध्वस्ता आवृतिः—अख्यातिर्यस्य। तत एव मायीयभूमिविस्मृतेः [3]प्रत्यक्षाः—भैरवमुद्राप्रवेशयुक्त्या आलोचनमात्रगोचरीभूताः सर्वे भावाः यस्य तस्य मम चिन्तायाः—[4]विकल्पव्रातस्य नामापि—अभिधानमपि नश्यतु—नित्यमेव साक्षात्कृतपरभैरवस्वरूपानुप्रविष्टो भूयासमित्यर्थः॥ १९॥

**शिव इत्येकाशब्दस्य · · · · · · · · · कोऽप्यहो॥२०॥**

उक्तेष्वेव भक्तेषु यो महाप्रकाशमयनिजस्वरूपपरामर्शात्मा शिव इति एकः—असामान्यः सदा [5]शब्दोऽस्ति। अहो आश्चर्यं तस्य शब्दमात्रस्यापि [6]एकस्य विषयस्य परमानन्दव्याप्तिदायित्वात् समस्तविषयास्वादःजगदानन्द-चमत्कारः, कोऽपि—स्वानुभवसिद्धोऽस्ति। एकत्र च शब्दलक्षणे विषये जिह्वाग्रवर्तिनि समस्तविषयास्वाद इति विरोधच्छाया॥ २०॥

**शान्तकल्लोलशीताच्छ० · · · · · नाम गण्यते॥२१॥**

शान्ताः—निवृत्ताः विकल्पमयाः कल्लोला यत्र, तथाभूते। [7]संसारतापाप-हतत्वाच्छीते। विश्वप्रतिबिम्बाश्रयत्वादच्छे—निर्मले। आनन्द- विकासित्वात् स्वादौ भक्त्यमृतसमुद्रे, अलौकिकरसास्वादे—समावेशचमत्कारे, सुखेन

---

१. ख० पु०—अन्धतमसप्रख्यायास्त्वत्र-इति पाठः।

२. 'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
इयं सा भैरवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥'-इति भैरवीमुद्रायाः लक्षणम्।

३. ख० पु०—प्रत्यक्षभैरवमुद्राप्रवेशयुक्त्या-इति पाठः।

४. ख० पु०—विकल्पवृत्तस्य-इति पाठः।

५. का० पु०—शिवोऽस्ति-इति पाठः।

६. ख० पु०—एककस्य-इति पाठः।

७. ख० पु०—संसारतापापूर्णत्वात्-इति पाठः।

तिष्ठन्ति [1]सुस्थाः, तैः भेदगलनात् को नाम गण्यते; तदा व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यप्रतिभासात् सुखस्थिताः न किंचिद्गणयन्ति—इत्युचितैवोक्तिः॥ २१॥

**मादृशैः · · · · · · · · मोक्षाख्योऽनन्तरो रसः॥२२॥**

मादृशैः—भक्तितत्त्वज्ञैः, तादृशी इति-अलौकिकी भवद्भक्तिरेव अभीष्टप्रदत्वान्महौषधिः, किं न चर्व्येत—[2]किं न [3]धार्येत—विचारेणास्वाद्येत इति यावत्। कीदृशी? यस्याश्चर्वणपरामर्शानन्तरमेव जीवन्मुक्ताख्यः अनन्तरः—अव्यवहितो रसः—चर्वणानन्दः॥ २२॥

**ता एव परम० · · · · · · · · ०परिपोषिकाः॥२३॥**

सद्भिः—भक्तिशालिभिः, ता एवेति—असमत्वत्समावेशमय्यः, [4]संपदः परं—केवलम् अर्थ्यन्ते न तु अणिमाद्याः। कीदृश्यः? याः त्वद्भक्तिरससंभोगे—भवत्समावेशामृतचमत्कारे विस्रम्भं—[5]स्वैरं स्वीकारं पुष्णन्ति। अत्र च प्रियासंभोगपोषिका एव सर्वस्य संपदोऽर्थनीयाः—इत्यनुरणव्यङ्ग्योपमाध्वनिः॥२३॥

**भवद्भक्तिसुधा० · · · · · · · · पतिता अपि॥२४॥**

त्वद्भक्तिसुधाया आसारः—वेगवद्वर्षं, तैः—भक्तैः, किमपि—लोकोत्तरतया, उप—समीपे, लक्षितः—परिशीलितः। ये भक्ता व्युत्थाने—शरीरव्यवहार-नान्तरीयकत्वेनायाते रागद्वेषादिकर्दमे पतिता अपि न लिप्यन्ते—न तन्मयीभवन्ति। कर्दमे पतिता न लिप्यन्ते इत्याश्चर्यम्॥ २४॥

**अणिमादिषु · · · · · · · · · · इव केषुचित्॥ २५॥**

अणिमादिषु मोक्षान्तेषु—स्थूल-परसिद्धिमयेषु वस्तुषु, या फलाभिधा—फलत्वेनोक्तिः, सा परिपाकं प्राप्तायाः भवद्भक्तेरेव अङ्गभूतेषु सत्सु तेषु, भक्तिर्हि रुद्रशक्तिसमावेशात्मा समस्तसंपन्मय्येव, न तु तद्व्यतिरिक्तानि फलानि कानिचित्सन्ति। यथा विपक्वलताविच्छिन्नानि न फलानि

१. ख० पु०—स्वस्थाः-इति पाठः।

२. ख० पु०—किं न-इति पदं नास्ति।

३. ख० पु०—विचार्येत-इति पाठः।

४. ख० पु० समृद्धयः-इति पाठः।

५. ख० पु० स्वैर स्वीकारम्-इति पाठः।

कानिचिद्-आम्रादीनि भवन्ति—तेषां तदङ्गत्वात्॥ २५॥

**चित्रं निसर्गतो · · · · · · · · · · ०महाफलम्॥ २६॥**

हे नाथ—स्वामिन्! इदं चित्रम्, दुःखकारणमिदं मनः सर्वस्य हेयं यदभिमतं, तदेव त्वद्भक्तिरसायनेन सिक्तं [1]परमानन्दमयमोक्षमहाफलम्। न हि कदाचित् [2]लोकं प्रति विषादेः मधुर आस्वादः। अतस्त्वद्भक्तेरेवायम् अलौकिकः क्रम—इति ध्वनित इति शिवम्॥ २६॥

इति श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञाकाराचार्यचक्रवर्तिवन्द्याभिधानोत्पलदेवाचार्य- विरचिते भक्तिविलासाख्ये प्रथमस्तोत्रे महामाहेश्वरश्रीक्षेमराजविरचिता विवृतिः॥१॥

# अथ सर्वात्मपरिभावनाख्यं द्वितीयं स्तोत्रम्

**अग्नीषोमरविब्रह्म० · · · · · · · · संविन्मयाय ते॥१॥**

अग्नीषोमरविभिर्दाहाप्यायप्रकाशकारीच्छाक्रियाज्ञानरूपस्य शक्तित्रयस्य, ब्रह्मविष्णुभ्यामधिष्ठातृदेवतावर्गस्य, स्थावरजङ्गमाभ्यामधिष्ठितस्य प्रमेयप्रमातृराशेश्च स्वीकृतत्वाद्विश्वात्मनः आमन्त्रणमिदं स्वरूपेत्यन्तम्। तेन अग्नीषोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गमस्वरूप हे [3]परमेश्वर! पञ्चभूतानि जङ्गमानामपि भूतदेहत्वात्। एवं च अग्निसोमसूर्यस्थावरजङ्गमै[4]रष्टमूर्त्तितया, ब्रह्मविष्णूपलक्षिताशेषाधिष्ठातृतया विश्वमयत्वम्। अत एव बहुरूपायेत्युक्तम्। एवं विश्वरूपत्वेऽपि प्रधानमस्य स्वरूपमाह 'संविन्मयाय'—इति। एतदेव हि संविन्मयत्वं, यत्स्वातंत्र्योल्लासिताशेषविश्वनिर्भरत्वम्॥ १॥

**विश्वेन्धनमहाक्षार० · · · · · · विश्वैकहविषे नमः॥ २॥**

भवते महानलाय—[5]परप्रमातृवह्नये नमः। कीदृशाय? विश्वस्य—भेदराशेरिन्धनरूपस्य संबन्धि यन्महाक्षारं-भस्म, तत्संहारशेषः संस्कारः, तेन यदनुलेपनम्—संस्कारसंहारेणापि प्रमात्रुत्तेजनं, [6]तेन शुचि—शुद्ध[7]मद्वयरूपं

---

१. ख० पु० परमानन्दमोक्षमहाफलम्-इति पाठः।

२. ख० पु० लोके प्रति-इति पाठः।

३. ख० पु० परमेश-इति पाठः।

४. ग० पु० जंगम अष्ट-इति पाठः।

५. ख० पु० परमप्रमातृवह्नये—इति पाठः।

वर्चस्तेजो यस्य तस्मै। अथ

"शुचिर्नामाग्निरुदितः संघर्षात्सोमसूर्ययोः।"

इत्यागमिकभाषया शुचिनाम्ने तेजसे। विश्वमेकं हविर्यस्येत्यनेन अत्यन्तदीप्तत्वमुच्यते। [3]श्रीमन्मताद्यागमस्थित्या रहस्यचर्यार्थस्यात्र सूचनाद्विरोधच्छायापि॥ २॥

**परमामृतसान्द्राय · · · · · · · नमोऽस्तु ते॥ ३॥**

चिदानन्दघनत्वात् परमामृतसान्द्रत्वम्। भवतापहारित्वाच्छीतलत्वम्। अग्नेश्च कथमार्द्रत्वशीतलत्वे इति विरोधाभासच्छाया। कस्मैचिदिति— अलौकिकस्वरूपाय॥ ३॥

**महादेवाय · · · · · · · कस्मैचिन्मन्त्रमूर्तये॥ ४॥**

देवः—सृष्ट्यादिक्रीडापरः, विश्वोत्कर्षशालितया विजिगीषुः, अशेषव्यवहारप्रवर्तकः, द्योतमानः, सर्वस्य स्तोतव्यो गन्तव्यश्च; दीव्यते क्रीडाद्यर्थत्वात्। स च महान्—ब्रह्मादीनामपि [4]सर्गादिहेतुत्वात्। विश्वस्य चित्पदे रोदनाद् द्रावणाच्च रुद्रः। पूर्णाहन्तापरामर्शमयत्वान्मन्त्रमूर्तिः॥ ४॥

**नमो निकृत्तनिः० · · · · · · · शिवाग्नये॥ ५॥**

निकृत्तम्—अख्यातिलक्षणान्मूलात्प्रभृति खण्डशः कृतं भवाभवाति[5]-भवाख्यं यत्त्रैलोक्यं, तत्संबन्धिनी बोधानलोद्दीपिनी आन्तररससाररूपा या वसा, तत्कृतो योऽवसेकः—आहुतिः, ततो विषमाय—अत्यन्तं जाज्वल्यमानाय, अत एव संसारामङ्गल्यपरिहृतिप्रदत्वात् मङ्गलाय [6]शिववह्नये नमः— शरीरप्राणादिपरिमितप्रमातृपदं तत्रैव समावेशयामः, इत्यर्थः। सर्ववसावसेक-विषमः श्मशानिकाग्निः कथं मङ्गल इति विरोधच्छाया॥ ५॥

---

१. ग० पु० 'तेन' इति पदं न दृश्यते।

२. ख० पु० अद्वयस्वरूपम्—इति पाठः।

३. ख० पु० श्रीमतङ्गाद्यागमस्थित्वा—इति पाठः।

४. ख० पु० सर्गस्थित्यादिहेतुत्वादिति पाठः।

५. ख० पु० अतिभवलक्षणम्—इति पाठः।

६. ख० पु० शिवाग्नये—इति पाठः।

**समस्तलक्षणायोग · · · · · · · कस्मैचिदपि शम्भवे॥ ६॥**

समस्तानां लक्षणानाम्—अभिज्ञानानां च तथाधिगमहेतूनामुच्चार-करणध्यानादीनां यः अयोगः—असम्बन्धः, स एव यस्य उप इति—आत्मसमीपे लक्षणं—हृदयङ्गमीकरणं—समस्तचिन्ताविस्मरणस्यैव तत्प्राप्तिहेतुत्वात्। अत एव कस्मैचिदिति संवृतिवक्रतया स्वात्मविस्फुरद्रूपायेति ध्वनति॥ ६॥

**वेदागमविरुद्धाय · · · · · · · स्वामिने नमः॥ ७॥**

निःशेषनियमयन्त्रणात्रोटनालभ्यत्वाद्वेदविरुद्धः। यश्च यद्विरुद्धः स कथं तद्विधत्ते, तस्य च सतत्त्वरूपः, चिन्नाथस्तु स्वातंत्र्यात् [1]जगदुत्तिष्ठापयिषुर्वेदं विधत्ते, वेदान्तदृष्ट्या तत्परमार्थरूपश्च। अत एव सर्वस्य अविषयत्वाद्गुह्यः॥७॥

**संसारैकनिमित्ताय · · · · · · · निःसंसाराय शम्भवे॥ ८॥**

मायादेः क्षित्यन्तस्य संसारस्य एक एव निमित्तं, तस्य विरोधी—संहर्ता स एव। तथा संसाररूपतया भाति, न पुनश्चिद्रूपशिवव्यतिरिक्तं संसारस्य [2]निजं रूपं किंचित्। एवमपि संसारान्निष्क्रान्तं—निःसंसारं—तेन असंस्पृष्टरूपमिति विरोधाभासः॥ ८॥

**मूलाय मध्यायाग्राय · · · · · · · शम्भवे॥ ९॥**

विश्वस्य कारणत्वात् स्वरूपत्वाद्विश्रांतिस्थानत्वाच्च मूलं मध्यमग्रं च। यथा पृथक् मूलादिरूपः तथा युगपदपि अक्रमानन्तविश्वरूपत्वात्। न चास्य स्वात्मनि मूलादि किंचित् चिन्मात्रैकरूपत्वात्। अत एव सर्वंसहत्वात् पूर्णः। विरोधाभासः प्राग्वत्॥ ९॥

**नमः सुकृतसंभारविपाकः · · · · · · · शिवाय ते॥ १०॥**

यस्य सकृदेव नामग्रहः असाविति—लोकोत्तरः, पूर्णविश्रान्तिप्रदत्वात् पुण्यराशेः परिपाकः, तस्मै दुर्लभायेति—महायोगिगम्याय नमः॥ १०॥

**नमश्चराचराकार० · · · · · · · चिन्मयाय कपालिने॥११॥**

---

१. ख० पु० जगत्तिष्ठापयिषुः—इति पाठः।

२. ख० पु० निजरूपम्—इति पाठः।

[1]कपालिव्रतित्वं यद्भगवति प्रसिद्धं तत्तत्त्वतो व्यनक्ति। चराचराकाराः—जङ्गमस्थावररूपाः ये परेताः—परं चिन्मयस्वरूपमिताः—[2]प्राप्ताः। तद्विना च निर्जीवत्वादपि परेताः। तेषां निचयैः सदा युगपच्च क्रीडते—तत्संयोजनवियोजनवैचित्र्यसहस्रविधायिने॥ ११॥

**मायाविने · · · · · · · नमश्चित्राय शम्भवे॥१२॥**

भेदोल्लासहेतुः—स्वातंत्र्यशक्तिर्माया यस्यास्ति सः। चिद्रूपत्वाद्विशुद्धः। मायावी—व्याजी च कथं विशुद्धः? इति विरोधाभासः। एवमन्यत्र। गुह्यः—सर्वस्यागोचरः। प्रकटः—प्रकाशघनस्वात्मरूपः। सूक्ष्मो—ध्यानादिनिष्ठैरपि अलक्ष्यः। विश्वरूपः—स्वातंत्र्याद्गृहीतविश्वाकारः। अत एव चित्रो—विचित्र आश्चर्यरूपश्च॥ १२॥

**ब्रह्मेन्द्रविष्णा० · · · · · · · · नमस्ते सर्वशक्तये॥१३॥**

ब्रह्मेन्द्रविष्णुभिः—सृष्ट्यधिष्ठितिस्थितिकरैः कथमपि [3]निर्वाहितत्वात् यत् निर्व्यूढं—संपन्नं जगत्, तस्य सर्वैः सन्धार्यमाणस्य संहारः क्रीडामात्रं यस्य। अत एव आश्चर्यकरणीयः। सर्वशक्तिः—[4]ब्रह्मादिदेवेन्द्राणामपि स्वकर्मणि एतदीयसंजिहीर्षाभावाभावमुखप्रेक्षित्वात् सर्वसामर्थ्ययुक्तो यस्तस्मै नमः॥ १३॥

**तटेष्वेव · · · · · · · नमस्तुभ्यमगाधहरसिन्धवे॥१४॥**

तटेषु एव—मन्त्रमुद्राचक्रभूमिकादिज्ञानेषु चिद्रसप्रसरबाह्यभूमिषु परिभ्रान्तैः—

'पवनभ्रमणप्राणविक्षेपादिकृतश्रमाः।
कुहकादिषु ये भ्रान्ता भ्रान्तास्ते परमे पदे॥' ऊर्मिकौल तं०॥

इत्याम्नायस्थित्या अन्तःसारानासादनाद् भ्राम्यद्भिः। तास्ता इति—भेदमय्योऽणिमादिकाः। अगाधहरसिन्धवे इति—अपरिच्छेद्यान्तस्तत्त्वाय महेश्वरसमुद्राय। [5]समुद्रस्य च तटेष्वेव ये भ्राम्यन्ति ते तन्मौक्तिकादि

१. ख० पु० कपालव्रतत्वम्—इति पाठः।

२. ख० पु० प्रापिताः—इति पाठः।

३. ख० पु० निर्वाह्यत्वादिति पाठः।

४. ख० पु० ब्रह्मादीनामपि—इति पाठः।

आप्नुवन्ति, ये तु अन्तर्विक्षेपक्षमाः ते महानिर्वृतिप्रदममृतमपि अश्नन्तीति रूपकश्लेषेण ध्वनति॥ १४॥

**मायामयजगत्सान्द्रपङ्क · · · · · · · शोभिने॥१५॥**

माया—चिन्मयत्वाख्यातिः, सैव प्रकृतं रूपं यस्य जगतः, तदेव सान्द्रः पङ्को—घनः कर्दमः, तन्मध्याधिवासिनेऽपि—व्यापकत्वात् तद्व्याप्नुवतेऽपि अलेपाय—शुद्धचिदेकरूपाय। शम्भुरेव शतपत्रम्—अनन्तशक्तिदलं तत्तत्संकोच-विकासधर्मकं कमलं, तस्मै नमः। पङ्कमध्यस्थितेरपि अलेपता भगवतश्चिद्धनत्वेन तदसंस्पर्शादिति विरोधाभासः॥ १५॥

**मङ्गलाय · · · · · · · सर्वोत्कृष्टाय ते नमः॥१६॥**

मंगलेत्यादि स्पष्टम्। सर्वोत्कृष्टायेति सर्वत्र योज्यम्। येन येन मुखेन विर्चायते तेन तेनोत्तमत्वं सर्वोत्कृष्टत्वात्॥ १६॥

**नमः · · · · · · · कस्मैचिदपि शम्भवे॥१७॥**

भगवत एव बद्धमुक्ततया अवगमात्तथात्वम्। वस्तुतस्तु चिद्धनत्वात्तद्धीनत्वम्। विरोधाभासः पूर्ववत्। एवमुत्तरत्रापि॥ १७॥

**उपहासैकसारे० · · · · · · · नमो नित्यसुखासिने॥१८॥**

तुच्छरूपत्वादुपहसनीयपरमार्थे एतावति—अतिवितते जगत्त्रये—भवाभवातिभवात्मनि। अद्वितीयाय—असाधारणैकरूपाय, नित्यसुखासिने—आनन्दघनायोपादेयतमाय तुभ्यमेव नमः॥ १८॥

**दक्षिणाचारसाराय · · · · · · · ते नमः॥१९॥**

दक्षिणाचारो—भैरवतन्त्रमविपरीतानुष्ठानं च सारः—सारत्वेनाभिमतो यस्य। वामाचारं—वादितंत्रं विपरीतक्रमं चाभिलषति यस्तस्मै। सर्व आचारो निजः परिस्पन्दो यस्य। निष्क्रान्ता आचारा यस्मात्, आचारेभ्यश्च—ध्यानपूजादिभ्यो निष्क्रान्तो यस्तस्मै। अथ [२]श्रीसर्वाचारनिराचारादिरूपं यन्मतक्रमादि शास्त्रार्थतत्त्वं तद्रूपाय नमः॥ १९॥

**यथा तथापि · · · · · · · नमोऽस्तु ते॥ २०॥**

१. ख० पु० समुद्रे—इति पाठः।

२. ख० पु० श्रीमदाचारनिराचाररूपम्—इति पाठः।

येन येन प्रकारेण यत्र क्वचिद्यत्किंचिदाचर्यते तत्र स्वात्मदेवता-विश्रान्तिरूपा पूजा अनायासेनैव सिद्धा तत्त्वविदामिति तात्पर्यम्। यत्तच्छब्दाः नियमव्युदासाय। यथागमः—

.....'यथालाभं प्रपूजयेत्।'

इति॥ २०॥

**मुमुक्षुजनसेव्याय · · · · · · · वरदाय ते॥ २१॥**

साधकानां मन्त्राणां प्राणत्वान्मुमुक्षुभिरेव समनन्तरोक्तयुक्त्या निर्यन्त्रणं सेवितुं शक्याय। सर्वेषां भेदमयानां सन्तापानां हारिणे—अपहन्त्रे। विततेत्युक्तिः—परमानन्दघनत्वेन अतिस्पृहणीयत्वात्। वारः—समूहः

'समूहनिवहव्यूहवारसङ्घातसञ्चयाः।'

इत्यमरः। वरदाय—संविन्नैर्मल्यसारप्रसादप्रदाय॥ २१॥

**सदा निरन्तरानन्दरस० · · · · · · · नित्यपर्वणे॥२२॥**

प्राग्वत् त्रिलोकस्य—विश्वस्य स्वस्यानन्दरसेन पूरणात् स्वामिने इत्युचितोक्तिः। नित्यपर्वणे—सदा विश्वपूरकरूपाय, पर्व पूरणे इत्यस्य प्रयोगः। सर्वश्च पर्वणि आनन्दरसनिर्भरितं निखिलं करोति॥ २२॥

**सुखप्रधानसंवेद्य · · · · · · · शक्तिवृन्दाय ते नमः॥२३॥**

यत् शक्तिवृन्दं—संविद्देवीचक्रं, चमत्कारेण—आनन्दघनप्रमातृविश्रान्त्या सुखप्रधानसंवेद्यसंभोगैः—आनन्दसारविषयग्रासास्वादैः, त्वामेव भजते—त्वय्येव विश्वमर्पयति। तस्मै घोराय सर्वसंहर्त्रे ते—तव संबन्धिने नमः॥२३॥

**मुनीनामप्यविज्ञेयं · · · · · · · कस्मैचिद्भवते नमः॥२४॥**

मुनीनामिति—तपोयोगादिनिष्ठानां कपिलादीनामपि [1]ज्ञातुमशक्यम्। भक्तिसम्बन्धचेष्टिताः—समावेशरसानुविद्धव्यापाराः आलिङ्गन्त्यपि—दृढावष्टम्भयुक्त्या स्वसम्भोगपात्रं कुर्वन्त्यपि यं तस्मै कस्मैचित्—स्वात्मनि स्फुरते नमः॥ २४॥

**परमामृतकोशाय · · · · · · · भवते नमः॥२५॥**

---

१. ख० पु० विज्ञातुमशक्यम्—इति पाठः।

[1]परमामृतस्य—आनन्दरसस्य कोशो—गञ्जमिव। अतस्तत्पूर्णत्वा द्राशिश्च, बहिरपि तन्मयत्वात्। सर्वस्य—[2]मेयादेः पारम्यं—परमत्वं-प्रकाशमानता। तस्यापि पारम्यम्—आनन्दघनश्चमत्कारः शाक्तः समुल्लास-स्तेन प्राप्याय॥ २५॥

**महामन्त्रमयं नौमि · · · · · · · परामृतरसोल्वणम्॥२६॥**

महामन्त्रमयम्—अकृत्रिमाहंपरामर्शमयं तव रूपं नौमि—इति प्राग्वत्। स्वच्छं—विश्वप्रतिबिम्बधारणात्। शीतलं—संसारतापहारित्वात्। अपूर्वेण आमोदेन—अलौकिकेन व्यापिना परिमलेन ह्लादिना स्वरूपेण, सुभगं—स्पृहणीयम्। परमामृतरसेन—परमानन्देन उल्वणं—बृंहितम्॥ २६॥

**स्वातन्त्र्यामृतपूर्णत्व० · · · · · · · तव शासनम्॥२७॥**

स्वातन्त्र्यामृतेन संपूर्णा स्वतंत्रता आनन्दघना या त्वदैक्यख्यातिः—भवदभेदप्रथा, सैव विश्वचित्रतन्तुव्याप्त्या महापटः। तत्र विषये यत् शासनं—शास्यतेऽनेन इति कृत्वा [3]तदुपदेशको य आगमः, तं नौमि। यत्र विश्वम् आश्चर्यमयं त्वदैक्यप्रथनसारेऽपि चित्रं—नानारूपं नास्त्येव, [4]त्वदैक्यख्याति-प्रतिपादनपरत्वात्। चित्रम्—अद्भुतं च नास्ति,—अनुत्तरत्वादागमस्य सर्व-संभावनाभूमित्वात्। अथ च पटे स्थितं शासनमविचित्ररूपं चेति चित्रम्॥२७॥

**सर्वाशङ्काशनिं · · · · · · · माहेश्वरं नुमः॥२८॥**

सर्वासामाशङ्कानां—द्रव्यपूजामंत्रादिसंकीर्णत्वाद्युक्तानां, विचित्रसंसार-बीजभूतानां, चित्तवृत्तिम्लानिदानाम् अशनिं—स्वरूपध्वंसकम्। आम्नायेऽपि च

'शङ्कापि न विशङ्केत निःशङ्कत्वमिदं स्फुटम्'।

इत्युक्तम्। अलक्ष्मीणाम्—अनानन्ददशानां कालानलं—महादाहकम्। सर्वा-मङ्गल्यानाम्—अशुभसूचकानां कल्पान्तं—निःशेषेण नाशकं, माहेश्वरं मार्गं—शाक्तं प्रसरं नुमः॥ २८॥

**जय देव नमो · · · · · · · शरणागतोऽस्मि ते॥२९॥**

१. ख० पु० परमानन्दरसस्य कोशः—इति पाठः।

२. ख० पु० मायादेः—इति पाठः।

३. ख० पु० त्वदुपदेशको य आगमः—इति पाठः।

४. ख० पु० त्वदैक्यख्यातिप्रथाप्रतिपादनपरत्वात्—इति पाठः।

परमेकोऽस्मीति—देहाद्यभिमानेन त्वन्मायाशक्तिक्लृप्तेन विश्वविभेदेन त्वत्तः पृथगिव कृतः। अत एव शरणमागतः। युक्तं चैतत्, यतो विश्वमिदं तवाश्रितं—चिन्मयत्वत्स्वरूपमग्नं। ततश्च जगतां भवानेव परमेश्वरः—[1]ब्रह्मादिसदाशिवान्तेभ्य उत्तमः। अत एव हे देव—क्रीडादिशील! जय—देहाद्यभिमानमिममुत्पुस्य[2] स्वरूपेण प्रथस्व, इति [3]शिवम्॥ २९॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां सर्वात्मपरिभावनाख्ये द्वितीये स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥ २॥

## अथ प्रणयप्रसादाख्यं तृतीयं स्तोत्रम्

**सदसत्त्वेन · · · · · · · नमश्चित्राय शम्भवे॥१॥**

भावानां—प्रमेयादीनां, जन्मसत्तादिरूपतया प्राक्प्रध्वंसाभावादिरूपतया च [4]द्वितयरूपा [5]गतिर्युक्ता। यतस्ते भावा—भावनीयाः—सम्पादनीयाः। तामुल्लंघ्य—उज्झित्वा यस्तृतीयः—सदसत्ताभ्यामव्यपदेश्यत्वात् तुर्यादिवत्-संख्ययैव व्यपदेश्यः स्थितः, तस्मै चित्राय—आश्चर्याय विश्वचित्राय शम्भवे नमः-इति प्राग्वत्॥ १॥

**आसुरर्षि० · · · · · · · तवैवानुजीविनः॥२॥**

जगत्त्र्यं—प्राग्वत्। सुरर्षिजनात्—मरीच्यादिदेवर्षिजनात्। आ आङ् अभिविधौ। अस्वतन्त्रत्वं—सृष्टिसंहारगोचरत्वम्। स्रष्ट्रादिरूपस्तु शम्भुरेव स्वतन्त्रः। तस्य च ये अनुजीविनः—[6]तदात्मकस्वात्मसाक्षात्कारिणः, तेऽपि [7]तदावेशात् स्वतन्त्रा एव॥ २॥

**अशेष-विश्वखचित० · · · · · · · ते सुखासिनः॥ ३॥**

१. ग० पु० ब्रह्मादिभ्यः—इति पाठः।

२. ग० पु० 'उदस्य'—इति पाठः।

३. ग० पु० प्राग्वत्—इति पाठः।

४. ख० पु० द्वितयी रूपा—इति पाठः।

५. ख० पु० स्थितिर्युक्ता—इति पाठः, ग० पु० द्वितयीयुक्ता—इति च पाठः।

६. ख० पु० त्वदात्मक—इति पाठः।

७. ख० पु० तत्समावेशात्—इति पाठः।

भवरुजां–[१]सांसारिकोपतापानां, भेषजम्–औषधं। विश्वखचितत्वात् सर्वोपकृतिकरणक्षमा भवद्वपुरनुस्मृतिः–चिदात्मनस्त्वत्स्वरूपस्यानुगततया स्मरणं–समावेशमयं येषामस्ति, ते सुखासिनः–सत्स्वपि देहादिनान्तरीयकेषु दुःखस्पर्शेषु परमानन्दघने सुखे एव तिष्ठन्ति॥ ३॥

**सितातपत्रं · · · · · · · · एकः परमेश्वरः॥ ४॥**

इन्दुः–सर्वमेयरूपः, प्रकाशदशायां स्वप्रभाभिः–चैतन्यमरीचिभिः परिपूर्णतां प्रापितः, यस्य सितं–शुद्धं, स्वात्मलग्नत्वाच्च बद्धं, [२]पाशवहेयोपादेयतादिकल्पनोत्थात् आतपात् त्रायते–इत्यातपत्रम्। तथा स्वः–स्वर्गं तदुपलक्षितं च निरयं–धर्माधर्मफलं [३]धुनोति–स्वर्धुनी मध्यवाहिनी चिच्छक्तिः, सैव प्रसरद्रूपत्वात्स्रोतः, तद्यस्य चामरं–[४]माहात्म्यप्रथाहेतुः। स एको नतु अन्यः परम ईश्वरः। स्थूलदृष्ट्या तु निजरश्मिपूर्णः खण्डेन्दुः गंगा च यस्य असाधारणं छत्रं चामरं चेति स्पष्टम्॥ ४॥

**प्रकाशां · · · · · · · · कामप्यमृतवाहिनीम्॥ ५॥**

प्रकाशां–[५]सुप्रकटां, शीतलां–सन्तापहरां, शुद्धां–[६]भेदकलङ्कशातिनीं च, एकाम्–अद्वितीयां, कामपि–अपूर्वां, अमृतवाहिनीम्–[७]आनन्दस्यन्दिनीं, दृशं–संविदं, मे–मह्यं, नाथ! वितर–प्रयच्छ। शशिकलापक्षे श्लिष्टोक्तेः स्पष्टोऽर्थः॥ ५॥

**त्वच्चिदानन्द० · · · · · · · · भगवन्नामृतास्वादसुन्दराः॥६॥**

त्वत्तः–चिदानन्दसमुद्रात् याः संवित्तिविप्रुषः–नीलसुखादिज्ञानकणिकाः, प्रकाशमानत्वाच्चिदानन्दसारा एव च्युताः–निर्याताः, समकालम-

१. ख० पु० संसारैकोपतापानाम्–इति पाठः।

२. ख० पु० पाशवहेयोपादेयत्वादिकल्पनोत्थात्–इति पाठः।

३. ख० पु० धुनोति–दूरीकरोतीति स्वर्धुनी–इति पाठः।
ग० पु० ध्वनति–इति च पाठः।

४. ख. पु० स्वात्मप्रथाहेतुः–इति पाठः।

५. ख० पु० स्वप्रकटाम्–इति पाठः।

६. ख० पु० भेदशङ्काशातिनीम्–इति पाठः।

७. ख० पु० अमृतस्यन्दिनीं च–इति पाठः।

मृतास्वादसुन्दराः इमा [1]विस्फुरन्त्यो नो कथं भवन्ति—भवन्त्येवेत्यर्थः॥ ६॥

त्वयि · · · · · · · · तेऽवज्ञास्पदमीदृशाः॥ ७॥

त्वद्विषये यो रागरसो—भक्तिप्रसरः। तत्र येषां हृदयं न मग्नं—न समाविष्टं, ते अविद्यमानतात्त्विकहृदयाः। ईदृशा इति—संसारक्लेशभाजन-भूताः। अवज्ञास्पदं—भक्तिमतामगणनीया इव॥ ७॥

**प्रभुणा · · · · · · · · परमेकः स भाजनम्॥८॥**

उक्तार्थप्रातिपक्ष्येणोक्तिः। यस्येति—कस्यचिदेव। अहृदयास्तु [2]प्रायशो बहव इति बहुवचनमत्र नोक्तम्। हृदयमेलनं—[3]समावेशेनैकध्यम्। विभूतयः— अद्वयानन्दसम्पदः। यस्य च लौकिकेश्वरेण हृदयमेलनं भवति, स एवैकस्त- द्विभूतीनां पात्रं नान्य इति श्लेषेण ध्वनति॥ ८॥

हर्षाणामथ · · · · · · · · निम्नानिम्नभुवामिव॥९॥

भवद्ध्यानं—समावेशरूपं त्वच्चिन्तनमेव अमृतापूरः। स यथा निम्ना-निम्नभुवाम्—अशुद्धेतररूपमायाविद्याभूमीनां समं—युगपत्, प्लावकः—सामरस्यापादकः। तथा लौकिक-शोकहर्षादीनामपि। समाविष्टस्य हि युगपदेव निखिलं परमानन्दव्याप्तिमयं जायते। जलापूरश्च निम्नोन्नता भूमीः प्लावयति॥ ९॥

**केव न · · · · · · · · क्वापि विरहस्त्वया॥१०॥**

येषामात्माधिकेन, ईश! देहादि निमज्ज्य चिद्घनत्वेन स्फुरता त्वया, क्वापि—कदाचिदपि न वियोगः, तेषां सुखसम्भारनिर्भरा-परमानन्दपूर्णा, का इव दशा न स्यात्—सर्वैव भवतीत्यर्थः। जीवन्तः ईश्वरावियुक्ताश्च सदा सुखिनो भवन्ति॥ १०॥

**गर्जामि · · · · · · · · यत्त्वमत्यन्तरोचनः॥११॥**

अतिभक्तिरसानन्दघूर्णितस्येयमुक्तिः। अत्यन्तं रोचनः—अतिशयेन प्रियः। एष इति—वक्तुमशक्यः स्वानुभवसंसिद्धः। तथा च अत्यन्तरोचनः—

---

१. ख० पु० विस्फुरन्त्यः कथं न भवन्ति—इति पाठः।

२. ख० पु० प्रायो बहवः—इति पाठः।

३. ख० पु० समावेशेनैकत्वम्—इति पाठः।

विश्वग्रासकत्वेन अतिदीप्तप्रकाशवपुर्यतस्त्वं स्वामी मम घटितः—समावेशेन मया आसादितः, ततो गर्जामि—[1]महारवमुच्चारयामि। नृत्यामि—हर्षप्रसर-भरेण सर्वतो [2]मायाप्रमातृभावधूननसारं गात्रविक्षेपं करोमि। मम च मनोरथाः पूर्णाः—निराकाङ्क्षोऽस्मि जात इत्यर्थः। बत इति—अनुत्तरचित्स्वरूपप्रत्यभि-ज्ञानाद्विस्मयमुद्रानुप्रवेशं ध्वनति॥ ११॥

**नान्यद्वेद्यं · · · · · · · चित्त्वं विजृम्भते॥१२॥**

तथाविधो मम स्वामी घटितो, यत्र स्वामिनि सति अन्यद्—भिन्नं वेद्यं, अन्या क्रिया, अन्यो योगः, अन्या च विदा—संविन्नास्ति। घटितस्वामिव्यतिरिक्तं मम न किंचिदपि भातीत्यर्थः। क्रिया विदा इत्यत्र अन्या इति योजना। तत्र पूर्णत्वमस्त्येव—इत्याह किन्तु यज्ज्ञानं स्यात् [3]तद्विश्वस्यैका पूर्णाहुतिः—बोधाग्निप्रज्वालिनी। पूर्णाहंपरामर्शक्रियाशक्तिस्वरूपमेतज्ज्ञानमिति यावत्। यच्च ईदृग्ज्ञानं [4]तदेव चित्त्वं—शिवप्रकाशरूपत्वं विजृम्भते नान्यत्। [5]यदागमः

"न योगोऽन्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते॥" गमतं०॥

इति॥ १२॥

**दुर्जयानामनन्तानां · · · · · · · शश्वच्छिवध्वनिः॥१३॥**

हस्तात्पलायिता इत्यनेन शिवध्वनिशून्यवाचः सर्वदुःखाक्रान्ता इति ध्वनति। तथा चोच्यते

"आब्रह्मणश्च [6]कीटान्तं न कश्चित् तत्त्वतः सुखी।
करोति तास्ता विकृतीः सर्व एव जिजीविषुः॥"

इति॥ १३॥

**उत्तमः · · · · · · · निःशेषपुरुषाश्रयः॥१४॥**

१. ख० पु० महारवमुच्चरामि—इति पाठः।
२. ख० पु० मायाप्रमादभावधूननसारम्—इति पाठः।
३. ख० पु० तद्विश्वैकपूर्णा—विश्वस्यैका पूर्णाहुतिः—इति पाठः।
४. ख० पु० तदेवम्—इति पाठः।
५. ख० पु० यथागमः—इति पाठः।
६. ख० पु० कीटाच्च—इति पाठः।

'हरिः पुरुषोत्तमः'—इति प्रसिद्धः। स युष्मच्छेषेण—तावकेन अभेदसार-वि[1]द्याधिष्ठातृप्रमातृषु च विलब्धादन्येन अधिष्ठानात्मना स्वरूपेण विशेषितः—सम्पादितविशेषः। तथा चागमः

"वैष्णव्यास्तु स्मृतो विष्णुः।"

इति। त्वं सकलादिसदाशिवान्तनिःशेषपुरुषाश्रयत्वान्महापुरुषः। अन्य-शब्दः कश्चिदर्थः। एकः—अद्वितीयः। इति एकः श्लोकार्थः। अपरस्तु व्याकरणप्रक्रियया उत्तमपुरुषः [2]अस्मदर्थे यः, स युष्मच्छेषाभ्यां—मध्यम-प्रथमपुरुषाभ्यां विशेषितः—सञ्जातविशेषोऽस्ति, तस्य च तटस्थ- परामृश्यात्-प्रथमपुरुषात् युष्मदर्थोन्मुखाच्च मध्यमपुरुषादयं विशेषः, यदशेष- पुरुषाश्रयत्वं तद्विश्रान्तिधामत्वं। सर्वस्येदन्ताविमृश्यस्याहन्तायामेव विश्रान्तेः—स पचति, त्वं पचसि, अहं पचामि—इति विवक्षायां [3]वयं पचामः—इत्यादौ प्रयोगेऽयमेवाशय इत्यास्ताम्। त्वं तु [4]निःशेषाणां—प्रथम- मध्यमोत्तमपुरुषाणां कल्पितानाम[5]कल्पितचिद्रूपः आश्रयः। यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायां

"ग्राह्यग्राहकताभिन्नावर्थौ भातः प्रमातरि।" १अ०, ४आ०, श्लो० ८॥

इति। अत एव महापुरुषः—महेश्वरो, महादेववन्महच्छब्दस्य त्वय्येव प्रवृत्तत्वात्॥ १४॥

**जयन्ति ते · · · · · · · क्रीडामहासरः॥१५॥**

जगद्वन्द्यत्वं—शिवसमावेशपात्रत्वात्। जगतां विभो! तव दासास्ते जयन्ति, येषां संसारसमुद्र एवैष इति—अतिघोरोऽपि चिद्रूपतया ज्ञातपरमार्थः सन् क्रीडामहासरः कल्पः। यथोक्तं स्पन्दे

"इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
सम्पश्यन्..............................॥" नि० ३, श्लो० ३॥

इत्यादि॥ १५॥

---

१. ख० पु० अभेदसारविद्याधिष्ठातृषु प्रमातृषु—इति पाठः।

२. ख० पु० अस्मदर्थरूपः—इति पाठः।

३. ख० पु० वयमेव पचामः—इति पाठः।

४. ख० पु० विनिःशेषाणाम्—इति पाठः।

५. ख० पु० अकल्पिताश्चिद्रूपाश्रयः—इति पाठः।

**आसतां · · · · · · · इत्यनेनैव लज्ज्यते॥१६॥**

अन्यानि दैन्यानि—अणिमादिप्रार्थना। भवज्जुषां—सततसमावेशप्रथमानत्वस्त्वरूपाणाम्, अत एव [1]प्रार्थनीयान्तरविरहात्। त्वमेव प्रकटीभूयाः—इत्यनेनैव कदाचित्समाविष्टैः प्रार्थनीयेन यतो लज्ज्यते ततो दण्डापूपीयन्यायेन दैन्यान्तरसम्भावनैव नास्ति॥ १६॥

**मत्परं नास्ति · · · · · · · दिशसि क्वचित्॥१७॥**

'महेशितुरपि जप्यं देवतान्तरमस्ति—अक्षमालायोगात्,—इति ये मुह्यन्ति तान् बोधयितुमाह;—मत्परं तावन्नास्ति तथापि जापकोऽस्मि यत्, तत्—तस्मात् ऐक्यतः—ऐक्येन चिदभेदेन परमार्थतो जपः—पूर्णाहन्ताविमर्शात्मा नित्योदितो भवति—इत्यक्षमालया क्वचित्—गौरीश्वराद्याकृतौ दिशसि—कथयसि। तच्छब्दाद्यच्छब्द आक्षेप्यः। अथवा अक्षमालयाकरणीश्वरीपंक्त्या समस्तार्थसार्थसर्गसंहारपरम्परासमापत्तये पुनः पुनरावर्तमानया ऐक्यतः—महार्थनयाभेदसारेणैकत्वेन च जपः—अनुत्तरविमर्शसारो भवतीत्यक्षमालयैववर्णलिपिन्यासेन युक्त्या शिक्षयसि॥ १७॥

**सतोऽवश्यं परमसत्सच्च · · · · · · · सदसन्मयः॥१८॥**

भावाभावौ [2]परस्परं भिन्नौ। त्वमसतः—खपुष्पादेः सतश्चनीलसुखादेरन्यः—विलक्षणः चिदानन्दघनः। अत एव सदसन्मयः—सद्रूपोऽप्यसद्रूपोऽपि, सदसद्रूपोऽपि विश्वात्मकस्त्वम्। नतु सद्रूप एव वा, असद्रूप एव वा, सदसद्रूप एव वा, उभयोज्झित एव वा। तथा च श्रीभर्गशिखायां

'न सन्न चासत्सदसन्नैव तदुभयोज्झितम्।''

इत्यपुक्रम्य

''दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्॥''

इत्यनिर्वचनीयतयैव विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दघनमनुत्तरस्वरूपं—

''सदसत्त्वेन...........।'' ३ स्तो०, श्लो० १॥

---

१. ख० पु० अर्थनीयान्तरविरहात्—इति पाठः।

ग० पु० अत एव त्वमेवार्थनीयान्तरविरहात्—इति पाठः।

२. ख० पु० परस्परभिन्नौ—इति पाठः।

इति श्लोकेन भावनीयसदसत्ताकोटिद्वयवैलक्षण्यमुक्तम्। अनेन तु सर्वभावाभावोत्तरत्वम्॥ १८॥

**सहस्रसूर्यकिरणाधिक० · · · · · · · न दृश्यसे॥१९॥**

सहस्रसूर्यकिरणेभ्योऽप्यधिकः—तेषामपि तत्प्रकाशत्वात्। शुद्धः—चिदेकरूपः प्रकाशो भूम्ना प्राशस्त्येन च यस्य। अत एव [1]सर्वभुवनव्यापकोऽपि त्वं मायाव्यामूढैर्न दृश्यसे—भासमानोऽपि न प्रत्यभिज्ञायसे इति यावत्॥ १९॥

**जडे जगति · · · · · · · सर्वोत्तमो भवान्॥२०॥**

जगति—क्षित्यादिसदाशिवावसाने जडे वेद्ये मिते च असि त्वं चिद्रूपो वेदको व्यापकश्च यतस्ततः सर्वोत्तमोऽसीति सम्बन्धः॥ २०॥

**अलमाक्रन्दितैरन्यैरियदेव · · · · · · · विदन्नपि॥२१॥**

व्युत्थानदशापरपशः [2]समावेशस्य तत्त्वं जानन्नपि मुह्यामीति—समावेश-विवशो[3] भवामीति शिवम्॥ २१॥

इतिश्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां प्रणयप्रसादाख्ये तृतीये स्तोत्रे क्षीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥ ४॥

# अथ सुरसोद्बलाख्यं चतुर्थं स्तोत्रम्

**चपलमसि · · · · · · · त्रिभुवनगुरुमम्बिकाकान्तम्॥१॥**

[4]चापल्याद्यद्यपि भगवद्भजने न प्ररोहसि तथापि कृतार्थमसि—क्षणमात्रमपि तत्सेवायाः पूर्णव्याप्तिप्रदत्वात्। अत एव शरणानामपीति—असामान्यतां भगवतः प्रथयति। शरणानां—ब्रह्मविष्णवादीनामपि शरणं—समाश्रयं, त्रिभुवन- गुरुं—विश्वस्योपदेष्टारं पूज्यं च। अम्बिका—पराशक्तिः॥ १॥

**उल्लङ्घ्य · · · · · · · नाद्यापि चित्रमुज्झामि॥२॥**

विविधानि—ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवादिरूपाणि [5]दैवतान्येव

---

१. ख० पु० सर्वभुवनव्यापकत्वम्—इति पाठः।

२. ख० पु० समावेशतत्त्वम्—इति पाठः।

३. ख० समावेश वशोभवामि पाठः।

४. ख० पु० चापलाद्यद्यपि-इति पाठः।

सोपानक्रमः। तमुल्लंघ्य—विश्रांतिपदीकृत्य, उपेयस्य—उपगन्तव्यस्य आत्म-समीपे प्राप्तव्यस्य शिवस्य, चरणान्—मरीचीन्, आ—समन्तात् श्रित्वा—समावेशयुक्त्या स्वीकृत्यापि, चित्रं यदद्यापि अधरतरां भूमिं—व्युत्थानपतितां मायीयदेहादिप्रमातृतां न त्यजामि। दैवतानां सोपानक्रमेण [2]अनुपादेयतां भगवतस्तु चरणसमाश्रयेणोपादेयतमतां प्रकाशयन्नात्मनस्तत्समाश्रयेण श्लाघ्यतां ध्वनति॥ २॥

**प्रकटय निजमध्वानं ········ सदोदितो दासः॥ ३॥**

निजमध्वानं—स्वं शाक्तं मार्गम्, अखिलस्य—लोक्यलोकयितृरूपस्य, लोकस्य—मेयमातृवर्गस्य सदाशिवान्तस्य [3]चरितानि स्थगयतरां—निःशेषेण [4]नाशय। यावत् तव सदोदितो दासो भवामि—त्वच्चरणसपर्यापरो नित्यसमाविष्टः स्फुरामि इति यावत्॥ ३॥

**शिव शिव ········ हि सम्पदोऽदूरे॥ ४॥**

तव चरणयुगलं—[5]ज्ञानक्रियामयमरीचिद्वयम्। सम्पदः—समावेशसारा परमानन्दमय्यः। अदूरे—निकटे॥ ४॥

**तावकाङ्घ्रिकमलासनलीना ········ हसन्ति॥ ५॥**

संकोचविकासपरत्वन्मरीचिविश्रान्ताः, तत एव आस्वादितस्वातन्त्र्याः, यथारुचि—करणेश्वरीप्रसरयुक्त्या ये जगद्रचयन्ति ते विरिञ्चिब्रह्माणम् अधिकारमलेन आ—समन्तात् लिप्तमत एव नियतिपरतन्त्रत्वादस्ववशम्—अस्वतन्त्रम्। हे ईश—स्वतन्त्र। हसन्ति—कमलासनोऽपि तेषां हासास्पद-मित्यर्थः॥ ५॥

**त्वत्प्रकाशवपुषो ········ प्रकृतितोऽपि विदूरः॥ ६॥**

हे ईश्वर! असि त्वं प्रकृतितः विदूरोऽपि—स्वरूपगोपनादप्राप्योऽपि

१. ख० पु० दैवतान्येव—इति पाठः।

२. ख० पु० अनुपादेयता—इति पाठः।

३. ख० पु० चरितानि—चेष्टितानि—इति पाठः।

४. ख० पु० शमय—इति पाठः।

५. ख० पु० ज्ञानक्रियामयं मरीचिद्वयम्—इति पाठः।
ग० पु० ज्ञानक्रियामरीचिद्वयमिति पाठः।

सदैव परिलब्धः अस्माभिरिति शेषः। यतः यत्किंचित्प्रतिभातुं प्रभवति– भासते, [1]तत्त्वत्तः प्रकाशवपुषश्चिद्रूपात् न भिन्नं प्रकाशमयस्यैव प्रकाशार्हत्वात्। यथोक्तम्

'यस्मात्सर्वमयो जीवः....।' स्पं० २ नि० श्लो० ३॥ इत्यादि।

'भोक्तैव भाग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः'। स्पन्द० २ नि० श्लो० ४॥ इत्यन्तम्॥ ६॥

**पादपङ्कजरसं · · · · · · · भातमक्षतवपुर्द्वयशून्यम्॥ ७॥**

तव ज्ञानक्रियामरीचिद्वयमयचरणकमलरसं केचित्—द्वैतनिष्ठाः, भेदेन पर्युषिता—झगिति उपभोगानासादनेन शुक्तीकृतप्राया वृत्तिः—स्वरूपं यस्य तमुपेताः—प्राप्ताः, न तु सद्य आस्वादयन्ति। केचित्पुनः—परशक्तिपातपवित्रिताः सद्यो भातं—झगिति उपनतम् अक्षतवपुषं—नित्यस्फुरत्स्वरूपं द्वयशून्यं— चिदानन्दैकघनं रसयन्ति—चमत्कुर्वन्ति। केचिदिति अपकर्षं केचनापीति उत्कर्षं ध्वनति॥ ७॥

**नाथ विद्युदिव · · · · · · · विधिवत्किमुतान्यत्॥ ८॥**

हे नाथ! तव विभा—परः शाक्तः स्पन्दः। अमृतदिग्धा—परमानन्दोपचिता। विद्युदिव—क्षणमात्रं या कदाचिन्ममावभाति—[2]समावेशेन स्फुरति, सा यदि बलवद्व्युत्थानमपहस्त्य[3] नित्योदिता स्यात्, तद्विधिवत्—यथातत्त्वं पूजितोऽसि। किमुतान्यत् परिसमाप्तं करणीयं कृतकृत्यता च जायते इत्यर्थः॥ ८॥

**सर्वमस्यपरमस्ति · · · · · · · सुप्रकटो मे॥९॥**

असि त्वं सर्वम्। अपरं वस्तु यदि वावस्तु न किंचिदस्ति, सर्वस्य चिद्घ- नत्वात् प्रकाशमयत्वेन प्रकाशनात्। इत्येवं शुद्धविद्यामय्या यथैव महत्या प्रज्ञया अत्र—जगति त्वं निश्चितस्तथैव मे सुष्ठु—व्युत्थानेऽपि समावेशवशात् प्रकटो भव॥ ९॥

**स्वेच्छयैव · · · · · · · त्वत्पदोचितमवैमि न किंचित्॥१०॥**

---

१. ख० पु० तत् तत्त्वतः—इति पाठः।

२. ख० पु० समावेशे स्फुरति—इति पाठः।

३. ख० पु० अपहस्तय्य—इति पाठः।

हे भगवन्! अहं प्रभुणैव—न तु अन्येन केनचित्। स्वेच्छयैव—निरपेक्ष-शक्तिपातयुक्त्या, निजमार्गे—विकस्वरस्वशक्तिवर्त्मनि, पदं कारितः—विश्रान्तिं लम्भितः। तत्कथं जनवदेव—लोकवदेव चरामि—व्युत्थाने व्यवहरामि। त्वत्पदोचितं—त्वन्मरीचिपरिचयसमुचितं समावेशवशान्न किंचिदवगच्छामि॥ १०॥

**कोऽपि देव · · · · · · · · सुभगीकृताश्चिरम्॥११॥**

हे देव! तेषु—केषुचित्प्रागुक्तभक्तिमत्सु हृदि तावकः उत्तमः—उत्कृष्टः सुभगभावः कोऽपि उच्छलदानन्दरसोल्बणत्वं [1]किमपि जृम्भते, येन तेऽपीति—[2]समावेशे सम्भिन्नहृदया अपि, अत एव त्वत्कथैव अम्बुदनिनादः, तत्र चातका इव—समावेशशालिप्रतन्यमानशिव[3]कथाकर्णनप्रहृष्टहृदया अपि चिरं सुभगी- कृताः—समावेशभूमिं लम्भिताः। यत्कथामात्रेण समावेशोऽवतरतीत्यर्थः॥ ११॥

**त्वज्जुषां त्वयि · · · · · · · संगमोत्सवम्॥१२॥**

कयापीति—अनुत्तरसमावेशशालिन्या लीलया त्वज्जुषां—त्वां प्रीत्या सेवमानानाम्। एष इति—असामान्यो रागः परिपोषं प्राप्तः। [4]यद्वियोगभुवि—व्युत्थाने। संकथा संस्मृतिश्च कर्त्री संगमोत्सवं—संभोगदशां फलति। वियोगभुवि संगमोत्सवम्—इत्युक्त्या अलौकिकत्वमनुरागस्य ध्वनति॥ १२॥

**यो विचित्ररससेक० · · · · · · · · नवनवप्रयोजनः॥१३॥**

**ते जयन्ति · · · · · · · · संस्रवति चामृतं परम्॥१४॥**

[5]यो विचित्रेति ते जयन्तीति युगलकम्। ते जयन्ति येषु मुखमण्डले नियतं—निश्चितं कृत्वा भ्रमन् शिवध्वनिरस्ति। यः स्वादु परं चामृतं सम्यक् स्रवति—आनन्दरसं समुच्छलयति। कीदृक्? अमृताशयात् साक्षात्कृत-चिद्घन[6]परमेश्वरस्वरूपात् प्रसृतः—स्वरसेनोच्चारितः, यथा अमृताशयात्

१. ख० पु० किमप्युज्जृम्भते—इति पाठः।

२. ख० पु० समावेशसंभिन्नहृदया—इति पाठः।

३. ख० पु० कथावर्णनप्रहृष्टहृदया—इति पाठः।

४. ख० पु० त्वद्वियोगभुवि—इति पाठः।

५. ख० पु० यो विचित्रेत्यादि युगलकमित्यन्तं पदकदम्भकं नास्ति।

शशी—चन्द्रमाः प्रसृतः मण्डले [2]स्फुरन्, परं स्वाद्वमृतं स्रवति। [3]यश्चैव विचित्रेण समावेशरससेकेन [4]वर्धितः, अत एव शतशोऽप्युदीरितः शङ्करेत्ययं शब्दः, तिर्यगाशयेषु—पशुहृदयेष्वपि, नवनवप्रयोजनः—प्रतिक्षणं तत्तदपूर्व-चमत्कारकारी, आविशति—परिस्फुरति॥ १३, १४॥

**परिसमाप्तमिवोग्रमिदं · · · · · · · ०विघट्टनमण्वपि॥१५॥**

[5]प्रस्फुरत्प्रत्यग्रसमावेशसंस्कारस्य व्युत्थानभूमिमवतितीर्षोरियमुक्तिः। उग्रं—भेदमयत्वाद्भीषणम्। जगत्—विश्वं, परिसमाप्तमिव। समाविष्टस्य हि न बाह्यं विश्वं विभाति, अथ च संस्कारशेषतया आस्ते इति इव शब्दः। मनसश्च अविरलो—घनः मलः—अविद्याकलात्मा विगलितः। तथापि निःशेषशान्ताशेषविश्वमयप्रफुल्लमहाविद्योद्यज्जगदानन्दमयस्य पूरकत्वा-त्पुररूपस्य यद्गोपुरं—[6]पुरद्वारं; परमशक्तिरूपं, तत्र अर्गलयुक्तकवाटविघट्टनम्-अतिदृढाख्यातिपुटविपाटनं मम मनागपि नास्ति। अनेन प्रविगलिता-नःशेषदेहादिसंस्कारां परां भूमिमेवोपादेयत्वेन ध्वनति। यदुक्तं

'सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः।
शिवः चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः॥'

प्र० ४ अ०, १ आ० १४ का०॥

इत्यादि श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्।

'सर्वातीतः शिवो ज्ञेयो यं विदित्वा विमुच्यते'।

इति श्रीपूर्वशास्त्रे॥ १५॥

**सततफुल्लभवन्मुख० · · · · · · · ममाभिमुखस्थितिः॥१६॥**

सततं फुल्लं—नित्यं विकसितं यत् त्वन्मुखकमलम्[1]

१. ख० पु० परमेश्वररूपात्—इति पाठः।
२. ख० पु० स्फुरत्—इति पाठः।
३. ख० पु० यच्चैव—इति पाठः।
४. ख० पु० वर्धितोऽपि—इति पाठः।
५. ख० पु० स्फुरत्-इति पाठः।
६. गोपुरं-द्वारमिति ख० पु० पाठः।

'शक्त्यवस्था प्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवीमुखमिहोच्यते॥' वि० भै० श्लो० २०॥

इति स्थित्या त्वत्पराशक्तिरूपं[2]यत्पद्मं, तस्य यदुदरं-मध्यं, परं तावकं परशक्तिसामरस्यमयं शाम्भवं रूपं, तस्य विलोकनं-समावेशः, तत्र लालसंसातिशयाभिलाषं चेतो यस्य, तस्य मे, किमपि तत् असंभाव्य-मुपायप्रदर्शनं, मनागिव-हेलामात्रेण कुरु, येन ममाभिमुखस्थितिः सन् स्फुरसि॥ १६॥

**त्वदऽविभेदमतेरपरं · · · · · · · परिहृत्य ताम्॥१७॥**

समावेशस्फुरितायास्त्वदद्वयसंविदः अपरं सुखं—विभूत्यादि च न किंचिदस्ति;—तस्या एव सर्वातिशायित्वात्। ततः किमिति तावकदासजनस्य तां—त्वदविभेदसंविदं परिहृत्य, मनः कुपथमेति—व्युत्थानभूमिमेवाधावति[3]॥ १७॥

**क्षणमपीह न · · · · · · · रसयेयमहं न चेत्॥१८॥**

यदि भवदद्वयानन्दरसासवम् अहमविरतं नास्वादयेयं, तत्तव दासतां प्रति क्षणमपि भाजनं न भवेयम्;—आनन्दघनत्वत्स्वरूपापरिचितत्वात्॥ १८॥

**न किल पश्यति · · · · · · · शृणोषि मे॥१९॥**

अयं तावज्जनः भेददृष्टिमलीमसत्वात् तव सत्यं चिद्घनं वपुः न पश्यति। तथापि त्वं सर्ववित्—सर्वज्ञः। आश्रितवत्सलः—भक्तानुकूलः। अत एव स्वयमेवोचितस्वात्मदर्शनदानेऽपि मे किमिति, आरटितम्—आक्रन्दितं न शृणोषि। दर्शनं तावत् झगिति, मम आरटितं—भक्तिविवश-चित्तस्य आक्रन्दितमात्रं तु शृणु—इति प्रार्थयते॥ १९॥

**स्मरसि नाथ · · · · · · · मम देहि तत्॥२०॥**

ईहितं—चेष्टितं[4] प्रयत्नार्जितं, अथाप्यर्थितं—काङ्क्षितं कदाचिदपि मया विषयसौख्यमिति नाथ स्मरसीति निर्यन्त्रणोक्त्या गाढप्रभुपरिचयं ध्वनति।

१. ख० पु० त्वन्मुखकमलम्-इत्यनन्तरं 'शैवीमुखमिहोच्यते'-इत्येव पाठः।

२. ख० पु० पद्मम्-इति पाठः. २. ग० पु० त्वत्पराशक्तिपद्मम्-इति च पाठः।

३. ख० पु० धावति—इति पाठः।

४. च० पु० 'चेष्टितम्' इति न दृश्यते।

केवलं मम सदैव भवद्वपुरीक्षणामृतं—त्वत्स्वरूपप्रकाशनरसायनम् अलमभीष्टम्। तदेव च देहि—प्रयच्छ॥ २०॥

किल यदैव · · · · · · · भवतः प्रभो॥२१॥

शिवाध्वनि—श्रेयःशतशालिनि परे[1] शाक्ते मार्गे, कृतपदः—प्राप्तविश्रान्तिः॥ २१॥

यत्र सोऽस्तमय० · · · · · · · स्वप्रभाप्रसरभास्वररूपा॥२२॥

सा कापि—लोकोत्तरा, शिवरात्रिः—शिवसमावेशभूमिः, [2]समस्तमायीयप्रथायाः संहरणाद्रात्रिरिव रात्रिः। कीदृशी? स्वप्रभाप्रसरेण—चित्प्रकाशजृम्भणेन भासनशीलं रूपं यस्यास्तादृशी। स इति—अशेषप्रपञ्चप्रथमाङ्कुरः विवस्वान्—प्राणः। चन्द्रमः-प्रभृतिभिः—अपानादिभिः सह [3]अस्तमयमेति—प्रशाम्यति। यदि वा विवस्वान्—प्रमाण-प्रकाशः। चन्द्रमः-प्रभृतयः—प्रमेयादयः॥ २२॥

अप्युपार्जितमहं त्रिषु · · · · · · · विहीनम्॥२३॥

त्रैलोक्यराज्यमपि त्वन्मरीचिसंस्पर्शरसं विना विरसं मन्ये॥ २३॥

बत नाथ · · · · · · · श्लथते न लेशतोऽपि॥२४॥

आश्चर्यम् अयमात्मबन्धो—देहादिषु प्रमातृताभिमानः त्वदप्रथारूपः। त्वयैव—अतिदुर्घटकारिणा दृढः क्लृप्तः। न त्वत्र अन्यस्य शक्तिः। [4]यस्मान्मम [5]त्वां प्रथमानमेव—समावेशे भान्तमेव अवधीर्य—न्यग्भाव्य लेशतोऽपि न श्लथते—[6]व्युत्थाने प्राधान्यमेवावलम्बते इत्यर्थः॥ २४॥

महताममरेश · · · · · · · द्रष्टृशरीर एव शश्वत्॥२५॥

[1]बहिरन्तः—[2]पूजाद्यवसरे। [3]आपाते भेदेनैव प्रकाशमानत्वात् पूज्यमानो

---

१. ख० पु० परमे शाक्ते मार्गे—इति पाठः।

२. ख० पु० समस्तमायीयप्रथासंहरणात्—इति पाठः।

३. ख० पु० अस्तमेति—इति पाठः।

४. च० पु० 'मम' न दृश्यते।

५. ख० पु० त्वामेव प्रथमानम्—इति पाठः।

६. ख० पु० व्युत्थानप्राधान्यमेव—इति पाठः।

दृश्यमानश्च, त्वममरेश—देवेश, महतां—भक्तिमतां पूजकैकरूपो द्रष्टृशरीरश्च, समावेशसामरस्याद्बोधमयप्रमात्रेकरूपस्तिष्ठसि—स्फुरसि चेति शिवम्॥ २५॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां सुरसोद्बलनामके चतुर्थे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः॥ ४॥

# अथ स्वबलनिदेशनाख्यं पञ्चमं स्तोत्रम्

**त्वत्पादपद्मसम्पर्क० · · · · · · · स्ववेश्म प्रवेशय॥१॥**

पादाः—मरीचयः। सम्पर्कमात्रसम्भोगः—समावेशास्वादः। [4]गले-पादिका—हठशक्तिपातक्रमः। स्ववेश्म—चित्स्वरूपमौचित्यात्॥ १॥

**भवत्पादाम्बुजरजोरा० · · · · · · · स्यामहं कदा॥२॥**

भवदीयेन पादाम्बुजरजसा अनुग्रहप्रवृत्तपरशक्तिकमलपरागेण, रञ्जित-मूर्धजः—[5]अधिवासितान्तःप्रसरः तदूर्ध्वमध्यशक्तचक्रुरः। तत एव प्रहर्ष-वशादपारम्—अपर्यन्तं, रभसारब्धं—झगिति प्रवर्तितं, नर्तनं—[6]गात्रविक्षेपो मायाप्रमातृताविधूननं येन। नित्यसमावेशविकस्वरतामाशास्ते॥ २॥

**त्वदेकनाथो · · · · · · · मान्यथा बुधः॥३॥**

इयदेव—[7]नापरमर्थये। यत्त्वमेवैको नाथो—नाथ्यमानः समभिलषणीयो यस्य सः। त्वदन्तर्वसतिः—[8]चिद्घनत्वत्स्वरूपसमाविष्टो मूकोऽपि स्याम्।

---

१. ख० पु० बहिरन्तश्च—इति पाठः।

२. ख० पु० पूजाद्यवसरेषु—इति पाठः।

३. ख० पु० आपातभेदेनैव—इति पाठः।

४. ख० पु० गलेपादिकया—इति पाठः।

५. ख० पु० अधिवासितान्तःप्रसरदूर्ध्वाष्टशक्तचक्रुरः—इति पाठः।

६. ख० पु० गात्रविक्षेपम्—इति पाठः।

७. ख० पु० नान्यदर्थये—इति पाठः।

८. ख० पु० चिद्घनत्वात्स्वरूपसमाविष्टः—इति पाठः।

अन्यथा [1]बुधः—विद्वानपि माभूवम्॥ ३॥

**अहो सुधानिधे ········ नृत्येयमारटन्॥४॥**

प्राग्वन्नित्यसमाविष्टतामाशास्ते। सुधानिधे!—आनन्दाब्धे! मृष्ट! चमत्कारपदपतित! स्वादो!—[2]अविच्छिन्नमाधुर्य! नृत्येयमिति प्राग्वत्। आरटन्—स्फुटं परामृशन्॥ ४॥

**त्वपादपद्मसंस्पर्श० ········ ०मदिरामदघूर्णितः॥ ५॥**

त्वच्छक्त्यानन्देन अन्तर्मुखीकृतकरणः। विजृम्भेय—चित्स्वरूपोन्मज्जनाद्गात्रं विनमयेय चिद्गुणीभावं नयेयम्। कीदृक्? भवति साक्षात्कृते, या भक्तिः—आसेवा, सैव मदिरामदः—कादम्बरीचमत्कारः, तेन घूर्णितः—*महाव्याप्तिं लम्भितः॥ ५॥

**चित्तभूभृद्भुवि ········ वृत्तिर्महारसा॥ ६॥**

चित्तमेव अनुल्लङ्घ्यत्ववासनाश्रयत्व[3]कठोरत्वादिभिः भूभृत्। तस्य सम्बन्धिन्यां कस्यांचिद्विवेकप्रदायां भुवि—भूमिकायां, वसेयम्, यत्र सा इति—प्राक् परिशीलिता, महारसा—समावेशानन्दमयी, निरन्तरो—घनः, त्वत्प्रलापः—भवत्परामर्शः प्रकृतं रूपं यस्यास्तादृशी वृत्तिः—स्थितिः॥ ६॥

**यत्र देवीसमेतस्त्वमासौधादा ········ स्यामहं पुरे॥ ७॥**

तस्मिन् पुरे—त्वदीये पूरके चिदात्मनि रूपे, वास्तव्यः—समाविष्टः स्याम्। यत्र आसौधात्—आन्तरात्सुधासमूहरूपात् प्रतिभालक्षणादुच्चाद्धाम्नः आ च गोपुरात्—इन्द्रियविषयरूपाद्द्वारात्, त्वं देव्या—परशक्त्या समेतो—नित्य-प्रमुदितः।

'न सा जीवकला काचित्.............।'

इत्यादिनीत्या वससि। बहुरूपः—विश्वात्मा। अत्र अनुरणनशक्त्या

१. ग० पु० बुधोऽपि-विद्वानपि—इति पाठः।

२. ग० पु० अच्छिन्नमाधुर्य—इति पाठः।

*तदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

'ततः सत्यपदे रूढो विश्वात्मत्वेन संविदम्।
संविदन् घूर्णते घूर्णिमहाव्याप्तिर्यतः स्मृता॥' इति।

३. ख० पु० कठोरत्वाभिः—इति पाठः।

[1]लौकिकेश्वरपरिचर्यार्थैः स्पष्टः। तथोत्तरत्राप्यनुसर्तव्यः[2]॥ ७॥

**समुल्लसन्तु ········ हृत्पद्मः पूजनाय ते॥ ८॥**

मरीचयः—अनुग्राहिकाः शक्तयः। [3]विकसतु—[4]व्याप्तिमासादयतु। तव पूजनाय—[5]त्वत्पदसमावेशाय॥ ८॥

**प्रसीद ········ क्षीवेदिव गलेदिव॥ ९॥**

प्रसादः—अम्भस इव स्वयमेव आबिलीभावशान्त्या नैर्मल्यगमनम्। एव मुत्तरत्र। त्वत्पदे—शाक्ते मार्गे, पतितं—लुठितम्। तत्तदिति—ते ते लोचने इति [6]वर्णयितुमशक्यतां स्फीततां चास्वाद्य वस्तुनो ध्वनति। क्षीवेदिव गलेदिव इति ससन्देहोत्प्रेक्षया सम्भावनालिंगाच्च स्वानुभवसाक्षिकानुत्तरानन्दरस- परवशताशंसां ध्वनति॥ ९॥

**प्रहर्षाद्वाथ शोकाद्वा ········ मे प्रभो॥१०॥**

वाप्रभृतिशब्दैः यतः कुतश्चित्स्फुटीभव नास्माकं क्वचिग्रहः इत्याह। प्रभो—सर्वतः प्रभवनशील॥ १०॥

**बहिरप्यन्तरपि ········ ०मृतमत्यन्तशीतलम्॥११॥**

पादाम्बुजं [7]शीतलमित्यादि प्राग्वत्॥ ११॥

**त्वत्पादसंस्पर्शसुधास० ········ मे सदा॥१२॥**

त्वत्पादसंस्पर्शः—रुद्रशक्तिसमावेशः। स एव [8]सुधासरः—रसायनाब्धिः। तत्र अन्तर्निमज्जनम्—निःशेषं [9]ब्रुडनं यत्, एष मम कोऽपीति—असामान्यः

---

१. ख० पु० लौकिकैश्वर्यपरिचर्यार्थः—इति पाठ।

२. ग० पु० अनुमन्तव्यः—इति पाठः।

३. ग० पु० विकसन्तु—इति पाठः।

४. ग० पु० व्याप्तिमासादयन्तु—इति पाठः।

५. ग० पु० त्वदसमसमावेशाय—इति पाठः।

६. ख० पु० यद्वर्णयितुमशक्यताम्—इति पाठः।

७. ग० पु० शीतलमिति—इति पाठः।

८. ख० पु० सुधारसरः—इति पाठः।

९. ग० पु० ब्रुडनं—इति पाठः।

भोग सदा अस्तु। कीदृक्? सर्वान्—सदाशिवपर्यन्तान् भोगान् [1]लङ्घयते—विरसत्वादभिभवति, तच्छीलः॥ १२॥

**निवेदितमुपादत्स्व ········ भक्तजनैःसमम्॥१३॥**

हे भगवन्—[2]चिन्मयस्वात्मन्। आसंसारं यत् मयार्जितं रागादि, तद्वि[3]त्तशाठ्यादिविवर्जनया निवेदितं—त्वय्यर्पितं, निःशेषेण वेदितं चेति। तत्स्वरूपमुपादत्स्व—गृहाण, [4]स्वप्रकाशात्मतामधिष्ठाय समीपे कुरु। अमृतीकृत्येति—परशक्तिस्पर्शामृतेन आप्लाव्य। भक्तजनैः समम्—इत्युक्त्या [5]स्वसमावेशव्याप्तिसमये समस्तभक्तानामपि तन्मयतामाशंसति॥ १३॥

**अशेषभुवनाहार० ········ ०लोकनक्षणम्॥१४॥**

हे स्वामिन्! अशेषभुवनाहारेण नित्यतृप्तः—परमानन्दघनः। दासेषु व्याख्यातरूपप्रसादालोकनावसरं गृहाण—[6]प्रकाशार्हत्वमधिष्ठापय कीदृशं? सुखेन आस्यते यत्र तत् आनन्दव्याप्तिमयम्॥ १४॥

**अन्तर्भक्तिचमत्कार० ········ स्यां तृणान्यपि॥१५॥**

अन्तः—पूर्णाहन्तायां भक्ति[7]चमत्कारामीलितेक्षणः—इति प्राग्वत्। मह्यं—चिद्रूपाय शिवाय नमः—इति कृत्वा तृणान्यपि पूजयन् स्याम्—शिवतया परामृशेयम्॥ १५॥

**अपि लब्धभवद्भावः ········ ०वियोजितः॥१६॥**

लब्धो भवद्भावः—[8]त्वदात्मैक्यं येन। अत एव स्वात्मनः—शिवरूपस्य उल्लास एव प्रकृतं रूपं यस्य, तथाविधं जगत्—विश्वं पश्यन्, भक्ति-रसाभोगैः-समावेशप्रबलचमत्कारैः अवियोजितः स्याम्;-

१. ख० पु० लङ्घते—इति पाठः।

२. ख० पु० चिन्मयस्वामिन्—इति पाठः।

३. ग० पु० वित्तशाठ्यविवर्जनया—इति पाठः।

४. ग० पु० स्वप्रकाशात्मकतामधिष्ठाय—इति पाठः।

५. ख० पु० स्वसमावेशतासमये—इति पाठः।

६. ख० पु० प्रकाशात्मकत्वम्—इति पाठः।

७. ख० पु० चमत्कारोन्मीलितेक्षणः—इति पाठः।

८. ग० पु० त्वदैकात्म्यम्—इति पाठः।

'...........................................।

तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायका॥' मा० वि०

इत्याम्नायस्थित्या मा कदाचित् [1]स्वात्माभिमानविनायको भक्त्यन्तरायं मे कार्षीदिति यावत्॥ १६॥

**आकाङ्क्षणीयमपरं ········ युक्तं यत्परिपूर्णता॥१७॥**

सर्वतो निराकांक्षत्वात् त्वमेव परिपूर्ण इत्यर्थः॥ १७॥

**हस्यते ········ भक्तिपीयूषरसस्तत्प्राप्नुयां पदम्॥१८॥**

नृत्यते-अन्तःप्रहर्षभरेण देहादिप्रमातृता दोधूयते। भुज्यते—ग्रस्यते रागद्वेषादि-इत्यनेन पुर्यष्टकप्रमातृताया गुणीभाव उक्तः। पीयते—चमत्क्रियते भक्तिपीयूषरसः-[2]समावेशानन्दरसः। सर्वस्य च [3]हास्यनृत्यप्रधानभोजनपान-क्रिया स्पृहणीया। सा त्विह अलौकिकत्वेनोक्ता॥ १८॥

**तत्तदपूर्वामोदत्वच्चिन्ता० ········**
**दुर्वासनागन्धः॥१९॥**

[4]स स इति विचित्रः, अपूर्वोऽलौकिकः, आमोदो-हर्षो यस्याः त्वच्चिन्तायाः, सैव स्पृहणीयत्वात् कुसुमवासना, दृढतां—प्ररूढत्वं ममैतु मनसि, यावद्रागादिदुर्वासना नश्यतु॥ १९॥

**क्व नु रागादिषु ········ हितममर मे हृदयम्॥२०॥**

हे अमर! मम हृदयं विरोधरसिकं—समावेशे त्वत्परं, व्युत्थाने तु विषयोन्मुखम्। हितं बोधय—विवेकितं कुरु, येन व्युत्थाने रागादिरसिकतां त्यक्त्वा [5]त्वदनुरक्तमेव आस्ते॥ २०॥

**विचरन्योगदशास्वपि ········ एव स्याम्॥२१॥**

योगदशाः—भूमिकाज्ञानानि। विषयेभ्यो व्यावृत्तयः [6]इन्द्रियाणां

---

१. ख० पु० स्वाभिमानविनायकः—इति पाठः।

२. ख० पु० समावेशानन्दप्रसरः—इति पाठः।

३. ख० पु० हासनृत्यप्रधान—इति पाठः।

४. ग० पु० ममेति इति पाठः।

५. ख० पु० त्वदनुरसिकमेव—इति पाठः।

६. ख० पु०, च० पु० इन्द्रियेभ्यः—इति पाठः।

प्रत्याहाराः, तत्र वर्तमानः। त्वच्चिन्ता-[१]त्वत्स्मृतिरेव मदिरामदः, तेन तरलीकृतं–त्याजितं मितभूमिकाप्ररूढि क्षीवस्येव घूर्णमानं निजचमत्कारव्यतिरेकेण कुत्रचिदपि भूमिका[२]ज्ञानादावरोहत् हृदयं यस्य तादृगेव स्याम्। अपिशब्देन प्रसङ्गपतितत्वेन अनादरणीयतामाह॥ २१॥

**वाचि मनोमतिषु · · · · · · · भवतु भक्तिरसः॥२२॥**

मनोमतयः–कल्पनाप्रधाना धियः। करणरचितासु बुद्धिकर्मेन्द्रिय-कार्यासु। दर्शनश्रवणादिपूर्वकत्वात्सर्वप्रवृत्तीनाम्। सर्वत्र–सर्वावस्थासु। पुरःसरः- आदावेव [३]स्फुरन्। भक्तिरसः-समावेशचमत्कारः॥ २२॥

**शिव-शिव-शिवेति · · · · · · · महारसमपुनरुक्तम्॥२३॥**

जप्यमाने-प्रकृष्टमन्त्रमयतया परामृश्यमाने। अस्मिन्निति-स्वानुभवैकसाक्षिके अनुत्तरे। भूयो नामग्रहणं समावेशवैवश्यं ध्वनति। कमपीति–अलौकिकम्, [४]अत एव महच्छब्दः। अपुनरुक्तं–[५]नवनवानन्दप्रसरम्॥ २३॥

**स्फुरदनन्तचिदात्मकविष्टपे · · · · · · · भवतोऽर्चिता॥२४॥**

स्फुरत्–अनन्तमपरिच्छिन्नं यच्चिदात्मकं विष्टपं–भुवनं विश्वविश्रान्ति-स्थानं तत्र। कीदृशे? परितः–समन्तात् निपीतः समस्तो [६]निःशेषो जडो वेद्यरूपोऽध्वा[७]–तत्त्वादि प्रसरो येन। तथा न गणिता अपरा चिन्मयी गण्डिका–पुरी यत्र;–शिवात्मकचिद्रूप[८]व्यतिरेकेण अन्यस्याभावात्। अनेन–भिन्नशिववादनिरास उक्तः। तत्र प्रकर्षेण विचरेयं–समावेशेन प्रसरेयं।

---

१. ख० पु०, च० पु० त्वत्प्राप्तिरेव–इति पाठः।
२. ख० पु० ज्ञानादरोहत्–इति पाठः।
३. ग० पु० स्फुरत्–इति पाठः।
४. च० पु० 'अत' इत्यारभ्य आग्रिमः पाठः न दृश्यते।
५. ग० पु० नवनवप्रसरानन्दम्–इति पाठः।
६. ख० पु० निःशेषेण–इति पाठः।
७. ग० पु० अध्वा–तन्त्रादिप्रसरः–इति पाठः।
ग० पु० तत्त्वाध्वादीति पाठः।
ख० पु०, च० पु० ध्वान्ततत्वादि प्रसरो येन–इति पाठः।
८. ग० पु० व्यतिरेकदैन्यस्याभावात्–इति पाठः।

कीदृक्? भवतः प्रभोरचिता—[1]अद्वयरूपत्वत्पूजनैकनिष्ठः॥ २४॥

**स्ववपुषि · · · · · · · भवच्चरणाब्जरजः शुचेः॥२५॥**

स्वस्मिन्—अनपायिनि, वपुषि—चिदात्मस्वरूपे। स्फुटभासिनि—प्रकाशघने। शाश्वते—नित्ये। स्थितिं कर्तुं न किमपि—ध्यानजपादिकम् उपयुज्यते—उक्तरूपत्वादेव। एतादृशी मम भवच्चरणाम्बुजरजःशुचेः—त्वच्छक्तिकमलप्रसरपरिशीलनेन शुद्धस्य। सुदृढा मतिः—[2]निश्चलनिश्चयरूपा धीः, परम्—अतिशयेन [3]भवतात्—नित्योदितसमावेशैकघनः स्यामिति यावत्॥ २५॥

**किमपि नाथ · · · · · · · दिश मे सदा॥२६॥**

हे नाथ! भवदङ्घ्रितलस्पृशां—[4]त्वच्छक्तिस्पर्शशालिनां, कदाचिदवसरे, तत्किमपि—असामान्यं वस्तु चेतसि स्फुरति, यत्र समस्तमिदं विश्वं, सुधा-सरसि—परमानन्दसागरे गलति—तन्मयीभवति। तत्तथाविधमिदं वस्तु मह्यं सदा दिश-प्रयच्छ, यथा नित्यसमावेशानन्दघन एव [5]भवानि—इति शिवम्॥ २६॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां स्वबलनिदेशनाख्ये पञ्चमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥ ५॥

## अथ अध्वविस्फुरणाख्यं षष्ठं स्तोत्रम्

**क्षणमात्रमपीशान · · · · · · · दृशः पदम्॥१॥**

व्युत्थानरूपे क्षणमात्रवियोगे, गाढानुरागवैवश्यात् निबिडम्—अत्यर्थं, तप्यमानस्य—स्वयमेव सन्तापमनुभवतो[6] न तु विषयविवशस्य। मम सदा

१. ख० पु० अद्वयरूपत्वत्पूजैकनिष्ठः—इति पाठः।

ग० पु० अद्वयरूपत्वात्पूजैकनिष्ठः—इति पाठः।

२. ख० पु० निश्चयरूपा—इति पाठः।

३. ख० पु०, च० पु० भवेत्—इति पाठः।

४. ख० पु० त्वद्भक्तिस्पर्श—इति पाठः।

५. ख० पु० भवामि इति भद्रम्—इति पाठः।

६. ख० पु०, च० पु० अनुभावयतः—इति पाठः।

दृशः—ज्ञानस्य, पदं भूयाः—परिस्फुरेत्यर्थः॥ १॥

**वियोगसारे · · · · · · · जगतापि वियोजितः॥२॥**

अवियुक्तः—समाविष्टः। जगता—क्षित्यादिशिवान्तेन विश्वेनापि वियोजितः—विश्लेषितः। समावेशे च[1]विश्वं प्रत्यस्तमयो वस्तुतो भवत्येव॥२॥

**कायवाङ्मनसैर्यत्र य · · · · · · · परिपूर्णोऽस्तु मे सदा॥३॥**

यत्रेति—विषये। त्वमेव तदिति—[2]चिदेकसारत्वात्। इत्येष परमार्थ इति—

"यत्र यत्र......................................।"

इत्युपक्रम्य

......"सर्वं शिवमयं यतः"॥ स्व० तं० ४ प०, श्लो० ३१३॥

इत्याम्नातत्वात्। परिपूर्ण इति—[3]समावेशेन साक्षात्कृतः॥ ३॥

**निर्विकल्पो · · · · · · · भूयादनुरूपैव वाङ्मम॥४॥**

निर्विकल्पः—शुद्धचिद्रूपः। तथेति—निर्विकल्पा महानन्दमयी च। अत एव [4]स्तुत्यसमुचितत्वात् अनुरूपा॥ ४॥

**भवदावेशतः · · · · · · · प्रहर्षपरिपूरितः॥५॥**

भावं भावमिति वीप्सया विश्वाक्षेपः। [5]निराकाङ्क्ष इत्यत्र विशेषणद्वारको हेतुः प्रहर्षेत्यादिः,—प्रकृष्टेन महानन्दात्मना हर्षेण परिपूरितत्वादेव हि निराकांक्षता भवति॥ ५॥

**भगवन्भवतः · · · · · · · न परिखिद्यसे॥६॥**

भवतः—चिन्मयस्य सम्बन्धितया

"प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्पश्च"।

इति स्थित्या अखिलं जगत् पूर्णं पश्येयम्। भवता पूर्णमिति पाठे तु स्पष्टोऽर्थः। सन्तुष्टः—परमानन्दमयीं प्रीतिमितः। अतो हेतोर्न परिखिद्यसे;—हे

१. ख० पु० विश्वप्रत्यस्तमयो भवत्येव—इति पाठः।

२. ग० पु० चिदेकसारं त्वाम्—इति पाठः।

३. ख० पु० समावेशसाक्षात्कृतः—इति पाठः।

४. ख० पु०, च० पु० स्तुत्ये समुचितत्वात्—इति पाठः।

५. ख० पु०, च० पु० निराकांक्ष इति विशेषणद्वारकः—इति पाठः।

भगवन्—चिद्रूपस्वात्मन्! अणिमादिप्रार्थनाभिः न व्याकुलीक्रियसे इत्यर्थः ॥६॥

**विलीयमाना० · · · · · · · · शश्वत्क्रमनैर्मल्यगामिनः ॥ ७॥**

यत एवो[1]ल्लसितास्तत्र त्वय्येव क्रमात्क्रमं संस्कारशेषतयापि [2]विगलन्ते। यथा व्योम्नि मेघलवाः। ते हि तत एव प्रसृतास्तत्रैव विलीयन्ते। शश्वत्—सदा। क्रमेण नैर्मल्यं—शुद्धचिद्रूपत्वं गच्छन्ति तच्छीलाः, इत्यनेन चिदात्मतैवैषां[3] तात्त्विकं रूपमिति ध्वनति॥ ७॥

**स्वप्रभाप्रसरध्वस्ता० · · · · · · · · भवमध्याद्भवन्मणिः ॥८॥**

भवमध्यात्—विश्वस्य मध्यतः। कोपीति—शुद्धचिद्रूपः। भवानेव मणिः—सर्वाभिलाष[4]पूरकत्वात् मम सन्ततम्—अव्युत्थानं कृत्वा, भातु—समावेशेन स्फुरतु। स्वप्रभाप्रसरेण—निजरश्मिपरिस्पन्देन ध्वस्ता अपर्यन्ता ध्वान्त-सन्ततिः—अख्याति[5]प्रतीतिर्येन॥ ८॥

**कां भूमिकां · · · · · · · · सर्वतस्त्वामवाप्नुयाम् ॥९॥**

श्रान्त इति—अप्रत्यभिज्ञातस्वरूपत्वाच्चिरं संसारे खिन्नः। त्वां—चिद्रूपं अप्रयासेन—ध्यानपूजाद्यायासं विना, सर्वतः—यतः कुतश्चित् अवाप्नुयां—समावेशेन स्वीकुर्याम्। यतः कां भूमिकाम्—अवस्थितिं नाधिशेषे—नाधितिष्ठसि। तद्बाह्यमान्तरं वा वस्तु किं यत्तव वपुः—स्वरूपं न स्यात्॥ ९॥

**भवदङ्गपरिष्वङ्गसम्भोगः · · · · · · · · जितं मया ॥१०॥**

अङ्गपरिष्वङ्गः—[6]परसमावेशस्पर्शः। स्वेच्छया—न तु कादाचित्कत्वेन। किं न जितं—सर्वोत्कृष्टेन मयैव स्थितमित्यर्थः॥ १०॥

**प्रकटीभव · · · · · · · · ताम्यन्तस्त्वामेव मृगयामहे ॥११॥**

अन्याभिरर्थनाभिः—याच्ञाभिः, कदर्थनाः—व्याकुलताः तव चिद्रूपस्य स्वात्मनः न कुर्मः। यतस्ताम्यन्तः—गाढानुरागविवशाः, त्वामेव चिद्रूपं [7]न

१. ख० पु० उल्लासिताः–इति पाठः।

२. ग० पु० विगलन्तु–इति पाठः।

३. ख० पु० तेषाम्—इति पाठः।

४. ग० पु० पूर्णत्वात्—इति पाठः।

५. ख० पु० प्रवृत्तिर्येन—इति पाठः।

६. ख० पु०, च पु० परमसमावेशस्पर्शः–इति पाठः।

तु अन्यं कंचित् मृगयामहे—अन्विष्यामः, अतः प्रकटीभव—प्रकाशस्वेति शिवम्॥ ११॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यामध्वविस्फुरणाख्ये षष्ठे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः॥६॥

## अथ विधुरविजयनामधेयं सप्तमं स्तोत्रम्

**त्वय्यानन्दसरस्वति · · · · · · · भेदाधीनं महानर्थम्॥१॥**

आनन्दसरस्वति—[2]हर्षसमुद्रे, समरसतां—[3]समावेशैकध्यम् सकृत्—एकवारं, परिहरतु—यथा न [4]पुनर्भवतीत्यर्थः। इयन्तम्—अपर्यन्तम्॥ १॥

**एतन्मम · · · · · · · ०प्रत्ययपरशुः पतत्वन्तः॥२॥**

एतत्—सुखं तद्धेतुरूपं मम अस्तु, इदं तु—दुःखं तद्धेतुरूपं मम मा भूत्,—इत्येवं [5]भेदावग्रहरूपं रागद्वेषाद्यात्मनो निगडस्य—बन्धनस्य दृढे—कठिने मूले अन्तर्—मध्ये भवन्मयतैक्यप्रत्ययः—चिदैक्यप्रतीतिरेव परशुः—कुठारः पततु॥ २॥

**गलतु विकल्पकलङ्कावली · · · · · · · चिन्मयी मूर्तिः॥३॥**

विकल्पानां भेदप्राधान्यात् कलङ्कता। निरर्गलता—निःशङ्कता स्वातन्त्र्यम्। मम चिन्मयी मूर्तिः—प्रमातृता, आनन्दरसप्लुता—समावेशानन्दोच्छलिता अस्तु॥ ३॥

**रागादिमयभवाण्डकलुठितं · · · · · · · भवामि खगः॥४॥**

रागादिमये भवाण्डके—संसारगोलके, लुठितम्—अधोधः पतन्तं मां,

---

१. ग० पु० नत्वन्यत्किंचिदिति—इति पाठः।

२. ख० पु० प्रहर्षसमुद्रे—इति पाठः।

३. ख० पु०, च० पु० समावेशकैवल्यम्—इति पाठः,
ग० पु० समावेशं प्राप्य—इति च पाठः।

४. ख० पु० पुनर्भवेत्—इति पाठः।

५. ख० पु० भेदावग्रहरूपरागद्वेषाद्यात्मनः—इति पाठः।

त्वद्भक्तिभावनैव अम्बिका—माता, तैस्तैः—परमानन्दसारैः रसैराप्याययतु—तर्पयतु। यथा प्रवृद्धपक्षः—प्रकर्षेणासादितव्याप्तिज्ञानक्रियामयस्वात्मपक्षः। खगः—निर्मलचिद्गगनगतिर्भवामि। अण्डलुठितश्च पक्षी मात्रा रसैराप्यायितः, प्रवृद्धपक्षः खे[1] उड्डीनो गच्छतीति श्लेषोपमाध्वनिः॥ ४॥

**त्वच्चरणभावना० ······· विषासङ्गवासनावधि मे॥ ५॥**

त्वच्चरणभावना—[2]त्वद्भक्तिचिन्ता, सैव अमृतरससारः—उत्कृष्टः आनन्द- प्रसरः, तत्र आस्वादे—चमत्कारे, नैपुणं—वैदग्ध्यं ममेदं चित्तं लभताम्। कीदृशम्? निःशेषितः—समाप्तो विषयविषासंगवासनानां—वेद्यहालाहलव्यसनसंस्काराणामवधिर्मर्यादा येन॥ ५॥

**त्वद्भक्तितपनदीधितिस० ········ ०प्तवह्निकणान्॥६॥**

मम चेतोमणिरौचित्याच्चित्तसूर्यकान्तरत्नं, त्वद्भक्तितपनदीधिति-संस्पर्शवशात्—भवत्समावेशसूर्यकरासङ्गात्, रागादिकानेव तप्तवह्निकणान् [3]मृष्टुमशक्यान् स्फुलिंगान्, दूरतरम्—अत्यर्थं, मुञ्चतु—जहातु॥ ६॥

**तस्मिन्पदे ······· बहिः प्रतीक्षन्ते॥७॥**

तस्मिन्नत्युच्चैः पदे—परशक्तिमार्गे त्वामुपश्लोकयेयं—श्लोकैः [4]स्तवेयं सम्यक् परामृशेयम्। हर्यश्वः—इन्द्रः। बहिः प्रतीक्षन्ते—लिप्सवोऽपि वार्तानभिज्ञा इति यावत्॥ ७॥

**भक्तिमदजनितविभ्रमवशेन ········ सकलाः॥ ८॥**

भक्तिमदेन—समावेशप्रहर्षेण जनितो यो विभ्रमो—लोकोत्तरो विलासस्तद्वशेन। करणैः—चक्षुरादिभिः। अविकलं—पूर्णं कृत्वा, करण-प्रसरात्मनि व्युत्थानेऽपि [5]श्रीभैरवीयमुद्राप्रवेशयुक्त्या समाविष्ट एव भूत्वा

---

१. ख० पु०, च० पु० खे गच्छति—इति पाठः।

२. ख० पु० त्वच्छक्तिचिन्ता—इति पाठः।

३. ख० पु० द्रष्टुमशक्यान्—इति पाठः।

४. ख० पु० स्तुवीय—इति पाठः।

५. श्रीभैरवीयमुद्राया लक्षणं यथा— 'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषवर्जितः।
इयं सा भैरवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥' इति।

अखिलं लोकं– [1]'विश्वं लोकं शिवमयम्, क्रियाश्च—वाङ्मनःकायव्यापृतीः सकलाः पूजामयीः—चिन्मयस्वरूपोल्लासरूपाः पश्येयम्॥ ८॥

**मामकमनोगृहीतत्व० · · · · · · · बुद्धिं दृढीकुरुताम्॥९॥**

५. श्रीभैरवीयमुद्राया लक्षणं यथा—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।
इयं सा भैरवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥' इति।

मामकेन मनसा गृहीता—प्राणेशत्वेन स्वीकृता येयं भक्तिरतिस्पृहणीयत्वात् सर्वजनागोचरत्वाच्च कुलाङ्गना—पत्नी, अथ च आगमभाषया श्रीकुलेश्वरीरूपा। सा अणिमादीनेव सुतान् सूत्वा—अन्तः-स्थितानेवाभिव्यक्तिं नीत्वा, महाव्याप्त्या सुस्फुटतया परामृश्य, सुष्ठु बद्धमूला—प्ररूढा सति, 'मम इयद्विश्वं न तु अन्यस्य'—इति बुद्धिं दृढीकुरुतां—प्ररूढिं नयतु। अत्र च अभेदसारा अणिमादयोऽभिप्रेताः। तथाहि—चित्पद एव सर्वान्तर्भाववक्षमत्वाद् अणिमा, व्यापकत्वान्महिमा, भेदमयगौरवाभावात् लघिमा, विश्रान्तिस्थानत्वात्प्राप्तिः, विश्ववैचित्र्यग्रहणात् प्राकाम्यम्, अखण्डितत्वादीशत्वं, सर्वं सहत्वाद्यत्र कामावसायत्वं च। सत्यतः परिपूर्णतया विद्यते, अन्यत्र तु तत्प्रसादादतिपरिमितं प्राप्तमिति कृत्वा पूर्णमेवात्र तदभिप्रेतं न त्वन्यत् पूर्णत्वेन नैराकाङ्क्षात्,

'आसतां तावदन्यानि दैन्यानि...।' शि० स्तो०, स्तो० ३, श्लो० १६॥

इत्याद्युक्तेर्व्याघातप्रसंगाच्च। एवमुत्तरत्रापि स्मर्तव्यमिति शिवम्॥९॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां विधुरविजयनामके सप्तमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥७॥

## अलौकिकोद्बलनाख्यमष्टमं स्तोत्रम्

**यः प्रसादलव · · · · · · · वपुषि रूढिमेष्यतः॥१॥**

मायाकालुष्योपशान्त्या चितो नैर्मल्यं प्रसादः। तस्य लवः—अल्पता।

---

१. ख० पु० 'विश्वं लोकम्'—इति पदद्वयं नास्ति।

पूर्णतायां तु देहापगमाच्छिवतैव। ईश्वर इति सप्तमी [1]अनन्यभावे,–ईश्वरे एव स्थित इत्यर्थः। स एव हि चिद्रूपः तथा स्वयमेव प्रसीदति भक्तिप्रसादात्। [2]ईश्वरस्य रूपोपमाव्यग्रत्वम्। इव शब्दो भक्तेः परिमितताामाह;–काष्ठाप्राप्ता ह्यसौ मोक्षास्वादमय्येव। उपेयुषी–उपगतवती। तौ–भक्तिप्रसादौ परस्परं सम्यगन्वितौ तरुणाविव [3]प्रेमनिर्भरतया स्वानुरूप्येण सम्बद्धौ। तादृशे वपुषि इति–[4]परमानन्दघनतैकमये पूर्णे स्वरूपे। रूढिं–विश्रान्तिम्॥ १॥

**त्वत्प्रभुत्वपरिचर्वण० · · · · · · · ०महिमादि विदूरे॥२॥**

त्वत्प्रभुत्वस्य–[5]त्वत्स्वामित्वस्य

'गर्जामि बत......................।' स्तो० ३, श्लो० ११॥

इति प्रागुक्तश्लोकयुक्त्या यत् परिचर्वणं, ततो जन्म यस्य मम [6]कोऽपि–अलौकिकः, परितोषरसः–आनन्दप्रसरः, इहेति–जगति। सर्वकालं–व्युत्थानावसरेऽपि। परं–केवलम्। उदेतु–उल्लसतु। ज्ञानं–विश्वमयस्वात्मप्रतिपत्तिः। योगः–तत्तद्भूमिकालाभः। तयोर्महिमा–प्रकर्षः। आदिपदा[7]त्तत्तत्सिद्ध्युदयरूपः फलम्॥ २॥

**लोकवद्भवतु · · · · · · · लोकयेयमहमस्तविकल्पः॥३॥**

महार्थं मुद्रामुद्रित[8]स्येयमुक्तिः। हे भगवन् मम लोकस्येव विषयेषु–रूपादिषु, स्फीतः–बहल एव परितर्षः–स्पृहयालुता अस्तु, किन्तु एतान्–विषयान् अहम् अस्तविकल्पः–गलितभेदप्रतिपत्तिः सन्, तव– चिदात्मनः

---

१. ख० पु० अनन्यत्र भावे–इति पाठः।

२. ख० पु० ईश्वरस्य रूपोपमाव्यङ्ग्यत्वमिति पाठः।
   ग० पु० ईश्वरस्वरूपोपमाव्यग्रत्वमिति पाठः।

३. ख० पु० प्रेमनिर्भरौ–इति पाठः।

४. ख० पु० परानन्दघनतैकमये–इति पाठः।
   ग० पु० परमानन्दघनतैकसारे–इति पाठः।

५. ख० पु० त्वत्स्वामिकत्वस्येति पाठः।

६. ग० पु० स कोऽपि–इति पाठः।

७. ख० पु० तत्सिद्ध्युदयरूपः फलम्–इति पाठः।

८. ग० पु० मुद्रितस्योक्तिः इति पाठः।

शरीरतया—अहन्तासारत्वेन, लोकयेयं—पश्येयम्॥ ३॥

**देहभूमिषु तथा ········ मम भव स्फुटरूपः॥४॥**

देहभूमिषु—जरामरणाद्यवस्थासु, मनसि—[१]कल्पनासारे, प्राणवर्त्मनि—सुखदुःखादिस्पर्शमये, संविदः पथिषु—नीलादिज्ञानेषु, तेषु इति—विचित्रेषु, [२]भेदमुपेते इति—[३]नपुंसकशेषः, सर्वस्मिन्नस्मिन्नभिहिते प्रकारे भेदमये सतीति यावत्। तेनेति—स्वात्मनि चमत्कृतेन चिद्धनेन, स्वात्मना—स्वरूपेण, मम स्फुटरूपः—स्वप्राधान्येन स्फुरन् भव॥ ४॥

**निजनिजेषु पदेषु ········ ०रसक्षतिसाहसम्॥ ५॥**

इमाः मम करणवृत्तयः—चक्षुरादिसंविद्देव्यः। उल्लसिताः—अलौकिकेन निजौजसा सोल्लासाः। स्वेषु स्वेषु रूपादिषु विषयेषु प्रसरन्तु। त्वदविभेदरसक्षतिः—[४]त्वत्समावेशच्युतिः, सैव साहसम्—[५]अविमृश्यकारित्वं मैव भूत्। [६]पूर्वत्र विषयेषु परितर्षः [७]आकांक्षात्मा उक्तः, इह तु तत्र संविदां प्रसरः,—इति विशेषः॥ ५॥

**लघुमसृण० ········ ०र्व्यवहारानतिवर्तयेय तान्॥६॥**

भवदावेशवशेन मायीयगुरुत्वहान्या लघु। [८]सुखस्पर्शत्वान्मसृणं। प्रकाशघनत्वात्, सितं। अच्छं शीतलं चेति प्राग्वत्। भावयन्—सम्पादयन्, निखिलायाः पदार्थपद्धतेः—मातृमेयराशेः सम्बन्धिनो व्यवहारान्—लौकिकान् परिस्पन्दान्, अतिवर्तयेय—निवर्तयेय॥ ६॥

**विकसतु स्ववपुर्भवदात्मकं ······ ०ऽप्यनुपाख्यताम्॥ ७॥**

स्वं—चिन्मयं भवदात्मकं वपुः—स्वरूपं विकसतु। अत एव जगन्ति—

१. ख० पु० विकल्पनासारे—इति पाठः।

२. ग० पु० भेदमुपेतः—इति पाठः।

३. ख० पु० नपुंसकविशेषः—इति पाठः।

४. ख० पु० समावेशच्युतिः—इति पाठः।

५. ख० पु० अविमृश्यकारिता—इति पाठः।

६. ख० पु० सर्वत्रेति पाठः।

७. ख० पु० आकांक्षा—इति पाठः।

८. ख० पु० सुखस्पर्शादिति इति पाठः।

धरादिसदाशिवान्तानि मम अङ्गताम्—अभिन्नतां, सम्यक्—अपुनरुत्थाने-नोपयान्तु। ततश्च सर्वं द्वयवल्गितं—भेदविजृम्भितं, स्मृतिपथोपगमेऽपि[1] अनुपाख्यतां—स्मृतेरविषयतां व्रजतु॥ ७॥

**समुदियादपि · · · · · · · ०घोरदरीपरिपूरणम्॥ ८॥**

भवदद्वयाप्रथनं—चिदैक्याप्रथा, सैव घोरा—दुष्पूरा संसारभयप्रदा दरी—खदा, तस्याः परिपूरणं—चिदैक्यसाक्षात्कारः, मम यथा घटेत तथा तादृशं—परमानन्दनदी प्रसरहेतुः यत्तावकमाननं

'शैवी मुखम्........................।' वि० भै०, श्लो० २०॥

इत्यादि स्थित्या परशक्तिरूपं, तेन यो विलोकः—[2]अवलोकनमनुग्रहः, तस्य [3]वावलोकः—स्मरणं, स एव परामृतसम्प्लवः—[4]परस्पर्शरसौघोऽपि समुदियात्—इति रुद्रशक्तिसमावेशप्रकर्षमाशास्ते॥ ८॥

**अपि · · · · · · · भवितास्म्युभयच्युत एव किम्॥९॥**

तावकसङ्गमः—त्वत्समावेश एव अमृतकणाच्छुरणं सुधाशी-कराप्लावः[5]। तनीयसा—प्रसरन्निर्मलस्वरूपेण। सकलेषु लौकिकेषु सुखेषु

'सर्वं दुःखं विवेकिनः'।

इति स्थित्या हेयेष्वपि, परामृताच्छुरितत्वात् पराङ्मुखो न भवितास्मि—सम्मुख एव भविष्यामि। कीदृक्? उभयस्मात्—द्वैताच्च्युत एव—हेयोपादेयहान्या सर्वमभेदेन पश्यन्नित्यर्थः॥ ९॥

**सततमेव · · · · · · · भक्तिमृणालिका॥१०॥**

मम हंसवरस्य—भेदाभेदयोर्हानसमादानधर्मिणो व्याख्यातदृशा सततमेव [6]भवच्चरणाम्बुजानाम् आकरः—उत्पत्तिस्थानं [7]पराशक्तिभूस्तत्र

१. ख० पु० पथोपगमे—इति पाठः।

२. ख० पु० विलोकने अनुग्रहः—इति पाठः।

३. ग० पु०, च० पु० विलोकः—इति पाठः।

४. ग० पु० परःस्पर्शरसौघोऽपीति पाठः।

५. ख० पु० आप्लावनमिति पाठः।

६. ख० पु० भवच्चरणाम्बुजमाकर—इति पाठः।

७. ग० पु० पराशक्तिभूः—इति पाठः।

विचारिणः। भक्तिरेव मृणालिकाबिसाङ्कुरः। उपनमतु—[1]उपभोग्या अस्तु। उपरि—इत्यादि प्रवेशमध्यविश्रान्तिभूमिभ्यः सर्वाभ्य एवेत्यर्थः। हंसः—आत्मा॥ १०॥

**उपयान्तु ·······०मृतसाराणि परं परिस्फुरन्तु॥११॥**

चिन्ताविषयं—[2]विकल्प्यताम्। दृशः पदं—[3]साक्षात्कार्यत्वम्। दर्शन-चिन्तनयोरविकल्पसविकल्पयोः प्रकाशामृतं—बोधरसायनमेव सारम्—उत्कृष्टं रूपं येषां, तानि हेयोपादेयकलङ्कशून्यानि समस्तानि वस्तूनि परं—केवलं परितः—समन्तात् स्फुरन्तु॥ ११॥

**परमेश्वर तेषु ·······०सम्मदोऽपि यावत्॥१२॥**

कृच्छ्रेषु—क्लेशेषु न केवलमहं गतभीः—त्यक्तभयस्त्वदङ्गसङ्गात्—रुद्रशक्तिसमावेशात्, यावदुपजातः अधिकः—प्रकृष्टः सम्मदो—हर्षो यस्य तादृगपि भवेयम्। अधिकशब्दस्यायमाशयः यदुत तत्तद्दुःखेष्वप्युदितेष्व-विलुसस्थितिस्तत्कवलनक्रमेण महावीरतया पूर्णामिव चिद्वृत्तिं प्राप्नुयाम्॥ १२॥

**भवदात्मनि ········स्फुटमेव भासताम्॥१३॥**

यद्विश्वं—व्योमकलातः कालानलान्तं भवदात्मनि उम्भितं—त्वच्चित्-सूत्रप्रोतं, तद्भवतैव न तु अन्येन। बहिरिति—तत्तत्प्रमात्रपेक्षया बाह्यत्वेन प्रकाश्यते। अपिशब्दो बहिःप्रकाशनेऽपि [4]अन्तःप्रकाशाविरहमाह। इति यद्वस्तु वाक्यार्थरूपं दृढेन—निश्चलेन निश्चयेन उप—आत्मसमीपे, जुष्टं—प्रीत्या सेवितं, समावेशेनास्वादितं, तदिदानीमिति—व्युत्थानेऽपि, स्फुटमेव भासतां—प्रत्यक्षीभवतु इति शिवम्॥ १३॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां अलौकिकोद्बलनाख्येऽष्टमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥८॥

---

१. ख० पु० उपभोग्यमस्तु—इति पाठः।

२. ख० पु०, च० पु० कल्पन्तामिति—पाठः, ग० पु० विकल्पतामिति च पाठः।

३. ग० पु० साक्षात्कार्यत्वादिति—पाठः।

४. ख० पु० अन्तःप्रकाशाविरहमाह—इति पाठः।

# अथ स्वातन्त्र्यविजयाख्यं नवमं स्तोत्रम्

**कदा नवरसा० · · · · · · · त्वत्स्पर्शने मनः॥१॥**

नवरसेन—नूतनभक्तिप्रसरेण[1] आर्द्रार्द्रः—सातिशयं स्पृहणीयो यः समावेशात्मा सम्भोगः, तदास्वादे उत्सुकं—सोत्कण्ठं मम मनः, अन्यत्—कल्पनाजालं विहाय त्वत्स्पर्शने प्रवर्तेत—त्वत्समावेशमयं भवेत्॥ १॥

**त्वदेकरक्तस्त्वत्पाद · · · · · · · भवन्तमयमुत्सुकः॥२॥**

त्वय्येवैकत्र न तु विभूतिषु रक्तः। अत एव त्वत्पादपूजामात्रं—त्वन्मरीचिसपर्यैव महत्—स्फीतं धनं यस्य।

'प्रमा समासोत्सवम्'

इति स्थित्या क्षणमात्रमपि व्युत्थानमसहमानः उत्सुकः सन् कदा त्वां साक्षात्करिष्यामि॥ २॥

**गाढानुरागवशतो · · · · · · · ०महार्गलस्त्वामुपैष्यामि॥३॥**

ततोऽपि—

निरपेक्षीभूतम्—उच्चारकरणध्यानाद्यन्तर्मुखं तत्सर्वं परिहरत् मानसं यस्य स तथाविधः, कदा त्वामुपैष्यामि—ऐकध्येन प्राप्स्यामि। कीदृक्? पटपटिति विघटितानि—झटिति त्रुटितानि, अखिलानि मायीयानि अर्गलानि—अविद्यादिपाशा यस्य। पटपटिति—इत्याद्युक्त्या [2]अपुनरुत्थानत्रुटितपाशान्तर-साधर्म्यमुक्तम्॥ ३॥

**स्वसंवित्सारहृदयाधिष्ठानाः · · · · · · · ०प्रभावतः॥४॥**

स्वसंवित्सारं—प्रकाशविमर्शात्मकं हृदयमधिष्ठानम्—आश्रयो यासां ताः सर्वाः ब्राह्म्यादिका देवताः, याभिः

................'[1]शक्तिचक्रस्य भोग्यताम्।

................गतः'...............॥ स्पं०, ३ नि०, १३ श्लो०॥

---

१. ख० पु० प्रसारेण च—इति पाठः।

२. ख० पु० अपुनरुत्थानम्—इति पाठः।

इति स्थित्या पशवः पाशिताः। ताः कदा भवद्भक्तेः—समावेशात्मनः प्रभावाद्वशीकुर्यां—तच्चक्रैश्वर्यं प्राप्नुयामिति यावत्॥ ४॥

**कदा मे स्याद्विभो · · · · · · · पृथङ्नामापि लप्स्यते॥५॥**

भूरि—प्रभूतः। उत्सवोक्त्या अतिस्पृहणीयत्वात्त[2]देकव्यग्रतामात्मन आशास्ते। पृथङ्नामेत्यनेन परं सामरस्यं [3]सूचयति॥ ५॥

**ईश्वरमभयमुदारं · · · · · · · स्वामिजनं लज्जयिष्यामि॥६॥**

अशेषविभूत्यास्पदत्वादीश्वरम्। अप्रतियोगित्वादभयम्। सर्वप्रदत्वादुदारम्। निराकाङ्क्षत्वात्पूर्णम्। नित्यत्वादकारणम्। अथ च अकारणं—निर्निमित्तमेव जगद्रूपताग्रहणेन[4] स्वरूप[5]गोपनासारत्वादपह्नुतात्मानम्। यो हि अनीश्वरादिरूपः स [6]गोपायतामात्मानं भगवांस्तु [7]नैवम्। अथ च [8]गोपितात्मैवेति। ईदृशं स्वामिजनं—निजप्रभुं, सहसोत—शाम्भवावेशयुक्त्या कदा अभिज्ञाय—साक्षात्कृत्य, लज्जयिष्यामि—अपह्नुतिप्रधानतद्रूपगुणीकारेण पूर्णचिदेकरूपतयैव [9]प्रथयेत्यर्थः॥ ६॥

**कदा काममपि · · · · · · · ते स्यात्पलायितुम्॥७॥**

'तव वल्लभताम्'—[10]इत्युक्त्या इदमाह—मम तावदत्यन्तवल्लभोऽसि।

---

१. तदुक्तं श्रीस्पन्दे—

'शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः'॥१३॥

इति।

२. ख० पु०, च० पु० तदेकव्यग्रमात्मानमाशास्ते—इति पाठः।

३. ग० पु० पूरयतीति—पाठः।

४. ख० पु० जगद्रूपताग्रहणे—इति पाठः।

५. ख० पु० गोपनसारत्वादिति पाठः।
ग० पु० गोपनसतत्त्वादिति च पाठः।

६. ख० पु० गोपयतामात्मानमिति पाठः।

७. ख० पु० नैवेति पाठः।

८. ख० पु० अथ चागोपितात्मैवेति पाठः।

९. ग० पु० प्रथयेति पाठः।

१०. ख० पु० इत्युक्त्वा—इति पाठः।

तव तु अहमलौकिकभक्तिप्रकर्षात् कदा कामपि—असामान्यां प्रसादपात्रतां प्राप्नुयां यया वल्लभतया मां प्रति—मदाभिमुख्येन तव न क्वापि पलायितुं—स्वात्मानं [1]गोपयितुं युक्तं स्यात्; सततमेव अन्तराविश्य [2]तिष्ठेरित्यर्थः॥ ७॥

**तत्त्वतोऽशेषजन्तूनां · · · · · · · कदा विभो॥८॥**

सर्वे जन्तवः परमार्थतो यत्किंचित्कुर्वाणाः स्वात्मदेवताविश्रान्ति-सारभवत्पूजामयाः। एतेषां सम्बन्धिन्या तत्त्वतो दृष्ट्या—त्वदनु-ग्रहमहिमोत्थेन[3] स्वात्मप्रत्यभिज्ञानेन हेतुना, तैरेवानुमोदितः—श्लाघितो यो रसो—भक्त्यानन्द- प्रसरस्तेन आप्लावितः—व्याप्तः कदा स्याम्। तत्त्वत इत्यावृत्त्या योज्यम्। अथ वा अशेषजन्तूनामिति कर्मणि षष्ठी। ततश्चायमर्थः-कदा अशेषजन्तून् तत्त्वतो भवत्पूजामयान् [4]दृष्ट्वा अनुमोदनरसेन—आनन्दप्रसरेण आप्लावितः स्याम्— इति। [5]अत्रानुमोदित इति भावे क्तः। उभयत्रापि व्याख्याने 'मत्समः सर्वोऽस्तु'— इत्याशंसातात्पर्यम्॥ ८॥

**ज्ञानस्य परमा · · · · · · · मे स्यात्तदर्थिता॥९॥**

सर्वशास्त्रेषु ज्ञानं मुक्तिहेतुत्वेनोक्तं, मुक्तेश्च समावेश[6]सतत्त्वयैव व्यवस्था-पनात्। तद्रूपा या त्वद्भक्तिः ज्ञानस्य परमा भूः।

'योगमेकत्वमिच्छन्ति
वस्तुनोऽन्येन वस्तुना।' मा० वि०, अ० ४, श्लो० ४॥

इत्यागमलक्षितस्य विचित्रसमावेशात्मनो योगस्य परमाचैतन्य-भैरवैक्यापत्तिरूपा दशा च या त्वद्भक्तिः, तदर्थिता मम कर्हि—कदा पूर्णा—कृतकृत्या स्यात्॥ ९॥

**सहसैवासाद्य · · · · · · · सर्वस्य प्रकटयिष्यामि॥१०॥**

---

१. ख० पु० गोपायितुमिति पाठः।

२. ग० पु० तिष्ठ इत्यर्थः—इति पाठः।

३. ख० पु० महिमोक्तेनेति पाठः।

४. घ० पु० दृष्ट्या—इति पाठः।

५. ग० पु० अत्रानुमोदितमिति पाठः।

६. ख० पु०, च० पु० सतत्त्वतयैवेति पाठः।
ग० पु० सतत्त्वेनैवेति पाठः। घ० पु० सतत्त्वैवेति च पाठः।

सहसैव—झटिति परप्रतिभाविकासेन, आसाद्य—आ—समन्तात् स्वात्मसम्भोगपात्रीकृत्य, तथा गाढमवष्टभ्य – व्युत्थानपरिक्षयार्थं प्रयत्नेनात्मीकृत्य, तत एव हर्षविवशः—परमानन्दनिर्भरोऽहं कदा त्वच्चरणवरनिधानं—समस्तसम्पन्मयं भवत्परशक्तिनिधिं सर्वस्य प्रकटयिष्यामि—छन्नतयान्तःस्थितमपि सूचितोपदेशयुक्त्या उन्मुद्रयिष्यामि। परप्रतिभाबलप्रयत्नावष्टम्भपूर्वमनु[1]ग्राह्यावलोकनादिकं यत्समावेशसंक्रमोपदेशे तत्त्वं, तत्परमसर्वानुग्रहसमर्थं स्यादित्यर्थः। अनेन स्वात्मनः [2]परिपूर्णत्वाद्विश्वजनानुजिघृक्षापरतां सूचयति॥ १०॥

**परितः · · · · · · · मायाच्छायाबिलं भवेत्॥११॥**

परितः—समन्तात् प्रसरच्छुद्धः—अद्वयरूपो यस्त्वदालोकः—चित्प्रकाशः, तन्मयः कदा स्याम्। यथा [3]मायाच्छायाबिलम्—अद्वयाख्यातिकुहरं मम न किञ्चिद्भवेत्—न किञ्चिच्छिष्येत। छायाशब्देन मायाबिलस्यावास्तवतामाह। मायाच्छायया आबिलं—कालुष्यं न किञ्चिदिति वा योज्यम्॥ ११॥

**आत्मसात्कृतनिः० · · · · · · · ०गणनायकः॥१२॥**

आत्मसात्कृतानि—चिदैकध्यमापतितानि निःशेषाणि—सदाशिवादिक्षित्यन्तानि मण्डलानि—भुवनानि येन सः। [4]निर्व्यपेक्षः—अद्वितीयः। त्वद्भक्तगणनायकः—प्रधानं कदा स्याम्॥ १२॥

**नाथ लोकाभिमानानामपूर्वं · · · · · · · ०रसपूरितः॥ १३॥**

'स्रष्टास्मि, [5]स्थापयितास्मि, संहर्तास्मि; तथा पण्डितः शूरो यज्ञवानस्मि'—इति नानाविधानां *रुद्रक्षेत्रज्ञाभिमानानां त्वमेव चिद्रूपो निबन्धनं—

---

१. ख० पु० अनुग्रहावलोकनादिकमिति पाठः।

२. ख० पु० पूर्णत्वादिति पाठः।

३. ख० पु० मायाच्छाययाबिलमिति पाठः।
ग० पु० मायाबिलमिति च पाठः।

४. ख० पु०, च० पु० निर्व्यपेक्षकः—इति पाठः।

५. ग० पु० स्थापितास्मि—इति पाठः।

*ब्रह्मा आदि पांच मुख्य कारणों को रुद्रप्रमाता कहते हैं, और सांसारिक समृद्धि-शाली व्यक्तियों को क्षेत्रज्ञ-प्रमाता कहते हैं।

कारणम्, अपूर्वं—निर्निमित्तं कृत्वा स्वस्वातन्त्र्येणैवेति यावत्। वस्तुतो हि तवैव सर्वकर्तृत्वान्न ब्रह्मादीनां स्रष्टृत्वादि न वा पाण्डित्यादि कस्यचित्। केवलं त्वमेव तत्र तत्र तथाभिमानमुत्थापयसि। यथा चैवं तथा कर्हि—कदा त्वदिच्छात एव महाभिमानः—'विश्वात्मा चिदानन्दघनः शिव एवास्मि—इति दृढोत्साहावष्टंभो भक्तिरसेन पूरितो—व्याप्तः स्याम्। भक्तिरसपूरित इति वदतोऽयमाशयः यदासादितमहाभिमानस्यापि समावेशास्वादमयः प्रभुविषये दासभाव एवोचितः॥ १३॥

**अशेषविषयाशून्य० . . . . . . . ०कुशेशययुगे कदा॥१४॥**

[1]शीताङ्घ्रिकमलयुग्मं—प्राग्वत्। [2]शयीयं—विश्राम्याम्। कीदृक्—अशेषविषयाशून्या—विश्वनिर्भरा येयं श्रीः—भक्तिलक्ष्मीः। तत्कृतेन समाश्लेषेण—दृढावष्टम्भेन सुस्थितिः। काव्यार्थः स्पष्टः॥ १४॥

**भक्त्यासवसमृद्धा० . . . . . . . कदा कृती॥१५॥**

भक्त्यासवेन—सेवारसेन, समृद्धा—स्फीता या त्वत्पूजाभोगसंपत्—समावेशविश्रांतिश्रीः, तस्याः पारं—प्रान्तकोटि कदा गमिष्यामि, अत एव कदा कृतार्थः स्याम्॥ १५॥

**आनन्दबाष्पपूरस्खलित० . . . . . . . कदाप्स्यामि॥१६॥**

चिरव्युत्थानान्तरितां समावेशदशामेव आकांक्षति—

आनन्दबाष्पपूरेण—अन्तःसमावेशहर्षवशविसरदश्रुसन्तत्या, स्खलितः—अस्थानप्रतिहतः। परिभ्रान्तः—चिरमनुरणन्। गद्गदः—अस्पष्टाक्षरः, आक्रन्दो—महानादो यस्य। हासेन—विकासेन [3]उल्लासितं वदनं—शक्तिमार्गो यस्यः, अत एव हासेनोल्लासितं—व्यात्तं शोभितं च वक्त्रं यस्य॥ १६॥

**पशुजनसमानवृत्ता-मवधूय . . . . . . . रूपम्॥१७॥**

व्युत्थानपतितभेदमयीम् इमामिति—स्फुटं भान्तीं दशामवधूय—निवार्य।

---

१. ख० पु०, च० पु० शीताङ्घ्रिकमलयुगे—इति पाठः।

ग० पु० शीताङ्घ्रिकमलं प्राग्वत्—इति च पाठः।

२. ख० पु० शयीय—इति पाठः।

३. ख० पु० उल्लसितमिति पाठः।

अथ च समावेशप्रसरत्सर्वाङ्गावधूननेनाभिभूय, तावकभक्तोचितं—नित्योदित-परमानन्दमयम् आत्मनः—न त्वन्यस्य कस्यचिद् रूपं—स्वरूपं, कदा आस्वादयेय—चमत्कुर्याम्॥ १७॥

**लब्धाणिमादिसिद्धि॰ ········ कदासीय॥१८॥**

अणिमादिसिद्धिः—प्राग्वदभेदमयी। अत एव विगलितः—शान्तः उपतापः सन्त्रासश्च यस्य। ब्रह्मादीनां तु भेदमयाणिमादियोगेऽपि मरणादित्रास-स्यावश्यंभावात्। तथाभूतोऽपि त्वद्भक्त्यमृतपानप्रमोदपरः स्याम्॥ १८॥

**नाथ कदा ········ पुरस्तावकी मूर्तिः॥१९॥**

चिरव्युत्थितस्योक्तिः। स तथाविध इति—वक्तुमशक्यः। आक्रन्दो—महानादः, समुच्चरेत्—स्वयमेवोल्लसेत्, स्फुरति—समावेशेन दीप्यते, मूर्तिः—स्वरूपम्[१]॥ १९॥

**गाढगाढभवदङ्घ्रिस॰ ········ ॰लोकयितास्मि॥२०॥**

वीप्सया व्यसनतत्परशब्दाभ्यां च भक्तिप्रकर्षवैवश्यमाह। वस्त्ववस्त्वि-दमिति—भावाभावरूपं विश्वम्। अयत्नत एव—ध्यानजपादि विना, त्वामपि—त्वद्रूपम् सम्यक्—तत्त्वतोऽवलोकयितास्मि—द्रक्ष्यामीति शिवम्॥ २०॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां स्वातंत्र्यविजय-नामके नवमे स्तोत्रे श्री क्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥९॥

## अथ अविच्छेदभङ्गाख्यं दशमं स्तोत्रम्

**न सोढव्यमवश्यं ········ समाश्च यत्॥१॥**

माहेश्वराः—विश्वेश्वरस्वरूपसमाविष्टाः, इतरेषां—भेदमयानां ब्रह्मादीनां समाः—इतीदं ते—तव न सोढव्यं—त्वयैवैतन्न सह्यते। स्वभावसिद्धमेवैतत्; यतस्त्वमेवैकः—अद्वितीयो [१]जगतः प्रभुः। चकारौ [२]विरोधहेतुमाहतुः।

'तत्कथं जनवदेव चरामि' स्तो॰ ४, श्लो॰ १०॥

---

१. च॰ पु॰ 'स्वयम्' इति पाठः।

इति स्थित्या व्युत्थाने इतरेषां लोकानां माहेश्वराः समाः—इति तव न सोढुं युक्तमित्यन्ते॥ १॥

**ये सदैवानुरागेण ········ कांश्चिदुपभुञ्जते॥२॥**

अनुरागेण—आसक्त्या, ये त्वन्मरीचिसम्बद्धास्ते यत्रतत्रेति—सर्वावस्था- स्थिताः, कांश्चित्—[3]परमानन्दमयान् भोगानुपभुञ्जते॥ २॥

**भर्ता कालान्तको ········ लक्ष्मीर्यत्र तावकी॥३॥**

कालान्तकः—इत्यनेन महाकालसञ्चार्यमाणाः सर्वा रुजः कालग्रासिनि प्रभौ सति कुतः? मूलोच्छेदान्नैव भवन्तीत्यर्थः। इतरभोगाशा—सदाशिवादिपदलक्ष्मीस्पृहा का? [4]न काचित्; भेदस्य ग्रस्तत्वात्। लक्ष्मीः—अद्वयप्रकाशसंपत्॥ ३॥

**क्षणमात्रसुखेनापि ········ त्वदानन्देन पूर्यते॥४॥**

येन—भक्तेन, क्षणमात्रेण समावेशस्पन्देन हेतुना, [5]असि—त्वं लभ्यसे, अस्य—भक्तस्य त्वया तदैवावसरे सर्वः कालः—व्युत्थानदशाभाव्यपि आनन्देन पूर्यते—[6]अकालकिलतचिदानन्दस्वरूपानुप्रवेशेन तन्मयीक्रियते; उत्तरकालं च तत्संस्कारेणाप्लाव्यते। विभुः—स्वामी व्यापकश्च॥ ४॥

**आनन्दरसबिन्दुस्ते ········ तेजसः कणः॥५॥**

**बलिं यामस्तृतीयाय ········ माहात्म्यस्यैकलक्ष्मणे॥६॥**

ते—तव, भुवि—अग्नीषोमात्मकमध्यशक्तिमार्गे, आनन्दरसबिन्दुर्यः [7]स एवाह्लादकारित्वच्चन्द्रमाः, गलितः—द्रुतस्वभावः। [8]इन्दुश्चन्द्रमाश्च

---

१. ग० पु० जगति—इति पाठः।

२. ख० पु० विरोधमाहतुः—इति पाठः।

३. ख० पु०, च० पु० परानन्दमयान्—इति पाठः।

४. ग० पु० न काचिदत्र भेदस्य ग्रस्तत्वादिति पाठः।

५. ख० पु० अपि—इति पाठः।

६. ग० पु० अकालकलितम्—इति पाठः।

७. ग० पु० स एव चन्द्रमाः—आह्लादकारित्वादिति पाठः।

८. ख० पु०, च० पु० बिन्दुश्चन्द्रमा—इति पाठः।

गलितः— मनः-प्रमेयराशिसहितं तत्रैव विलीनम्। तथा तत्रैव संहारीभेदग्रासी [1]तेजसः कणः—परमाग्निस्फुलिङ्गो यः, स एव प्रकाशकत्वतमोपहत्वादेः सूर्यः प्रसृतः। सूर्यश्च [2]प्राणे विलीनः; द्रावितसोमसूर्या हि [3]परा शाक्ती भूमिः। अस्मै—शक्तिरूपाय नेत्राय बलिं यामः। अपि च,—भुवि यश्चन्द्रमाः स त्वदीय[4]आनन्दरसबिन्दुः गलितः—स्रुतः। सूर्यश्च तव सम्बन्धिनः तेजसः कणः प्रसृतः—स्फुरितः। यथागमः

'ज्ञानशक्तिः प्रभोरेषा तपत्यादित्यविग्रहा॥' स्व० तं०, १० प०, श्लो० ४९९॥
'तपते चन्द्ररूपेण क्रियाशक्तिः परस्य सा॥' स्व० तं०, १० पं०, श्लो० ५०२॥

इति। अस्मै—एतदर्थं [5]'सूर्यचन्द्रोल्लासिनाय तव यत् तृतीयं नेत्रं तस्मै, बलिं यामः—अत्रैव महावह्निमये मायीयदेहादिप्रमातृतां समर्पयामः। कीदृशाय? कस्यापि—असामान्यस्य [6]ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्राद्यगोचरस्य अलौकिकस्य माहात्म्यस्य एकलक्ष्मणे—असाधारणाभिज्ञानाय। अस्मै इति—तादर्थ्ये चतुर्थी॥ ५-६॥

**तेनैव दृष्टोऽसि · · · · · · · तेन त्वमीक्षितः॥७॥**

'उच्चाररहितं वस्तु
चेतसैव विचिन्तयन्'॥ मा० वि०, अ० २, श्लो० २२।

इति शाक्तसमावेशयुक्त्या भवन्तं दृष्ट्वा योऽतिहृष्यति—आनन्दमयो भवति, तेनैव क्वापि [7]त्वदभेदोपासापरेण असि—त्वं दृष्टः। कथञ्चिदिति—
'अकिञ्चिच्चिन्तकस्य.....।' मा० वि०, अ० २, श्लो० २३॥

इति शाम्भवसमावेशक्रमेण वा यस्य कोऽपि हर्षो न तु भेदोपासापरेण हर्षः, तेन कोऽपीति—चिद्घनस्त्वमीक्षितः—प्रत्यभिज्ञातः॥

१. ख० ग० पु० तेजः कणः—इति पाठः।
२. घ० पु० प्रमाणो—इति पाठः।
३. ख० पु०, च० पु० परा शक्तिभूमिः—इति पाठः।
४. ग० पु० आनन्दबिन्दुः—इति पाठः।
५. ख० पु० सूर्यचन्द्रोल्लासनाय—इति पाठः।
६. ग० पु० ब्रह्मोपेन्द्राद्यगोचरस्येति पाठः।
७. ख० पु० अभेदोपासनापरेणेति पाठः।

**येषां प्रसन्नोऽसि ·······बाह्यमाभ्यन्तरीकृतम्॥८॥**

प्रसन्नोऽसीति प्राग्वत्। अत एव हृदयं–प्रकाशविमर्शात्मकं रूपं लब्धम्–आत्मीकृतं यैस्तैस्त्वत्पुरात्–त्वदीयात्पूरकाच्चिद्रूपात् आकृष्य–विस्फार्य, देहाद्यपेक्षया बाह्यं विश्वमिदं पुनराभ्यन्तरीकृतम्

'सृष्टिं तु सम्पुटीकृत्य......।' प० त्रिं२ श्लो० ३०॥

इति श्रीत्रिंशकोक्ततत्त्वार्थदृशा संविद उदितं संविदभेदेन चाभासमानं विश्वं चिन्मयमेवैषामिति यावत्। अनुरणनशक्त्या लौकिकेश्वरार्थं प्राग्वत्॥ ८॥

**त्वद्दते निखिलं ········ त्वमेको विषमेक्षणः॥९॥**

समदृगिति। समा–तुल्या [१]भेदमयी दृक्–संवित्तिर्यस्य तत्, द्विनयनं च, ईक्ष्यतां–प्रमेयतां यातम्। एक इति–अद्वितीयः, विषमं–भेदप्लोषक-मीक्षणं–ज्ञानं यस्य, त्रिनेत्रश्च॥ ९॥

**आस्तां भवत्प्रभावेण ········ त्वद्दते नोपपद्यते॥१०॥**

येषां–बौद्धसांख्यमीमांसकादीनां, त्वद्दूषणकथा दूषयित्रात्मक-प्रस्फुरच्चिद्रूपं त्वत्स्वरूपं विना नोपपद्यते, येषां विचित्रतनुकरणप्रज्ञानां बुद्धिमत्प्रभावं विना सत्तैव नास्ति–इत्यादि युक्तिवृन्दं पतितपार्ष्ण्याघात-कल्पमास्ताम्॥ १०॥

**बाह्यान्तरान्तरायालीकेवले ········ ०दुपयुज्यते॥११॥**

बाह्याः–शरीरप्रमातृतापेक्षतत्तद्वस्तुसंयोगवियोगादयः। आन्तराः–[२]बुद्ध्याद्यपेक्षकामनासङ्कल्पादयो ये अन्तरायाः–स्वविश्रान्त्युपरोधिनः, [३]तेषामाली–पङ्क्तिस्तया केवले–रहिते, त्वद्विषये चेतसि यदि मम स्थितिः–समावेशैकाग्रता स्यात्, तत्किमन्यदुपयुज्यते;–प्रासव्यस्यैव प्रासत्वात्॥ ११॥

**अन्ये भ्रमन्ति ········ ०वातिसुस्थिताः॥१२॥**

---

१. ख० पु० तुल्या–अभेदमयी–इति पाठः।

२. ख० पु० बुद्ध्याद्यपेक्षका मनःकल्पनादयः–इति पाठः।

ग० पु० बुद्ध्याद्यपेक्षकामनाकल्पनादयः–इति च पाठः।

३. घ० पु० 'तेषामाली पङ्क्तिस्तया'–इति स्थाने 'तैः' इति पाठः।

अन्य इति—नैरात्म्यजडात्मवादिनः संसारिणश्च, आत्मनि—निज एव स्वरूपे, भ्रमन्ति—विपर्यस्यन्ति; जन्ममरणादिपरम्परामपर्यन्तां भजन्ते। अतिदुःस्थिताः तत्त्वज्ञत्वाभावात्, [1]क्लिश्यन्ते। अन्ये इति—केचिदेवापश्चिमाः, आत्मन्येव—चिद्रूपे [2]न तु परत्र क्वचिदपि, अतिसुस्थिताः—परमानन्दैकघनाः सन्तो, भ्रमन्ति—विरहन्ति॥ १२॥

**अपीत्वापि · · · · · · · ०मात्रात्सिद्ध्यन्ति जन्तवः॥१३॥**

त्वद्भक्तिसुधां—शाक्तसमावेशानन्दरसम् अपीत्वापि—[3]अचमत्कृत्यापि, अनवलोक्य च त्वामिति—चित्स्वरूपं त्वां मनागप्यप्रत्यभिज्ञाय, जन्तवः—जन्मादिभाजोऽपि, त्वत्समाचारमात्रादिति—तत्तदाम्नायचर्यापादोक्तात् सिद्ध्यन्ति—परसिद्धिभाजो भवन्ति। अपिशब्देन मात्रशब्देन च विस्मयो ध्वन्यते। तथा ह्यागमे

'कदाचिद्भक्तियोगेन चर्यया...।' श्रीवीर तं०॥

इत्युपक्रम्य

'संसारिणोऽनुगृह्णाति विश्वस्य जगतः पतिः॥' श्रीवीर० तं०॥

इत्यन्तमुक्तम्। अस्मद्गुरुभिरपि तन्त्रसारेऽभिहितं—

[4]*'परमेसरु सच्छन्दु बहुकोणबिअ अप्पाइइच्छ।
चरिआसि तु णणिजजपाहुं कि अभबणो अइअच्छ॥'

इति॥ १३॥

**भृत्या वयं तव · · · · · · · भर्त्तव्या वयमप्यलम्॥१४॥**

त्रिजगतामिति प्राग्वत्। बिभर्षि इति—धारयसि पोषयसि च। आत्मानं—स्वं रूपम्। वयमप्यलम्—इत्यत्रायमाशयः यथा त्वया विश्वमन्तर् अभेदेन बिभ्रतापि देहाद्यभिमानग्रहणेन वस्तुतस्त्वन्मया अपि वयं व्यतिरेकोचिता

---

१. ख० ग० पु० क्लिश्यन्तः—इति पाठः।

२. ग० पु० न त्वपरत्रेति पाठः।

३. ख० पु० अचमत्कृत्वापि—इति पाठः।

४. *ख० ग० पु०—'अमिऊणणिजजणहुं किमु भवनो अचि अच्छ।
परमेसरुसच्छन्दु बहुकोणविअप्पाइइच्छचरीति॥'

इति पाठः।

इव यन्न भिन्नमेव विश्वं जानीमः, ततोऽलम्—अत्यर्थं ते—तव वयं धारणीयाः पोषणीयाश्च, यतो भृत्याः स्मः॥ १४॥

**परानन्दा० · · · · · · · ०मुत्कण्ठितोऽस्मि ते॥१५॥**

त्वयि [1]परानन्दसारे, [2]नीलपीतादिरूपेण जगदात्मनि दृष्टेऽपि—व्युत्थाने तन्मुखेन प्रत्यभिज्ञातेऽपि, स्पर्शरसे—गाढसमावेशस्पर्शप्रसरे, ते—तव भृशमुत्कण्ठितोऽस्मि॥ १५॥

**देव दुःखान्यशेषाणि · · · · · · · सह्यताम्॥१६॥**

हे देव—[3]क्रीडादिशील! [4]अशेषाणि—कीटब्रह्मादिविस्पन्दितानि तावद्दुःखानि; भेदमयत्वात्। तान्यपि संसरणपराणां प्रमातॄणां सोढव्यतां [5]गच्छन्ति। यतो धृत्याख्येन।

'इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।' भ० गी०। १६, १३॥

इत्याद्यभिमानावष्टम्भग्राहिणा त्वदीयेनात्मना [6]युतानि—संपृक्तान्येतानि॥ १६॥

**सर्वज्ञे · · · · · · · युक्तास्य जगतः प्रथा॥१७॥**

अस्य जगतः—विश्वस्य, सर्वथापि—[7]देशकालाकारार्थक्रिया-कारित्वादिना स्वरूपेण प्रकाशबाह्यस्यानु[8]पपद्यमानत्वादविद्यमानस्य, त्वयि चिन्मये सर्वशक्तौ—स्वतंत्रे सर्वावभासके च सति, सर्वथापि प्रथा युक्ता। सर्वथेत्युभयत्र योज्यम्॥ १७॥

**त्वत्प्राणिताः · · · · · · · कार्पासपिचवो यथा॥१८॥**

---

१. ख० पु०, च० पु० परमानन्दसारे—इति पाठः।

२. ख०, ग०, घ० पु० नीलपीतादिरूपे—इति पाठः।

३. ख० पु० क्रीडादिस्वभाव—इति पाठः।

४. ग० पु० अशेषकीटब्रह्मादि—इति पाठः।

५. ख० पु० यान्ति—इति पाठः।

६. घ० पु० युक्तानि—इति पाठः।

७. ख० पु० देशकालनानार्थक्रियेति—पाठः।

८. ख० पु० अनुपदृश्यमानत्वादिति पाठः।

**यदि नाथ ・・・・・・・ जगतस्त्वदेकात्मतया प्रथा॥१९॥**

गुणाः—बुद्ध्यादिपरिस्पन्दाः, लोष्टोपमा अपि—जडाः, त्वत्प्राणिताः-त्वज्जीविताः सन्तः स्फुरन्ति, अन्यथा न [1]कथञ्चिच्चकास्युः। अत्र दृष्टान्तः—यथा कार्पासानां पिचवः—लेशाः पवनेन—वायुना उच्चैर्धूताः सन्तो नृत्यन्ति—नभसि विलसन्ति। एवं च हे नाथ यदि भक्तेषु गुणेषु [2]त्वन्मायाशक्तिदत्त आत्माभिमानो न भवेत्ततोऽस्य जगतः त्वदेकात्मतया—त्वदभेदेन या प्रथा, सा केन हेतुना [3]हीयेत—न केनचिन्निवार्येत;[4] भक्तानां विश्वस्य त्वदैक्येन स्फुरणात्।

"गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः......।
...........स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥" स्पं०, १ नि, १९ श्लो०॥

इत्युक्तम्॥ १८।१९॥

**वन्ध्यास्तेऽपि ・・・・・・・ ये परमेश्वर॥२०॥**

तेऽपीति—कालकामत्रिपुरान्धकाद्याः। न केवलं साक्षादनुगृहीताः भक्तिमन्तः-इति [5]अपिशब्दार्थः। महीयांस इति—अलौकिकमाहात्म्ययुक्ताः। प्रलयं—विनाशमुपगता अपि ये ते—तव श्रीकण्ठाद्यवतारवपुषः सम्बन्धिना [6]निग्रहद्वारकानुग्रहात्मना क्रीडाकोपाग्निस्पर्शेन पवित्रिताः॥ २०॥

**महाप्रकाशवपुषि ・・・・・・・ प्रसराम्यहम्॥२१॥**

व्युत्थानवैवश्यात् [7]साक्षात्कारभूमिमलभमानस्य उक्तिरियम्। यतः कानिचिदत्र समावेशोत्कर्षशंसीनि, अन्यानि [8]व्युत्थानप्रहाणाकांक्षापराणि, अपराणि सार्वात्म्यप्रथाप्रथयितॄणी पराणि निःशेषभेदोपशममयशिव-

---

१. ख० पु० न कथञ्चित्काः स्युः—इति पाठः।

२. ग० पु० त्वन्मयः शक्तिदत्तः—इति पाठः।

३. ख० पु० हीयते—इति पाठः।

४. ख० पु० निवार्यते—इति पाठः। ग० पु० निवर्तेत—इति पाठः।

५. ख० पु० अपिशब्दः—इति पाठः।

६. ख० पु० निग्रहद्वारकात्मना अनुग्रहात्मना—इति पाठः,
ग० पु० निग्रहद्वारकात्मना क्रीडेत्यादि च पाठः।

७. ख० पु० साक्षात्कारमलभमानस्येति पाठः।

८. ग० पु० व्युत्थानप्रहरणाकांक्षेति पाठः।

ताशंसापराण्यस्य सूक्तानि। तानि च [1]यथायोगं संयोजितानि सं[2] योजयिष्यन्ते च, इति नास्यास्मत्परमेष्ठिन ईदृगुक्तिषु अपूर्णता मन्तव्या। विस्पष्टेऽपीति—विश्वप्रकाशमये। तमसि प्रसरामीति—[3]व्युत्थानविवशो भवामीति॥ २१॥

**अविभागो · · · · · · · मर्त्यधर्माणामहमेवैकमास्पदम्॥२२॥**

इयमप्युक्तवदेवोक्तिः। भवानेव—न त्वन्यत् किंचित्। अमृतम्—आनन्दघनं। मर्त्यधर्माणां—हानादानादिप्रयासानाम्। अहमिति—व्युत्थाने देहाद्यभिमानमयः, न तु चिद्रूपः। एक एवेति-प्राग्वत्॥ २२॥

**महेश्वरेति यस्यास्ति · · · · · · · एवैकः प्रभावितः॥२३॥**

[4]नामकं—यद्वन्दिनः पठन्ति, तत् महेश्वर, ब्रह्मादिविश्वेश्वर, प्रभो—इति यस्य वाचो विभूषणमस्ति, तथा शिरसि प्रणामाङ्कः—परस्वभावप्रह्वताभिज्ञानं च यस्यास्ति, स एवैकः—अद्वितीयः, प्रभौ—महेश्वरे इतः—सम्बद्धः। अथ वायं प्रणामाङ्कितः—समाविष्टो भक्तिशाली भगवदभेदस्पर्शप्राप्तेः[5] नामाङ्कत्वात् प्रभावितः—प्रख्यातः॥ २३॥

**सदसच्च भवानेव · · · · · · · कथं न मे॥२४॥**

सदसदिति—भावाभावरूपं विश्वं त्वमेव यतः, ततो मम अप्रयासतः—उपायजालं विना, स्वरसेनैव-नित्योदितत्त्वेन कथं तथा न सिद्धिः—त्वत्साक्षात्कारः सदोदितो न कस्मादस्ति॥ २४॥

**शिवदासः शिवैकात्मा · · · · · · · येनामृतासवैः॥२५॥**

यत एव शिवदासस्तत एव समाविष्टत्वात् शिवैकात्मा, [6]तत्किं[7]यन्न सुखमासादयेत्,-[8]परमानन्दमयो भवत्येवेत्यर्थः। यतो देवमुख्यानाम्—

१. घ० पु० यथायोग्यम्—इति पाठः।

२. ग० पु० नियोजयिष्यन्ते चेति पाठः।

३. ख० ग० पु० व्युत्थानवशी भवामीति पाठः।

४. ग० पु० नामाङ्कमिति पाठः।

५. ग० पु० भगवदभेदस्पर्शे प्राप्तेः—इति पाठः।

६. ख० पु० किं—इति पाठः।

७. ग० पु० यत्सुखं नासादयेदिति पाठः।

८. ख० पु० परानन्दमयो भवत्येवेति पाठः।

अन्यैस्तर्पणीयानामपि ब्रह्मादीनां, हृदयादिस्थानस्थितानामिन्द्रियदेवतानां च, अमृतासवैः—प्रमेयप्रथासमयस्फूर्जदद्वयप्रकाशानन्दप्रसरैः, तर्प्यः—परिपूरणीयोऽस्मि, न तु पशुवद्भोग्यः॥ २५॥

**हृन्नाभ्योरन्तरालस्थः · · · · · · · सर्वं स्थावरजङ्गमम्॥२६॥**

हृन्नाभ्योरन्तराले—घटस्थाने स्थितः प्राणिनां—सर्वेषां पित्तविग्रहः—पित्तरूपः उष्णात्राद्याहरणा[१]द्बाह्यस्य तेजसोऽपि ग्रसनान्महावह्निस्त्वम्। अत एव [२]स्थावरजङ्गममग्रासित्वम्। अनेन [३]सर्वप्रमातृजठरादिस्थानेन [४]विश्वभक्षक एक एव परमेश्वरः परमार्थसन्निति शिवम्॥ २६॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां अविच्छेदभङ्गाख्ये दशमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥१०॥

## अथ औत्सुक्यविश्वसितनामैकादशं स्तोत्रम्

**जगदिदमथ वा · · · · · · · कोऽपरो मेऽस्तु॥१॥**

जगदादित्रयं लोकक्रमेण अन्तरङ्गमपि मम न किंचित्;—तद्विलक्षणचिन्मात्रैकरूपत्वात्। यदा पुनः प्रकाशमयत्वादेतत्सर्वं त्वमेव, तदा मम अपरः—व्यतिरिक्तः कोऽस्तु,—न किञ्चित्; जगदपि स्वरूपमेवेति यावत्॥ १॥

**स्वामिन्महेश्वरस्त्वं · · · · · · · तत्रापि याञ्चैव॥२॥**

महेश्वर इति प्राग्वत्। साक्षादिति—[५]अद्वयदृष्ट्या, नांशाधिष्ठानेन। इति वस्त्वेव-पारमार्थिकमेवैतत्। तत्रापि [६]एवमवस्थितेऽपि। एतत्सिद्धिमेतु;-इति या याच्ञा सा याच्ञैव—

"त्वमेव प्रकटीभूया इत्यनेनैव लज्ज्यते॥'

---

१. ख० पु० बाह्यतेजसोऽपीति पाठः।

२. ग० पु० स्थावरजङ्गममश्नासि त्वमिति पाठः।

३. ग० पु० सर्वत्र प्रमातृजठरादिस्थानेनेति पाठः।

४. ख० पु० विश्वभक्षक एवेति पाठः।

५. ख० पु० अद्वयदृष्ट्या चाधिष्ठानेनेति पाठः।

६. ख० पु० एवमेव स्थिते—इति पाठः।

शि० स्तो०, ३ स्तो० १६ श्लो०॥

इति स्थित्या न युक्तैवेत्यर्थः।

"होन्ति कमलाइ कमलाइ"

इति न्यायेन द्वितीयो याच्ञाशब्दः अचारुत्वनै[1]ष्प्रयोजन्यादिमात्रताध्वननपरः॥ २॥

**त्रिभुवनाधिपतित्वमपीह · · · · · · · भवत्स्मरणादृते॥३॥**

भवज्जुषः—समावेशयुक्तान्, इति प्रतियोगे शस्। इहेति—अस्मिन्नेव समये। त्रिभुवनाधिपतित्वं—भूर्भुवस्स्वःस्वामित्वमपि, तृणमिव प्रतिभाति। तस्य—तथाप्रतिभानलक्षणस्य शुभकर्मणोः, भवत्स्मरणादृते—भवत्स्मृतिं[2] विना, किं फलं, न किंचिदन्यद्व्यतिरिक्तमस्तीति यावत् प्राप्तव्यस्यैव प्राप्तत्वात्॥ ३॥

**येन नैव · · · · · · · न तव स्तुतिबन्धः॥४॥**

त्वत्तो भिन्नं किंचनापि नास्ति,—सर्वस्य [3]प्रकाशैकरूपत्वात्। जगतां प्रभवोऽपि—ब्रह्माद्याः तवैव जृम्भा येन हेतुना, अतः अद्भुतेषु विश्वसर्ग संहारादिष्वपि कर्मसु [4]तव स्तुतिबन्धः [5]स्तोत्रादिभेदाभावान्नास्ति;—त्वमेव स्तोत्रस्तुतिस्तुत्यरूपतया भासि, इत्ययमत्र तत्त्वार्थः॥ ४॥

**त्वन्मयोऽस्मि · · · · · · · न तथा किमिव स्याम्॥ ५॥**

त्वन्मय इति—त्वमेव प्रकृतं रूपं यस्य, तथा भूतोऽस्मि। त्वय्येव चिन्मये विश्वार्पणक्रमेणाहं सर्वदा अर्चननिष्ठः—इत्यविरामं कृत्वा भावयन्नपि—व्युत्थाने अनुसन्दधदपि, स्वप्नगोऽपि स्वरसेनैव—[6]स्वेच्छावशेनैव किमिति न तथैव भवामि—कस्मात्स्वप्नेऽपि—संस्कारप्रबोधसारेऽपि

---

१. ख० पु० निष्प्रयोजनत्वादिपात्रताध्वननपरः,
ग० पु० निष्प्रयोजनत्वादिमात्रताध्वननपुरःसरः इति च पाठः।

२. ख० पु० भवत्स्मरणं विनेति पाठः।

३. ख० पु० प्रकाशरूपत्वादिति पाठः।

४. ख० पु० तव न स्तुतिबन्धः—इति पाठः।

५. ख० पु० स्तोत्रादिभेदाभावात्—इति पाठः।

६. ख० ग० पु० स्वेच्छया वशेनैवेति पाठः।

७. ख० पु० जागरवत्—इति पाठः।

७जागरावत् त्वदर्चापरो न भवामि—न समाविशामीति यावत्॥ ५॥

**ये मनागपि ······· भोगजातममरैरपि मृग्यम्॥६॥**

चरणाब्जं—प्राग्वत्। सौरभम्—अवस्थास्नुरामोदसंस्कारस्तस्य [1]लवः—अंशमात्रं न तु पूर्णं रूपं, तेन ये विमृष्टाः—मनाङ्मात्रेणापि पात्रीकृताः, तेषु समस्तं—सदाशिवान्तं भोगजातं देवैरपि प्रार्थनीयं विस्रं—दुरामोदमिव प्रतिभाति। एवं च पूर्णसमावेशशालिनां दण्डापूपिकयैव दूरोत्सारितः सिद्ध्यभिलाषः॥ ६॥

**हृदि ते ········ निग्रह एक एव कार्यः॥७॥**

चिदद्वयप्रथारूपो महादेवः यत्र प्रथितुं प्रवृत्तः तत्र हृदयादनुष्ठानपर्यन्तं प्रथते। यत्र तु गूहितात्मा, तत्र हृदि, वचसि कर्मणि च गूहितात्मैव, यतः परमार्थेन सतः—साधोः सात्त्विकस्य च वस्तुतो निग्रहानुग्रहयोर्मध्यादेकमेव कर्त्तव्यं भवति न तु शबलचेष्टितत्वम्—इति [2]अर्थान्तरन्यासाद् भेदः। प्रकृतेऽर्थे निग्रहानुग्रहौ—स्वरूपनिमीलनोन्मीलने, अप्रकृतेऽपि—अपकारोपकाराविति श्लेषच्छायापि॥ ७॥

**मूढोऽस्मि ········ धुरमपोज्झितदुःखमार्गः॥ ८॥**

व्युत्थानापेक्षयैवैतदित्युक्तप्रायम्। 'तवाश्रितोऽस्मि'—इत्यत्र भरं कृत्वा उत्तरार्धं योज्यम्। कलय—सम्पादय। सर्वोत्तमां—सम्पूर्णसमावेशमयीम्॥८॥

**त्वत्कर्णदिशमधिशय्य ········ ०वोद्वहन्ति॥ ९॥**

अधिशय्य—प्राप्य, महार्घभावम्—अनर्घत्वम्, तुच्छतराणीति अनौद्धत्यं ध्वनति। यान्तीति तु [3]अतिभक्तत्वेन निश्चितप्रतिपत्तित्वात्। वंशान्तरे इत्यर्थान्तरन्यासः स्पष्टः॥ ९॥

**किमिव च लभ्यते ········ यथा विभवम्॥१०॥**

कैतवात्—व्याजादपि ये जनास्तव नाम्नि—न तु तात्त्विके स्वरूपे रतास्तैरपि किं न लभ्यते—पूजासत्काराद्यभीष्टमपरिज्ञाततदाशयेभ्यः सकाशात्प्राप्यत एव। ये तु परमार्थतः सततं च त्वयि रताः, ते अर्थदेव

१. ख० पु० लवो-लेशमात्रम्—इति पाठः।

२. ख० पु० अर्थान्तरन्याससम्भेदः—इति पाठः।

३. ख० पु० अतिभक्तित्वेनेति पाठः।

परमार्थमया एव। अतो हे शिशिरमयूखशेखर—सर्वसन्तापहारिन्! तथा कुरु यथा प्राग्व्याख्यातरूपाणिमादिकं विभवमुपैमि। क्षतमरणः—अकाल-कलितः। अस्य पदस्यायमाशयः—यद् ब्रह्मादयः अणिमादिविभूतियुक्ता अपि मृतिधर्माण एव। यथोक्तमस्मद्गुरुभिः क्रमकेलौ

'श्रीमत्सदाशिवपदेऽपि गतोग्रकाली
भीमोत्कटभ्रुकुटिरेष्यति भङ्गभूमिः॥'

इति। अतो मां क्षतमरणं—चिदानन्दघनमद्वयाणिमादिपात्रं कुरु। ये तु विभूति[१]स्पृहापरत्वेनैतद्व्याकुर्वते तेषां

'स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं'॥ शि० स्तो०, ४, श्लो० २०॥

इति,

'सत्येन भगवन्नान्यः......'॥ शि० स्तो०, १६, श्लो० ६॥

इति,

'..........विस्रमिव भाति समस्तं
भोगजातम्.........'॥ शि० स्तो० ११, श्लो० ६॥

इत्यादि च व्याहतमेव॥ १०॥

**शम्भो शर्व · · · · · · · सिद्धिं पराम्॥११॥**

उग्राणि—भीषणानि अशेषब्रह्मादिसम्बन्धीनि कपालानि लाञ्छनं यस्य। [२]उग्राः—विश्वसंहर्त्र्यः शक्तयः आत्मा यस्य। अशुभभरान्—भेदोल्लासान्। परां—परमाद्वयानन्दसाराम्[३]॥ ११॥

**तत्किं नाथ · · · · · · · क्लिश्याम्यहं केवलम्॥१२॥**

तदिति—[४]तत्त्वभूतभावभुवनादि, भावः—सत्ता, चेतनवतः—सकला-देर्मन्त्रमहेश्वरान्तस्य आशास्तीति

'प्रवृत्तिर्भूतानामैश्वरी।'

इति स्थित्या सर्वप्रमातृ[५]नियामकत्वरूपं शासितृत्वं भगवत एव।

१. ख० पु० स्पृहणीयत्वेनेति पाठः।

२. ख० ग० पु० 'उग्राः' इत्यादि, 'आत्मा यस्य'—इत्यन्तं नास्ति।

३. ख० पु० रूपाम्—इति पाठः।

४. ख० पु०, च० पु० तत्त्वभूतभावो भुवनादिभावः—इति पाठः।

सदेति—न तु कदाचित्, निरन्तराधिविधुरत्वं—व्युत्थाने समावेशानासादनात्। अहं केवलम्—इत्यत्रायमभिप्रायः;—मायीया इयं देहादिप्रमातृता चेद्गलिता, तत्सर्वमिदं त्वन्मयमेवोच्यते। देहाद्यहन्तैवोन्मूलनीया वर्तते॥ १२॥

**यद्यप्यत्र ······· ०कमलध्यानाग्र्यजीवातवे॥१३॥**

अत्रेति—संसारे। उद्धततमाः—असह्याः। क्षणमासतां—साम्प्रतं तिष्ठन्तु—इति लौकिक्युक्तिः। बहुमतः विश्वस्याभिलषितः सन्ततम्—अद्वयानन्दरूपं[२]सुखमाकाङ्क्षति तच्छीलः चिरं स्थास्नवे—चिरमवस्थानशीलाय, जीवातवे—जीविताय, स्पृहयामि। कीदृशाय? भोगास्वादयुतत्वदङ्घ्रिकमलध्याना-ग्र्याय—परमानन्दचमत्कारयुक्तत्वन्मरीचिपद्म—चिन्तनप्रधानाय। अत एव स्पृहणीयत्वम्॥ १३॥

**हे नाथ ······· सिद्धीस्त्वदर्चापरः॥१४॥**

मनोज्ञं—चिदानन्दसुन्दरं, विषयाणां—रूपादीनां चमत्कारस्वादं[३]प्रददति यास्ताः, उत्तमा अचलाः सिद्धीरिति प्राग्वत्। जीवन्नेवेति—[४]न तु देहपाते, अपि तु [५]जीवदवस्थायामेव। समाविष्ट [६]एवाहं त्वदर्चापर इति—त्वयि—[७]चिदानन्दात्मनि विश्वार्पणपरः॥ १४॥

**नमो ······· ० प्रकाशायेन्दुलक्ष्मणे॥१५॥**

महामोहध्वान्तस्य—मायातमसः ध्वंसने अनन्यकर्मा—सदोद्युक्तः, सर्वान्—अग्नीषोमसूर्यप्रकाशानतिशेते यस्तथाभूतः प्रकाशो यस्य, तस्मै। ध्वान्तध्वंसे—प्रकाशनव्यापारे चानुगुणमभिधानमिन्दुलक्ष्मणे इति शिवम्॥ १५॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यामौत्सुक्यविश्वसितनाम्नि एकादशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥११॥

---

१. ख० पु०, च० पु० नियामकरूपमिति पाठः।

२. ख० पु०, च० पु० सुखमाकाङ्क्षतीति तच्छीलः—इति पाठः।

३. ख० पु० च० पु० ददति—इति पाठः।

४. ग० पु०, च० पु० न देहपाते—इति पाठः।

५. ख० पु० जीवद्दशायामेवेति पाठः।

६. घ० पु० एव—इति पाठः।

७. ख० पु०, च० पु० चिदात्मनि—इति पाठः।

# अथ रहस्यनिर्देशनाम द्वादशं स्तोत्रम्

**सहकारि न · · · · · · · तथापि नेक्षसे॥१॥**

भवतो दृशि—त्वत्प्रकाशने, मलपरिपाकादिकं सहकारि न किञ्चित्, नापि प्रतिबन्धकं किञ्चिदस्ति, यस्मात् सहकार्याद्यभिमतं त्वयैव व्याप्तं, तथापि [१]कथमद्यापि—इयति व्युत्थाने नेक्षसे—न प्रकाशसेऽस्माकमित्यर्थः। भवतः—इति कर्मणि षष्ठी॥ १॥

**अपि भावगणादपीन्द्रिय० · · · · · · · ०पोढविश्वकम्॥२॥**

भावेभ्यः, इन्द्रियेभ्यः, ज्ञानेभ्य [२]आत्मनश्च सकाशात् त्वामेव प्रभुं नित्यं परितः—समन्तात् पश्येयम्। कथम्? अपोढविश्वकं—तिरस्कृताशेषभेदं कृत्वा॥ २॥

**कथं ते · · · · · · · ०स्त्रवदमृतपूरैर्विकिरसि॥३॥**

अखिलतः [३]पदार्थात् तथेति—अलौकिकेन प्रकारेण उत्थायोत्थायेति—[४]तत्तद्वेद्यदशायां भेदं निमज्ज्य चिद्रूपतया स्फुरित्वा, यान् ज्ञानात्मक-प्रसरदमृतोत्करै[५]राच्छुरयसि, ते केनापि प्रकृतिमहता इति—[६]नित्य-विकसितरोमाञ्चितत्वादिना [७]चिह्नेन प्रकाशिताः, न जन्मभाजो नापि लोकैः लक्ष्यन्ते। कथमिति—असंभावनायाम्॥ ३॥

**साक्षात्कृतभवद्रूपप्रसृता० · · · · · · · यथारुचि॥४॥**

---

१. ख० पु० कथमद्यापीति-व्युत्थाने—इति पाठः।
ग० पु०, च० पु० कथमद्यापीति इयति व्युत्थाने—इति च पाठः।

२. ग० पु० आत्मनः—इति पाठः।

३. ग० पु०, च० पु० 'पदार्थात्' इत्यनन्तरं 'उत्थायोत्थायेति वीप्सा'—इत्यधिकः पाठः।

४. ख० पु० तत्तद्वेद्यप्रथायामिति पाठः।

५. ख० पु० आस्फुरयसीति पाठः।

६. ख० पु० विकसिततर—इति पाठः, ग० पु० नित्यविकसितत्वेति पाठश्च।

७. ख० पु० चिह्नेन—प्रकाशेनेति पाठः। च० पु० प्रकाशेन चिह्नेन—इति पाठः।

८. ख०, ग०, च० पु० उन्मूलिततृषः—इति पाठः।

अमृतम्—आनन्दः। [१]उन्मूलिता—अपुनरुत्थानेन शमिता, तृट्—विभूत्यादिस्पृहा यैः। मत्ताः—हृष्टाः, स्वातन्त्र्येन विहरन्ति। अन्ये तु [२]आकाङ्क्षामया परतन्त्रा एव॥ ४॥

**न तदा · · · · · · · च कथ्यतेऽन्यथा॥५॥**

न तदेति, सदेति, एकदेति—परस्परप्रतियोगितया। एकदेति—अस्य प्रकारस्तदेति[३]। इत्यपि—एवं प्रकारा अपि;—यदेति, इदानीमित्यादिका च यत्र न सा काचित् कालधीरकालकलित्वात्। तदिति—असामान्यम्। इदमिति—स्फुरद्रूपं ज्ञानं, त्वदीयं। न नित्यं कथ्यते नाप्यनित्यम्;—नित्यत्वानित्यत्वयोः परस्परप्रतियोगित्वात् सर्वात्मकसाक्षात्कारिणि रूपे व्यवहारानुपपत्तेः॥ ५॥

**त्वद्विलोकन० · · · · · · · ०सदनमर्चनाय ते॥६॥**

इयती इति,—न तु परिमितफलोन्मुखी। अभिसंधिमात्रतः— [४]इच्छामात्रात्, त्वदीयं सुधासदनं—परमानन्दधाम। सदा विशेयं—[५]त्वत्समाविष्टः स्यामित्यर्थः। अर्चनं प्राग्वत्॥ ६॥

**निर्विकल्पभवदीयदर्शन० · · · · · · · च स्फुटम्॥७॥**

कवलितविकल्पत्वदीयसाक्षात्कारप्राप्त्या विकसितमनसां भक्तिभाजां, विमलानीति—जगदुद्धरणक्षमाणि, हेलामात्रेण चरितानि वाक्यानि च, स्फुटं कृत्वा समुल्लसन्ति। यदागमः

'दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि विततान्द्भवसागरात्।
तारयिष्यन्ति वीरेन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः॥'

इति॥ ७॥

**भगवन्भवदीयपादयो · · · · · · प्रभुमर्चेयमनर्गलक्रियः॥८॥**

पादयोः—ज्ञानक्रियाशक्त्योः, मध्य एव निवसन्, अत एवाहं तासु

१. ख०, च० पु० आकांक्षायाः—इति पाठः।

२. च० पु० 'तदा इत्यपि'—इति पाठः।

३. ख० पु० इच्छामात्रत्वादिति पाठः।

४. ग० पु०, च० पु० तत्समाविष्टः स्याम्—इति पाठः।

५. ख० पु०, च० पु० तासु तासु—इति पाठः।

तास्विति[१]—[२]अतिविततासु, भवभूमिषु निर्भयः सन्, अनियन्त्रितचेष्टितः सर्वदशासु प्राग्वत्पूजापरः स्याम्॥ ८॥

**भवदङ्घ्रिसरोरुहोदरे · · · · · · · विचरेयमिच्छया॥९॥**

[३]अङ्घ्रिसरोरुहोदरं प्राग्वत्। तत्र परितः—समन्ताल्लीनः—[४]क्लिष्टः सन् इच्छया विचरेयं—पदात्पदं तदाक्रान्तिभाग्भवेयम्। [५]कीदृशः—गलिताः—शान्ता अपराः—त्वत्मरीच्याश्लेषाभिलाषव्यतिरिक्ताः एषणा—आकांक्षा यस्य, तादृक। यतोऽतिमात्रं—भृशं, मधुनः—आनन्दरसस्य उपयोगेन—आस्वादेन [५]परितस्तृप्तः॥ ९॥

**यस्य दम्भादिव · · · · · · · सन्निधानं तवोचितम्॥१०॥**

यस्येति—आर्तादिः। दम्भादिव—न तु [६]नित्यैकभक्तियोगेन। सङ्कल्प इति—विकल्पमात्रम्। अत्रैकवारावलेपमात्रसम्पन्नलिंगा[७]र्चापरिरक्षितसकल-नरकपात[८]स्त्रिलोकीजनो दृष्टान्तः। उचितामिति—तावन्मात्रार्थिता परिपूर्ति-क्षमम्॥ १०॥

**भगवन्नितरानपेक्षिणा · · · · · · · पिबेयमस्मि किम्॥११॥**

किमस्मि त्वां प्रभुं, सकलोपशायिनं—[९]सर्वगतम्, अत एव सुलभम्, आतृप्तिचेतसा पिबेयं—[१०]गाढत्वदैकात्म्यमनुभवेयम्। कीदृशेन चेतसा;—नितराम्—अतिशयेन एकत्रैव—त्वत्समावेशभक्तौ न तु क्वचिदपि फले, रसः अभिलाषो यस्य तेन। अनेन विशेषणेन प्रागुक्तश्लोकार्थवैपरीत्येन निर्व्याजभक्तिरुक्ता॥ ११॥

---

१. ख० पु० विततासु—इति पाठः।

२. ख० पु० सरोरुहोदरमिति पाठः।

३. घ० पु०, च० पु० क्लिष्टः—इति पाठः।

४. ख०, ग० पु० कीदृक्—इति पाठः।

५. ख० पु० परितृप्तः—इति पाठः।

६. ख० पु०, च० पु० निर्दैन्यैकभक्तियोगेनेति पाठः।

७. ग० पु०, च० पु० संपन्नलिंगाच्चेति पाठः।

८. ख० पु० त्रिकोटिहा—इति पाठः, घ० पु० त्रिकोटिवहा—इति च पाठः।

९. ख० पु० सर्वगतमेव-इति पाठः।

१०. घ० पु० गाढं त्वदैकात्म्यमिति पाठः, ग० पु०, च० पु० त्वदैकात्म्यमिति च पाठः।

**त्वया निराकृतं · · · · · · · सारसंग्रहः॥१२॥**

यत्किंचित्त्वदैक्यप्रत्यभिज्ञां विना हेयं, तदेव त्वन्मयं प्रत्यभिज्ञातं, [1]सम्यगुपादेयम्। सारसंग्रह इति—सर्वसम्प्रदायसतत्त्वम्॥ १२॥

**भवतोऽन्तरचारि-० · · · · · · · भवेत्समर्च्यते वा॥१३॥**

भवतोऽन्तर[2]चारित्वात् त्वदैक्येन स्थितं यद्भावजातं, तत् मुख्यतया—प्राधान्येनैव प्रभुरिति [3]पूजितं भवति तत्त्वज्ञेन। भवतस्तु प्रकाशात्मनो [4]बहिरप्यप्रकाशात्मनो बहिरास्तां भावः। अभावमात्रापि न भवति, कुतः पुनः [5]समर्च्यते; सर्वस्य चित्प्रकाशात्मनैव सत्त्वादन्यथात्व[6] चिन्त्यत्वात्। [7]मात्राशब्दोऽतिशयोक्तिपरः।

'अभावोऽपि बुद्ध्यमानो बोधात्मैव'।

इत्यादि हि प्रत्यभिज्ञायां निर्णीतमेव। अनेन भेदवादिनामर्चनानुपपत्तिः सूचिता॥ १३॥

**निःशब्दं निर्विकल्पं · · · · · · · त्वामेव सर्वतः॥१४॥**

हे त्र्यक्ष! क्षोभेऽपि—ग्राह्यग्राहकप्रसरेऽपि। अध्यक्षमविकल्पं कृत्वा त्वामेव—[8]चित्प्रकाशैकरूपम्, अनिशं-सदा, [9]निर्व्याक्षेपं—वीतविघ्नं कृत्वा [10]सर्वत्र [11]ईक्षेयम्—[12]साक्षात्कुर्याम्। कीदृशं? निःशब्दं—वैयाकरणाद्युक्तशब्द-ब्रह्मविलक्षणम्

१. ख० पु०, च० पु० उपादेयम्-इति पाठः।

२. ख० पु०, च० पु० चारि-इति पाठः।

३. ख० पु० पूज्यते-इति पाठः।

४. ग० पु० बहिः-अप्रकाशात्मनः—इति पाठः।

५. ख० पु०, च० पु० अभ्यर्च्यते—इति पाठः।

६. ख० पु० त्वत्किंचित्वात्—इति पाठः, ग० पु०, च० पु० अचित्तत्वादिति च पाठः।

७. ग० पु०, च० पु० मात्रशब्दो—इति पाठः।

८. ग० पु०, च० पु० चिद्रूपमिति पाठः।

९ ख० पु०, च० पु० निर्विक्षेपमिति पाठः, ग० पु० निर्व्यपेक्षमिति च पाठः।

१०. ख० पु० सर्वतः—इति पाठः।

११. ख० पु० ईक्षेय—इति पाठः।

१२. ग० पु०, च० पु० आत्मसाक्षात्कुर्यामिति पाठः।

'मम योनिर्महद् ब्रह्म.......'। भ० गी०, अ० १४, श्लो० ३॥

[1]इति नीत्या भगवतः [2]परब्रह्मणोऽप्युत्तमत्वात्। अत एव विकल्पेभ्यो– भावनादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तम्–अनन्तचिन्मात्ररूपम्॥ १४॥

**प्रकटय निजधाम ········ भवन्ति भृत्याः॥१५॥**

निजधाम–चिद्रूपम्। परमेश्वरी–परा भगवती। भृत्या इति–[3]धार्याः पोष्याश्च। प्रभुचरणेत्यादि दासस्योचितैवोक्तिः। रजःसमानकक्ष्यत्वेन नित्य-संलग्नतामाह॥ १५॥

**दर्शनपथमुपयातो० ········ जन्तोर्दृशोर्विषयः॥१६॥**

दर्शनपथं–साक्षात्कारगोचरमपि प्राप्तो, मम भृत्यस्य–आश्वस्तस्य दासस्य, कुतोऽपसरसि–नैवापसरसि; [4]त्वामवष्टभ्यैवाहं स्थित इति यावत्। ननु मां [5]साक्षात्कृत्यैव किं न तुष्यसि?–[6]इत्यत आह;-कस्य जन्तोर्दृशोः–ज्ञानस्य, अज्ञातोऽपि क्षणमात्रम्

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा.......।' स्पन्द०, नि० १, श्लोक २२॥

इत्यादिभूमिषु विषयो न न भवसि–सर्वस्य ह्यवश्यं कदाचित्स्फुरसि। अहं तु अनुपचरितो भृत्यः क्षणमपि न त्वां त्यजामि। यदि वा, साक्षात्कृतोऽपि त्वं व्युत्थानावरोहणे किमिति मे भृत्यस्य-आश्वस्तस्यापि अपसरसि–इति [7]योज्यम्॥ १६॥

**ऐक्यसंविदमृताच्छ० ········ वपुराप्नुयां मुदम्॥१७॥**

ऐक्यसंविद्–[8]अद्वयदृष्टि, सैवामृतस्य–[9]परमानन्दस्य संबन्धिनी

---

१. ख० पु० इत्युक्तनीत्या–इति पाठः, ग० पु० इत्यादि नीत्या–इति पाठः।

२. ख० पु०, च० पु० परब्रह्मणोऽत्युत्तमत्वादिति पाठः।

३. ख० पु० अवधार्याः प्रेष्याश्चेति पाठः।

४. ख० पु० त्वामवष्टभ्यैवमहं–इति पाठः।

५. घ० पु०, च० पु० साक्षात्कृत्वैव–इति पाठः।

६. ग० पु० इत्याह–इति पाठः।

७. ग० पु० कोऽप्याह–इति पाठः।

८. ख० पु० अद्वयदृक् इति पाठः, ग० पु० अद्वया दृक्–इति च पाठः।

९. ग० पु० परानन्दस्येति पाठः।

अच्छा— [1]विश्वप्रतिबिम्बधारणक्षमा धारा, तया सन्ततम्—अविच्छेदेन प्रसृतया कृतं यत् प्लावनं—सर्वत आपूरणं, तस्मात्, त्वां स्वं च वपुः—संकुचिताभिमतं स्वरूपं, परम्—अतिशयेन अभेदम्—एकात्मतामानयन् [2]कदा [3]मुदं— [4]परसन्तोषमाप्नुयाम्॥ १७॥

**अहमित्यमुतोऽवरुद्ध० · · · · · · · भवेयमर्चिता ते॥१८॥**

विश्वनिष्ठमिति;—यद्यन्मम [5]कुत्रचिद्भाति तत्र सर्वत्र अवरुद्धलोकं—स्वीकृताशेषनिर्भरम्, अहमिति यदेतत्त्वदीयं [6]सर्वप्रतिपत्तीनां संबन्धि सारम्उत्कृष्टं स्वरूपं, ततोऽणुमात्रकं—मृगमद[7]कणवदल्पमपि किंचिन्मह्यं घटताम्उपतिष्ठतां, येन घटितेन तत्तद्वेद्यग्रासीकारक्रमेण तवार्चिता भवामि। [8]अणुमात्र-कमिति [9]अतिस्पृहयालुतयोक्तिः, न तु पूर्णाहन्ताया भागाः [10]संभवन्ति॥ १८॥

**अपरिमितरूपमहं · · · · · · · साधु पश्येयम्॥१९॥**

तं तमिति—यं कंचित्। त्वामेवेति—तस्य प्रकाशमानत्वेन [11]त्वद्रूपत्वात् विश्वरूपमिति—

"प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यम्....।"

इति स्थित्या पूर्णम्। साध्विति—निष्प्रयासं [12]सत्यस्वरूपतया च॥१९॥

१. ख० पु०, च० पु० विश्वप्रतिबिम्बनक्षमा—इति पाठः।

२. ख० पु० सदा—इति पाठः।

३. ग० पु० मदम्—इति पाठः।

४. ख० पु० परमसन्तोषम्—इति पाठः, च० पु० 'मुदं सन्तोष'मित्येव पाठः।

५. ख० पु० किंचिद्भाति—इति पाठः।

६. ख० पु०, च० पु० सर्वत्र—इति पाठः।

७. घ० पु०, च० पु० कणकल्पमपि—इति पाठः।

८. ग० पु० अणुमात्रम्—इति पाठः।

९. ख० पु० अतिशय—इति पाठः।

१०. ग० पु०, च० पु० सन्ति—इति पाठः।

११. ख० पु०, च० पु० त्वद्रूपात्—इति पाठः।

१२. ख० पु० सत्यरूपतया—इति पाठः।

**भवदङ्गगतं तमेव · · · · · · · · परिपूर्यते परैव॥२०॥**

तमेवेति—यं यमभिलषितमर्थं मनः पर्यटति तं तं भवदङ्गगतं—चिन्मयत्वेन ज्ञातम्[1]। अत एवेष्टम्—अभिलषितमर्थं किमिति न पर्यटति? तथा कुरु यथैवं पर्यटतीत्यर्थः। एवं सति अस्य न [2]प्रकृतिक्षतिः काचित्, इच्छा-[3]व्याघाताभावात्। मम च परैव—चिद्घनस्वरूपलिप्सासारा इच्छा परिपूर्यते। अनेनैतदाह मनसि यथारुचि पर्यटत्यपि अहं पूर्णप्रथासार एव [4]सदा स्यामिति॥ २०॥

**शतशः किल ते · · · · · · · भवद्वपुः सदाग्रे॥२१॥**

ये हालिकचेष्टयापि चरन्तः, तवानुभावात्—त्वत्प्रयुक्तादनुभवनव्यापारात्, भवद्वपुः—त्वदीयं चित्स्वरूपम्, अमुनैव चक्षुषा—करणोन्मीलनदशायामपि सा, अग्रे परितः पश्यन्ति—समाविशन्ति, ते शतशः—सहस्रमध्यात् केऽपि—विरला अलौकिका इत्यर्थः॥ २१॥

**न सा मतिरुदेति · · · · · · · ०पूजोत्सवः॥२२॥**

सर्वेषां ज्ञानानां प्रथमेन पादेन शिवभक्तिमयत्वं, द्वितीयेन व्यापाराणां भगवत्कृतत्वमुक्तम्। यथातथेति—गतसंकोचम्। अबाधितः—न [5]केनाप्यपसारित[6]स्त्वन्मरीचिपूजाप्रमोदो यस्य॥ २२॥

**भवदीयगभीरभाषितेषु · · · · · · · · च निर्विरामम्॥२३॥**

गभीरभाषितेष्विति—आमुख्ये भेदार्थत्वेन भासमानेष्वपि गर्भीकृतरहस्यार्थेषु वाक्येषु तावकेषु, मम पुरः—पूर्वं, प्रतिभा—नवनवोल्लेखिनी प्रज्ञा, [7]सम्यग्—अविपर्यस्तत्वेनोदेतु[8] अतोऽप्यनन्तरं तत्सेवनसामर्थ्यमप्युदेतु, अतोऽपि—अनन्तरं तदिति—अलौकिकं निर्विरामं कृत्वा भवदर्चायां

१. ख० पु० भान्तमिति पाठः।

२. घ० पु० प्रकृतक्षतिरिति पाठः।

३. ख० पु० विघाताभावादिति पाठः।

४. ग० पु०, च० पु० यथेति पाठः।

५. ख० पु०, च० पु० न केनचिदपीति पाठः।

६. ख० पु०, च० पु० त्वन्मरीच्यर्चनप्रमोदो यस्येति पाठः।

७. घ० पु० सम्यगुदेतु—इति पाठः।

८. ग० पु० उदेतु—इत्यर्थः—इति पाठः।

व्यसनमुदेतु॥ २३॥

**व्यवहारपदे० · · · · · · · एवादरणीयतां गतः॥२४॥**

एषोऽर्थकलापः व्यवहारेऽपि, [१]भवतः—चिन्मयस्य यथाऽवयवः—अङ्ग-कल्पोऽभेदेन स्थितस्तथा मां प्रतिभातु—मम प्रतिभासताम्, न पुनस्त्वन्मयम-विदित्वा स्वत एव—सुखादिहेतुत्वेना[२]दरणीयतां गतः॥ २४॥

**मनसि स्वरसेन · · · · · · · सदा भवेयम्॥२५॥**

यत्र तत्रेति—हेयादिविषयेषु। प्रसृतोऽपि—ग्रहणे प्रवृत्तोऽपि, अविलोलः—[३]अलम्पटः। युष्मत्परिचर्या—त्वदर्चा, तत्र [४]चतुर एव—कुशल एव सदा स्याम्। एवशब्दो भिन्नकमः॥ २५॥

**भगवन्भवदिच्छयैव · · · · · · · न जातु चित्रमेतत्॥२६॥**

[५]भगवन्! [६]भवदिच्छयैवेति। एवकारेण शक्तिपातस्य स्वतन्त्रतामाह। तथापीति—एवमपि दास्यें [७]लब्धेऽपि। वक्त्रबिम्बं—सुन्दरं परशक्तिमार्गम्। एष इति—व्युत्थानावस्थोचितदेहादिप्रमातृरूपः। जातु, इति—कदाचित्, व्युत्थाने न पश्यामि—नासादयामि॥ २६॥

**समुत्सुकास्त्वां प्रति · · · · · · · वा फलितं भवेत्तत्॥२७॥**

सम्यगुत्सुकाः—भक्तिभरेणोत्कण्ठिताः। प्रत्यर्थरूपादिति—विषयं विषयमासाद्य। किं तदिति—तेनैवानुभाव्यं न वक्तुं शक्यं। किं तत्साधन-मिति—अस्माभिरसंभाव्यम्॥ २७॥

**भावा भावतया · · · · · · · न किञ्चिद्भवतोऽन्यथा॥२८॥**

ये भावा इत्यभिधीयन्ते, ते मम त्वन्मयत्वेन भावा—विद्यमाना [८]भवन्तु।

---

१. ख० पु०, च० पु० भगवतः—इति पाठः।

२. ख० पु० आदरणीयत्वम्—इति पाठः।

३. ख० पु० लम्पटः—इति पाठः।

४. ग० पु० चतुर एव सदा स्याम्—इति पाठः, च० पु० चतुर एव कुशल एव स्याम्—इति पाठः।

५. ग० पु०, च० पु० भगवन्निति—इति पाठः।

६. घ० पु०, च० पु० भगवदिच्छयैवेति पाठः।

७. ग० पु० लब्धे—इति पाठः।

८. ख० पु० भान्तु—इति पाठः।

[1]यच्च [2]न किञ्चिदित्युच्यते तत् त्वन्मयतां विना न [3]किञ्चिदप्यस्तु॥ २८॥

**यन्न किञ्चिदपि ....... भवति लब्धपूजितः॥२९॥**

लोकेन न किञ्चिदपीति—[4]यत्किञ्चिदनुपादेयतया कथ्यते, तन्मम न [5]किञ्चित्—[6]सर्वं भेदमयं न किञ्चिद्भवतु। यत्तूपादेयतयाभिमतं [7]किञ्चिदित्यभिधीयते, तन्मम किञ्चिदिति[8]—असामान्यं स्वानुभवैकसाक्षिकं वस्तु सर्वथा अस्तु। यद्वा, यल्लोके किञ्चित्—चिद्घनं रूपं तदप्रत्यभिज्ञानात् न किञ्चित्त्वेन भाति। यत्तु भेदमयमवस्तु न किञ्चित्, तन्मायाव्यामोहात्किञ्चित्त्वेन स्फुरति। मम तु न किञ्चित् किञ्चिच्च न किञ्चिदस्तु—लौकिकवद्वि[9]पर्यासो मा भूदित्यर्थः। एतावता भवान्—चिद्रूपः सर्वत्र लब्धश्च पूजितश्च भवतीति शिवम्॥ २९॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां रहस्यनिर्देशनाम्नि द्वादशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥१२॥

## अथ संग्रहस्तोत्रनाम त्रयोदशं स्तोत्रम्

अथ स्तोत्रकाररचितचारुरचनाविशिष्टं संग्रहस्तोत्रं व्याकुर्मः। [10]तत्र तु या प्रयोगरूढिरिति संज्ञा पुस्तकेषु दृश्यते, सावान्तरैव। साक्षात्कारेण चिद्भैरवं समाविश्य व्युत्थानेऽपि बलवत्तत्संस्कारात्तमभिमुखीभाव्य प्रतिभातं

१. ग० पु०, च० पु० यत्र—इति पाठः।

२. घ० पु० किञ्चिदुच्यते—इति पाठः।

३. ख० पु०, च० पु० न किञ्चिदस्तु—इति पाठः।

४. ख० पु०, च० पु० यन्न किञ्चिदेवानुपादेयतयेति पाठः।

५. ग० पु०, च० पु० न किञ्चिदित्यनन्तरं—अपि तु—इति पाठः।

६. ग० पु०, च० पु० सर्वभेदमयमिति पाठः।

७. ख० पु०, च० पु० भण्यते—इति पाठः।

८. ग० पु०, च० पु० किञ्चिदेव किञ्चिदिति—इति पाठः।

९. ख० पु०, च० पु० विपर्ययो—इति पाठः।

१०. ख० पु०, च० पु० अत्र तु-इति पाठः।

वस्तु [1]विज्ञातुमाह–

**संग्रहेण सुखदुःख० · · · · · · · विरह एव दुःखिता॥१॥**

हे प्रभो! मां प्रति स्थितं–न त्वन्यस्य कस्यापि स्फुरितं, संग्रहेण–संक्षेपेण सुखदुःखलक्षणं शृणु। प्रभो इत्यामन्त्रणम् स्वात्मसमावेशक्रमेणैव परमेशितुः [2]स्वसंमुखीकरणाय [3]लौकिकपादशब्दान्तर[4]रहस्यमन्त्रपदवत्। तल्लक्षणमाह– भवता स्वामिना चिन्नाथेन, एष इति–साक्षात्कारेण स्फुरन् [5]समागमः–[6]समावेशैकध्यं यत्तत् सौख्यं–सुखं, स्वार्थे ष्यञ्, स एव सौख्यं, स च सौख्यमेव। उत्तरत्र स्थित एव शब्दः इहाप्युभयथा [7]योज्यः। प्रभुणा [8]तु यो विरहः–प्रभुस्वरूपाप्रत्यभिज्ञानं, सैव दुःखिता॥ १॥

यत एवं, ततः

**अन्तरप्यतितरामणीयसी · · · · · · · प्रकाशय॥२॥**

अपिर्भिन्नक्रमः, अतितरामणीयस्यपि या मम त्वदप्रथनकालिका–भवदख्यातिमलिनता, अन्तरिति–समावेशे प्राणादिसंस्काररूपाऽस्ति, तामपीति–बह्वी तावदसौ शक्तिपातात्प्रभृत्येव मे त्वया अपहस्तिता, अतिसूक्ष्मामपि तां परिमृत्य–[9]उत्प्रोञ्छ्य, सर्वत इति–अन्तर्बहिश्च स्वं–चिन्मयं सर्वस्यात्मीयं स्वरूपं निर्मलं प्रकाशय–स्फारय॥ २॥

एतदेव च मे परमभिलषितमित्याह–

**तावके वपुषि · · · · · · · जीवितं मृतमथान्यदस्तु मे॥३॥**

---

१. ग० पु० विज्ञप्तुमाह-इति पाठः।

२. ख० पु०, च० पु० सुसंमुखीकरणायेति पाठः।

३. अलौकिकेति ग० पु०, च० पु० पाठः, ख० पु० कौलिकपाद्यशब्देति पाठः, घ० पु० लौकिकपाद्य–इति पाठः।

४. ख० पु०, च० पु० रहस्यमन्त्रवदिति पाठः।

५. ख० पु० संगमः–इति पाठः।

६. घ० पु० समावेशैक्यमिति पाठः, च० पु० समावेश्यैक्यम्–इति पाठः।

७. ख० पु० प्रयोज्यः–इति पाठः।

८. ग० पु०, च० पु० प्रभुणा हि–इति पाठः।

९. ख० पु० उत्पुंस्य–इति पाठः।

यत्प्रकाशते, तत्प्रकाशरूपमेव सत् [1]प्रकाशितुमर्हति,—प्रकाशस्य च देशकालादिकं प्रकाशमानत्वात् तत्स्वरूपमेव [2]सद्भेदकं नोपपद्यते, [3]इत्य-यत्नसिद्धं विश्वरूपत्वम्। चिदाह्लादात्मनः स्वरूपे निरत्यये अविनाशिनि तिष्ठन्नेवार्चासमर्थः, अर्चन्नेव च स्थातुं क्षमः, इति हेतौ शतारौ तौ च नित्य-प्रवृत्ततां व्यङ्क्तः। स्थितिस्तत्तद्भूमिलाभः। अर्चा–तदेकपरामर्शव्यग्रत्वम्। एवमुत्तरत्र। अन्यदित्यनेन चिद्रूपतास्थितिबहुमानेन अवस्थाविषयमनादरं ध्वनति॥ ३॥

ननु जीवदादिभूमयः अभिमानमय्यः। ताः किमितीष्यन्ते? इत्याशङ्क्य, त्वत्स्वरूपेऽवस्थितस्याभि[4]मानोऽपि अलौकिकचमत्कारयुक्तत्वाद्युक्त[5]एव, इतरथा तु निरभिमानतापि न [6]काचित्, इति वक्तुमाह—

**ईश्वरोऽहमहमेव · · · · · · · त्वदनुरागिणः परम्॥४॥**

त्वदनुरागिणः—त्वत्समावेशेन प्रासत्वदैक्यस्य। परमिति—तस्यैव न तु ब्रह्मादेरपि। ईश्वरः—[7]सर्वत्र स्वतन्त्रोऽहम्। अहमेव च रूपवान्—चिदात्मना प्रशस्तेन स्वरूपेण युक्तः। पण्डा—सम्यक्तत्त्वदर्शिनी प्रज्ञा सञ्जाता यस्य सोऽस्मि। सुभगः—परमानन्दरसोल्वणत्वेन सर्वस्य स्पृहणीयोऽस्मि। किं बहुना, मत्समः कोऽपरोऽस्ति न कश्चित्;-मयैव चिदानन्दात्मना [8]विश्वस्यात्म-सात्कारात्। इति-ईदृशी, मानिता—[9]साभिमानित्वं शोभते—दीप्यते। अन्यथा पुनर्बोधाद्यभिमता सङ्कोचवती [10]अविकल्पितापि मलिनैव,—

---

१. घ० पु०, च० पु० प्रकाशयितुमर्हति—इति पाठः।

२. ग० पु०, च० पु० सम्भेदकम्—इति पाठः।

३. ख० पु० इत्यत्र सिद्धम्—इति पाठः।

४. ख० पु०, च० पु० अभिमाना अपि—इति पाठः।

५. ख० पु०, च० पु० युक्ता एव—इति पाठः।

६. ख० पु० कदाचित्—इति पाठः।

७. ख० पु०, च० पु० सर्वस्वतंत्रोहमिति पाठः।

८. ख० पु०, च० पु० विश्वस्यात्मसाक्षात्कारादिति पाठः।

९. घ० पु० साभिमानत्वमिति पाठः।

१०. ख० पु० अविकल्पतापीति पाठः।

[१]'खसोपानपदारूढ्या भर्तुः स्यादन्तिके स्थितिः।
इतरस्तु विकल्पानां वैमुख्याद्बाह्यभूमिगः॥'

इति॥ ४॥

त्वदनुरागिणो यत एवं [२]मानितापि शोभते ततः—

**देवदेव भवदद्वया० · · · · · · · · चरणार्चनोचितम्॥५॥**

हे देवदेव—अशेषाधिपते! भवदद्वयामृताख्यातेः—[३]त्वदैक्यानन्दाप्रथायाः संहरणेन लब्धं जन्म यया तया यथास्थितानां — चिदेकात्मनां पदार्थानां संविदा मां [४]स्वमरीच्यर्चोचितं कुरु। तच्छब्दः पूर्वश्लोकापेक्षया हेतौ॥ ५॥

कीदृशी असावर्चा यदुचितं त्वां करोमि? इति भगवदुक्तिं सम्भावयन्नाह—

**ध्यायते तदनु · · · · · · · · सर्वदास्तु भवतोऽनुभावतः॥६॥**

'उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।' मा० वि०, अ० २, श्लो० २२॥

इति स्थित्या ध्यायते। तदनु दृश्यते—समावेशात्प्रकाशते। ततोऽपि स्पृश्यते—[५]गाढगाढसमाश्लेषेणैकीक्रियते। [६]स्वयमिति—न तु उच्चार-करणादिपारतन्त्र्येण स्वयं चानुपचितेन चिन्मयेन वपुषा अनन्याकारविशेषेण। यत्रेति—पूजनमहोत्सवे। महोत्सवशब्देनात्यन्तमुपादेयतामस्य वदन्नात्मन-स्तदासक्त्या प्रमोदनिर्भरतां ध्वनति। अनुभावत इति—[७]ममानुभवत-स्त्वदीया[८]नुभावकव्यापारात्॥ ६॥

एतदेव श्लाघमान आह—

**यद्यथास्थितपदार्थदर्शनं · · · · · · · · सदा विजृम्भते॥७॥**

---

१. ग० पु०, च० पु० स्वसोपानेति पाठः।

२. ग० पु० मानिता शोभते-इति पाठः।

३. ख० पु० त्वदानन्दैक्या प्रथायाः—इति पाठः।

४. ग० पु०, च० पु० स्वमरीच्यर्चितं कुरु—इति पाठः।

५. ख० पु० गाढगाढमाश्लेषेणैकीक्रियते—इति पाठः।

६. ख० पु०, च० पु० स्वयमेव—इति पाठः।

७. ख० पु०, च० पु० ममानुभावतः—इति पाठः।

८. ख० पु०, च० पु० त्वदीयानुभवकव्यापारात्—इति पाठः।

यथास्थितानां [1]चिदात्मनां पदार्थानां दर्शनं—[2]विज्ञानं विना न त्वदद्वय-पूजामहोत्सवः, तं च विना न यथास्थितवस्तुज्ञानम्,-इतीदं द्वयमितरेतराश्रयं भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते, त्वयैवास्योभयस्य [3]युगपत्प्रकाशनात्॥ ७॥

स्फुरदुपायपुरःसरमेतदाशंसापर आह—

**तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं · · · · · · · भवेयमुन्मदः॥८॥**

सर्वभावा [4]एव चषकाणि—पानपात्राणि, तेषु चक्षुरादिमुखेन महार्थदृष्ट्या चिदैक्यामृतेन पूरितेषु—भृतेषु, [5]तदाहरणक्रमेण तुर्यारोहरूपं युष्मत्पूजा-रसायन—पानम् आ-समन्तात्पिबन् उद्गतमदोऽपि नाम भवेयम्—एतत्प्रार्थये॥ ८॥

प्रभुमेवार्थयते—

**अन्यवेद्यमणुमात्रमस्ति · · · · · · · सदा तवार्चितुः॥९॥**

यत्र नाथ भवतः पुरे—पूरके चिदात्मनि रूपे व्यतिरिक्तस्य [6]कस्यचिद-भावादेवान्यद्भिन्नं वेद्यम् [7]अणुमात्रमपि नास्ति, अपि तु अखिलं—ग्राह्यग्राहकरूपं स्वप्रकाशमेव विजृम्भते, तत्र मे—त्वदर्चापरस्य सदावस्थितिं—गाढगाढसमावेशरूपां कुरु॥ ९॥

एवमर्थितेऽपि जगतीप्सितमनाप्नुवन् खिन्न इवाह—

**दासधाम्नि · · · · · · · पादसंवहनकर्मणापि वा॥१०॥**

स्वेच्छयैव—न त्वन्यप्रेरणादिना; निरपेक्षो हि शक्तिपात इत्युक्तमेव। दर्शनेन—शाम्भवसमावेशात्मना परसाक्षात्कारा[8]नुप्रवेशनेन, पात्रितः—

१. च० पु० चिदात्मनामिति पाठो न दृश्यते।

२. ख० पु० ज्ञानमिति पाठः।

३. घ० पु०, च० पु० युगतत्प्रकाशादिति पाठः।

४. घ० पु० इवेति पाठः।

५. ख० पु० तदारोहणक्रमेणेति पाठः, ग० पु० उदाहरणक्रमेणेति च पाठः।

६. ग० पु०, च० पु० कस्यचिदेवाभावादिति पाठः।

७. ख० पु० अणुमात्रकमपीति पाठः।

८. ख० पु०, च० पु० अनुप्रवेशेनेति पाठः।

भाजनीकृतः। पादसंवहनकर्मणा—रुद्रशक्तिसमावेशा[१]ह्लादोदयेन। अनु-रणनोक्त्या लौकिकेश्वरार्थः [२]प्राग्वत्॥ १०॥

सोपालम्भमिव प्रभुमभिमुखयितुमाह—

**शक्तिपात० · · · · · · स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे॥११॥**

प्राप्तमिति—उचितम्। ईशेत्यामन्त्रणं स्वतन्त्रशक्तिपातक्रमानुरूपम्। कर्हिचित्—कदाचित्। अद्येति—संपन्नेऽप्यनुग्रहात्मनि शक्तिपाते। किमागत-मिति—क एष प्रकारः यच्चिदात्मकस्वात्मप्रकाशात्मनि विधौ—अवश्य-कार्येऽपि विलम्बसे—अद्यापि कालक्षेपं करोषि; मा [३]कृथाः॥ ११॥

पुनरपि [४]भगवत्समावेशाशंसापर आह—

**तत्र तत्र विषये · · · · · · · निजपाणिपूजितम्॥१२॥**

बहिरिति—बाह्ये नीलादौ, [५]अन्तरे च—सुखादौ च, [६]विभाति सति त्वां [७]परमेश्वर्या [८]परशक्त्या युतं—नित्यसम्बद्धं, प्राग्वज्जगत्त्रयेण विश्वेन निर्भरं लोकयेय—साक्षात्कुर्याम्। निजेन पाणिना—पञ्चावर्तमध्यमध्यमप्राण-शक्त्युद्बोबधन[९]क्रमाहृतविश्वार्पण[१०]समेधनेनार्चितम्। अत्र पाणिः शक्तिः। यथोक्तमाम्नाये—

'हस्तः शक्तिः [११]प्रकीर्तिता'।

इति॥ १२॥

---

१. ख० पु०, च० पु० आह्लादनेनेति पाठः।

२. घ० पु० प्राग्वदेवेति पाठः।

३. ख० पु०, च० पु० कृषाः—इति पाठः।

४. घ० पु० श्रीभगवत्समावेश—इति पाठः।

५. ख० पु०, च० पु० आन्तरे—इति पाठः।

६. ग० पु०, च० पु० विभासति त्वाम्—इति पाठः।

७. ख० पु०, च० पु० पारमेश्वर्या—इति पाठः।

८. ख० पु० परं शक्त्या—इति पाठः।

९. ग० पु०, च० पु० क्रमाद्धृतेति पाठः।

१०. ख० पु०, च० पु० समेधेन इति पाठः।

११. ख० पु०, च० पु० प्रकीर्तितः—इति पाठः।

एतत्पूजोचितं नित्योदितसमावेशरूपमेव [1]फलमाकाङ्क्षयन्नाह–

**स्वामिसौधमभिसन्धि०** · · · · · · · **०परिलब्धनिर्वृतिः॥१३॥**

स्वामिनः [2]सम्बन्धिनं सौधम्–अतिस्पृहणीयं [3]सुधासमूहमयमत्युच्चैः शाक्तं पदम्, अभिसंधिमात्रत इति–उच्चारकरणाद्यनपेक्षम् इच्छामात्रेणैव, [4]निर्विबन्धं कृत्वा अधिरुह्य-देहादिभूमिन्यग्भावेन स्वीकृत्य, प्राग्व्याख्यात-प्रसादपरमामृतासवापानक्रीडया परिलब्धनिर्वृतिः–आनन्दपरिपूर्णः सदा स्याम्। अनुरणनशक्त्या दृष्टान्तालङ्कारध्वनिना लौकिकेश्वरार्थः प्राग्वत्॥१३॥

[5]प्रतिपादितपूजोपायमाह–

**यत्समस्तसुभगार्थवस्तुषु** · · · · · · · **०शालिनः॥१४॥**

मायाशक्त्या यद्यपि हेयोपादेयताभाञ्जि तथापि वस्तुतश्चिन्मयत्वात् सुभगार्थानि–सुभगप्रयोजनान्येव समस्तानि वस्तूनि, तेषु विषयभूतेषु, यत्किंचिदिन्द्रियपथगतं[6] तदीयरूपस्पर्शादि। स्पर्शमात्रविधिना–[7]संवित्सम्पर्क- विकल्पेन संविद्व्यापारेण। तामिति–असामान्यां चमत्कृतिं सम्यग् अर्पयति–वितरति, तेन–यच्छब्दपरामृष्टेन वस्तुस्वरूपेण, ते वपुः–[8]चिन्मयं स्वरूपम्, अचलभक्त्या–नवनवसमावेशेन शालमानाः, पूजयन्ति–तर्पणक्रमेण त्वय्येव विश्राम्यन्ति॥ १४॥

ननु मलिनैरर्थैः कथं शुद्धस्वरूपभगवदर्चा? इत्याशङ्क्य सर्वदशासु अर्थानां भगवत्स्वरूपतया शुद्धतां वक्तुमाह–

**स्फारयस्यखिलमात्मना** · · · · · · · **भावमण्डलम्॥१५॥**

आत्मना–चिन्मयेन, स्फुरन्–भासमानः, अखिलं–विश्वं स्फारयसि–

१. ग० पु०, च० पु० फलमाकाङ्क्षन्नाह–इति पाठः।

२. ख० पु० संबन्धि–इति पाठः।

३. ख० पु०, च० पु० स्वधामसमूहमत्युच्चैः–इति पाठः।

४. ग० पु०, च० पु० विनिर्बन्धं कृत्वा–इति पाठः।

५. ख० पु० पूजनोपायमाह–इति पाठः।

६. ग० पु० पथपतितम्–इति पाठः।

७. ख० पु०, च० पु० संवित्सङ्कल्पविकल्पेन–इति पाठः।

८. घ० पु०, च० पु० चिन्मयरूपम्–इति पाठः।

विकस्वरस्वात्म[१]प्रथाच्छुरणेन फुल्लयसि। तथा स्वरूपमामृशन्—निजं स्वरूपं चमत्कुर्वन [२]निखिलं विश्वमामृशसि आस्वादनेन आनन्दघनं घटयसि। यश्च स्वयं निजेन—चिद्रसेन घूर्णसे—पूर्णत्वात्समुच्छलत्तया स्पन्दसे, तद्भावमण्डलम्—अखिलं पदार्थजातं समुल्लसति— [३]चिद्भूमावुन्मीलति। एवमनेन विश्वस्याभेदसाराः परदशोचिताः स्थितिसंहारसर्गाः ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिपरिस्पन्दरूपाः क्रमेणोक्ताः। अक्रमेऽपि हि [४]संवित्तत्त्वे व्यावृत्तिभेदेन सृष्टिस्थितिसंहार[५]शक्त्यवियोगः सनातनत्वेन वर्ण्येतापि, यदपेक्षयायं क्रमव्यवहारः। तथा च श्रीपूर्वशास्त्रेषूक्तम्—

'सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनप्रेरकत्वतः[६]।
इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वादभिन्नमपि पञ्चधा॥' (मा० वि०, अ० २, श्लो० ३४)

इति। सृष्टिस्थितिसंहाराणां [७]विपर्यस्तत्त्वेन प्रतिपादनं चिन्मयत्वेन अक्रमतापरमार्थप्रकाशनाय॥ १५॥

ननु श्रीपरमेश्वरभूमावभिन्नानामर्थानामस्तु सदा शुद्धत्वं, मायापदे तु भेदविघ्नव्याकुलिते कथमेतत्? इत्याशङ्क्य भेदविघ्नप्रसरक्षयमाह—

**योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं · · · · · · · कुतो भयम्॥१६॥**

हे ईश! इदमर्थमण्डलं—प्रमेयजातमविकल्पं कृत्वाहानादानादिबुद्धिपरिहारेण श्रीभैरवीयमुद्रावीर्यस्थित्या यो योगिवरो भवद्वपुश्चिद्रूपमेव कृत्वा पश्यति—दर्पणोदरोन्मीलनप्रतिबिम्बवत् साक्षात्करोति, अस्य स्वात्मपक्षेण—चिदैक्येन परितः—समन्तात् पूरिते—स्वाभेदमापादिते जगति, भेदविघ्नस्योन्मीलनात् नित्यसुखिनः—परमानन्दघनस्य कुतो भयं—न कुतश्चिदेव, इति युक्तमुक्तं प्राक्—

१. घ० पु०, च० पु० प्रथास्फुरणेनेति पाठः।
२. ग० पु० अखिलमिति पाठः।
३. ख० पु० चिद्भूमावेवोन्मीलति—इति पाठः।
४. ख० पु० संवित्तत्त्वेन—इति पाठः।
५. ग० पु० शक्त्या वियोगः—इति पाठः।
६. ख० पु० तद्धीनपूरकत्वतः—इति पाठः।
७. ख० पु० विपर्यस्त्वेन—इति पाठः। घ० पु० विपर्यस्तेनेति च पाठः।

'तेन ते वपुः पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः॥' (स्तो० १३, श्लो० १४)

इति॥ १६॥

इमामेवाद्वयदृष्टिं प्रशंसन्नाह–

**कण्ठकोणविनिविष्टमीश ········ रोचते न मे॥१७॥**

कालकूटं–महाविषमपि ते कण्ठकोणविनिविष्टं–त्वदङ्गसङ्गतया स्थितं त्वदभेदेन प्रथमानं, मे महामृतं–परमव्याप्तिप्रदत्वात्। उक्तं हि–

.............'विषमप्यमृतायते।' (शिवस्तो०, स्तो० २०, श्लो० १२)

इति। अमृतं तूपात्तमपि–लब्धमपि यदि भवद्वपुषो भेदवृत्ति–चिदद्वयदृशमस्पृशद्भाति, तदवास्तवत्वान्मह्यं न रोचते–नाभिलाषपदं ममेति यावत्॥ १७॥

एवमद्वयसमावेशमात्मनि [1]सदोदितत्वेनेप्सन्नाह–

**त्वत्प्रलापमयरक्त० ········ ०परिगताशयः सदा॥१८॥**

समावेशवैवश्यादनभिसन्धानमुच्चरन्तीभिस्त्वत्प्रलापमयीभिर्भक्त्यनुरागव्यञ्जनाद्रक्ताभिर्मधुरसुन्दराभिर्गीतिकाभिर्नित्ययुक्तेन वदनेन उपशोभितः–अतिसुन्दररुचिः स्याम्। अथापीति–अपि च, [2]व्याख्यातसतत्त्वया भवदर्चन- क्रिययैव प्रेयस्या–[3]परमवल्लभया, परिगतः–स्वीकृतः आशयः–चित्तं यस्य, तस्माश्च परिगतः–सम्यग् ज्ञातः, आशयः–स्वरूपं येन, तथाभूतः सदा स्याम्॥ १८॥

ननु च लब्धसमावेशचमत्कारोऽपि किमर्थं भूयो भूयः समावेशाकाङ्क्षापरोऽसि? इति शङ्कित्वैवाह–

**ईहितं न बत ········ पातुमनुमन्यते तथा॥१९॥**

[4]श्रीपरमेश्वरसम्बन्धीहितं–विलसितं, बत–आश्चर्यं, गणयितुं–

---

१. ख० पु०, च० पु० सदोचितत्वेनेति पाठः।

२. ख० पु०, च० पु० व्याख्यातसतत्वतयेति पाठः।

३. ग० पु० परमवल्लभतयेति पाठः।

४. ख० पु० परमेश्वरसम्बन्धीहितमिति पाठः,

ग० पु० परमेश्वरस्य सम्बन्धीहितमिति च पाठः।

कलयितुं न शक्यते। तथा च, मे—मह्यम्, अमृतनिर्भरम्,—आनन्दघनं वपुः—स्वरूपं, पातुं—रसयितुं दत्तमपि—प्रसादीकृतमपि, तथेति—यथारुचि निर्विरामं पातुं नानुमन्यते—नाङ्गीकरोति, पुनर्व्युत्थानभूमिमेव प्रेरयति। इत्यत इयमाकाङ्क्षेत्यर्थः॥ १९॥

यत एवं ततः—

**त्वामगाधमविकल्पमद्वयं · · · · · · · ०संस्तुवीय च॥२०॥**

अगाधम्—अपरिच्छेद्यम्, अविकल्पं—चिद्रूपम्, अद्वयम्—अभेदसारं, स्वं—सर्वस्यात्मीयं स्वरूपम्, अखिलानां—षडध्वमयानामर्थानां घस्मरम्—अदनशीलं, त्वामाविशन्, हे उमेश—पराभट्टारिकास्वामिन्, अहं सदा पूजयेयं—

.....'सा पूजा ह्यादराल्लयः॥' वि० भै०, श्लो० १४७॥

इति स्थित्या अर्चयेयम्। अभितः—समन्तात् सम्यगभेदपरामर्शसारतया स्तुवीय चेति शिवम्॥ २०॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरहितस्तोत्रावल्यां संग्रहस्तोत्रनामनि त्रयोदशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥ १३॥

## अथ जयस्तोत्रनाम चतुर्दशं स्तोत्रम्

**ॐ जयलक्ष्मीनिधानस्य · · · · · · · क्षणम्॥१॥**

इदमपि जयस्तोत्रं [1]ग्रन्थकाराशयमेव। जयलक्ष्म्याः—सर्वो[2]त्कर्षश्रियो निधानं—[3]समुचितमास्पदं। पुर इति—[4]साक्षात्कारसमनन्तरमेव, जयोद्घोषणमेवानन्दप्रदत्वात् पीयूषरसम्, आस्वादये—चमत्करोमि, क्षणं—मुहुर्मुहुः। क्षणशब्दश्चास्य आस्वादस्य सुलभतां ध्वनति॥ १॥

**जयैकरुद्रैकशिव · · · · · · · सर्वगीर्वाणपूर्वज॥२॥**

१. ख० ग० पु० ग्रन्थकाराशय्यैवेति पाठः।

२. घ० पु० सारोत्कर्षत्रियः—इति पाठः।

३. ख० पु० सूचितमास्पदम्—इति पाठः।

४. ख० पु० समुत्कर्षसाक्षात्कारसमनन्तरमेव—इति पाठः।

[1]प्रथममामन्त्रणद्वयमद्वयसारताप्रथनाय

'एको रुद्रः.....।'

इति श्रुतिरस्ति। एकः शिवः—नतु भेदवादस्थित्या बहवः। पार्वती—परा शक्तिः। सर्वेषां गीर्वाणानां—देवानां पूर्वज—आद्य॥ २॥

**जय त्रैलोक्यनाथै० ······· कूटाङ्ककन्धर॥३॥**

त्रैलोक्यनाथत्वे एकम्—[2]अद्वयसूचकमलौकिकं लाञ्छनमलिक-लाचनं—ललाटनेत्रं यस्य; भगवद्व्यतिरेकेणान्यस्यो[3]र्ध्वमुखोर्ध्व-लोचनानुन्मीलनात्। पीतमार्तलोकानां—सर्वेषां सुरासुराणामार्तिहेतुत्वात्तद्रूपं यत् कालकूटं—महाविषं, तदङ्का कन्धरा यस्य। कालकूटमार्तिरूपतयो-त्प्रेक्ष्यते[4]। अथ च कालकूटगलत्वेन भगवतः [5]सर्वसंसारार्तिहरत्वं [6]सूच्यते॥

**जय मूर्तत्रिशक्त्यात्म० ······· पूजार्हचरणाम्बुज॥ ४॥**

मूर्ताः तिस्रः—इच्छाज्ञानक्रियारूपाः शक्तयः, आत्मा यस्य, तथाभूतेन शितेन—संसारच्छेदकेन शूलेनोल्लसन् करः—पाणिर्यस्य। अनेन शक्तित्रयस्य भगवदेकाधीनत्वमुक्तम्। इच्छामात्रेण सिद्धोऽर्थः—प्रयोजनं याभ्यां सकाशात् तथाभूते, अत एव पूजार्हे प्राग्वच्चरणाम्बुजे यस्य॥ ४॥

**जय शोभाशतस्यन्दि० ······· ०कृत्यात्तभस्मक॥५॥**

शोभाः—प्रकाशाह्लादरुचयः वपुः—स्वरूपम्। [7]अल्पैकजटा—[8]एकज-टिका, तत्र क्षीणा येयं गङ्गाकृतिस्तदेव आत्तं भस्म येन, तथाभूतं कं शिरो यस्य। भगवतः शिरसि [9]भस्मास्तीत्याद्यमविगीतमेव*॥ ५॥

---

१. ख० पु० प्रथममामन्त्रणमिति पाठः।

२. घ० पु० अद्वयसूचकाद्वितीयमलौकिकमिति पाठः।

३. ग० पु० अधोमुखाधोलोचनेति पाठः।

४. ग० पु० उत्प्रेक्षितमिति पाठः।

५. ख० पु० सर्वसंहारार्तिहरत्वमिति पाठः।

६. घ० पु० सूचितमिति पाठः।

७. ग० पु० अल्पजटा—इति पाठः।

८. ख० पु० एव जटिका—इति पाठः।

९. ख० पु० भस्माद्यमविगीतमेवेति पाठः।

*बहुकृत्वः श्रुतं दृष्टमविगीतमुदाहृतमित्यधिकः पाठः ग० पु०।

**जय क्षीरोदपर्यस्त० · · · · · · · · ०नकान्ताहिमण्डन॥६॥**

क्षीरोदे पर्यस्ता—प्रसृता [1]यासौ ज्योत्स्ना—चन्द्रकांतिः, तच्छायं शुभ्रमनु-लेपनं यस्य। अङ्गसङ्गोत्थैः रत्नैः कान्ताः—हृद्याः, अहयः—शेषवासुकिप्रभृतयो यस्य। [2]ईश्वराङ्गसङ्गाद्भुजङ्गमानां रत्नप्राप्तिरिति ह्यागमः॥ ६॥

**जयाक्षयैकशीतांशु० · · · · · · · · ०विश्वैश्वर्याभिषेचन॥७॥**

अक्षयायाः—[3]अमानाम्न्याः एकस्याः शीतांशुकलायाः सदृशः—अनुरूपो भगवानेव संश्रयः, तस्याप्यक्षयैकरूपत्वात्। चन्द्रकलया हि [4]भगवतः एतत्परमार्थतैव सूच्यते। गङ्गया सदा आरब्धं [5]विश्वैश्वर्येऽभिषेचनं यस्य; तत्सूचिकैव ह्यसौ॥ ७॥

**जयाधराङ्गसंस्पर्श० · · · · · · · · ०गोष्ठीनियतसन्निधे॥८॥**

अधराङ्गं—पादस्तत्स्पर्शेन पवित्रीकृतं गोकुलं येन [6]भवता [7]वृषभ-वाहनेन। यतो वृषभः पद्भ्यां स्पृष्टस्ततः सर्वत्र गोजातेः पवित्रत्वमविगीतम्। भक्तिमद्भिः आबद्धायां गोष्ठ्यां नियतः—अवश्यंभावी सन्निधिर्यस्य[8]॥ ८॥

**जय स्वेच्छातपोवेश० · · · · · · · · ०सौभाग्यभाजन॥९॥**

स्वेच्छया—[9]क्रीडारूपया [10]कृतेन तपसा वेशेन च, विप्रलम्भिताः—[11]भ्रामिताः बालिशा येन। क्रीडामात्रेण भगवता जटादि [12]विधृतं यत्

१. ख० पु० येयमिति पाठः।

२. ग० पु० ईश्वरसङ्गाद्भुजङ्गमानामिति पाठः।

३. ख० ग० पु० अर्यमनाम्न्याः—इति पाठः।

४. घ० पु० भगवत एव—इति पाठः।

५. ग० पु० विश्वैश्वर्याभिषेचनं यस्य—इति पाठः।

६. ख० पु० भगवता—इति पाठः।

७. ख० ग० पु० वृषवाहनेन—इति पाठः।

८. घ० पु० यत्र—इति पाठः।

९. ग० पु० क्रीडया—इति पाठः।

१०. ग० पु० कृतेन उपमावेशेन च—इति पाठः।

११. ख० पु० त्रासिताः—इति पाठः।

१२. ग० पु० विवृत्तम्—इति पाठः।

तन्मूर्खाः [1]ब्रह्मशिरश्छेदोत्थकिल्विषशुद्ध्यर्थमिति [2]प्रतिपन्नाः, [3]सिद्ध्यर्थमेतदित्यपरे, इदमेतद्भगवतः सत्यं रूपमिति परे। [4]तच्चासत्। भगवतः स्वतन्त्रचित्परमार्थस्यैवंरूपत्वानुपपत्तेः। गौरी–परा शक्तिः, तत्परिष्वङ्गयोग्यस्य[5] सौभाग्यस्य–सर्वस्पृहणीयत्वस्य भाजन॥ ९॥

**जय भक्तिरसार्द्रार्द्र० · · · · · · · ०वाङ्नृत्ततोषित॥१०॥**

भक्तिरसेन आर्द्रार्द्रः–सरसो गलितो यो भावः–आशयः, स एवोपायनं–ढौकनिका, तत्र लम्पट–[6]झटित्यात्मसात्कारिन्। भक्तिमदेनोद्दामाः–[7]ऊर्जिता ये भक्ताः, तदीयेन वाङ्नृत्तेन–स्फूर्जत्स्तुतिमालाभिस्तोषित॥ १०॥

**जय ब्रह्मादिदेवेश० · · · · · · · ०शिरोविधृतशासन॥११॥**

[8]ब्रह्मादिदेवेशानां यः प्रभावः–सृष्ट्यादिसामर्थ्यं, तस्य प्रभवव्ययौ–उत्पादननाशौ यतः। लोकेश्वरश्रेण्या–इन्द्रादिदशलोकपालमालया, [9]शिरोभिः–[10]मुकुटैर्विधृतं शासनम्–आज्ञा यस्य; [11]परमेश्वराज्ञानुवर्तिभिरिन्द्रादिभिर्दीक्षादौ स्थीयते–इति शतशः आगमोक्तयः सन्ति॥ ११॥

**जय सर्वजगन्न्यस्तस्वमुद्र० · · · · · · · ०महेश्वर॥१२॥**

सर्वत्र जगति न्यस्तया स्वमुद्रया–आनन्दसारज्ञानक्रियाशक्तिव्याप्तिमय्या [12]षष्ठवक्त्ररूपया व्यक्तं वैभवं–व्यापकत्वं [13]प्रभुत्वं च यस्य। यदागमः–

---

१. घ० पु० ब्रह्मादि–इति पाठः।

२. घ० पु० प्रपन्नाः इति पाठः।

३. ख० पु० सिद्ध्यर्थमित्यपरे–इति पाठः।

४. ख० पु० तत्र सत्–इति पाठः।

५. ख० पु० तत्परिष्वङ्गयोग्यसौभाग्यस्य–इति पाठः।

६. ख० पु० झटित्यात्मसाक्षात्कारिन्–इति पाठः।

७. घ० पु० गर्जिताः–इति पाठः।

८. ख० ग० पु० ब्रह्मादिदेवानाम्–इति पाठः।

९. ग० पु० शिरसा–इति पाठः।

१०. ग० पु० विधृतम्–इत्येव पाठः।

११. ख० पु० परमेश–इति पाठः।

१२. ख० पु० अवष्टम्भरूपया–इति पाठः।

१३. ख० ग० पु० विभुत्वम्–इति पाठः।

'न चक्राङ्का न वज्राङ्का दृश्यन्ते जन्तवः क्वचित्।
भगलिङ्गाङ्कितं विश्वं तेन माहेश्वरं जगत्॥'

इति। आस्तां तावद्ब्रह्मादीनां विभूत्यादिदानं त्वत्तः। सर्वस्य त्वमात्मानं—सत्तामपि ददासि; [1]प्रकाशमयत्वत्स्वरूपं विना नीरूपत्वापत्तेः—[2]इत्यात्मदानपर्यन्तं कृत्वा विश्वेश्वर। अत एवान्यस्यैवंरूपत्वाभावात् त्वं [3]महेश्वरः॥ १२॥

**जय त्रैलोक्यसर्गेच्छा० · · · · · · · ०मात्रसहायक॥१३॥**

[4]त्रैलोक्यसर्गेच्छावसरे असन् द्वितीयः—उपादानसहकार्यात्मा अपेक्षणीयो यस्य। द्वितीयश्चेन्नास्ति कथं शक्तिः शक्तिमांश्चेत्युद्घोष्यते? इत्याह ऐश्वर्यभरोद्वाहे—

'स्वेच्छावभासिताशेषलोकयात्रात्मने नमः।'

इति नयेन देवीमात्रं निजसामर्थ्यात्मा पराशक्तिरेव सहायो यस्य। ऐश्वर्यं—पञ्चविधकृत्यकारित्वम्॥ १३॥

**जयाक्रमसमाक्रान्त० · · · · · · · ०मानेश्वरध्वने॥१४॥**

[5]सकृद्विभातत्वाद्युगपत्सदा सम्यगाक्रान्तं—व्याप्तं समस्तं निरवशेषं प्राग्वद्भुवनत्रयं येन। विष्णुना [6]क्रमाभ्यां भूर्भुवःस्वराक्रान्तमधिष्ठितं, भगवता त्वक्रममेव [7]भवाभवातिभवरूपं भुवनत्रयं व्याप्तम्—इति व्यतिरेकध्वनिः। अविगीतम्—अविप्रतिपत्तिं कृत्वा आबालं गीयमान ईश्वर इति ध्वनिः—नादामर्शो यस्य॥ १४॥

**जयानुकम्पादिगुणान० · · · · · · · ०घटनापूर्वभैरव॥१५॥**

अनुकम्पादिगुणानपेक्षा सहजा—स्वाभाविकी अविच्छिन्ना उन्नतिः-

१. ग० पु० स्वप्रकाशमय—इति पाठः।
२. घ० पु० इत्यात्मानं पर्यन्तं कृत्वा—इति पाठः।
३. ख० पु० महानीश्वरः—इति पाठः।
४. ख० पु० त्रैलोक्यसर्गावसरे—इति पाठः।
५. ख० पु० साक्षाद्विभातत्वात्—इति पाठः।
६. घ० पु० क्रमेण—इति पाठः।
७. घ० पु० भवाभवातिभवत्रयम्—इति पाठः।

माहात्म्यं यस्य। अन्येषां तु–

'यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमुच्यते।' मा० वि० तं०, अ० २, श्लो० ६०॥

इत्याम्नायस्थित्या अपूर्वैवोन्नतिः। भीष्मस्य–सकलजगत्कम्पकारिणो महामृत्योः घटने–स्वरूपचलनात्मनि ग्रसने अपूर्वोऽपि भैरवः–भीषणीयस्यापि भीषणीयः, भीरूणामयम्–इति तद्धितेन मृत्युभीतानां हृदि स्फुरन्नभयप्रदश्च॥ १५॥

**जय विश्वक्षयो० · · · · · · · ०गुणानुगनामानुकीर्तन॥१६॥**

विश्वक्षये–संहारे उच्चण्डायां क्रियायां निर्गतः परिपन्थिकः–[1]निरोद्धा यस्य। श्रेयांसः [2]शतगुणा अनुगाः–[3]पश्चाद्धावन्तो यस्य, [4]'तथाभूतं नामानु' कीर्तनं यस्य॥ १६॥

**जय हेलावितीर्णैतद० · · · · · · · ०पाशुशुक्षणे॥१७॥**

हेलया वितीर्णो भक्तेभ्यो दत्तः एतदिति–एष श्रेयःशतगुणानुगः अमृताकरसागरो येन, उपमन्यवे च क्षीरोदो वितीर्णः येन। [5]विश्वक्षयाक्षेपी क्षणकोपाशुशुक्षणिः–क्षणिकोऽपि कोपाग्निर्यस्य॥ १७॥

**जय मोहान्धकारान्ध० · · · · · · · ०काधिपूरुष॥१८॥**

मोहान्धकारेण–अख्यातितिमिरेण अन्धः–उपसंहृताभेददृष्टिर्यो जीवलोकस्तस्यैकः–अद्वितीयो दीपः–परमार्थप्रकाशकः। प्रकर्षेण सुप्तायां–मायाप्रस्वापजडीकृतायां जगत्यां विश्वत्र जागरूकः–नित्यप्रबुद्धोऽत एव अधिपूरुषः–अधिष्ठातृस्वरूपः॥ १८॥

**जय देहाद्रिकुञ्जान्त० · · · · · · · ०विलासिवरसारस॥१९॥**

देह एव [6]जडत्वादद्रिकुञ्जं–पर्वतदरीगृहं तत्र निकूजतः–[7]उत्क्रन्दतो

---

१. ख० पु० विरोधा–इति पाठः।

२. ख० पु० शतं गुणाः–इति पाठः।

३. ख० पु० पश्चाद्भाविनः–इति पाठः।

ग० पु० पश्चाद्भाविनः–इति पाठः।

४. घ० पु० तथाविधम्–इति पाठः।

५. ख० पु० विश्वक्षयाक्षेपि–इति पाठः।

६. ख० पु० जडत्वादेरद्रिकुञ्जम्–इति पाठः।

७. ग० पु० क्रन्दतो–इति पाठः।

जीवान्—प्राणिनो जीवयति; जीवतां लम्भयति यः। पर्वतगुहायां च निकूजन्तो जीवजीवाख्याः पक्षिणो भवन्ति—इत्यनुरणनशक्त्याक्षिप्तोऽर्थोऽपि। अपि च सतां—भक्तानां मानसं—चित्तमेव निर्मलत्वादिधर्मत्वाद्व्योम, तत्र [1]विलसति तच्छीलः, वरसारसः—[2]परमात्मा राजहंसश्च, मानसे सरसि शोभमानो व्योमचारी च भवति॥ १९॥

**जय जाम्बून० · · · · · · · ०पातनोत्पातचन्द्रमः॥२०॥**

जाम्बूनदं—कनकं, तेन उदग्रः—ऊर्जितो धातूद्भवश्च रसधातुसम्भूतो गिरीश्वरो मेरुर्यस्य। तथा चावधूतः—

'येनामलस्फुरिता....।'

इत्यादि। पापिषु—[3]अतिविलयशक्तिगोचरेषु निन्दैव विषमदशाहेतुत्वादुल्का—विद्युत्, तत्पातने उत्पातचन्द्रमा इव—अशुभसूचक इन्दुरिव। भगवद्विलयशक्तिपातेन हि [4]पापिष्ठा भगवन्तं निन्दन्ति। इन्दुरूपेण नित्यमाह्लादहेतुत्वं सूच्यते॥ २०॥

**जय कष्टतपः० · · · · · · · ०भक्तिमल्लोकलोकित॥२१॥**

कष्टतपःक्लिष्टत्वादेवागस्त्यब्रह्मादिभिर्दुःखेन आसाद्यते। उक्तं हि प्राक्—

'न योगो न तपो नार्चा....।' शि० स्तो०, स्तो० १, श्लो० १८॥

[5]इत्यादि। [6]भक्तिरेकैव तत्रोपायः,—इत्याह सर्वासु—जाग्रदादिदशासु आरूढेन प्राग्व्याख्यातेन भक्तिमल्लोकेन [7]लोकित—[8]साक्षात्कृत॥ २१॥

---

१. ग० पु० विलसन्—इति पाठः।

२. ख० पु० परमात्मराजहंसश्च—इति पाठः।

३. ख० पु० अतिशय—इति पाठः।

४. ख० पु० पापिनः—इति पाठः।

५. घ० पु० इति—इति पाठः।

६. ख० पु० भक्तिरेव—इति पाठः,
ग० पु० भक्तिरेव केवला—इति च पाठः।

७. ग० पु० लोकितः—इति पाठः।

८. ग० पु० साक्षात्कृतः—इति पाठः।

**जय स्वसम्पत्प्रसर० · · · · · · · ०लालनैकप्रयोजन॥२२॥**

परमानन्दसारे [१]स्वसंपत्प्रसरे पात्रीकृतः—[२]तदास्वादनभाजनतां प्रापितः निजाश्रितः—भक्तजनो येन। लालनं—

'तेषां नित्याभियुक्तानां [३]योगक्षेमं [४]वहाम्यहम्'। भ० गी०, अ० ९, श्लो० २३॥

इति स्थित्या योगक्षेमोद्वहः॥ २२॥

**जय सर्गस्थितिध्वंस० · · · · · · · ०महोत्सव॥२३॥**

सृष्ट्यादिकारणं[५]

'सदा सृष्टिविनोदाय....।' शि० स्तो०, स्तो० २०, श्लो० ९॥

इति न्यायेन एकमेव [६]अवदानम्—उत्तमं चरितं यस्य। भक्तिमदेन—समावेशोद्रेकेण आलोला—स्पृहणीया व्याप्ता च लीला—परिस्पन्दो यस्य, तथाभूतस्य [७]उत्पलस्य—एतन्नाम्नः अस्मत्परमेष्ठिनो [८]महोत्सवः॥ २३॥

**जय जय भाजन जय · · · · · · · जय त्र्यक्ष॥२४॥**

जयभाजनत्वं चिद्रूपत्वेन सर्वोत्तमत्वात्। स्वात्मनः चिद्रूपस्येश्वरस्य वस्तुतः सर्वोत्कर्षवृत्तेरपि स्वातन्त्र्येण विषयव्यग्रतावस्थायां गूहितात्मत्वात् पराङ्मुखस्येव सम्मुखीकरणात्मकप्रार्थनारूपो जयेति लोडर्थ इहाद्वयनय एवोचितः, इत्याशयेनाप्युक्तं जयभाजनेति। द्वयनये तु भेदमयत्वादेवेश्वरो न सर्वोत्कर्षेण वर्तते, ततो जय—इत्याशीर्व्यर्थैव, अथापि वर्तेत किं परकृतया प्रार्थनया। विध्यादिश्च लोडर्थ ईश्वरविषयेऽनुचित एव, इति भेदनये जयेत्युदीरणमनुपपन्नमेव। जितानि जन्मजरामरणानि यमाश्रित्ये-त्यर्थः। जगज्ज्येष्ठत्वमनादित्वात्। भूयो भूयो जय जयेत्युद्घोषण-

१. घ० पु० स्वसंवित्प्रसरे—इति पाठः।
२. घ० पु० तदास्वादभाजनताम्—इति पाठः।
३. क० पु० योगक्षेमौ—इति पाठः।
४. क० पु० ददाम्यहम्—इति पाठः।
५. ख० पु० करणम्—इति पाठः।
६. ग० पु० अपदानम्—इति पाठः।
७. ख० पु० उत्पलस्येति—इति पाठः।
८. घ० पु० महोत्सवरूपः—इति पाठः।

मुद्घोषयितुर्भक्तिरसावेशवैवश्यं सूचयति।*त्र्यक्षेत्यामन्त्रणं निःसामान्योत्कर्ष-शालिताप्रकाशनायेति शिवम्॥ २४॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां जयस्तोत्रनाम्नि चतुर्दशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः॥१४॥

## अथ भक्तिस्तोत्रनाम पञ्चदशं स्तोत्रम्

**त्रिमलक्षालिनो ग्रन्थाः · · · · · · · एव तत्त्वतः॥१॥**

त्रीन्—आणवमायीयकार्ममलान् क्षालयन्ति ये ते ज्ञानक्रियायोगचर्या-[1]पादनरूपाः, ग्रन्थाः—पारमेश्वराः। तथा तत्पारगाः—तेषामाद्यन्तदर्शिनो व्याख्यात्रादयोऽपि सन्ति। सत्यतः पुनस्त्वद्भक्ता एव तत्पारगाः, [2]यतस्त एव तत्त्वतो योगिनः, पण्डिताः स्वस्थाश्च। तत्पारगाः तत्त्वतः इति चावृत्त्या [3]योज्यम्। तत्र

'योगमेकत्वमिच्छन्ति.....।' मा० वि० तं०, अ० ४, श्लो० ४॥

इति

'मय्यावेश्य मनो ये माम्.....।' भ० गी०, अ० १२, श्लो० २॥

इति च स्थित्या योगिनो—[4]नित्यसमावेशस्थाः। प्रशंसायां नित्ययोगे चेनिः। अनेन योगपादरहस्यनिष्ठमेषामुक्तम्। पण्डितत्वं विद्यापादक्रियापाद-सतत्त्वरूढिः। तत्र विद्यापादेन 'ज्ञायतेऽनेन'—इति व्युत्पत्त्या उपायात्मकं [5]नरशक्तिशिवस्वरूपं ज्ञानमेकं, 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्'—इति व्युत्पत्त्या उपेयात्मकं

---

* जयकाराख्येऽस्मिन्महायज्ञे शिवभक्तानुचरदासस्य ममाप्येका क्षुद्राहुतिरस्तु। सा चेयम्—

जय गौरीपते शम्भो भूतनाथ जगद्गुरो।

जय सर्वेश्वर शर्व जय त्र्यक्ष सदाशिव॥

१. ग० पु० पदरूपाः—इति पाठः।

२. ख० पु० ये ते—इति पाठः।

३. ख० पु० योजनम्—इति पाठः।

४. ख० पु० नित्यसमावेशयुक्ताः—इति पाठः।

५. ख० पु० परशक्ति—इति पाठः।

चिदानन्दघनस्वरूप[१]विश्रान्तिसतत्त्वम्—इति च द्वितीयमभिधीयते। क्रियापादेनापि वीर्यसारमन्त्रतन्त्रमुद्रातदितिकर्तव्यताद्युपायरूपा तदुपायक्रमावासस्वात्मविमर्शसारा [२]एव क्रियाभिधीयते। [३]तन्त्रमन्त्राणां समस्तवाच्यवाचकाभेदामर्शसारपरमानन्दघन[४]शब्दराशिसतत्त्वमहंविमर्शसारं परं वीर्यम्। [५]एतदविभिन्नस्फुरतामयी च महासामान्यस्पन्दरूपा प्रतिभात्मा विमर्शशक्तिः सृष्टिसंहारप्रधाना परापरं वीयम्। अपरं तु विश्लेषणादियुक्तिवशस्फुरिततत्तद्ध्येयदेवताकारा भेदप्रतिपत्तिः। मुद्राणां तु तत्संवित्सारतैव हृदयम्। कुण्डमण्डलेतिकर्तव्यतादेरपि परमेशज्ञानक्रियाशक्तिव्याप्तिरेव तत्त्वम्। एवं [६]विद्यापरमार्थसतत्त्वविश्रान्तिरेव पाण्डित्यम्। स्वस्थत्वं तु चर्यापादाभिधेयोक्तम्। करणोन्मीलननिमीलनक्रमेणैव परमेश्वरवत् [७]सन्ततसृष्टिसंहारादिकारि स्वस्वरूपावस्थितत्वम्। एतच्च सर्वं त्वद्भक्तानामेव तत्त्वतोऽस्तीत्यलम्॥ १॥

**मायीयकालनियति० · · · · · · · ०भक्तिमन्तो जगत्तटे॥२॥**

कालादीनां पञ्चानां ग्रसनेन तर्पितत्वं [८]तत्प्रातिपक्ष्येण [९]यद[१०]कालकलितव्यापकनिराकाङ्क्षसर्वकर्तृसर्वज्ञस्वरूपप्राप्तिः। सुखिनः—आनन्दघनास्तृप्ताश्च सुखसञ्चारिणो भवति॥ २॥

**रुदन्तो वा हसन्तो · · · · · · · पृथगेव ते॥३॥**

अमी इति—समावेशशालिनो भक्ताः। रुदन्तो वा हसन्तो वा इति—

१. ख० पु० स्वरूपम्—इति पाठः।
२. घ० पु० च—इति पाठः।
३. ग० पुं० तत्र—इति पाठः।
४. ख० पु० शब्दराशिसमुत्थम्—इति पाठः।
५. ख० पु० एतदभिन्न—इति पाठः।
६. ख० पु० विद्यापाठार्थसतत्त्व—इति च पाठः।
ग० पु० विद्यापाठार्थसतत्त्व—इति च पाठः।
७. ख० पु० सततम्—इति पाठः।
८. ख० पु० त्वत्प्रातिपक्ष्येण—इति पाठः।
९. घ० पु० यदि—इति पाठः।
१०. ग० घ० पु० कालाकलित—इति पाठः।

[1]सर्वावस्थावर्तिनोऽपि, त्वामुच्चैः—उत्कृष्टतया, प्रलपन्ति—स्फुटं विमृशन्ति। अमी एव सत्यतो भक्ताः। स्तुतिपदोच्चार एव उपचारः—सेवाप्रकारः—उपरञ्जनप्रकारो येषां, ते पृथगेव—[2]जनेभ्यो बाह्या एवेत्यर्थः॥ ३॥

**न विरक्तो न · · · · · · · · तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः॥४॥**

विरक्तः—[3]निवृत्तिधर्मा, ईशो वा—[4]विभूतियुक्तः, प्रवृत्तिधर्मा, निजनिजेनौचित्येन त्वदर्चको मोक्षमाकाङ्क्षन्। न तु जीवन्मुक्तः न भवेयं—मा भूवमित्यर्थः। अपि तु उद्रिक्तेन—ऊर्जितेन भक्त्यासवरसेन—समावेशचमत्कृतिप्रकर्षेण उन्मदः—उद्भूतानन्दो भवेयम्॥ ४॥

**बाह्यं हृदय · · · · · · · · भक्तिपीयूषरसपूरैर्नमामि तम्॥५॥**

हृदय एव—प्रकाशपरामर्शात्मनि स्वरूप एव अन्तर्-मध्ये, बाह्यं—विश्वम् अभिहृत्य—समन्तात् स्वीकृत्यैव; न तु किञ्चिदवशेष्य। हे ईश—स्वामिन्! यस्त्वां, भक्तिरेव परमाह्लादविकासहेतुत्वा[5]त्पीयूषरसासारास्तैः, अर्चति, तं भक्तिशालिनं नमामीति पूर्ववत्॥ ५॥

**धर्माधर्मात्मनोरन्तः · · · · · · · · किमप्यास्वादयन्त्यहो॥६॥**

लोके शुभाशुभरूपतया प्रसिद्धत्वेन धर्माधर्मत्वं, न तु भक्तिमद्भिस्तथानुष्ठीयमानत्वात्। अन्तरिति—[6]तन्मध्ये स्थिता अपि, किमपीति—असामान्य-[7]परमानन्दात्मकं रूपम्॥ ६॥

**चराचरपितः · · · · · · · · परमुद्दामभवद्भक्तिविभूषणाः॥७॥**

अप्यन्धा अपि कुष्ठिन इति—लोके अत्यन्तं गर्हिता अपि,-इत्यर्थः॥ ७॥

**शिलोञ्छपिच्छक० · · · · · · · · राजराजमपीशते॥८॥**

---

१. ख० पु० सर्वावस्थावर्त्तिनः—इति पाठः।

२. ख० पु० भक्ताः, जनेभ्यो बाह्या एवेत्यर्थः—इति पाठः।

ग० घ० पु० भक्तजनेभ्यो बा...इति च पाठः।

३. ख० पु० अप्रवृत्तिधर्मा—इति पाठः।

४. ग० पु० विभूतियुक्तः सन्—इति पाठः।

५. ख० ग० पु० पीयूषपूराः—इति पाठः।

६. ग० पु० मध्ये स्थिता अपि—इति पाठः।

७. घ० पु० परमानन्दकरूपम्—इति पाठः।

शिलोञ्छम्—उञ्छितं शिलं, पिच्छं—पक्षः, कशिपुः—[१]भोजनाच्छादने शिलोञ्छपिच्छे एव कशिपुस्तेन विच्छायानि अङ्गानि येषां ते, एवमतिकृशवृत्तयोऽपि यतो भवद्भक्त्या महोष्माणः—अतिदीप्तोर्जितस्वरूपास्ततो राजराजं—वैश्रवणमपि, ईशते—ऐश्वर्येणाभिभवन्तीत्यर्थः॥ ८॥

**सुधार्द्रायां · · · · · · · केचित्त्वामभितः स्थिताः॥९॥**

सुधा—परमानन्दरसः, आर्द्रा—सिक्ता, भक्तिः—समावेशः तत्र, लुठता—सम्यक् [२]तत्पदानाक्रमणात् स्थितिं जहता अपि, आरुरुक्षुणा—अकृतकावष्टम्भं जिघृक्षुणा, चेतसैव—न तु बाह्येन कुसुमादिना, केचिदिति—परमयोगिनः, त्वाम् अभितः स्थिताः—अन्तर्बहिश्च सर्वत्र त्वय्येव विश्रान्ताः॥ ९॥

**रक्षणीयं · · · · · · · भवद्भक्तिमहाधनम्॥१०॥**

रक्षणं—व्युत्थानेनानपहारः। वर्धनं—क्रमात्क्रमम[३]न्तरन्तरनुप्रवेशेन [४]स्फीततापादनम्। बहुमानः—सर्वोत्कृष्टतया आदरः॥ १०॥

**नाथ ते · · · · · · · स्वामिनी सदा॥११॥**

भक्तजनता रागिणी—नायिकेव। ईर्ष्यात्यागः—अवकाशदानम्। तुष्टा—विकसिता। स्वामिनी—पराशक्तिरिति प्रकृते। अप्रकृते तु स्वामिनी—महादेवी॥ ११॥

**भवद्भावः पुरो · · · · · · · हता दध्नि गृध्नुता॥१२॥**

[५]त्वद्भक्तिसम्भवे—त्वत्समावेशे भवद्भावः पुरो भावी त्वद्रूपता समासन्नैव; न तु प्रार्थनीया। यतो महति क्षीरघटे प्राप्ते दध्नि या गृध्नुता—अभिलाषुकता सा हता—व्यर्थैव; दुग्धेनैव [६]दध्नोर्गर्भीकारात्॥ १२॥

---

१. ख० ग० पु० भोजने आच्छादने—इति पाठः।

२. ख० पु० तत्पादानक्रमात्—इति पाठः,
घ० पु० तत्तत्त्वदानाक्रमात्—इति च पाठः।

३. घ० पु० अन्तरमनुप्रवेशे—इति पाठः।

४. ग० पु० स्फीततापादानम्—इति पाठः।

५. ख० पु० भक्तिसंभवे—इति पाठः।

६. घ० पु० दध्नो गर्भीकारात्—इति पाठः।

**किमियं न सिद्धिरतुला ······· सदातनी भवति॥१३॥**

शम्भोर्भक्तिरुपचीयमाना—परां धारां प्राप्यमाणा येयं सदातनी भवति—[1]पराभक्तिरूपतामासादयति। किं नेयमतुला सिद्धिः? अपितु अतुलैव—परैव सिद्धिः[2]। मुख्यं सौख्यं—[3]परमानन्दं वा किं न आ—समन्तात् स्रवति? स्रवत्येवेत्यर्थः॥ १३॥

**मनसि मलिने ······· ०सम्पदुल्लासान्॥१४॥**

मलिने—व्युत्थानकलङ्किते मग्ना—व्युत्थानाच्छादिता त्वद्भक्तिरेव मणिलता—सर्वसिद्धिप्रसूः रत्नशाला, निजान्—सहजान् तानिति—समावेशेन स्फुरितान् अलौकिकान्, सर्वाकांक्षापरिहारिपरमानन्दमयान् [4]न तु मिताणिमादिरूपान्।

"[5]किमियं न सिद्धिरतुला'......। स्तो० १५, श्लो० १३।

इतीदानीमेवोक्तत्वात्॥ १४॥

**भक्तिर्भगवति भवति ······· पूर्णेति चिन्ता मे॥१५॥**

भगवति त्रिलोकस्य नाथे। नन्विति वितर्के। उत्तमा सिद्धिर्निराशंसत्वप्रथनात्। किन्तु—इति विशेषे। अणिमादीनां—स्वरूपप्रतिपत्तिसाराणां प्राक्प्रतिपादितानां विरहात्—अप्रथनात्, न पूर्णा—इति मे चिन्ता। अणिमादिविशिष्टां पूर्णां भक्तिसिद्धिं प्राप्स्यामीत्यर्थः॥ १५॥

**बाह्यतोऽन्तरपि ······· निकटवासिनोऽखिलान्॥१६॥**

उत्कटम्—अतिदीप्तम्। उन्मिषतः—उल्लसतः त्र्यम्बकस्तवकस्य—शिवकुसुमगुच्छस्य संबन्धि सौरभम्—आमोदो येषां योगिनां ते, शुभाः—बहिरन्तश्च पूजनेनाधिवासिताः, विरुद्धवासनान् अनाश्वस्तानपि अखिलान् निकटवासिनो जनान् वासयन्ति—[6]उभयपूजोन्मुखान् सम्पादयन्ति। बाह्ये

---

१. ख० पु० पराशक्तिरूपताम्—इति पाठः।

२. ग० पु० भक्तिः—इति पाठः।

३. ख० पु० परानन्दरम्—इति पाठः।

४. घ० पु० न मिताणिमादिरूपान्—इति पाठः।

५. ग० पु० किमिव—इति पाठः।

६. घ० पु० भवत्पूजोन्मुखान्—इति पाठः।

त्र्यम्बकार्थं स्तवकः, अन्तस्तु त्र्यम्बक एव स्तवकः। एवं सौरभम्— आमोदश्चमत्कारश्च।

अथ च—उत्कटेन त्र्यम्बकस्तवकस्य—[1]धत्तूरकुसुमस्य सौरभेणा[2]धि- वासिताः निकटस्थान् [3]विभिन्नानामोदानपि [4]वासयन्तीति अनुरणनव्य- ङ्ग्योऽर्थः॥ १६॥

**ज्योतिरस्ति कथयापि · · · · · · · · भक्तजनस्त्वाम्॥१७॥**

ज्योतिः—बाह्यान्तःकरणजं ज्ञानं, यत्र नाम्ना किञ्चिन्नास्ति। समस्त- मायीयप्रथायाः संहरणाद्विश्वमपि सकलमतिसुषुप्तम्। अत्र शिवरात्रिपदे— शिवसमावेशभूमौ समस्ताख्यातिप्रथायाः संहरणाद्रात्रिरिव रात्रिस्तस्याः पदे—स्थाने॥ १७॥

**सत्त्वं सत्यगुणे · · · · · · · · त्रैगुण्यवर्गोऽथवा॥१८॥**

सत्याः—पारमार्थिकाः सर्वज्ञत्वादयो गुणा यस्य, तत्र शिवे भगवति यदर्चनं—चिद्विश्रान्ति[5]परमार्थस्वरूपं, तत्र सत्त्वं—प्रकाशः स्फारीभवतु। चूडायां—मध्यशिखायां शिवशक्त्युदिताः रजःप्रसराः—किरणनिकराः स्वस्वरूपोन्मीलकाः [6]विलसन्तु। तमश्च—अख्यात्यात्मा मोहः रागादिस्मृति- हेतुं वासनामपि सम्यगुच्छेत्तुमपुनर्भवाय जृम्भताम्। अथवा त्रैगुण्यवर्गस्त्व- दात्मनि यो विलयः—निःशेषमुपशान्तिस्तत्र भवतात्—त्वय्येव विलीनो भूयादित्यर्थः॥ १८॥

**संसाराध्वा सुदूरः · · · · · · · · महासम्पदो दीर्घदीर्घाः॥१९॥**

सुदूरः—कृच्छ्रप्राप्यपर्यन्तः। भोगा इति उत्तमा इह विवक्षिताः। जातु— कदाचित्। नो—निषेधे। अस्मीति—देहादिप्रमातृतारूपः। यतस्तु शशिधर- चरणाक्रान्त्या—ईश्वरशक्तिपातेन कान्तं—दीप्रं संवित्प्रधानम्, अत एवोत्तमाङ्गं

१. ख० पु० धातूरकस्य—इति पाठः।

२. ख० पु० अधिवासितान्—इति पाठः।

३. विभिन्नामोदान्—इति ग० पु० पाठः।

४. ग० पु० वाटान् वासयन्ति—इति पाठः।

५. ख० पु० चिद्विश्रांतिपरमार्थम्—इति पाठः।

६. ग० पु० विकसन्तु—इति पाठः।

स्वरूपं यस्य। त्वद्भक्तश्चेति—तथाभूतोऽपि त्वामेव सेवमानः। तस्मान्मे दीर्घ- दीर्घाः—शाश्वतीर्महासम्पदः—प्राग्वदद्वयमयीः कुर्विति शिवम्॥ १९॥

इतिश्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां भक्तिस्तोत्रनाम्नि पञ्चदशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥१५॥

## अथ पाशानुद्भेदनाम षोडशं स्तोत्रम्

न किञ्चिदेव · · · · · · · भवदावरणं प्रति॥१॥

भवदावरणं प्रति—चिन्मयत्वत्स्वरूपावरणाय लोकानां—संसारिणां न किञ्चिदेव? काक्वा—[१]अपितु विश्वमेवापर्यन्तसमस्तशक्तिचक्रव्यामोहितत्वात्। भक्तानां तु न किञ्चिदेव—नैव किञ्चिदित्यर्थः,—शिवतत्त्वपर्यन्तस्याशेषस्य स्वाङ्गकल्पतया प्रमेयीकृतत्वात्॥ १॥

अप्युपायक्रमप्राप्यः · · · · · · · सकृच्छुद्धोऽवभासते॥२॥

उपायक्रमः—तत्तच्छास्त्रोक्तज्ञानक्रियायोगचर्यादिः। विशेषणैः—सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वसर्व[२]शक्तिमयत्वादिभिरसंख्यैः। यथोक्तमपि

[३]'सर्वसिद्धिवाचः क्षयेरन्'

इत्यादि च। [४]तथाभूतो भवानात्मा भक्तिभाजां सकृत्—सन्ततं शुद्धः— चिदेकपरमार्थः अवभासते—समावेशेन स्फुरति। यश्च क्रमप्राप्यः सङ्कुलश्च स कथं सकृच्छुद्धश्च भातीति [५]विरोधाभासः॥ २॥

जयन्तोऽपि हसन्त्येते · · · · · · · केऽप्येव ये प्रभो॥३॥

जयन्तः—इति, [६]भेदाधस्पदीकरणेन समाविशन्तः, हसन्ति—विकसन्ति।

१. ख० ग० पु० अपितु सर्वमेव भेदेन विश्वमेवापर्यन्तसमस्तशक्तिचक्रव्यवहितत्वादिति पाठः।

२. ख० पु० सर्वशक्तिमयादिभिः—इति पाठः।

३. घ० पु० सर्गसिद्धिवाचः क्षयेरन् दीर्घकालमुद्गीर्णा—इति पाठः।

४. ग० पु० तथाभूतानां भक्तिभाजाम्—इति पाठः।

५. ख० पु० विरोधच्छाया—इति पाठः।

६. ग० पु० भेदानास्पदीकरणेन—इति पाठः।

जिता अपीति—व्युत्थानेनाकृष्यमाणा अपि समावेशसंस्काराद्बहिश्च विकसन्ति—लौकिकजयपराजययोर्हसन्त्येव। मत्ताः—[1]हृष्टाः। अथ च ये मत्ताः क्षीवास्ते जयपराजययोर्हासवन्तो[2] भवन्ति। केऽपीति—अलौकिकाः॥ ३॥

शुष्ककं मैव · · · · · · · ०परकाष्ठामत्वद्भक्तिरसनिर्भरः॥४॥

शुष्कमेव शुष्ककं क्रियाविशेषणम्। शुष्ककं—समावेशभक्तिरसरहितं कृत्वा। तादृशौ भोगमोक्षौ भेदवादिनां, स्वादिष्ठो-निरतिशयचमत्कारो [3]धारा-धिरूढश्च यस्त्वत्समावेशरसः तेन निर्भरं—पूर्णं कृत्वा। अत एव शुष्कतानिवृत्तिः॥ ४॥

यथैवाज्ञातपूर्वोऽयं · · · · · · · · एव परिपुष्यतु॥५॥

अज्ञातपूर्व इति—जन्मकोटिमध्येऽप्यविदितः। अयमिति—[4]स्फुरद्रूपः। भक्तिरसः—समावेशप्रसरः। ईशान—स्वतन्त्र। तद्वदिति—[5]झटित्यज्ञातपूर्वः। यथैवेति—यं प्रकारं त्वमेव जानासीत्यर्थः॥ ५॥

सत्येन भगवन्नान्यः · · · · · · · · ०वेशोऽस्तु मे सदा॥६॥

अतिप्रणय[6]परिचयादियमुक्तिः। अन्य इति—भक्तिप्रार्थनातो व्यतिरिक्तः। स तथा कोऽपीति—वाग्विकल्पातीतः। भक्त्यावेशः—[7]समावेशवैवश्यम्॥ ६॥

भक्तिक्षीवोऽपि · · · · · · · · रटेयं च शिवेत्यलम्॥७॥

भवाय—संसाराय, कुप्येयं—ग्राम्यत्वेन संसारमवलोकयेयमित्यर्थः। अनुशयीयेति—कथमियन्तं कालं व्यामूढ आसमिति पश्चात्तापमनुभवेयम्। हसेयं—प्रमोदेन विकसेयम्। रुद्यां—आनन्दाश्रुप्लुतः स्याम्। रटेयमिति—

---

१. ख० पु० हृष्टा एव—इति पाठः।

२. ख० पु० हसन्तो भवन्ति—इति पाठः।

३. ख० पु० जगदानन्दाधिरूढश्चेति पाठः।

४. ग० घ० पु० स्फुटरूप इति पाठः।

५. ख० पु० झगित्यज्ञातपूर्व इति पाठः।

६. ख० पु० परिचर्यात्—इति पाठः।

७. ख० पु० समावेशकैवल्यम्—इति पाठः।

शिवशिवेति शब्दमुखरः स्याम्। [१]क्षीवस्यैवमेव नानावृत्त्युदयो [२]भवति॥ ७॥

**विषमस्थोऽपि · · · · · · · · भवेयं भक्तितः प्रभो॥८॥**

विषमस्थोऽपि—दौर्गत्योपहतोऽपि, भक्तितः स्वानन्दविश्रान्तः; विषमस्थः—सूचीपुञ्जोपविष्ट इव लौकिकं सुखं दुःखरूपेण पश्यन्। तथा बान्धवमरणाद्यवस्थायां रुदन्नपि अन्तश्चिद्विकासलाभात् [३]प्रहृष्यन्; तथा सांसारिकप्रमोदेषु तथा हसन्नपि रुदन्—शोचनीयतां [४]मन्यमानः। तथा लौकिकव्यवहारे गंभीरोऽपि—परैरनालक्ष्योऽपि विचित्तः—तां दशामुत्पातमिव मन्वानस्तथा विचित्तोऽपि—क्वचन सन्निपाताद्यवसरे [५]नष्टस्मृतिरपि गम्भीरः—परैरनालोचितोऽप्यन्तर्दशाव्याप्तिप्रमोदनिर्भरः स्याम्॥ ८॥

**भक्तानां नास्ति · · · · · · · · स्थितः स्वयम्॥९॥**

संवेद्यं—संसारलीलादि। चिद्धर्मा—चित्स्वभावः। स्वयमिति—साक्षात्स्फुरन्, [६]नाशाधिष्ठानेन॥ ९॥

**भक्ता निन्दानुकारेऽपि · · · · · · · · ०रोमाञ्चसूचिभिः॥१०॥**

तव निन्दानुकारेऽपि—उपहतजन्तूपक्लृप्तामप्रशंसामनुकुर्वन्तो [७]भक्ता [८]हृष्यन्त्येव—स्फुरत्तात्त्विकस्वरूपाः परमानन्दव्याप्तिं लभन्त एव। अत एव पाशनिर्भेदिनीभिस्तीक्ष्णाभी रोमांचसूचिभिः, आ—समन्ताद्विद्धाः॥ १०॥

**दुःखापि वेदना · · · · · · · · संवित्त्वच्चन्द्रिकामयी॥११॥**

वेदना—संवित्, दुःखापि—दुःखकारिण्यपि, भोगायेति—दुःखस्य चमत्कार्यत्वाच्चमत्कर्तृतासारानन्दघनप्रमातृपदवित्तये। तत एवाह—सर्वैव संवित्-चितिशक्तिः येषां सुधार्द्रा परमानन्दघनत्वाच्चन्द्रिकामयी

१. घ० पु० क्षीवस्यैव मे—इति पाठः।

२. घ० पु० भवतु—इति पाठः।

३. ख० पु० प्रहसन्—इति पाठः।

४. घ० पु० मन्वानः—इति पाठः।

५. ख० पु० नष्टमतिरपि—इति पाठः।

६. ख० पु० नान्याधिष्ठानेन—इति पाठः।

७. ख० पु० भक्त्या—इति पाठः।

८. ग० पु० प्रहृष्यन्त्येव—इति पाठः।

पराशक्तिरूपा॥ ११॥

**यत्र तत्रोपरुद्धानां ········ ०रसास्वादसुखं समम्॥१२॥**

सुखदुःखतद्धेत्वादिरूपे उपरुद्धानाम्—अवस्थितानां भक्तानां निर्व्याजम्—अन्तर्विचित्रवासनाकालुष्यशून्यं त्वद्वपुषः—चिन्मयत्वत्स्वरूपस्य संबन्धि, यत्स्पर्शरसास्वादसुखं तत्समं—सर्वतुल्यम्। उक्तं च

.........समबुद्धिर्विशिष्यते॥ भ० गी०, अ० ६, श्लो० ९॥

इति॥ १२॥

**तवेश भक्तेरर्चायां ········ वपुरच्छं सुधामयम्॥१३॥**

तवार्चायां—प्राग्व्याख्यातायां या भक्तिः—सेवा, तस्याः द्वयसंश्रयं—[1]भेदसंबद्धं दैन्यांशं—दीनतालेशमपि विलुप्य—छित्वा, एके—केचिदेव भेद- विगलनाद् अच्छं—निर्मलं, [2]अत एव सुधामयम्—आनन्दरससारं वपुः—स्वरूपम् आस्वादयन्ति—चमत्कुर्वन्ति। दैन्यांशम्-इत्यत्रायमाशयः द्वैतभक्तेरद्वैतभक्तेश्च शिवप्राप्तिर्भवत्येव किन्त्वद्वैतभक्तिः सद्यः समावेशमयी द्वैतभक्ति- स्त्वतथात्वाच्छिवताकाङ्क्षामयी॥ १३॥

**भ्रान्तास्तीर्थदृशो ········ त्वं तु राजसे॥१४॥**

तीर्थदृशः—शास्त्रदृष्टयो यतो भ्रान्तास्ततो भिन्नाः, यस्माद्भिन्नता नाम भ्रान्तेः—ऐक्याख्यातेर्हेतुर्भवति न तु वस्तुतः। भक्तानां तु त्वमेकम्—अद्वितीयं वस्तुतत्त्वं निष्प्रतिद्वन्द्वित्वाच्चिद्घनं राजसे—दीप्यसे॥ १४॥

**मानावमानरागादि० ········ कथं भवेत्॥१५॥**

यस्य भक्तिमतो मानावमानयोः रागादीनां च यो निष्पाकः—निःशेषेण पचनं दग्धबीजकल्पतापादनं, तेन हेतुना मनः—स्वान्तं विमलम्—अकलङ्कम्॥ १५॥

**रागद्वेषान्धकारोऽपि ········ कतमे ज्ञानशालिनः॥१६॥**

महीयसामिति—[3]ईयसुनोऽयमाशयः;—समव्याप्तिकत्वं ज्ञानिनां भक्तानां

---

१. ख० पु० भेदसंश्रयम्—इति पाठः।

२. घ० पु० तद्वदेव—इति पाठः।

३. क० पु० ईयसुनः प्रत्ययस्य—इति पाठः।

च। तत्र भक्तानां [1]तु रागद्वेषान्धकारस्य जयाद्विशेषः॥ १६॥

**यस्य भक्तिसुधास्नान० ········ सुखासिका॥१७॥**

भक्तिरेव सुधा—अमृतं, सा यस्य स्नानपानादिविधेः—शुद्धितृप्त्यादिफलस्य व्यापारग्रामस्य साधनम्। तस्य [2]प्रारब्धमध्यान्तदशासु—आदौ, मध्ये अन्ते च अर्थात् सर्वव्यापाराणामुच्चैः सुखासिका—परमानन्दविश्रान्तित्वम्॥ १७॥

**कीर्त्यश्चिन्तापदं मृग्यः ········ भवन्मयी॥१८॥**

येनेति हेतौ। तदिति—तस्मात्, लोकयात्रा च [3]कीर्तनादिमय्येव॥ १८॥

**मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया ········ वयं ततः॥१९॥**

विपक्वायाः—[4]परिपूर्णायाः। आद्यदशारूढेति—उत्तरोत्तरप्रकर्षसाधनायोद्युक्ता अपि प्रथमभूमिकायां लब्धस्थितयः। मुक्तकल्पा इति—मनाङ्मात्रेणासम्पूर्णमुक्तयो न तु मुक्ताः॥ १९॥

**दुःखागमोऽपि भूयान्मे ········ सौख्यपरम्परा॥२०॥**

त्वत्पराची—त्वत्पराङ्मुखी॥ २०॥

**त्वं भक्त्या ········ त्वमेव तत्॥२१॥**

यावन्न परमेश्वरः प्रीयते न तावद्भक्तिः, यावच्च न समावेशमयी भक्तिः न तावत्परमेश्वरः प्रीयते, भक्तिमतश्चि[5]दानन्दमयं वपुः प्रकटयति। तदेतदन्योन्याश्रयं यथा—येन प्रकारेण युक्तं भवति तथा त्वमेव अतिदुर्घटकारिणः स्वातन्त्र्यादुभयं घटयसि न त्वत्र [6]पुरुषाणां युक्तयः प्रभवन्ति॥ २१॥

**साकारो वा ········ सर्वथासि सुधामयः॥२२॥**

भक्त्या मत्तः—प्रहृष्ट आत्मा येषां तेषां सर्वत्र त्वं सुधामयः। ते हि

---

१. ग० पु० च—इति पाठः।

२. ख० पु० प्रारब्धि—इति पाठः।

३. ख० पु० कीर्तनामय्येव—इति पाठः।

४. ग० पु० परं परिपूर्णायाः—इति पाठः।

५. ख० पु० चिदानन्दघनम्—इति पाठः।

६. घ० पु० पुरुषयुक्तयः—इति पाठः।

[1]सर्वमात्मत्वेन पश्यन्ति॥ २२॥

**अस्मिन्नेव · · · · · · · जगत्स्थितम्॥२३॥**

[2]सर्वजनतातिघोरे आपातमात्रे यद्यपि भक्तिमतां लोकवदेव जगद्भाति तथापि मृग्यमानमेतदेषां प्रकाशानन्दघनमेव॥ २३॥

**गुह्ये भक्तिः पर · · · · · · · किमप्यहो॥२४॥**

गुह्ये–रहस्यरूपे, परे–पूर्णे, असाधारणनामोदीरणं निरतिशयताख्यापनाय। किमपीति–असामान्यं वस्तु॥ २४॥

**भक्तिर्भक्तिः · · · · · · · भक्तिर्मेऽस्तु परं त्वयि॥२५॥**

[3]वीप्सा समावेशवैवश्यं प्रथयति। परं तीव्रा–[4]धाराधिरूढा। समुत्कटा–अभ्यासाद्यनपेक्षं प्रदीप्ताग्निज्वालावज्झटित्युल्लसन्ती। युक्तं चैतत्॥ २५॥

**यतोऽसि सर्वशोभानां · · · · · · · यदि वा तृणम्॥२६॥**

असि त्वं यतः सर्वासां शोभानां [5]दीप्तीनां च प्रसवभूः अतो लोकापेक्षया [6]यद्रत्नमस्ति–[7]जात्युत्कृष्टं, तृणं वेति–अनुपादेयं वा, तत्त्वयि चेल्लग्नं– समावेशेन सम्बद्धं तदनर्घमेव भवति॥ २६॥

**आवेदकादा · · · · · · · जयन्ति भवज्जुषः॥२७॥**

संवेदनाध्वनि–संविन्मार्गे, वेद्यवेदकक्षोभेऽपि येषां त्वया न वियोगः, ते भवन्तं प्रीत्या सेवमाना जयन्ति॥ २७॥

**संसारसदसो · · · · · · · ताम्यद्भिस्त्यक्तयन्त्रणैः॥२८॥**

संसारसदसो बाह्ये–संसारसभामुल्लंघ्य नियत एव पदे। कैश्चिदिति–द्वादशान्तादिपदस्थैः निमीलनसमाधिपरैर्योगिभिः, परिरभ्यसे–समालिङ्ग्यसे।

---

१. ख० पु० सर्वात्मत्वेन–इति पाठः।

२. घ० पु० सर्वजनातिघोरे तेन–इति पाठः।

३. क० पु० वीप्सायामावेशवैवश्यं–इति पाठः।

४. ग० पु० धारारूढा–इति पाठः।

५. ख० पु० दीप्तानाम्–इति पाठः।

६. घ० पु० यद्रत्नमिति–इति पाठः।

७. क० पु० जात्युत्कर्षणम्–इति पाठः।

परैः—अनुभवतो युक्तितत्त्वज्ञतयोन्मीलनसमाधानविदग्धैः, पुनस्तत्रैव—संसारसभामध्ये एव। त्यक्तयन्त्रणैः—परिहृतध्यानोच्चारकरणाद्यायासैः। ताम्यद्भिः—गाढानुरागविवशैः; गाढानुरागिणां हीदृश्येव स्थितिः॥ २८॥

**पानाशनप्रसाधन० · · · · · · · दृढमुपगूढं शिवं वन्दे॥२९॥**

शिवया दृढमुपगूढं—परशक्त्या दृढमाश्लिष्टं, शिवं—चिद्भैरवं, वन्दे—नौमि[1] समाविशामीति यावत्। कीदृश्या? पानाशयप्रसाधनसम्भुक्तसमस्तविश्वया—पानेन—रक्षणेन स्थित्या, अशनेन—[2]कवलीकरणात्मना संहारेण, प्रसाधनेन—प्रकर्षेण [3]सिद्धिसंपादिना सर्गेण च, सम्यक् भुक्तं—पालितमभ्यवहृतं च, तथा समस्तं सम्यक् क्षिप्तं विश्वं यया तुर्यरूपया श्रेयः स्वभावया शिवया। अत एव प्रलयोत्सवेन—[4]सृष्टिस्थितिसंहारिणामपि—संहरणात्मनाभ्युदयेन सरभसया—सातिशयं [5]स्फुरन्त्या। तथा पानेन—साराहरणेन, अशनेन—अवशिष्टशि[6]ल्कप्रायवस्तुभक्षणेन, प्रसाधेनन—एतदवशिष्टसंस्कारसंहरणात्मना चित्प्रमातृतोत्सेकमयेन संभुक्तं—कवलितं समस्तं संस्कारशेषमपि विश्वं यया, अत एव विश्वस्य प्रलयोत्सवे सरभसया। बाह्यक्रमेणापि,—[7]रक्तादेः पानेन, मांसादेरशनेन, अस्थ्यादेः प्रसाधनेन—भूषणताकरणेन, सम्भुक्तं—[8]स्वोपभोग- पात्रीकृतं सम्यगस्तं चात्मन्येव क्षिप्तं—समस्तं च षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं विश्वं यया। प्रलयोत्सवे—कल्पितसंहर्तृपदप्रलीनताकरणक्रीडायां सरभसया—प्रोद्युक्तया। अनुरणनशक्त्यापि पानचर्वणमण्डनैः सम्भुक्तं—सम्भोग्यतां नीतं समस्तं विभवरूपं विश्वं यया सुन्दर्या सा प्रकर्षेण लयोत्सवे—उभयानन्दसमापत्त्यात्मनि सरभसया सती शक्तिमन्तमाश्लिष्यन्ती भवति॥ २९॥

---

१. ग० पु० स्तौमि—इति पाठः।

२. ख० पु० कवलीकारात्मना—इति पाठः।

३. ख० पु० सिद्धिसंपदादिना—इति पाठः।

४. ग० पु० सृष्टिस्थितिसंहाराणामपि—इति पाठः।

५. घ० पु० स्फारयन्त्या—इति पाठः।

६. ग० घ० पु० शल्कप्राय—इति पाठः।

७. ख० पु० तक्रादेः—इति पाठः।

८. घ० पु० स्वोपयोगपात्रीकृतम्—इति पाठः।

**परमेश्वरता जयत्यपूर्वा · · · · · · · · न भाति॥३०॥**

हे विश्वेश! तव अपूर्वा—परमा—प्रकृष्टा परमशिवरूपा ईश्वरता जयति। यद्—यस्मादियमीशितव्येन—भिन्नेन ईशनीयेन वस्तुना शून्या स्वात्मसात्कृताशेषविश्वत्वात्। अपरापि परमशिवापेक्षया स्थूलापि सदाशिवेश्वररूपा तव संबन्धिनीश्वरता तथैवेति—अपूर्वा जयति—इत्यर्थः, ययेदं जगद्यथेति—नील-सुखादिदेहादिभेदेन आभाति, तथा—तेनैव प्रकारेण भासमानं सत् अहन्ताप्रकाशसमरसीभूतत्वात्—

'एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः॥'

इति स्थित्या न भाति—प्रकाश एव भगवान् सदाशिवादिरूपो भातीत्यर्थः॥ ३०॥ इति शिवम्॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां पाशानुद्भेदनाम्नि षोडशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥१६॥

## अथ दिव्यक्रीडाबहुमाननाम सप्तदशं स्तोत्रम्

**अहो कोऽपि जयत्येष · · · · · · · · ददत्यलम्॥१॥**

एष इति—अनुभवसाक्षिकः। स्वादुः—आनन्दमयः। [1]कोऽपीति—समावेशात्मा [2]पूजामहोत्सवो जयति। यतः—पूजामहोत्सवात्, अस्रूणि—बाष्पा अपि अमृतास्वादमलं ददति—आनन्दप्रभवाच्चमत्कारमेव पुष्णन्ति॥ १॥

**व्यापाराः सिद्धिदाः · · · · · · · · स्वयं सिद्धय एव ते॥२॥**

ये त्वत्पूजोपक्रमव्यापारास्ते तावत्सिद्धिदाः। भक्तानां तु [3]साक्षात् त एव सिद्धयः—त्वन्मयत्वेन प्रकाशमानत्वात्॥ २॥

**सर्वदा सर्वभावेषु · · · · · · · · ममैतेऽधिदेवताः॥३॥**

---

१. घ० पु० कोऽपि—इति पाठः।

२. ख० पु० पूजोत्सवो—इति पाठः।

३. ख० पु० साक्षादेव सिद्धयः—इति पाठः।

युगपत्सर्वरूपिणम्—अक्रमक्रोडीकृताशेषनिर्भरं त्वां सर्वकालं सर्वत्र, ये अविश्रान्तं कृत्वा [1]अर्चयन्ति ते मम [2]अधिष्ठातृदेवतारूपाः॥ ३॥

**ध्यानायासतिरस्कार० ' ' ' ' ' ' ' ' स सदास्तु मे॥४॥**

ध्यानमुच्चारकरणादीनप्युपलक्षयति। तेन उच्चाकरणध्यानाद्यायासस्य तिरस्कारेण—अपहस्तनेन यस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः सिद्धः—[3]प्रयत्नसम्पन्नः, स एव भक्तानां पूजाविधिरिति ख्यातः। यथोक्तं—

'निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः॥' वि० भै०, श्लो० १४७॥

[4]इत्येवम्। स एव पूजाविधिर्मम सदास्तु॥ ४॥

**भक्तानां समतासार० ' ' ' ' ' ' ' ' ०रसेन्नैषां सदार्चनम्॥५॥**

विषुवति पूजा कर्त्तव्यत्वेनाम्नाता, स च विषुवत्समयः शिवैक्य-प्रथात्मसमतासारो भक्तानां सदैवास्ति, तथा त्वद्भावनारस एव पीयूषरसः, तेन सदैषामर्चनमस्ति॥ ५॥

**यस्यानारम्भपर्यन्तौ ' ' ' ' ' ' ' ' कर्तारस्त्वज्जुषः परम्॥६॥**

न च कालक्रम इति—मध्येऽपि क्रमवत्ता नास्ति। असौ समावेशवि-श्रान्त्यात्मा क्रिया। तस्याश्च त्वज्जुषः त्वत्समावेशतत्त्वज्ञा एव परं कर्तारो नान्ये॥ ६॥

**ब्रह्मादीनामपीशास्ते ' ' ' ' ' ' ' स्थितस्त्वत्पूजनोत्सवः॥७॥**

निःसामान्यमहेश्वरसमावेशशालित्वात् ब्रह्मादीनामपीश्वरास्ते—इति वस्त्वेवैतत् न त्वर्थवादः। सौभाग्यभागिन इति—आनन्दरसनिर्भरत्वात् सर्वस्पृहणीयाः। स्वप्नेऽपि मोहेऽपीति—न केवलं जाग्रति यावत्स्वप्नसुषुप्तयो-रिति स्वरसोदितस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः—त्वत्समावेशाभ्युदयः॥ ७॥

**जपतां जुह्वतां ' ' ' ' ' ' ' यावद्यदा तदा॥८॥**

जपध्यानादिपदे तावदीश्वरपूजापरा भवन्ति। भक्ता पुनः सदैव

---

१. क० ख० पु० अर्चन्ति—इति पाठः।

२. ग० पु० अधिष्ठातृदेवरूपाः—इति पाठः।

३. ख० पु० अप्रयत्नसम्पन्नः—इति पाठः।

ग० पु० प्रयत्नसिद्धः—इति च पाठः।

४. घ० पु० इत्येव—इति पाठः।

[1]त्वत्पूजनोत्सवाविष्टाः॥ ८॥

**भवत्पूजासुधास्वाद० · · · · · · · · ०नामस्ति कः समः॥९॥**

भवत्पूजैव सुधास्वादसंभोगस्तेन यः सुखी भक्तिमान्, तस्य ब्रह्मादीनां मध्यात् कः समः? न कश्चित्। अत्र युक्तिरुक्तैव॥ ९॥

**जगत्क्षोभैकजनके · · · · · · · · एव विदन्ति तत्॥१०॥**

जगतः—षट्त्रिंशत्तत्त्वमयस्य स्थूलसूक्ष्मादेर्देहस्य तद्द्वारेण च विश्वस्य, क्षोभं—विगलत्स्वरूपतया [2]वैवश्यमेको जनयति यो भवत्पूजामहोत्सवः, तत्र यत्किंचित्परमानन्दात्मकं पूर्णं स्वं स्वरूपं प्रापणार्हं प्राप्यते तद्भक्ता एव विदन्ति॥ १०॥

**त्वद्धाम्नि चिन्मये · · · · · · · · त्वां सदा विभो॥११॥**

धाम—तेजः। [3]षट्त्रिंशत्तत्त्वानां कर्माणि कायवाक्चित्तचेष्टाख्यानि, तैः—इत्थं प्रत्यभिज्ञातव्याप्तिकैरहं प्रभो [4]त्वां सदा अर्चये। देहादि षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं कठिनत्वद्रवत्व[5]प्रकाशमानत्वादागमेषु [6]बहु प्रतिपादितम्। तथा च त्रिशिरःशास्त्रे—

'सर्वदेवमयः कायः.......।'

इत्युपक्रम्य

'पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्।'

इत्यादि

'त्रिशिरो भैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः॥'

इत्यन्तमुपदिष्टम्॥ ११॥

---

१. घ० पु० त्वत्पूजोत्सवाविष्टाः—इति पाठः।

२. ख० पु० वैवश्यमेव—इति पाठः।

३. क० पु० षट्त्रिंशत्तत्त्वप्रायाणि—इति पाठः।

४. घ० पु० त्वामर्चये—इति पाठः।

५. ख० पु० प्रकाशमानत्वावगमात्—इति पाठः।

६. ग० पु० बहुषु—इति पाठः।

**भवत्पूजामयासङ्ग० · · · · · · · ०ऽपीयदर्थये॥१२॥**

भवत्पूजामयो य आसङ्गःतेन तत्परत्वेन यःसम्भोगस्तेन सुखिनः—निर्वृतस्य मे सकलः—निरवशेषः अनन्तः—निरवधिः कालः प्रयात्विति इयदर्थये न त्वन्यत्॥ १२॥

**भवत्पूजामृतरसा० · · · · · · · च फलतां मम॥१३॥**

यावद्यावद्भवत्पूजामृतरससंभोगो मया प्राप्यते तावत्तावदधिकमधिकं तत्र [1]स्पृहयालुता मे [2]विवर्धतां, तदुत्कर्षसमासादनफलेन च सदा फलतु॥ १३॥

**जगद्विलयसञ्जात० · · · · · · · ०मर्चन्नासीय सर्वदा॥१४॥**

जगतः—विश्वस्य विलयेन—संहारेण जातो यः सुधामय [3]एको रसः, तेन निर्भरे—परिपूर्णे त्वत्समुद्रे त्वामेव महात्मानं—विश्वव्यापकं सदा अर्चन् अहमासीय—स्थेयाम्॥ १४॥

**अशेषवासनाग्रन्थि० · · · · · · · ०पूजाविधौ तव॥१५॥**

तव पूजाविधौ भक्तैः, स्वादु—चमत्कारसारं सदा मनो निवेद्यते—त्वय्येवार्प्यते। कीदृक्? अशेषा ये वासनात्मानो ग्रन्थयो—बन्धास्तेषां विच्छेदेन—विदलनेन सरलं—स्पष्टं; त्यक्तकुसृतिकौटिल्यम्॥ १५॥

**अधिष्ठायैव · · · · · · · त्वत्पूजार्थममृतासवम्॥१६॥**

इमाः करणवृत्तयोऽपि—चक्षुरादिदेव्यः, विषयान्—रूपादीन् अधिष्ठायैव—आक्रम्यैव, सृष्टिरक्षादिदेवतोदयक्रमेण भक्तानां त्वत्पूजार्थमन्तर् अमृतासवं प्रेषयन्ति॥ १६॥

**भक्तानां भक्तिसंवेग० · · · · · · · ०मृतमज्जनात्॥१७॥**

भक्तिसंवेगमहोष्मा—भक्त्युद्रिक्ततेजस्तेन विवशात्मनां—प्रज्वलितात्मनां त्वत्पूजामृतमज्जनादन्यो निर्वाणहेतुर्न कश्चित्॥ १७॥

**सततं त्वत्पदाभ्यर्चा० · · · · · · · ०नाथ कल्पताम्॥१८॥**

---

१. ख० पु० स्पृहणीयालुतामेव—इति पाठः।

२. ग० पु० वर्धताम्—इति पाठः।

३. ख० पु० एव रसः—इति पाठः।

[1]त्वत्पदाभ्यर्चा–प्राग्वत्, सैव[2] आनन्दव्याप्तिप्रदत्वात् सुधापान-महोत्सवः। कीदृक्? त्वत्प्रसादस्य–[3]चिदानन्दात्मकत्वत्स्वरूपनैर्मल्यस्य एकः संप्राप्तिहेतुर्य[4] स मे [5]सततं कल्पताम्–घटताम्॥ १८॥

**अनुभूयासमीशान · · · · · · · ०स्वादमहामुदम्॥१९॥**

प्रतिकर्म–[6]प्रतिव्यापारम्। क्षणात्क्षणं–भूयो भूयः। भवत्पूजामृता-पानस्य सम्बन्धी मदप्रधानः–[7]हर्षबहलः, आस्वादस्तदुत्थां महामुदं–परमानन्दमनुभूयासम्। आमुखे मदः, पर्यन्ते महती मुत् पूजास्वादस्य च॥ १९॥

**दृष्टार्थ एव · · · · · · · सुखमास्वादयन्ति ते॥२०॥**

प्राप्तव्यस्य प्राप्तत्वान्नैषामाकाङ्क्षा क्वचिदस्ति यतस्ततो भक्तानां दृष्टार्थ एव त्वत्पूजायां महानुद्यमः। तथाहि तदैव–पूजासमय एव, असंभाव्यं सुखं–परमानन्दं ते–भक्ता आस्वादयन्ति॥ २०॥

**यावन्न लब्धस्त्वत्पूजा० · · · · · · · सुखसम्पदः॥२१॥**

लवोऽपीत्यत्रेदमाकूतं–[8]लौकिकानि सुखानि असुखान्येव कृत्रिम-त्वात्, [9]यस्त्वकृत्रिमः समावेशानन्दः सैव पारमार्थिकी सुखसम्पत्॥ २१॥

**भक्तानां विषयान्वेषा० · · · · · · · पूजासु जायते॥२२॥**

पूजासु–समावेशकालेषु[10] ध्यानादियत्नं विना सिद्धं प्रस्फुरन्ती [11]त्वद्धाम्नि स्थितिः, [12]सेति–लोकोत्तरा भक्तानां जायते। कथं? विषयाणां–

१. ख० पु० त्वत्पदार्चा–इति पाठः।
२. ख० पु० सदैव–इति पाठः।
३. ग० पु० चिदानन्दात्मकत्वात्–इति पाठः।
४. ख० पु० यस्य–इति पाठः।
५. क० पु० सन्ततम्–इति पाठः।
६. ग० पु० प्रतिव्यापारे–इति पाठः।
७. ख० पु० हर्षप्रबलः–इति पाठः।
८. घ० पु० लौकिकसुखानि–इति पाठः।
९. घ० पु० यतस्त्वकृत्रिमः–इति पाठः।
१०. ख० पु० कलासु–इति पाठः।
११. ग० पु० त्वद्धामनि–इति पाठः।
१२. क० पु० सैव–इति पाठः।

कुसुमधू-पविलेपनादीनाम् अन्वेषाभासः—मार्गणप्रतीतिः, स एवायासः, तं विनैव—तद्विरहेणेत्यर्थः।। २२।।

**न प्राप्यमस्ति · · · · · · · भवत्पूजामदोन्मदाः।।२३।।**

पूर्णशिवात्मकस्वस्वरूपलाभाद्भक्तानां प्रापणीयं दुर्लभं वा न किंचिदस्ति। [1]भक्ताः सेवाक्षीवाश्च केवलमप्रयोजनमेव विचरन्ति।। २३।।

**अहो भक्तिभरोदारचेतसां · · · · · · याञ्चाकलंकितः।।२४।।**

उदारचेतस्त्वं तत्त्वत एषामेव, ये वरदमपि त्वां न किंचन याचन्ते। कोऽपीति—अलौकिकः।। २४।।

**का न शोभा · · · · · · · महादेवो यदर्च्यते।।२५।।**

कोऽपीति चिदात्मा महेश्वरो यदर्च्यते, सा शोभा—दीप्तिः का न—सर्वैवेत्यर्थः। एवमन्यत्। को वा न मोक्ष इति—साङ्ख्यवैष्णवशाक्तनाकुल-पाशुपतादिमोक्षातिशायिनः परमानन्दसारस्य विश्वपरिपूर्णतामयस्य मोक्षस्य लाभात्।। २५।।

**अन्तरुल्लसदच्छाच्छ० · · · · · · · शरीरमिदमस्तु मे।।२६।।**

अन्तः—संवित्पदे उल्लसता अच्छाच्छेन—विश्वप्रतिबिम्बक्षमेण भक्ति-पीयूषेण—समावेशामृतेन पोषितं—[2]पारदेन ताम्रमिव कालिकाक्षपणेन देदीप्यमानं कल्याणमयीकृतमिदं मम शरीरं भवत्पूजोपयोगायास्तु—समावेश-रसविद्ध[3]मपि त्वय्येव चिदानन्दघनेऽनु[4]प्रविश्य विलीयताम्।। २६।।

**त्वत्पादपूजासम्भोग० · · · · · · · स्वच्छन्दचेष्टितः।।२७।।**

जगतां—कालाग्न्यादिसदाशिवान्तानाम् ईशः—स्वामी। स्वतंत्रोऽत्वत्पाद- [5]पूजाह्लादपरतन्त्रः स्याम्। एतदेव हि तदसाधारणं जगदैश्वर्यं स्वातंत्र्यं च यत् त्वत्पादसमावेशवैवश्यम्। [6]अन्यापदे पारतंत्र्येऽपि

---

१. ख० पु० भक्त्यासवक्षीबाश्च—इति पाठः।

२. क० पु० परतेन—इति पाठः।

३. ग० पु० सिद्धमपि—इति पाठः।

४. ख० पु०—प्रविश्य—इति पाठः।

५. क० पु० पूजापरतन्त्रः—इति पाठः।

६. ग० पु० अन्यपादम्—इति पाठः।

निःसामान्यमैश्वर्यं स्वातंत्र्यं चेत्यद्भुतरसध्वनिः॥ २७॥

**त्वद्ध्यानदर्शन० · · · · · · · · भवत्पूजामहासरः॥२८॥**

'परमेश्वरं चिदानन्दघनमपि [1]पश्येयं, स्पृशेय[2]म्'—इति यत्त्वद्ध्याने [3]दर्शनस्पर्शनतृट्, तस्यां सत्यां केषामपीति—साक्षात्त्वदनुगृहीतानां शीतलस्वादु भवत्पूजामहासरः जायते—सन्तापहारिसचमत्कारत्वदर्चा-परिपूर्णः समुद्रो नव एवोत्पद्यते इत्यर्थः॥ २८॥

**यथा त्वमेव जगतः · · · · · · · · पूजासम्भोगभाजनम्॥२९॥**

जगतः—विश्वस्य मध्यात् त्वमेव व्याख्यातरूपस्य पूजासंभोगस्य भाजनम्—आश्रयो यथा ईश—स्वामिन्, तथा भक्तिमानेव—समावेशशाल्येव तादृशः पूजासम्भोगस्य भाजनं—निर्वर्तक इत्यर्थः॥ २९॥

**कोऽप्यसौ जयति · · · · · · · · यत्रोल्लसत्यलम्॥३०॥**

कोऽपीति—समावेशशाली, असाविति—स्वामिनि स्फुरितः, [4]षट्-त्रिंशतोऽपीति—देहाश्रयाणां तद्द्वारेण तद्बाह्यानां तत्त्वानां, क्षोभ इति—[5]संविदग्निप्लोषवैषम्यम्॥ ३०॥

**नमस्तेभ्यो विभो · · · · · · · · त्वत्पूजोपकरणान्यपि॥३१॥**

[6]त्वत्पूजार्थमुपकरणानि—कुसुमादीनि येषां भक्तिपीयूषवारिणा—समावेशामृतरसेन हेतुना पूज्यानि भवन्ति—[7]त्वदाप्लावनेन शिवताभिव्यक्तेः पूजार्हाणि जायन्ते, [8]तेभ्यो नमः॥ ३१॥

**पूजारम्भे विभो · · · · · · · · हर्षेण न क्वचित्॥३२॥**

---

१. ख० पु० पश्येयमपि—इति पाठः।

२. घ० पु० स्पृश्ये—इति पाठः।

३. ख० पु० दर्शनस्पर्शने—इति पाठः।

४. ख० पु० षट्त्रिंशतोऽपि—इति पाठः।

५. ख० पु० संविदग्निप्लोषवैवश्यम्—इति पाठः।

६. ग० पु० त्वत्पूजोपकरणानि च—इति पाठः।

७. ख० पु० तदाप्लावनेन—इति पाठः,
ग० पु० तदाप्लवेन—इति च पाठः।

८. ख० पु० तेभ्योऽपि नमः इति पाठः।

मन्त्रेण—मननत्राण[१]धर्मेण [२]चिन्माहात्म्यप्रकर्षकेण [३]आधातव्यां—

'शिवो भूत्वा....................।' शि० स्तो०, स्तो० १, १४ श्लो०॥

इति स्थित्या सम्पाद्यां त्वदात्मतां पूजारम्भे ध्यात्वा—चिन्तयित्वा मन्त्रोच्चिचारयिषात्मकपूजा[४]प्रविवृत्सायामेव—

'अयमेवोदयस्तस्य...............।' स्पं० नि० २, श्लो० ६॥

इति [५]स्थित्या भक्तिप्रकर्षाच्छिवीभूय भक्ताः स्वात्मन्येव परे—[६]पूर्णरूपे न मान्ति—न वर्तन्ते॥ ३२॥

**राज्यलाभादिवोत्फुल्लैः · · · · · · · जगती संविभज्यते॥३३॥**

उत्फुल्लैरिति—महाविकासयुक्तया श्रीभैरवीयमुद्रानुप्रविष्टैः, सुधासवेन—अमृतपानेन, जगती—समस्ता वेद्यवेदकभूः, संविभज्यते—परिपूर्यते; [७]स्वानन्दमयीक्रियते। राज्यलाभोत्फुल्लैश्चोत्सवे सर्वा भूः आसवेन संविभज्यते इति स्पष्टम्॥ ३३॥

**पूजामृतापानमयो · · · · · · · · वा केऽप्येव ते जनाः॥३४॥**

भोगः—चमत्कारः। प्रतिक्षणमिति—अविच्छेदेन। केऽप्येवेति—स्तोत्रशतैरपि [८]स्तोतुमशक्याः॥ ३४॥

**पूजोपकरणीभूतविश्वावेशेन · · · · · · · · च लाघवम्॥३५॥**

पूजायां यदुपकरणीभूतं—परिकरीभूतं विश्वं—षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपं शरीरं बाह्यं च, तस्य य आवेशः—चिद्भूमावनुप्रवेशस्तेन। अत अहो—आश्चर्यं, किमपि—असामान्यं भक्तानां गौरवं—प्रभावितत्वम् लाघवं च—अप्रयत्नेनैवाशेषस्वीकारित्वम्, अथ च मायीयभेदभारनिवृत्तिः। गौरवे च कथं

१. क० पु० धर्मणा—इति पाठः।

२. घ० पु० चिन्माहात्म्यापकर्षकेन—इति पाठः।

३. ख० पु० आध्यातव्याम्—इति पाठः।

४. ग० पु० प्रविवित्सायाम्—इति पाठः।

५. ग० पु० नीत्या—इति पाठः।

६. ख० पु० पूर्णरूपेण—इति पाठः।

७. ख० पु० स्वानन्दीक्रियते—इति पाठः।

८. ख० पु० वक्तुमशक्याः—इति पाठः।

लाघवमिति विरोधच्छाया॥ ३५॥

**पूजामयाक्षविक्षेपक्षो० · · · · · · · दिवौकसाम्॥३६॥**

पूजामयानि विश्वस्य–संवेद्यस्य चिद्भूमिविश्रान्तिदायीनि देवताचक्रोदयमयानि अक्षाणि–इन्द्रियाणि, तेषां विक्षेपः–स्वविषयग्रहणपरत्वं, स एव क्षोभः–व्याकुलता, तत एवाल्पबोधापेक्षया अभिमतादपि क्षोभात् भक्तानाम- मृतस्य–महानन्दस्य उद्गमः–उल्लासो ग्राह्यग्राहकविप्लवेऽपि भक्तानां चिदा- नन्दाभिव्यक्तिरेवेत्यर्थः। तदुक्तं–

'ग्राह्यप्रवृत्तावपि तत्स्वभावः।'

इति। यथा देवतानां क्षीरसमुद्रक्षोभादमृतस्य–सुधाया उल्लासः। अत्रापि पूजामयस्य–पूज्यस्य नागराजात्मनः अक्षस्य–नेत्रस्य यो विक्षेपः–आकर्षापकर्षक्रमः, स एव क्षोभ इति॥ ३६॥

**पूजां केचन · · · · · · · धयन्त्यन्तर्मुखाः परे॥३७॥**

यथा कामधेनुरभीष्टमत्यर्थं पूरयति तथा केचित्–फलकाङ्क्षिणः पूजां मन्यन्ते–निश्चिन्वन्ति। परे–केचिदेव सुधाधाराधिकः–अमृतधारातिशायी [1]रसः प्रसरो यस्यास्तां पूजामेव कामधेनुमन्तर्मुखाः सन्तो धयन्ति–सद्य एव चमत्कुर्वन्तीत्यर्थः॥ ३७॥

**भक्तानामक्ष० · · · · · · · पुष्णात्यर्चामहोत्सवम्॥३८॥**

अक्षविक्षेपः–इन्द्रियप्रसरो लोके संसारत्वेन संमतः, किमपीति–अलौकिकमा[2]नन्दरूपम्, उपनीय–प्रापय्य भक्तानां–करणेश्वरीचक्र प्रसर-समाविष्टानाम् अर्चामहोत्सवं–[3]पूजास्वरूपविश्रान्तिं पुष्णाति। तथा च ममैव–

'प्रज्ञामन्दरमन्थितासममहाभेदोदधेरुद्गता-
[4]न्यक्षाक्षेपविवर्तनाभिरभितो दुग्धामृतान्यादरात्।
वञ्चित्वा कुविकल्पदैन्यविरहं भूतीरनादृत्य ये

---

१. क० पु० रसप्रसरः–इति पाठः।

२. ख० पु० आनन्दम्–इति पाठः।

३. क० पु० पूर्णस्वरूपविश्रांतिम्–इति पाठः।

४. ग० पु० उद्गतान्यक्षक्षेप–इति पाठः।

पायं 'पायमहो पिबन्ति जगति श्लाघ्यास्त एवामराः॥'

इति॥ ३८॥

**भक्तिक्षोभवशादीश ········ परं फलम्॥३९॥**

त्वयि स्वात्मभूते यद्भक्तिक्षोभवशात्—समावेशवैवश्यादर्च[१]नं, तच्चित्रम्—आश्चर्यं, दैन्याय न भवति—न कांचिद्दीनतां फलति। अन्येषां ह्येत- दाकाङ्क्षा[२]प्रधानमेव। न केवलमेवं यावत्प्रत्युत दीनतायाः—लौकिक्याः स्पृहायाः परं—पार्यन्तिकमानन्दरूपं विभवादिफलस्यापि फलभूतं परं च पूर्णं फलम्॥ ३९॥

**उपचारपदं ······· भवदैकात्म्यनिर्वृत्तिप्रसरस्तु सः॥४०॥**

केषांचिदिति—भेदनिष्ठानां त्वत्पदाप्तये—त्वदीयं पदं प्राप्तुम्, उपचारपदं—[४]प्रक्रियाभूराराधनोपायमात्रमेव। भक्तानां तु भवदैकात्म्यरूपाया निर्वृत्तेः स प्रसरः—विकासः। स इति विधी[५]यमानापेक्षया पुंलिङ्गता॥ ४०॥

**अप्यसम्बद्धरूपार्चा ········ त्वयि कामपि॥४१॥**

पूजायां मनागपि इतिकर्त्तव्यतान्यथाभावे प्रत्यवायः प्रक्रियाशास्त्रे युक्तः। आश्चर्यं पुनरिदं—भक्त्युन्मादेन—समावेशवैवश्येन निरर्गलैः—विस्मृतेतिकर्तव्यतानियमैरसंबद्धरूपापि—असमञ्जसापि अर्चा वितन्यमाना—प्रसार्यमाणा, कामपीति—क्रियानिष्ठैः संभावयितुमप्यशक्याम् असामान्यां प्रतिष्ठां सम्यगाभिमुख्येन अवस्थितिं त्वयि लभते इत्यद्भुतध्वनिः॥ ४१॥

**स्वादुभक्तिरसास्वाद० ········ किल भाजनम्॥४२॥**

[६]स्वादुः—चमत्कारसारो यो भक्तिरसस्तस्या[७]स्वादेन स्तब्धी[८]भूतं—चलितचाञ्चल्यं यन्मनस्ततश्च्युत्—[१]च्यवनं प्रसरो यासां पूजानां—विश्वार्पण-

---

१. ख० पु० अलम्—इति पाठः।
२. क० पु० अर्चनम्—अशेषस्य विश्वस्यार्चनम्—इति पाठः।
३. ग० पु० प्रधानमेवम्—इति पाठः।
४. ख० पु० क्रियाभूः—इति पाठः।
५. ग० पु० विधेयापेक्षं पुंलिङ्गम्—इति पाठः।
६. ग० पु० स्वादु—इति पाठः।
७. ग० पु० आस्वादनेन—इति पाठः।
८. घ० पु० स्तब्धीकृतम्—इति पाठः।

क्रियाणां, तासां ललितः—[2]हृद्युचितस्त्वमेव चिदात्मा, शम्भो-श्रेयोनिधे! भाजनम्—आश्रयः। किलेति—युक्तौ;—एतदेव युज्यत इत्यर्थः। अन्यस्य ब्रह्मादेर्भेदमयत्वेनेदृगर्चा-पात्रत्वाभावात्। पूजानामिति बहुवचनं विचित्र-विश्रांतिसारताप्रथनाय॥ ४२॥

**परिपूर्णानि शुद्धानि · · · · · · · · साधनानि भवन्तु मे॥४३॥**

भवतः—चिन्नाथस्य पूजाविधौ—अवश्यकार्यायामर्चायां, मम साधनानि—चक्षुरादीनि करणानि परिपूर्णानि—सृष्ट्यादिदेवीचक्रोल्लासमयानि। अत एव चिन्मरीचिमयत्वात् शुद्धानि, भक्तिमन्ति—विश्वार्पणेन त्वत्सेवापराणि, कदाचिदपि पाशव[3]वासनास्पृष्टत्वात् स्थिराणि नित्यमीदृश्येव भवन्तु॥ ४३॥

**अशेषपूजासत्कोशे · · · · · · · · लक्ष्मीर्विजृम्भते॥४४॥**

इमामेव दशां विमृशन्नाह, शक्तीनामुल्लासप्रसरादि[4]प्रभवनशील प्रभो! अशेषाणां पूजानां—विचित्राणां सृष्टिदेव्यादिपदविश्रांतीनां सत्कोशे—शोभनगञ्जरूपे, त्वत्पूजाकर्मणि—पूर्णचिदानन्दघनश्रीमन्थानभैरवस्वरूप-विश्रान्तौ करणवृन्दस्य—रश्मिचक्रस्य, अहो! कापि—स्वसंवित्साक्षिका लक्ष्मीः—दीप्तिर्विजृम्भते—स्फुरति, इति महार्थपरिपूर्णस्यास्य सारोपदेशवर्षीणि इमानि सूक्तान्युल्लसन्ति॥ ४४॥

**एषा पेशलिमा · · · · · · · · यश्च लभ्यसे॥४५॥**

पेशलिमा—सरलता। तवैवेति—चिद्घनत्वेन सर्वेषामात्मनः। [5]विश्वेश्वरोऽपि—सदाशिवादीनामपि स्वामी। अर्च्यसे—समाविश्यसे। लभ्यसे—निरर्गलमात्मीक्रियसे॥ ४५॥

**सदा मूर्त्तादमूर्त्ताद्वा · · · · · · · · भवत्पूजामहोत्सवः॥४६॥**

मूर्त्तो भावः—घटादिः, अमूर्त्तः—सुखादिः। मूर्त्तो भावः—घटस्य [1]कपालादीनि, अमूर्त्तस्तु भावः—विकल्पकल्पितप्रसज्यप्रतिषेधात्मा, ततः

---

१. ग० पु० प्रच्यवनम्—इति पाठः।

२. ख० पु० हृद्यः, उचितस्त्वमेव—इति पाठः।

३. ख० पु० वासनया—इति पाठः।

४. क० पु० प्रभवशील—इति पाठः।

५. ख० पु० विश्वेश्वरत्वेऽपि—इति पाठः।

उत्थेयादिति–समस्तं भावाभावपदमधरीकृत्य [2]उन्मज्ज्यादित्यर्थः। भवत्पूजामहोत्सवः–त्वद्विश्रान्त्युदयः। भावादित्यादिका ल्यब्लोपे पञ्चमी॥ ४६॥

**कामक्रोधाभिमानै० . . . . . . . तुष्टोऽसि तत्त्वतः॥४७॥**

सर्वचित्तवृत्तीनां कामादिभिः स्वीकारात्तेषामेवोपादानमुपहारीकृतैः–विचार्य त्वय्येवार्पितैः तत्त्वतः तुष्टोऽसि–

[3]'हर्षामर्षभयक्रोधैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥' भ० गी०, अ० १२, श्लो० १५॥

इत्यभिधानात्। ननु च श्रीमन्महासारोक्तिमयेऽमुत्र[4] स्तोत्रेऽयं श्लोको दद्रुस्थानीयः? सत्यम्,

'अशेषावासनाग्रन्थि......।' स्तो० ८, श्लो० ३॥

'निजनिजेषु पदेषु.......।' स्तो० ८, श्लो० ५॥

'अस्मिन्नव जगत्यन्तर्.....।' स्तो० १६, श्लो० २३॥

आवेदकादा च वेद्यात्........।' स्तो० १६, श्लो० २७॥

'पानाशनप्रसाधन.......।' स्तो० १६, श्लो० २९॥

'समुल्लसन्तु भगवन्.......।' स्तो० ५, श्लो० ८॥

'न क्वापि गत्वा.........।' स्तो० २०, श्लो० १०॥

इत्यादयस्त्वनुगुणा अप्यत्र श्लोका न सन्ति। तदयमसमञ्जसशय्याप्रस्तारिणः श्रीविश्वावर्तस्यैव प्रसादः। एवमन्येष्वपि स्तोत्रेष्वेवंप्रायं [5]बह्वनुचितमस्ति, [6]तत्तु अस्माभिर्नोद्धाटितम्–इत्यलं, सूक्तान्येवानुसरामः॥ ४७॥

**जयत्येष भवद्भक्ति० . . . . . . . रत्नैरेवोपकल्पते॥४८॥**

अपिर्भिन्नक्रमस्तेन तृणैरपि क्रियमाणः यो रत्नैरेवोपकल्पते–पूर्णविश्रान्तिप्रदो भवति, स भवद्भक्तिभाजां–[1]त्वत्समावेशशालिनां परः–पूर्णः

---

१. ख० पु० कपालानि–इति पाठः।

२. ग० पु० उन्मज्ज्येत्–इति पाठः।

३. ख० पु० महामर्षभयक्रोधैः–इति पाठः।

४. घ० पु० स्वकृतस्तोत्रे–इति पाठः।

५. ख० पु० बहुरुचितमस्ति–इति पाठः।

६. ग० पु० न त्वस्माभिर्नोद्धाटितम्–इति पाठः।

पूजाविधिर्जयतीति शिवम्॥ ४८॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां दिव्यक्रीडाबहुमाननामनि सप्तदशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥ १७॥

## अथ आविष्कारनाम अष्टादशं स्तोत्रं

**जगतोऽन्तरतो · · · · · · · दूरतोऽस्ति किञ्चित्॥१॥**

हे जगदीश! ये तवैव–चिद्रूपस्य स्वात्मनो भक्तिभाजास्ते जगतः–विश्वस्य अन्तरतः–मध्यात् भवन्तमाप्त्वा–प्रकाशमानव्यवहारपदादेव प्रकाशरूपं त्वां लब्ध्वा, पुनरपि एतत्–जगद्भवतः–चिद्रूपस्य अन्तरतो मध्याल्लभन्ते। यस्मात्तेषां–भक्तिभाजां सम्यक्प्रत्यभिज्ञातविश्वात्मकत्वत्स्वरूपाणामिह–ज गति दूरे न [२]किंचिदस्ति; सर्वस्य सर्वांगकल्पत्वेन स्फुरणात्। [३]तदुक्तं गीतासु–

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।' अ० ६, श्लो० ३१॥

[४]इत्यादि॥ १॥

**क्वचिदेव भवान् · · · · · · · नापि जगत्त्रयस्य भेदः॥२॥**

[५]क्वचिदेवेति–मुक्तौ, क्वचिदिति–तदुपायतायां भोगे च, भवानी–पराशक्तिः, सकलः–[६]कलादिक्षित्यन्तः अर्थक्रमः–प्रमेयराशिर्गर्भेऽन्तः शिम्बिकाबीजवत्संसृष्टो[७] यस्याः। परमार्थपदे–गलितकल्पनायां तात्त्विक्यां दृष्टौ पुनः जगत्त्रयस्यापि–भवातिभवाभवात्मनः त्वत्तो भेदो नास्ति, किं पुनः शक्तेः॥ २॥

**नो जानते · · · · · · · हा तदहो हतोऽस्मि॥३॥**

१. क० पु० त्वत्समावेशेन शालिनाम्–इति पाठः।

२. ग० पु० किंचिदिति–इति पाठः।

३. ख० पु० तदुक्तम्–इति पाठः।

४. ख० पु० इत्यादि श्रीगीतासु–इति पाठः।

५. ख० पु० क्वचिदिति–इति पाठः।

६. ग० पु० शिवादिक्षित्यन्तः।

७. ग० पु० संस्पृष्टौ–इति पाठः।

लोका[1]स्तावदवलेपवन्तः सन्तः सुभगमपि—चिदात्मकं रूपं भावानां न जानन्ति, यतः प्रयत्नेन—सर्वथा निश्चयेन, सुभगाः—उत्कृष्टा एव निखिलाः—सर्वे भावाः, प्रकाशमानत्वेन चिन्मयत्वात्। पुनरास्तां भाव-स्वरूपज्ञानम्, आश्चर्य- मात्मनोऽपि रूपं वेदितु[2]मुद्यतमपि चेतो यन्नैवावैति—समावेशधारारु- रुक्षारणरणकाक्रान्तमपि [3]यच्चिदैकात्म्यं न [4]भजते तत् हतोऽस्मि—व्यापादितोऽस्मि, इति [5]झगिति समावेशप्रकर्षमलभमानस्य [6]ताम्यत इयमुक्तिः॥ ३॥

**भवन्मयस्वात्म० · · · · · · · यस्तमहं नतोऽस्मि॥४॥**

भवान्—चिद्रूपः प्रकृतं रूपं यस्य तथाभूते स्वात्मनि निवासेन—विश्रान्त्या लब्धेन सम्पद्भरेण—परमानन्दभूतिप्रसरेण [7]अभ्यर्चितौ—गाढमभेदेनावष्टब्धौ[8] [9]युष्मदङ्घ्री येन तथाभूतोऽजस्रं यो भोजनाच्छादनमपि नापेक्षते

'अश्नन् यद्वा तद्वा........।' प० सा०, श्लो० ६९॥

इति स्थित्या व्यवहारानपेक्षः पूजापर एव तमहं नौमि॥ ४॥

**सदा भवद्देहनिवास० · · · · · · · ०नन्दमयो भवेयम्॥५॥**

सदा भवदीये देहे—उपचिते स्वरूपे [10]निवसनेन वस्तुतः स्वस्थः—आनन्दमयोऽप्येष लोकः, तवेच्छया—[11]भेदप्रथारूपया त्वन्मायाशक्त्या अन्तः परम्—अतिशयेन दह्यते—तद्दुःखैरायास्यते। यत एवं [1]तस्मात्तवेच्छया—अनुजिघृक्षया, अत्र—कल्पिते विषये [2]त्वं मे—भक्तस्य

१. ग० पु० तावदेव—इति पाठः।

२. ग० पु० उद्यतमपि—इति पाठः।

३. ख० पु० यश्चिदैकात्म्यम्—इति पाठः।

४. ग० पु० लभते—इति पाठः।

५. क० पु० जगति—इति पाठः।

६. ख० पु० ताप्यतः—इति पाठः।

७. ख० पु० अभ्यर्चितो—इति पाठः।

८. ख० पु० अवष्टब्धो—इति पाठः।

९. ख० पु० युष्मदङ्घ्रिर्येन—इति पाठः।

१०. घ० पु० निवासेन—इति पाठः।

११. घ० पु० भेदप्रवाहरूपया—इति पाठः।

तदिति—तथा कुरु यथाहं [३]त्वदर्चनानन्दमयः स्याम्॥ ५॥

**स्वरसोदितयुष्म० · · · · · · · · ०मात्रलोकयात्रः॥६॥**

स्वरसेन—अप्रयत्नमेवोदिता या [४]युष्मदङ्घ्रिपद्मद्वयपूजा—त्वत्समावेश-संपत्, सैवामृतपानं तत्र सक्तचित्तः—[५]विश्रान्तमानसः। सकलेषु—हेयोपादे-याद्यभिमतेषु अर्थचयेषु—व्यवहारेषु, अहं सुखसंस्पर्शनमात्रलोकयात्रो भवेयम्—स्वानन्दोल्लाससारजगद्व्यवहारः स्याम्॥ ६॥

**सकलव्यवहारगोचरे · · · · · · · · विभान्तु सर्वदा॥७॥**

सर्वदा—सदा, अनिशं—निर्विरामं, व्यवहारविषयस्यान्तर्मम त्वयि—चिद्रूपे स्फुटं स्फुरति सति, सर्वाणि वस्तूनि उपयान्त्यपयान्ति च—सृज्यमाणानि संह्रियमाणानि च स्फुरन्तु, त्वदाविष्टोऽहं सदा भावसर्गसंहारकृत् स्यामित्यर्थः। 'उपयान्त्यपियान्ति च'—इति पाठे, [६]आगच्छन्तोऽपि [७]दर्पणे प्रतिबिम्ब-वद्विलीयमाना एव न त्ववस्थितिं मनागपि [८]भजमाना भान्तु, इति व्याख्येयम्। च एवार्थे। उद्यन्तो विनश्यन्तश्च लोक[९]वद्यथा भान्ति तथा भान्तु—इति वा योज्यम्॥ ७॥

**सततमेव तवैव · · · · · · · · ननु यत्र भवन्मयः॥८॥**

तवैव [१०]संबन्धिनि पुरे—पूरके शाक्ते पदे विचरेयं—शाक्तसमावेशशाली स्याम्। अथवा [११]त्वयारहितः, इति—शाम्भवसमावेशमयः। अथवा भवन्मय इति—त्वद्रूपो विमुक्तस्वभावो यत्र न विजये—न सर्वोत्कर्षेण वर्ते, स क्षण-

---

१. ख० पु० यस्मात्—इति पाठः।

२. ग० पु० त्वमेव—इति पाठः।

३. क० पु० त्वद्दर्शनानन्दमयः—इति पाठः।

४. ख० पु० युष्मदङ्घ्रिपूजा—इति पाठः।

५. घ० पु० विश्रान्तिमानसः—इति पाठः।

६. क० पु० अनुगच्छन्तोऽपि—इति पाठः।

७. ग० पु० दर्पणप्रतिबिम्बवत्—इति पाठः।

८. ग० पु० भाजमानाः—इति पाठः।

९. ख० पु० यथावत्—इति पाठः।

१०. घ० पु० संबन्धिनः—इति पाठः।

११. ग० पु० अविरहितः—इति पाठः।

लवोऽपि मे मा भूत्—इति उत्तरोत्तरसातिशयदशाशंसापरमेतत्। ननु वितर्के॥ ८॥

**भवदङ्गपरिस्त्र० · · · · · · · संसारसरोऽन्तरे चरन्ति॥९॥**

तव भक्ताः भवदर्चनसंपदा—[१]त्वद्विश्रान्तिलक्ष्म्या उपलक्षिता इह संसारस- रसः—भवसमुद्रस्य अन्तरे—मध्ये, चरन्ति—व्यवहरन्ति। [२]कीदृशे? भवदीयात्परशक्तिरूपादङ्गात् परितः—समन्तात् स्त्रवद्भिः सुष्ठु शीतलैः—दुःखानलतापोपशान्तिदैरमृतपूरैः—आनन्दोल्लासैः समन्ताद्भरिते—पूरिते इति यावत्॥ ९॥

**महामन्त्रतरुच्छायाशीतले · · · · · · · तव पूजकः॥१०॥**

महामन्त्रः—[३]परावाग्रूपः शुद्धाहंविमर्श एव शक्तिशाखाशतैः प्रसृतत्वात् तरुस्तस्य छायया—कान्त्या शीतले-भेदसन्तापहारिणि, त्वन्महावने—त्वमेव [४]चिदात्मा महावनं—विपुलं विश्रांतिस्थानं तत्र, निजात्मनि—स्वस्वभावे, नाथ सदा तव पूजकः—त्वदर्चापरो वसेयं—स्थितिं बध्नीयाम्॥ १०॥

**प्रतिवस्तु समस्त० · · · · · · · नेत्रत्रयशूलशोभितः॥११॥**

प्रतिवस्तु—प्रतिभावं, समस्तजीवतः—सर्वेषां जीवानाम्, असि—त्वं यथा प्रतिभामयः—संविद्रूपः नीलादिग्रहणान्यथानुपपत्त्या प्रतिभासि—अप्रत्यभिज्ञातोऽपि वस्तुतः स्फुरसि। तथा मम—दासस्य नाथ! पुरः—अग्रे सर्वत्र, नेत्रत्रयेण शूलेन च शोभितः—निरतिशयासाधारणाभिज्ञानेन सम्यक् प्रत्यभिज्ञातः सन्, प्रथां व्रज—प्रकटीभव—समावेशेन स्फुरेत्यर्थः। नेत्रत्रयशूले असाधारणाभिज्ञानोपलक्षणपरे, [५]न पुनरत्राकारे भरः। समस्तजीवतः—इति [६]प्रतियोगे शम्॥ ११॥

**अभिमानचरूपहारतो · · · · · · · भवेद् दृशः पदम्॥१२॥**

१. ख० पु० त्वद्विश्रांतिसम्पदा—इति पाठः।

२. घ० पु० कीदृशि—इति पाठः।

३. ख० पु० परवाग्रूपः—इति पाठः।

४. ख० पु० चिदानन्दात्मा—इति पाठः।

५. ख० पु० न च—इति पाठः।

६. घ० पु० योगे शम्—इति पाठः।

अभिमानः—अहंकार एव चरुः—स्थालीपाकस्तस्य उपहारः—भगवत्यर्पणं पराहंभावग्रहणं, ततः। कीदृशात्? "मम महेश्वरः स्वामी अस्ति"—इत्येवं [1]ममताप्रधानः यो भक्तिरसः—सेवाप्रकारस्तेन कल्पितात्—सम्पादितात्, भवान् परितोषं गतः—प्रसन्नः सन् कदा सर्वत्र मम दृशः—दर्शनस्य पदं—विश्रांति- भूर्भवेत्—[2]गलिते देहाद्यभिमाने त्वन्मयमेव विश्वं साक्षात्कुर्यामित्यर्थः॥ १२॥

**निवसन्परमामृताब्धिमध्ये · · · · · · · एव किञ्चनापि॥१३॥**

अहं [3]भवदर्चाविधिमात्रे मग्नचित्तः—आसक्तः सन्, परमामृताब्धि-मध्ये—[4]चिदानन्दसमुद्रस्यान्तर्वसन्[5] सकलं जनवृत्तं—लोकचेष्टितमाचरेयम्। कीदृक्? सर्वतः—सर्वस्यैव मध्यात् किंचनापि—अलौकिकमानन्दस्वरूपम् अभीष्टं रसयन्—आस्वादयन्॥ १३॥

**भवदीयमिहास्तु · · · · · · · हरोऽस्मि यस्मात्॥१४॥**

इह—जगति, यावत्किंचिद्वस्तु तत्सर्वं भवदीयं—त्वद्विभूतिरूपमिति। एतदोमित्येवास्तु। [6]अत्रार्थे तत्त्वं विवरीतुं क इव भक्तिमान् पात्रं, न कश्चित्। यतो यावद्वयमेतद्विचारयितुं प्रक्रमामहे तावद्यदुपक्रमविचारः तत्त्वदीयमिदमेव [7]असामान्यप्रभावमनुभवसिद्धम्। नामरूपचेष्टादि। 'महेश्वरइत्यादि नाम, चिद्धनं रूपम्। [8]सर्वसृष्टिसंहारकारिणी चेष्टा। आदिग्रहणात् सर्वज्ञता-[9]स्वतन्त्रादिधर्मः। तत्प्रथममेव [10]स्फुरितं, तद्धरते—समावेश[11]वैवश्यापादनेन विस्मृत[12]व्यापारानस्मान् सम्पादयति। युक्तं चैतत्। यतस्त्वं हरतीति

१. घ० पु० समताप्रधानः—इति पाठः।
२. ख० ग० पु० गलितदेहाद्यभिमाने—इति पाठः।
३. घ० पु० भवदर्चनविधिमात्रे—इति पाठः।
४. ख० पु० चिदानन्दघनसमुद्रस्य—इति पाठः।
   ग० पु० चिदानन्दघनसमुद्रान्तः—इति पाठः।
५. क० पु० निवसन्—इति पाठः।
६. क० पु० अत्रार्थतत्त्वम्—इति पाठः।
७. ख० पु० असामान्यमनुभवसिद्धम्—इति पाठः।
८. ख० पु० सर्वसृष्टिसंहारादिकारिणी—इति पाठः।
९. ग० पु० स्वतंत्रादिरूपः—इति पाठः।
१०. क० ग० पु० स्फुरत्—इति पाठः।
११. ख० पु० वैकल्यापादनेन—इति पाठः।

हरः—इत्यन्वर्थ[२]नामा॥ १४॥

**शान्तये न ········ स्मर्यते हृदयहारिणः पुरः॥१५॥**

भक्त्या सम्भृतो मदो यत्र तेषु—त्वद्दासेषु विषये, शान्तये—दुःखनिवृत्तये या सुखलिप्सुता—भोगस्पृहा, सा मनागपि नास्ति; भक्तिसंभृतमदत्वादेव। [३]तैश्च प्रभोः पुर इति—साक्षात्कृतस्याग्रे मोक्षमार्गणफलाप्यर्थना न स्मर्यते। [४]कीदृशस्य प्रभोः? हृदयहारिणः—मायाप्रमातृतां शमयतः। अत एव येषां हृदयमेव हृतं ते कथमन्यत्स्मरेयुः। इत्येषां समावेशपरतैवोक्ता॥ १५॥

**जागरेतरदशाथवा ········ ०नाथमनसो महोत्सवः॥१६॥**

अवस्थितेः—जगद्व्यवस्थायाः सम्बन्धिनी या काचित् जागर-स्वप्नसुषुप्तदशा, मनागिति-संकुचितापि, सा सर्वा भक्तिमतस्त्वत्सनाथ-मनसः—त्वदधिष्ठितचित्तस्य, महोत्सवः—महाभ्युदयः; त्वत्सनाथत्वादेव॥ १६॥

**आमनोऽक्षवलयस्य ········ ०सोष्मणां कथम्॥१७॥**

हे नाथ! आमनः—मनःपर्यन्तम्, अक्षवलयस्य—इन्द्रियग्रामस्य वृत्तयः—व्यापाराः, सर्वत्र शिथिलवृत्तयः—चञ्चला अपि यास्ताः, भक्तिधनेन सोष्मणाम्—ऊर्जस्विनां; त्वां—चिद्रूपं प्राप्य, दृढाः—अशिथिलाः, दीर्घाश्च—[५]भवदैकात्म्येन त्वद्वदेवावस्थास्नवः शुद्धबोधरूपाः। कथमिति स्वात्मन्येवास्य विस्मयः॥ १७॥

**न च विभिन्नमसृज्यत ········ नमोऽस्तु ते॥१८॥**

आदिसर्गादौ त्वया न च—नैव, किंचिद्भिन्नम् असृज्यत—सृष्टम्, नाप्यस्ति स्वतो विभिन्नं किंचित्। अथ शब्दो अप्यर्थे। सर्वस्य चेत्यमान-त्वेन चिन्मयत्वाद्भेदासम्भवः। अथ च सुखेतरद्—दुःखरूपं न किंचिन्निर्मितम् उक्तादेव हेतोः। किंचिच्छब्दस्त्रिर्योज्यः। अथ चैवं सर्वथैव दुःखि च भिन्नं च। अपिरेवशब्दार्थः। त्वदैकात्म्याप्रत्य[१]भिज्ञानादेव। एवमसमविस्मयधाम—

१. घ० पु० विचारान्—इति पाठः।

२. क० ख० पु० अन्वर्थनाम्ना—इति पाठः।

३. ग० पु० तैश्च पुरः प्रभो—इति पाठः।

४. ख० पु० कीदृशप्रभोः—इति पाठः।

५. ग० पु० त्वदैकात्म्येन—इति पाठः।

असामान्याश्चर्यभूमे! ते-तुभ्यं नमोऽस्तु॥ १८॥

**खरनिषेधखदा० · · · · · · · लोकनमस्तु निरन्तरम्॥१९॥**

खरा–विषमा या निषेधखदा–त्वदख्यातिदरी, तस्या अमृतेन–त्वदद्वयपीयूषेण यत्पूरणं, तेनोच्छलितम्–उत्प्लावितमत एव धौतं विकल्पमलं यस्य तस्य, तथा दलितः–चूर्णितो दुर्जयः संशय एव वैरी–रिपुर्येन तादृशः सतो मम त्वदवलोकनं–चिद्घनत्वदात्मस्फुरणं, निरन्तरं–घनमस्तु॥ १९॥

**स्फुटमाविश मामथाविशेयं · · · · · · · समर्चयेयम्॥२०॥**

हे नाथ! त्वं तावत् स्फुटं–प्रकटं कृत्वा न तु गूहितत्त्वेन समाविश। अथानन्तरम् एवं विधे त्वयि सति, उपजातसामर्थ्योऽस्मि अहं भवन्तं सततम् आविशेयं–गाढावष्टम्भेन स्वीकरोम्येवेति नियोगे लिङ्। यस्मादिति–एवं सति, परमासत्तिगतः–अतिनिकटं प्राप्तस्तवैव[2] रभसेन–त्वरया साक्षाद्वपुः– तात्त्विकं स्वरूपं सम्यगर्चयेयं–समाविशेयमिति यावत्॥ २०॥

**त्वयि न स्तुति० · · · · · · · विलोकयेयमीशम्॥२१॥**

कस्यापीति–ब्रह्मोपेन्द्ररुद्रादेरपि भेदमयत्वेन चिद्घनपरमेश्वररूपा-प्रत्यभिज्ञानात्। अतिसुन्दर इति–चिदानन्दघनस्वात्मरूपत्वादतिस्पृहणीयो हृदयहारी। अतो यस्त्वामात्मानं प्रत्यभिजानाति तस्य [3]कस्यापि–असामान्यस्य त्वयि स्तुतिशक्तिरस्त्येव। कस्यापीति आवर्त्य योज्यम्। मम पुनः [4]स्तोतुः सततमेतदर्थितं–वाञ्छितं, यदविश्रान्ति–निर्विरामं त्वामीशं समवलोकयेयं–साक्षात्कुर्यामिति शिवम्॥ २१॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यामाविष्कारनाम्नि अष्टादशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥१८॥

---

१. क० पु० ऽप्रत्यभिज्ञानाच्चैव–इति पाठः।
   ख० पु० ऽप्रत्यभिज्ञानादेवम्–इति च पाठः।
२. ख० पु० तथैव–इति पाठः।
३. ख० पु० कस्यापीति–इति पाठः।
४. ग० पु० स्तोतुः सतः–इति पाठः।

# अथ उद्योतनाभिधानाम् एकोनविंशं स्तोत्रम्

**प्रार्थनाभूमिकातीत० · · · · · · · सत्कल्पपादपः॥१॥**

सत्कल्पतरुर्वाञ्छितमेव ददाति; शिवस्तु प्रार्थयितुमशक्यमपि— इत्यपूर्ववृत्तान्तः॥ १॥

**सर्ववस्तुनिचयैक० · · · · · · · घटसे परमास्ताम्॥२॥**

त्वदिति—त्वत्तः स्वात्मनः सर्वार्थैकाश्रयात्किल विश्वं लभ्यम्। अस्येति—सदा स्वरूपनिभालनप्रवणस्य मम पुनः परं लभ्यमास्तां, त्वमेव निज आत्मा—स्वं स्वरूपं न घटसे—व्युत्थानसमये न प्रकाशसे इति यावत्॥ २॥

**ज्ञानकर्ममयचिद्वपुरात्मा · · · · · · · भवेत्किमुतान्यत्॥३॥**

सर्ववस्तुषु चिद्वपुर्ज्ञानक्रियात्मा परमेश्वर आत्मा, स एव सर्वथा—सर्वेण प्रकारेण त्वदंशाधिष्ठानेन[1] वपुः—स्वरूपं स्यात्—अस्तीति सम्भाव्यते। एष इति—स्फुरद्रूपः। ननु विचित्रकार्य[2]कारणानां नानादेशस्वरूपाणां वस्तूनां कथमेकेश्वरात्मता सम्भाव्यते? इत्याह एषु वस्तुषु अन्यथा [3]नामैव—संज्ञैव न भवेत्, किमुतान्यत्;—कार्यकारणस्वरूपादिकम्। प्रकाशमयत्वं विना कस्या- प्यसिद्धेः। अन्यथा—इत्यध्याहार्यम्॥ ३॥

**विषमार्तिमुषानेन · · · · · · · त्वन्मयी गतिः॥४।**

विषमार्ति—संसारतापं मुष्णाति [4]यस्त्वद्दृगात्मा—त्वत्साक्षात्काररूपः [5]पन्था, तेन मे अभिलीय—फलेन फलतः। त्वन्मयी—त्वदेकरूपा गतिः— प्राप्तिरस्तु, भुक्त्वा देवदत्तगमनमिति वत्। अभिलीय—इत्यत्र क्त्वाप्रत्ययो योजयित्वा परतोऽस्तु—इति योज्यम्। अभिलीलेति पाठे [6]स्फुरच्चिदा-

१. क० पु० त्वदधिष्ठानेन—इति पाठः।

२. ग० पु० करणानाम्—इति पाठः।

३. ख० पु० पुनर्नाम—इति पाठः।

४. क० पु० यस्त्वद्दृशात्मा—इति पाठः।

५. ग० पु० पन्थास्तेन—इति पाठः।

६. क० पु० अभिलीलस्फुरत्—इति पाठः।

नन्दविलासा–इति व्याकर्तव्यम्॥ ४॥

**भवदमलचरणचिन्ता० · · · · · · · · घटेत मम भवतः॥५॥**

भवतोऽमलाः–शुद्धा ये चरणाः–ज्ञानक्रियादिमरीचयस्तेषु चिन्ता–पुनः-पुनर्निभालनं, सैव सर्वसंपत्प्रदत्वाद्रत्नलता, तया अलङ्कृता–संप्राप्तत्वदावेशशोभा कदा मम पूर्णा सिद्धिर्घटेत भवतः सकाशात्। कीदृशी? सिद्धजनमानसानां–योगिचित्तानां विस्मयजननी॥ ५॥

**कर्हि नाथ · · · · · · · · निमज्जयति विश्वमशेषम्॥६॥**

व्युत्थानावस्थितस्येयमुक्तिः। कर्हि नाथ! विमलं मुखबिम्बं–परं शाक्तं रूपं तव समवलोकयितास्मि–साक्षात्करिष्यामि। अमृतपूरम्–आनन्दप्रसरमपूर्वम्–अलौकिकम्। लोकयितृलोक्यरूपं विश्वं निमज्ज्यति॥ ६॥

**ध्यातमात्रमुदितं तव · · · · · · · · सदा मे॥७॥**

त्वदविभेद एव [1]विमोक्षः–भेदबन्धापगमः। तस्य अख्यातिः–अप्रथा, तदीयानि दूराणि विवराणि–गहनान्याकाङ्क्षामयानि गर्तानि, कर्हि–कदा मे ध्यातमात्रमुदितं–[2]चिन्तनानन्तरमेव विकसितं [3]सत् तव संबन्धि रूपं–कर्तृ, सदा परमामृतपूरैः–आनन्दविसरैः, पूरयेत्–आप्लावयेत्॥ ७॥

**त्वदीयानुत्तररस० · · · · · · · · कर्हि स्यादस्तु शीघ्रतः॥८॥**

त्वदीयोऽनुत्तरो रसः–परचित्प्रसरः, तदासङ्गः–तत्परत्वं, तेनापि सन्त्यक्तचापलं–गलितव्युत्थानम्, अद्यापीति–असकृदास्वादितेऽपि समावेशे। कर्हि शीघ्रं स्यात्–इति गाढोत्कण्ठापरत्वं सूचयति॥ ८॥

**मा शुष्ककटुकान्येव · · · · · · · · द्वन्द्वान्यप्यापतन्तु मे॥९॥**

तवोपहृत्य लब्धानि–[4]चिन्मयत्वेन त्वय्यनुप्रविश्य व्युत्थाने समावेशसंस्काररसास्वादनासादितानि, परं सर्वकालं सर्वाणि द्वन्द्वानि–[6]शीतोष्णा-

१. क० पु० मोक्षः–इति पाठः।

२. ग० पु० चिन्तासमनन्तरमेव–इति पाठः।

३. ख० पु० तत्–इति पाठः।

४. ग० पु० चिन्मये–इति पाठः।

५. ग० पु० आस्वादानि–इति पाठः।

६. क० पु० शीतोष्णादीन्येव–इति पाठः।

दीन्यपि आपतन्तु, शुष्ककटुकान्येव—[१]पुनस्त्वदद्वयस्पर्शामृतापूर्णत्वाद्रूक्षदुःस्वादप्रायाणि मा-मैव[२]म्॥ ९॥

**नाथ साम्मुख्यमायान्तु ········ परिलुप्यताम्॥१०॥**

साम्मुख्यमायान्तु—देहादिप्रथां [३]निमज्ज्य प्रस्फुरन्तु। शुद्धाः—अनुग्रहपराः, रश्मयः—शक्तयः। कायमनस्तापतमोभिरीति—कायमनस्तापा एव तमांसि, तैः परिलुप्यतां—समन्तान्नश्यताम्॥ १०॥

**देव प्रसीद ········ भूयासुर्गुणतस्कराः॥११॥**

प्रसादः प्राग्वत्। त्वन्मार्ग[४]परिपन्थिकाः—परमार्थशाक्तभूमिप्रवेशरोधिनः, अत एव [५]परमार्थं—चिदभेदं मुष्णन्ति—अपहरन्ति, अनुपभोग्यं सम्पादयन्ति ये गुणाः—सत्त्वादय एव तस्कराः, ते वश्या भूयासुः। तदुक्तं

'गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः..........।
.........स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः'॥ स्पं०, नि० १, श्लो० १९॥

इति। 'प्रसीद, भूयासुः'—इति लोड्लिङौ सम्भूय आशीर्विशिष्टां प्रार्थनां गमयतः। यथा [६]लुनीहि—इत्यादौ [७]लोड्वचने कर्मव्यतिहारात्। एवमन्यत्रापि स्मर्तव्यम्। स्वामिनि प्रसन्ने चौराः वश्या भवन्ति—इति लौकिकोऽर्थः स्पष्ट एव॥ ११॥

**त्वद्भक्ति ········ निःशेषासारवासनाः प्लुत्वा॥१२॥**

मानसं—चित्तं सरश्च। असाराः—कुत्सिताः, सरस्यपि असारैः पूरिते, असारवासनाः—कटूदकवासनाः प्लुत्वा—उत्प्लुत्य स्वयमेव उह्यन्ते—बहिर्निःसरन्ति॥ १२॥

**मोक्षदशायां ········ सिद्धिभूमिकामज माम्॥१३॥**

---

१. ख० पु० पुनरद्वयः—इति पाठः।
२. घ० पु० मैव—इति पाठः।
३. क० पु० निमज्य—इति पाठः।
४. क० पु० परिपन्थकाः—इति पाठः।
५. क० पु० परममर्थम्—इति पाठः।
६. घ० पु० लुनीहीत्यादौ—इति पाठः।
७. ग० पु० लोड्-द्विर्वचने—इति पाठः।

मोक्षदशा—परमशिवता, जीवन्मुक्तता मुक्तप्रायता। यदनेनैवोक्तं 'तस्या-माद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः'। शिव० स्तो०, स्तो० १६, श्लो० १९ इति। मर्त्यधर्मिण इति—अप्रत्यभिज्ञातात्मस्वरूपस्य। अनुरूपामिति—प्राग्वद्रुद्रशक्तिसमावेशमयीम्। [1]परमसिद्धिभूमिं—तत्रैव प्रभुदासभावस्य स्फुटं स्फुरणात्॥ १३॥

**सिद्धिलवलाभलुब्धं · · · · · · · मोक्षः॥१४॥**

समावेशात्मकपूर्णसिद्ध्यपेक्षया भेदमयाणिमादयः सिद्धिलवास्तल्ला[2]भे लुब्धं मा संस्थाः[3]। अवलेपेनेति—मां सिद्धिलवलुब्धमाकलय्य मावलेपं कुर्या इति यावत्। ननु [4]पारमेशे नये साधकानां सिद्ध्युपभोगानन्तरं

................'भुक्त्वा भोगांश्छिवं व्रजेत्।'

इत्याम्नायेषु शिवतैव श्रूयते, तत्किमत्रारुचिरित्याशङ्क्य युक्तिमाह—प्रोल्लसदणिमादिपक्षादनन्तरं कालान्तरे यो मोक्षस्त्वद्भक्तिमुखे—त्वत्समावेशानन्दस्य पुरतः, क्षामः—अत्यल्पः॥ १४॥

**दासस्य मे प्रसीदतु · · · · · · · दृशो विषयः॥१५॥**

एतावदिति—न तु अणिमादि। प्रसीदतु इति। त्रिभुवनं प्राग्वत्। यस्येति—असम्भाव्यस्य (सम्भावितस्य) फलस्य, तत्फलं[5]सदृशम्, इति न [6]मादृशां दृश इति—बुद्धेः॥ १५॥

**त्वद्वपुःस्मृतिसुधारस० · · · · · · · किमप्यतिलोकम्॥१६॥**

पादाम्बुजयुग्मं प्राग्वत्। विकसद्—भेदसंकोचमुज्झत्। मधुपरमानन्द-रूपं माधुर्यम्। अतिलोकम्—अलौकिकम्। रसपूर्णे च मानसे अम्बुजं विकसन्मधु स्रवति॥ १६॥

---

१. ग० पु० परसिद्धिभूमिम्—इति पाठः।

२. क० पु० तल्लाभलुब्धम्—इति पाठः।

३. ग० पु० मंस्थाः—इति पाठः।

४. ख० पु० पारमेशनये—इति पाठः।

५. क० पु० मादृशम्—इति पाठः।

६. ग० पु० तादृशाम्—इति पाठः।

**अस्ति मे प्रभुरसौ · · · · · · · निर्वृततमो विचरेयम्॥१७॥**

असाविति—चिद्घनो मे प्रभुः—अनुग्राहकः जनकः, प्रमातृतोल्लासकश्च त्र्यम्बकः। तथा भवानी—पराशक्तिः जननी प्रभ्वी चास्ति। ईदृशस्यैव प्रत्यभिज्ञातमहेश्वरस्वरूपस्य मे इह—जगति न द्वितीयः कोऽप्यस्ति। ममेति शेषे षष्ठी। इत्येव—एतावतैव। निर्वृततमः—अत्यर्थं प्रमुदितो विचरेयं—विहरेयमिति शिवम्॥ १७॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यामुद्योतनाभिधानैकोन-
विंशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजविरचिता विवृतिः॥ १९॥

# अथ चर्वणाभिधानं विंशं स्तोत्रम्

**नाथं त्रिभुवननाथं · · · · · · · ०कलाशेखरं वन्दे॥१॥**

त्रिभुवनं प्राग्वत्। भूतिः—विश्वमयी विभूतिः, तया सितं—सम्बद्धं षिञ् बन्धने इत्यस्य सितशब्दः। त्रीणि—इच्छाज्ञानक्रियाख्यानि नयनानि यस्य। भेदोद्दलनहेतोः प्रज्वलद्ज्ञानरूपस्य त्रिशूलस्य धारकम्। उप—समीपे वीतीकृताः—विशेषेणेताः कृताः—अनुगृहीताः, तथा बहिः पूजानिरताः आभासनेन कान्तिमन्तः कृताः संहृताश्च भोगिनः प्रसरा येन, वी[1] गतावित्यस्य प्रयोगः। इन्दुकला—विश्वजीविनी चितिशक्तिः शेखरं—मुख्यं रूपं यस्य। समग्रमेयमयी इन्दुकला वा स्वातन्त्र्य[2]प्रथनहेतुत्वात् शेखरः—क्रीडार्थमाहार्यं मण्डनं यस्य, तं वन्दे—इति प्राग्वत्। बाह्यक्रमेण स्पष्टोऽर्थः॥ १॥

**नौमि निजतनुविनिस्सर० · · · · · · ०नृत्तोत्सवाकल्पम्॥२॥**

निजतनुः—चिन्मयं रूपं, ततो विनिःसरन्—स्फुरन् अंशुकपरिवेषः—रश्मिपुञ्जप्रसर एव धवलं—शुद्धं परिधानं—प्रावरणं यस्य

............[3]'उत्सरत्प्रकृतिः शिवः'।

---

१. ख० पु० इणो वी गतीत्यस्य—इति पाठः।

२. ग० पु० स्वातंत्र्यप्रथने हेतुत्वात्—इति पाठः।

३. क० पु० प्रसरत्प्रकृतिः—इति पाठः।

ग० पु० प्रसरद्दक्क्रियः शिवः—इति पाठः।

इति स्थित्या स्वशक्तिचक्रेण सततमाश्लिष्टमित्यर्थः। विकसन्त्या—स्वात्मनियोजनेन [1]देदीप्यमानतया विलसन्त्या—स्फुरन्त्या कपालमालया सदाशिवादिसकलान्ताशेषप्रमातृमुण्ड[2]मालया [3]कल्पितो नृत्तोत्सवे—स्वातन्त्र्यविजृम्भाभ्युदय आकल्पो मण्डनं येन। बाह्यक्रमेण स्पष्टोऽर्थः॥ २॥

**वन्दे तान् दैवतं · · · · · · · सौभाग्यसद्मनाम्॥३॥**

हरोचिताः—सृष्टिसंहारानुग्रहादिरूपाः। हरैकप्रवणाः—नित्यतत्समावेशरसिकाः। प्राणाः—जीवितम्। अत एव सौभाग्यसद्मत्वं—परमानन्दपूर्णत्वेन विश्वस्पृणीयत्वात्॥ ३॥

**क्रीडितं तव · · · · · · · परमुपायमुपैमि॥४॥**

समावेशस्फारेण जगत् क्रीडात्वेन [4]पश्यत इयमुक्तिः। तव महेश्वरतायाः—विश्वप्रभुतायाः पृष्ठत एव—उपर्येव अन्यदिदं क्रीडितम्। यथैतदिति—[5]प्रदर्शनार्थम्, इष्टमात्र—घटितेषु[6]इच्छामात्रसम्पन्नेषु [7]अवदानेषुअद्भुतकर्मसु त्वदीयपञ्चविधकृत्यात्मसु चरितेषु, अहमात्मना—स्वयमेव परिपूर्णमुपायं स्वबलाक्रमणमुखेऽपि प्राप्नोमि, त्वत्समावेशात् स्वं चिद्बलमाक्रम्य त्वद्वदहं पञ्चविधकृत्यकारी यत् तत्तवापरं क्रीडितमित्यर्थः। एवकारो भिन्नक्रमः॥ ४॥

**त्वद्धाम्नि · · · · · · · भूयान्नानन्दरससम्भवः॥५॥**

विश्ववन्द्यं यत्त्वद्धाम—त्वन्महः, तत्रान्तर् इयति—विश्वात्मन्यस्मिन् क्रीडने सति, तव कियान् भूयानिति—अनल्पः स्वानन्दरसानुरूपमेव सर्वःक्रीडति? यस्य चेयद्विश्वं क्रीडा तस्य अपर्यन्त एवानन्दः, इति स्वात्मनस्तद्दासतया श्लाघां व्यनक्ति। अत एव नाथेत्यामन्त्रणम्॥ ५॥

**कथं स · · · · · · · गौर्याः परमवल्लभः॥६॥**

---

१. ख० पु० देदीप्यमानया—इति पाठः।
२. ग० पु० माल्या—इति पाठः।
३. घ० पु० कल्पिते—इति पाठः।
४. क० पु० पश्यता—इति पाठः।
५. ग० पु० प्रदर्शनार्थे—इति पाठः।
६. ग० पु० इच्छयैव संपन्नेषु—इति पाठः।
७. क० पु० अपदानेषु—इति पाठः।

सुभगः—सर्वस्य स्पृहणीयः। गौर्याः—परस्याः शक्तेः, वल्लभः—स्पृहणीयः स आनन्दघनः पराभट्टारिकयालिङ्गित इत्यर्थः। हरः—समावेशचमत्कारेण हृदयहारी द्वैतपदस्य संहर्ता च यः, परशक्तेः परमवल्लभ एव॥ ६॥

**ध्यानामृतमयं · · · · · · · कस्यापि सत्तरोः॥७॥**

यस्य—समावेशशालिनः स्वात्मनो मूलं—कारणं ध्यानामृतमयं—स्वरूपगोपनोन्मुखचिदानन्दसारप्रत्यभिज्ञातशिवभट्टारकस्वरूपम्। यथोक्तं 'अस्ति मे प्रभुरसौ जनकोऽथ'......। शि० स्तो०, स्तो० १९, श्लो० १७॥

इत्यादि। अनश्वरं—चिद्रूपतयैव नित्यं, तस्य—कस्याप्यतिदुर्लभस्य सत्तरोः—सन्तापहारिणः शोभनपादपस्य संविल्लताः—नीलसुखादिज्ञानानि, तथारूपा इति—ध्यानामृतमय्य एव॥ ७॥

**भक्तिकण्डूसमुल्लासावसरे · · · · · · · पूजैव जायते॥८॥**

भक्तिः—[1]भगवदनुराग एव वैवश्यदायित्वात् कण्डूस्तस्याः समुल्लासे [2]पूर्वनिर्णीता पूजैव महानिकषपाषाणस्थूणा—निघर्षोपलमयो महास्तम्बः, भक्तिकण्डूं यः प्रशमय्य आनन्दघनस्वात्मविश्रान्तिहेतुर्जायते इत्यर्थः॥८॥

**सदा सृष्टिविनोदाय · · · · · · · स्वामिने नमः॥९॥**

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः॥' ई० प्र०, १ अ०, ६ आ०, ७ का०॥

इति स्थित्या देहादिमाविशतोऽपि भगवतः प्रतिक्षणं तत्तदनन्त-ग्राह्यग्राहकाद्याभाससंयोजन[3]वियोजनक्रमेण सृष्ट्यादिहेतुत्वम्। [4]यथा चैतत्तथा मया स्पन्दसन्दोहे वितन्य निर्णीतमिति स एवावेक्ष्यः॥ ९॥

**न क्वापि ग · · · · · · भव्यास्तेभ्यो नमो नमः॥१०॥**

एकान्तद्वादशान्तादिपदं परमलोकं चागत्वा, भोगानधरभूमीः शरीरं चात्यक्त्वा इदमेव—अप्रबुद्धानां हेयाभिमतं भव्यं त्वद्धाम—चिद्घनं ये पश्यन्ति, भव्याः—दिव्यमहार्थदृष्ट्याविष्टास्तेभ्यो नमो नमः; वीप्सयैषामेव

१. ग० पु० भवदनुराग एव—इति पाठः।

२. ख० पु० पूर्णनिर्णीता—इति पाठः।

३. क० पु० संयोजनावियोजनक्रमेण—इति पाठः।

४. ग० पु० यथा च तत्तथा—इति पाठः।

परतत्त्ववित्त्वं ध्वनति॥ १०॥

**भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां · · · · · · · ०दुपयाचितम्॥११॥**

किमन्यदिति—प्रासव्यस्य प्रासत्वात् नास्त्येव अन्यद्याचितव्यम्। किमन्यदिति—परमार्थस्यानासादनात् किमन्येनासारप्रायेणेत्यर्थः॥ ११॥

**दुःखान्यपि सुखायन्ते · · · · · · · मार्गः स शाङ्करः॥१२॥**

[1]त्रयमप्येतच्चिदानन्दघननिजबलाक्रमणादेव भवति। [2]मार्गः—[3]परं शाक्तं पदम्॥ १२॥

**मूले मध्येऽवसाने · · · · · · · सीदामः कथमुच्यताम्॥१३॥**

प्राग्वत् व्युत्थानावस्थितस्योक्तिः। मूले मध्येऽवसाने इति—संविदुदय-प्रसरविश्रांतिषु। सीदामः—व्युत्थानेनाभिभूयामहे॥ १३॥

**ज्ञानयोगादिनान्येषा० · · · · · · · भक्तिमतां प्रभो॥१४॥**

प्रभो! केषांचित् ज्ञानयोगक्रियाद्युपायैर्भवान् स्फुरति, भक्तानां पुनः स्वैरिणाम्—उपायानपेक्षिणां त्वत्समावेशात् प्रासत्वन्महिम्नां च भवान् प्रकाशस्वभावः सदेति यावत्॥ १४॥

**भक्तानां · · · · · · · शिवेत्येतत्किमप्येषां बहिर्मुखे॥१५॥**

आर्तयः—क्लेशाः। आध्यानं—[4]प्राप्त्यभिलाषेण चिन्तनम्। तव स्वात्मन इति—स्वात्मतयैव स्फुरतः। तथापीति—भक्तत्वादेव। किमपीति—परमानन्दैकात्म्य[5]व्यञ्जकं निर्निमित्तं च॥ १५॥

**सर्वाभासावभासो · · · · · · · क्रियाशक्तिमीश ते॥१६॥**

अहमेतदखिलमिति यः सर्वाभासावभासः—सदा विश्वेश्वरप्रकाशः। कीदृक्? विमर्शेन—परमानन्दचमत्कारेण वलितो—बृंहितः, क्रियाशक्तिम्—ईशशक्तिम्, ईश ते स्तौमि—इति [6]प्राग्वत्॥ १६॥

---

१. क० पु० यत्र सर्वमप्येतत्—इति पाठः।

२. ग० पु० मार्गपदम्—इति पाठः।

३. ग० पु० शाक्तपदवाचकम्—इति पाठः।

४. क० पु० प्राप्त्यभिलाषचिन्तनम्—इति पाठः।

५. ग० पु० व्यञ्जनम्—इति पाठः।

६. ग० पु० पूर्ववदिति पाठः।

**वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा ....... विश्वं भवन्मयम्॥१७॥**

अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णव इति—सृष्टिस्थितिकारिणः प्रसिद्धाः। आसतां रुद्रादयः, तेऽपि यावदशेषा जन्तवः—क्षेत्रज्ञाः ग्रसमानाः—सदा स्वविषयाहृति-प्रवणा वर्तन्ते—तिष्ठन्ति यतो हे देव—अशेषप्रमात्रादिरूपेण क्रीडाशील! ततो विश्वं भवन्मयं विश्वं—ग्रसनशीलत्वदद्वयरूपं वन्दे—प्राग्वत्॥ १७॥

**सतो विनाशसम्बन्धान्मत्परं ....... ०लीलया॥१८॥**

हे नाथ! संहारक्रीडया एवमेवोच्यते—मत्तः—चिदेकरूपात्परमुल्लासित-स्वभावत्वादधिकमिव यत्किंचित् सदाशिवान्तं तन्मृषा—न पृथग्भवतीत्यर्थः; यतः सतः—अनधिकस्याप्याधिक्येन इव आभासमानस्य विनाशेन सम्बन्धाच्चिदात्मन्येव विगलितत्वेन स्थितिर्भवति। तदुक्तं

'यत्सदाशिवपर्यन्तम्......।' स्वं० तं०, प० १०, श्लो० १२६४॥

इत्यादि

'विनाशोत्पत्तिसंयुतम्॥' स्व० तं०, प० १०, श्लो० १२६५॥

इत्यन्तम्। तथा

'कार्यताक्षयिणी तत्र......।' स्पं०, नि० १, श्लो० १४॥

इत्यादि॥ १८॥

**ध्यातमात्रमुपतिष्ठत ....... प्रति च ते विजयन्ते॥१९॥**

मितयोगिभिश्चिन्तयितुमशक्यमपि यत्स्वरूपं भक्तिधनानां ध्यातमात्र-मुपतिष्ठते—ध्यानसमनन्तरमेव सन्निधीयते इत्यर्थः। ते च भक्ताः अखिलायाः अद्भुतचिन्तायाः कर्तृतां प्रति विजयन्ते—त एवासामान्यविस्मयप्रवर्तकाः सर्वोत्कर्षेण[1] वर्तन्ते इत्यर्थः॥ १९॥

**तावकभक्तिरसासवसेकादिव ....... कृतोत्साहः॥२०॥**

बाह्योऽर्थः स्पष्टः। वीरजनः—विदारितसंसारमहापशुः [2]भक्तजनो निशि—मायामध्य एव, नृत्यति—चिद्विकासेन विलसतितराम्। कथं? तावकभक्तिरसासवसेकात्—त्वत्समावेशामृतसेचनादिव[3], सुखितानि—

---

१. ग० पु० सर्वोत्कर्षिणः—इति पाठः।

२. ग० पु० भक्तलोकः—इति पाठः।

३. ख० पु० सेकादिव—इति पाठः।

[1]आनन्दवन्ति यानि मर्ममण्डलानि—पाशसञ्चयास्तेषां संबन्धिभिः स्फुरितैः—[2]आसनमुद्राबन्धैः वेतालकुलैः—[3]पशुहृदयाघट्टकप्रत्ययोदयानुवर्तिशक्तिशतैः कृतोत्साहः—परिपोषितचिदभ्युदयः॥ २०॥

आरब्धा भवदभिनुतिरमुना · · · · · · · · भविषीष्ट॥२१॥

क्वचिदप्यसदृशशैलीदर्शनादनार्ष[4]एवायं श्लोकस्तथापि व्याख्यायते। अमुना—चिदद्वयसमावेशोत्कर्षप्रदर्शिना, येनाङ्केन—सर्वजनासंलक्ष्येण प्रकारेण, शम्भो तव स्तुतिरारब्धा, तेन प्रकारेण अपर्यन्तमिममखिलं कालं दृढम्—अविचलं कृत्वा असौभविषीष्ट—प्राप्नुयात्। भू प्राप्तौ—इत्यस्य [5]एतद्रूपमिति शिवम्॥ २१॥

क्लेशान्विनाशय विकासय हृत्सरोज-
मोजो विजृम्भय निजं ननु नर्तयाङ्गम्।
चेतश्चकोरचितिचन्द्रमरीचिचक्र-
माचम्य सम्यगमृतीकुरु विश्वमेतत्॥ १॥

श्रुतिपथमिता सूक्तिश्रेणी धुनोति भवातपं
निरुपमपरानन्दव्याप्तिं तनोति च तत्क्षणात्।
इयमिति विभोः शम्भोर्भक्त्या परं परमेष्ठिनो
विहितललितव्याख्यास्माभिः कृतार्थजनार्थितैः॥ २॥

विश्वत्रयेऽपि विशदैरसमस्वरूपैः
शास्त्रैस्तथा विवरणैः प्रथितैव कीर्तिः।
तस्माद्गुरोरभिनवात्परमेशमूर्तेः
क्षेमो निशम्य विवृतिं व्यतनोदमुत्र॥ ३॥

---

१. घ० पु० आनन्दनन्दितानि—इति पाठः।

२. क० पु० आसनमुद्रासदृशैः—इति पाठः,
ग० पु० विचित्रैः स्तोभमुद्राबन्धैः—इति च पाठः।

३. ग० पु० पशुहृदयाच्च दृक्प्रत्यय—इति पाठः।

४. ख० पु० इवायम्—इति पाठः।

५. क० पु० रूपम्—इति पाठः।

इति श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञाकाराचार्यचक्रवर्तिवन्द्याभिधानोत्पलदेवाचार्य-
विरचिते शिवस्तोत्रवाल्यां चर्वणाभिधाने विंशे स्तोत्रे महामाहेश्वर-
श्रीक्षेमराजविरचिता विवृतिः ॥२०॥

वेदाग्निखशराब्दे हि रोहिण्यां कुजवासरे।
पौषमासे सिते पक्षे तथा चैकादशीतिथौ॥ १॥

शारिकाप्रभयोर्भक्त्या तुष्यता ज्ञसये तयोः।
राजानकलक्ष्मणेनेयं भाषाटीका मया कृता॥ २॥

मन्येऽनया भवेन्नूनं जनानां भविनामपि।
भुक्तिमुक्तिप्रदा भक्तिः शिवे स्वात्ममहेश्वरे॥ ३॥

सांख्ययोगादिशास्त्रज्ञः पाणिनीये पतञ्जलिः।
शिवार्करश्मिसंपातव्याकोशहृदयाम्बुजः॥ ४॥

महामहामहेश्वरः श्रीमान् राजानकमहेश्वरः।
शैवशास्त्रगुरुः स मे वाक्पुष्पैरस्तु पूजितः॥ ५॥

इति निवेदयति शिवभक्तानुचरः काश्मीरदेशवास्तव्यः राजानकलक्ष्मणः।

इतिशिवम्

# श्लोकानुक्रमणिका


स्तोत्र.श्लोक

अ

अग्नीषोमरविब्रह्म २.१
अणिमादिषु मोक्षान्ते १.२६
अधिष्ठायैव विषयानिमाः १७.१६
अनन्तानन्दसरसी १.९
अनन्तानन्दसिन्धोस्ते १.६
अनुभूयासमीशान १७.१९
अन्तरप्यति १३.२
अन्तरुल्लसदच्छाच्छ १७.२६
अन्तर्भक्तिचमत्कार ५.१५
अन्यवेद्यमणु १३.९
अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्म १०.१२
अपरिमित १२.१९
अपि कदाचन ८.९
अपि भावगणादपीन्द्रिय १२.२
अपि लब्धभवद्भावः ५.१६
अपीत्वापि भवद्भक्तिसुधा १०.१३
अप्यसम्बद्धरूपार्चा १७.४१
अप्युपायक्रमप्राप्यः १६.२
अप्युपार्जितमहं त्रिषु लोके ४.२३
अभिमानचरुपहारतो १८.१२
अलमाक्रन्दितैरन्यै ३.२१
अविभागो भवानेव १०.२२
अशेषपूजासत्कोशे १७.४४
अशेषभुवनाहारनित्यतृप्तः ५.१४
अशेषवासनाग्रन्थि १७.१५
अशेष-विश्वखचित ३.३
अशेषविषया ९.१४
अस्ति मे प्रभुरसौ १९.१७
अस्मिन्नेव जगत्यन्त १६.२३
अहमित्यमुतो १२.१८
अहो कोऽपि जयत्येष १७.१
अहो भक्तिभरोदारचेतसां १७.२४
अहो सुधानिधे स्वामिन् ५.४

आ

आकांक्षणीयमपरं ५.१७
आत्मसात्कृत ९.१२
आत्मा मम भवद्भक्ति· १.२
आनन्दबाष्प ९.१६
आनन्दरसबिन्दुस्ते १०.५
आमनोऽक्षवलयस्य १८.१७
आमूलाद् वाग्लता सेयं १.१३
आवेदकादा च वेद्याद्येषां १६.२७
आसतां तावदन्यानि ३.१६
आसुरर्षिजनादस्मिन्न ३.२
आस्तां भवत्प्रभावेण १०.१०

ई

ईश्वरमभयमुदारं ९.६
ईश्वरोऽहमहमेव १३.४
ईहितं न बत १३.१९

उ

उत्तमः पुरुषोऽन्योस्ति ३.१४
उपचारपदं पूजा १७.४०
उपयान्तु विभो ८.११
उपहासैकसारेऽस्मि २.१८
उल्लङ्घ्य विविधदैवत ४.२

ए

एतन्मम न त्विदमिति ७.२
एषा पेशलिमा नाथ १७.४५

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| **ऐ** | |
| ऐक्यसंविदमृता | १२.१७ |
| **ओ** | |
| ॐ जयलक्ष्मीनिधानस्य | १४.१ |
| **क** | |
| कण्ठकोणविनि | १३.१७ |
| कथं ते जायेरन्कथमपि च ते | १२.३ |
| कथं स सुभगो मा | २०.६ |
| कदा कामपि | ९.७ |
| कदाचित्क्वापि लभ्योऽसि | १.१६ |
| कदा नवरसार्द्रार्द्र | ९.१ |
| कदा मे स्याद्विभो | ९.५ |
| कर्हि नाथ विमलं | १९.६ |
| कां भूमिकां नाधिशेषे | ६.९ |
| का न शोभा न को ह्लादः | १७.२५ |
| कामक्रोधाभिमानै | १७.४७ |
| कायवाङ्मनसैर्यत्र | ६.३ |
| किमपि नाथ कदाचन चेतसि | ५.२६ |
| किमियं न सिद्धिरतुला | १५.१३ |
| किमिव च लभ्यते बत न | ११.१० |
| किल यदैव शिवाध्वनि तावके | ४.२१ |
| कीर्त्यश्चिन्तापदं मृग्यः | १६.१८ |
| केव न स्यादृशा तेषां | ३.१० |
| कोऽपि देव हृदि तेषु तावको | ४.११ |
| कोऽप्यसौ जयति | १७.३० |
| क्रीडितं तव महेश्वरतायाः | २०.४ |
| क्वचिदेव भवान् | १८.२ |
| क्व नु रागादिषु रागः | ५.२० |
| क्षणमपीह न तावकदासतां | ४.१८ |
| क्षणमात्रमपीशान | ६.१ |
| क्षणमात्रसुखेनापि | १०.४ |
| **ख** | |
| खरनिषेधखदा | १८.१९ |
| **ग** | |
| गर्जामि बत नृत्यामि | ३.११ |
| गलतु विकल्प | ७.३ |
| गाढगाढभवद | ९.२० |
| गाढानुरागवशतो | ९.३ |
| गुह्ये भक्तिः परे | १६.२४ |
| **च** | |
| चपलमसि यदपि मानस | ४.१ |
| चराचरपितः स्वामिन् | १५.७ |
| चित्तभूभृद्भुवि विभो | ५.६ |
| चित्रं निसर्गतो नाथ | १.२४ |
| **ज** | |
| जगतोऽन्तरतो | १८.१ |
| जगत्क्षोभैकजनके | १७.१० |
| जगदिदमथ वा | ११.१ |
| जगद्विलयसञ्जात | १७.१४ |
| जडे जगति चिद्रूपः | ३.२० |
| जपतां जुह्वतां स्नातां | १७.८ |
| जय कष्टतपःक्लिष्टमुनि | १४.२१ |
| जय क्षीरोदपर्यस्तज्योत्स्ना | १४.६ |
| जय जयभाजन | १४.२४ |
| जय जाम्बूनदोदग्र | १४.२० |
| जयत्येष भवद्भक्तिभाजां | १७.४८ |
| जय त्रैलोक्यनाथैक | १४.३ |
| जय त्रैलोक्यसर्गेच्छा | १४.१३ |
| जय देव नमो नमोस्तु ते | २.२९ |
| जय देहाद्रिकुञ्जान्त | १४.१९ |
| जयन्ति ते जगद्वन्द्या | ३.१५ |
| जयन्ति भक्तिपीयूष | १.५ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| जयन्तोऽपि हसन्त्येते | १६.३ |
| जय ब्रह्मादिदेवेश | १४.११ |
| जय भक्तिरसार्द्रार्द्र | १४.१० |
| जय मूर्तत्रिशक्त्या | १४.४ |
| जय मोहान्धकारान्ध | १४.१८ |
| जय विश्वक्षयोच्चण्ड | १४.१६ |
| जय शोभाशतस्य | १४.५ |
| जय सर्गस्थितिध्वंस | १४.२३ |
| जग सर्वजगन्न्यस्त | १४.१२ |
| जय स्वसम्पत्प्रसर | १४.२२ |
| जय स्वेच्छातपोवेश | १४.९ |
| जय हेलावितीर्णै | १४.१७ |
| जयाक्रमसमाक्रान्त | १४.१४ |
| जयाक्षयैकशीतांशु | १४.७ |
| जयाधराङ्गसंस्पर्श | १४.८ |
| जयानुकम्पादि | १४.१५ |
| जयैकरुद्रैकशिव | १४.२ |
| जागरेतरदशाथवा | १८.१६ |
| ज्ञानकर्ममय | १९.३ |
| ज्ञानयोगादिनान्येषा | २०.१४ |
| ज्ञानस्य परमा | ९.९ |
| ज्योतिरस्ति कलयापि | १५.१७ |

**त**

| | |
|---|---|
| तटेष्वेव परिभ्रान्तैः | २.१४ |
| तत्किं नाथ भवेन्न यत्र | ११.१२ |
| तत्तदपूर्वामोद | ५.१९ |
| तत्तदिन्द्रिय | १३.८ |
| तत्र तत्र विषये | १३.१२ |
| तत्त्वतोऽशेषजन्तूनां | ९.८ |
| तवेश भक्तेरर्चायां | १६.१३ |
| तस्मिन्पदे | ७.७ |
| ता एव परमर्थ्यन्ते | १.२३ |
| तावकभक्तिरसासव | २०.२० |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| तावकाङ्घ्रिकमलासनलीना | ४.५ |
| तावके वपुषि | १२.३ |
| ते जयन्ति मुखमण्डले भ्रमन् | ४.१४ |
| तेनैव दृष्टोऽसि भवद्दर्शना | १०.७ |
| त्रिभुवनाधिपति | ११.३ |
| त्रिमलक्षालिनो ग्रन्थाः | १५.१ |
| त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः | १६.२१ |
| त्वच्चरणभावनामृत | ७.५ |
| त्वच्चिदानन्दजलधेश्च्युताः | ३.६ |
| त्वज्जुषां त्वयि कयापि लीलया | ४.१२ |
| त्वत्कर्णदेशमधिशय्य | ११.९ |
| त्वत्पादपद्मसंस्पर्शपरिमीलित | ५.५ |
| त्वत्पादपद्मसम्पर्कमात्र | ५.१ |
| त्वत्पादपूजासम्भोग | १७.२७ |
| त्वत्पादसंस्पर्शसुधासरसो | ५.१२ |
| त्वत्प्रकाशवपुषो न विभिन्नं | ४.६ |
| त्वत्प्रभुत्वपरि | ८.२ |
| त्वत्प्रलापमय | १३.१८ |
| त्वत्प्राणिताः स्फुरन्तीमे | १०.१८ |
| त्वदविभेदमतेरपरं नु किं | ४.१७ |
| त्वदीयानुत्तररसासङ्ग | १९.८ |
| त्वदृते निखिलं विश्वं | १०.९ |
| त्वदेकनाथो भगवन्निय | ५.३ |
| त्वदेकरक्तस्त्व | ९.२ |
| त्वद्धाम्नि चिन्मये स्थित्वा | १७.११ |
| त्वद्धाम्नि विश्ववन्द्ये | २०.५ |
| त्वद्ध्यानदर्शनस्पर्शतृषि | १७.२८ |
| त्वन्मयोऽस्मि | ११.५ |
| त्वद्भक्तितपन | ७.६ |
| त्वद्भक्तिसुधासारै | १९.१२ |
| त्वद्वपुःस्मृति | १९.१६ |
| त्वद्विलोकनसमुत्कचेतसो | १२.६ |
| त्वमेवात्मेश सर्वस्य | १.७ |
| त्वया निराकृतं सर्वं | १२.१२ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| त्वयि न स्तुतिशक्तिरस्ति | १८.२१ |
| त्वयि रागरसे नाथ | ३.७ |
| त्वय्यानन्दसरस्वति | ७.१ |
| त्वामगाधमविकल्प | १३.२० |

**द**

| | |
|---|---|
| दक्षिणाचारसाराय | २.१९ |
| दर्शनपथमुपयातो | १२.१६ |
| दासधाम्नि विनि | १३.१० |
| दासस्य मे | १९.१५ |
| दुःखागमोऽपि भूयान्मे | १६.२० |
| दुःखान्यपि सुखायन्ते | २०.१२ |
| दुःखापि वेदना भक्तिमतां | १६.११ |
| दुर्जयानामनन्तानां | ३.१३ |
| दृष्टार्थ एव भक्तानां | १७.२० |
| देव दुःखान्यशेषाणि | १०.१६ |
| देवदेव भवद | १३.५ |
| देव प्रसीद यावन्मे | १९.११ |
| देहभूमिषु तथा | ८.४ |

**ध**

| | |
|---|---|
| धर्माधर्मात्मनोरन्तः | १५.६ |
| ध्यातमात्रमुदितं | १९.७ |
| ध्यातमात्रमुपतिष्ठत | २०.१९ |
| ध्यानामृतमयं यस्य | २०.७ |
| ध्यानायासतिरस्कार | १७.४ |
| ध्यायते तदनु | १३.६ |

**न**

| | |
|---|---|
| न किल पश्यति सत्यमयं जन | ४.१९ |
| न कश्चिदेव लोकानां | १६.१ |
| न क्वापि गत्वा हित्वापि | २०.१० |
| न च विभिन्नमसृज्यत | १८.१८ |
| न तदा न सदा न चैकदे | १२.५ |
| न ध्यायतो न जपतः | १.१ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| न प्राप्यमस्ति भक्तानां | १७.२२ |
| नमः सततबद्धाय | २.१७ |
| नमः सुकृतसंभार | २.१० |
| नमश्चराचराकार | २.११ |
| नमस्तेभ्यो विभो येषां | १७.३१ |
| नमो निकृत्तनिःशेष | २.५ |
| नमो मोहमहाध्वान्त | १९.१५ |
| न योगो न तपो नार्चा | १.१८ |
| न विरक्तो न चापीशो | १५.४ |
| न सा मतिरुदेति या | १२.२२ |
| न सोढव्यमवश्यं ते | १०.१ |
| नाथं त्रिभुवननाथं भूतिसितं | २०.१ |
| नाथ कदा स | ९.१९ |
| नाथ ते भक्तजनता | १५.११ |
| नाथ लोकाभिमानाना | ९.१३ |
| नाथ विद्युदिव भाति विभा ते | ४.८ |
| नाथ वेद्यक्षये केन | १.८ |
| नाथ साम्मुख्यमायान्तु | १९.१० |
| नान्यद्वेद्यं क्रिया यत्र | ३.१२ |
| निजनिजेषु पदेषु | ८.५ |
| निर्विकल्पभवदीयदर्शन | १२.७ |
| निर्विकल्पो महानन्दपूर्णो | ६.४ |
| निवसन्परमामृता | १८.१३ |
| निवेदितमुपादत्स्व | ५.१३ |
| निःशब्दं निर्विकल्पं च | १२.१४ |
| नो जानते सुभगमप्यवलेपवन्तो | १८.३ |
| नौमि निजतनुविनिस्सरदंशुक | २०.२ |

**प**

| | |
|---|---|
| परमामृतकोशाय | २.२५ |
| परमामृतसान्द्राय | २.३ |
| परमेश्वरता | १६.३० |
| परमेश्वर तेषु | ८.१२ |
| परानन्दामृतमये दृष्टेऽपि | १०.१५ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| परितः प्रसरच्छुद्ध | ९.११ |
| परिपूर्णानि शुद्धानि | १७.४३ |
| परिसमाप्तमिवोग्रमिदं जगद् | ४.१५ |
| पशुजनसमान | ९.१७ |
| पादपङ्कजरसं तव केचिद् | ४.७ |
| पानाशनप्रसाधन | १६.२९ |
| पूजां केचन मन्यन्ते | १७.३७ |
| पूजामयाक्षविक्षेप | १७.३६ |
| पूजामृतापानमयो येषां | १७.३४ |
| पूजारम्भे विभो ध्यात्वा | १७.३२ |
| पूजोपकरणीभूतविश्वावेशेन | १७.३५ |
| प्रकटय निजधाम देव यास्मिं | १२.१५ |
| प्रकटय निजमध्वानं | ४.३ |
| प्रकटीभव नान्याभिः | ६.११ |
| प्रकाशां शीतलामेकां | ३.५ |
| प्रतिवस्तु समस्तजीवतः | १८.११ |
| प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो | १.१७ |
| प्रभुणा भवता यस्य | ३.८ |
| प्रसीद भगवन् येन | ५.९ |
| प्रहर्षाद्वाथ शोकाद्वा | ५.१० |
| प्रार्थनाभूमिकातीत | १९.१ |
| **ब** | |
| बत नाथ दृढोऽयमात्मबन्धो | ४.२४ |
| बलिं यामस्तृतीयाय | १०.६ |
| बहिरप्यन्तरपि तत्स्यन्दमानं | ५.११ |
| बाह्यं हृदय एवान्तर | १५.५ |
| बाह्यतोऽन्तरपि | १५.१६ |
| बाह्यान्तरान्तरायालीकेवले | १०.११ |
| ब्रह्मादीनामपीशास्ते | १७.७ |
| ब्रह्मेन्द्रविष्णुनिर्व्यूढ | २.१३ |
| **भ** | |
| भक्तानां नार्तयो नाप्यस्त्याध्यानं | २०.१५ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| भक्तानां नास्ति संवेद्यं | १६.९ |
| भक्तानां भक्तिसंवेगमहोष्म | १७.१७ |
| भक्तानां भवदद्वैत | १.१५ |
| भक्तानां विषयान्वेषा | १७.२२ |
| भक्तानां समतासार | १७.५ |
| भक्तानामक्षविक्षेपोऽप्येष | १७.३८ |
| भक्ता निन्दानुकारेऽपि | १६.१० |
| भक्तिकण्डूसमुल्लासा | २०.८ |
| भक्तिक्षीवोऽपि कुप्येयं | १६.७ |
| भक्तिक्षोभवशादीश | १७.३९ |
| भक्तिमदजनित | ७.८ |
| भक्तिर्भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्नाम | १६.२५ |
| भक्तिर्भगवति | १५.१५ |
| भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां | २०.११ |
| भक्त्यासवसमृद्धाया | ९.१५ |
| भगवन्नितरानपेक्षिणा | १२.११ |
| भगवन्भवतः पूर्णं | ६.६ |
| भगवन्भवदि | १२.२६ |
| भगवन्भवदीयपादयो | १२.८ |
| भवतोऽन्तरचारि-भावजातं | १२.१३ |
| भर्ता कालान्तको यत्र | १०.३ |
| भवत्पादाम्बुजरजोराजि | ५.२ |
| भवत्पूजामयासङ्गसम्भोग | १७.१२ |
| भवत्पूजामृतरसाभोग | १७.१३ |
| भवत्पूजासुधास्वाद | १७.९ |
| भवदङ्गगतं | १२.२० |
| भवदङ्गपरिष्वङ्ग | ६.१० |
| भवदङ्गपरिस्रवत्सु | १८.९ |
| भवदङ्घ्रिसरोरुहोदरे | १२.९ |
| भवदमलचरण | १९.५ |
| भवदात्मनि विश्वमु | ८.१३ |
| भवदावेशतः पश्यन् | ६.५ |
| भवदीयगभीर | १२.२३ |
| भवदीयमिहास्तु | १८.१४ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| भवद्भक्तिमहाविद्या | १.१२ |
| भवद्भक्तिसुधासारस्तैः | १.२५ |
| भवद्भक्त्यमृतास्वादा | १.११ |
| भवद्भावः पुरो भावी | १५.१२ |
| भवन्मयस्वात्मनि | १८.४ |
| भावा भावतया | १२.२८ |
| भृत्या वयं तव विभो | १०.१४ |
| भ्रान्तास्तीर्थदृशो भिन्ना | १६.१४ |

**म**

| | |
|---|---|
| मङ्गलाय पवित्राय | २.१६ |
| मत्परं नास्ति तत्रापि | ३.१७ |
| मनसि मलिने | १५.१४ |
| मनसि स्वरसेन | १२.२५ |
| महताममरेश पूज्यमानो | ४.२५ |
| महादेवाय रुद्राय | २.४ |
| महाप्रकाशवपुषि विस्पष्टे | १०.२१ |
| महामन्त्रतरुच्छायाशीतले | १८.१० |
| महामन्त्रमयं नौमि | २.२६ |
| महेश्वरेति यस्यास्ति | १०.२३ |
| मादृशैः किं न चर्व्येत | १.२२ |
| मानावमानरागादि | १६.१५ |
| मामकमनोगृहीत | ७.९ |
| मायामयजगत्सान्द्र | २.१५ |
| मायाविने विशुद्धाय | २.१२ |
| मायीयकालनियति | १५.२ |
| मा शुष्ककटुकान्येव | १९.९ |
| मुक्तिसंज्ञा विपक्काया | १६.१९ |
| मुनीनामप्यविज्ञेयं | २.२४ |
| मुमुक्षुजनसेव्याय | २.२१ |
| मूढोऽस्मि दुःखकलितोऽस्मि | ११.८ |
| मूलाय मध्यायाग्राय | २.९ |
| मूले मध्येऽवसाने च | २०.१३ |
| मोक्षदशायां | १९.१३ |

**य**

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| यः प्रसादलव | ८.१ |
| यतोऽसि सर्वशोभानां | १६.२६ |
| यत्र तत्रोपरुद्धानां | १६.१२ |
| यत्र देवीसमेतस्त्व | ५.७ |
| यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वाँ | ४.२२ |
| यत्समस्तसुभगा | १३.१४ |
| यथा तथापि यः पूज्यो | २.२० |
| यथा त्वमेव जगतः | १७.२९ |
| यथैवाज्ञातपूर्वोऽयं | १६.५ |
| यदि नाथ गुणेष्वात्माभिमानो | १०.१९ |
| यद्यथास्थित | १३.७ |
| यद्यप्यत्र वरप्रदोद्धततमाः | ११.१३ |
| यन्न किञ्चिदपि | १२.२९ |
| यस्य दम्भादिव भवत्पूजा | १२.१० |
| यस्य भक्तिसुधास्नान | १६.१७ |
| यस्यानारम्भपर्यन्तौ | १७.६ |
| यावन्न लब्धस्त्वत्पूजा | १७.२१ |
| येन नैव भवतोऽस्ति | ११.४ |
| येन मनागपि | ११.६ |
| येषां प्रसन्नोऽसि विभो | १०.८ |
| ये सदैवानुरागेण | १०.२ |
| योऽविकल्पमिदम | १३.१६ |
| यो विचित्ररससेकवर्धितः | ४.१४ |

**र**

| | |
|---|---|
| रक्षणीयं वर्धनीयं | १५.१० |
| रागद्वेषान्धकारोऽपि | १६.१६ |
| रागादिमयभवाण्डक | ७.४ |
| राज्यलाभादिवोत्फुल्लैः | १७.३३ |
| रुदन्तो वा हसन्तो वा | १५.३ |

**ल**

| | |
|---|---|
| लघुमसृणसिता | ८.६ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां | १.३ |
| लब्धाणिमादि | ९.१८ |
| लोकवद्भवतु | ८.३ |
| **व** | |
| वन्दे तान् दैवतं येषां | २०.३ |
| वन्द्यास्तेऽपि महीयांसः | १०.२० |
| वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा | २०.१७ |
| वाचि मनोमतिषु तथा | ५.२२ |
| विकसतु स्ववपु | ८.७ |
| विचरन्योगदशास्वपि | ५.२१ |
| वियोगसारे संसारे | ६.२ |
| विलीयमानास्त्वय्येव | ६.७ |
| विश्वेन्धनमहाक्षारा | २.२ |
| विषमस्थोऽपि स्वस्थोऽपि | १६.८ |
| विषमार्तिमुषानेन | १९.४ |
| वेदागमविरुद्धाय | २.७ |
| व्यवहारपदेऽपि | १२.२४ |
| व्यापाराः सिद्धिदाः सर्वे | १७.२ |
| **श** | |
| शक्तिपातसमये | १३.११ |
| शतशः किल ते | १२.२१ |
| शम्भो शर्व शशाङ्कशेखर | ११.११ |
| शान्तकल्लोलशीताच्छ | १.२१ |
| शान्तये न सुखलिप्सुता | १८.१५ |
| शिलोञ्छपिच्छकशिपु | १५.८ |
| शिव इत्येकशब्दस्य | १.२० |
| शिवो भूत्वा जयेतेति | १.१४ |
| शिवदासः शिवैकात्मा किं | १०.२५ |
| शिव-शिव शम्भो शङ्कर | ४.४ |
| शिव-शिव शिवेति नामानि | ५.२३ |
| शुष्ककं मैव सिद्धेय | १६.४ |
| **स** | |
| संग्रहेण सुखदुःख | १३.१ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| संसारसदसो बाह्ये | १६.२८ |
| संसाराध्वा सुदूरः खरतर | १५.१९ |
| संसारैकनिमित्ताय | २.८ |
| सकलव्यवहारगोचरे | १८.७ |
| सततं त्वत्पदाभ्यर्चासु | १७.१८ |
| सततफुल्लभवन्मुखपङ्कजो | ४.१६ |
| सततमेव तवैव | १८.८ |
| सततमेव भवच्चरणा | ८.१० |
| सतोऽवश्यं परमसत्सच्च | ३.१८ |
| सतो विनाशसम्बन्धा | २०.१८ |
| सत्येन भगवन्नान्यः | १६.६ |
| सत्त्वं सत्यगुणे शिवे | १५.१८ |
| सदसच्च भवानेव | १०.२४ |
| सदसत्त्वेन भावानां | ३.१ |
| सदा निरन्तरानन्द | २.२२ |
| सदा भवद्देहनिवास | १८.५ |
| सदा मूर्त्तादमूर्त्ताद्वा | १७.४६ |
| सदा सृष्टिविनोदाय | २०.९ |
| समस्तलक्षणायोग | २.६ |
| समुत्सुकास्त्वां | १२.२७ |
| समुदियादपि | ८.८ |
| समुल्लसन्तु भगवन् | ५.८ |
| सर्व एव भवल्लाभ | १.१० |
| सर्वज्ञे सर्वशक्तौ च | १०.१७ |
| सर्वतो विलसद्भक्ति | १.१९ |
| सर्वदा सर्वभावेषु | १७.३ |
| सर्वमस्यपरमस्ति न किंचिद् | ४.९ |
| सर्ववस्तुनिचयैक | १९.२ |
| सर्वाभासावभासो यो | २०.१६ |
| सर्वाशङ्काशनिं सर्वा | २.२८ |
| सहकारि न किञ्चिदिष्यते | १२.१ |
| सहसैवासाद्य | ९.१० |
| सहस्रसूर्यकिरणाधिक | ३.१९ |
| साकारो वा निराकारो | १६.२२ |

| | स्तोत्र.श्लोक |
|---|---|
| साक्षात्कृतभवद्रूप | १२.४ |
| साक्षाद्भवन्मये नाथ | १.४ |
| सितातपत्रं यस्येन्दुः | ३.४ |
| सिद्धिलवलाभ | १९.१४ |
| सुखप्रधानसंवेद्य | २.२३ |
| सुधार्द्रायां भवद्भक्तौ | १५.९ |
| स्फारयस्यखिलमात्मना | १३.१५ |
| स्फुटमाविश | १८.२० |
| स्फुरदनन्तचिदात्मकविष्टपे | ५.२४ |
| स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं | ४.२० |
| स्वप्रभाप्रसरध्वस्ता | ६.८ |
| स्वरसोदितयुष्मद | १८.६ |
| स्ववपुषि स्फुटभासिनि | ५.२५ |
| स्वसंवित्सार | ९.४ |
| स्वातन्त्र्यामृतपूर्णत्व | २.२७ |
| स्वादुभक्तिरसास्वाद | १७.४२ |
| स्वामिन्महेश्वरस्त्वं साक्षात्सर्वं | ११.२ |
| स्वामिसौधमभि | १३.१३ |
| स्वेच्छयैव भवन्निजमार्गे | ४.१० |
| **ह** | |
| हर्षाणामथ शोकानां | ३.९ |
| हस्यते नृत्यते यत्र | ५.१८ |
| हृदि ते न तु विद्यते | ११.७ |
| हृन्नाभ्योरन्तरालस्थः | १०.२६ |
| हे नाथ प्रणतार्तिनाशनपटो | ११.१४ |